श्री चंद्रप्रभाचार्यविरचितम्

सम्यक्त्व प्रकरण

(दर्शन शुद्धि प्रकरणम्)

हिन्दी भाषांतर

श्री राजेन्द्रसूरि शताब्दि वर्ष २००६ प्रसंगे

संपादक

मुनि श्री जयानंदविजयजी

।। श्री विमलनाथाय नमः ।।
प्रभु श्री राजेन्द्रसूरीश्वराय नमः

श्री चन्द्रप्रभाचार्यविरचितम्

सम्यक्त्व प्रकरणम्

(दर्शन शुद्धि प्रकरणम्)
हिन्दी भाषांतर

-: दिव्याशीष :-

आचार्य श्री विद्याचंद्रसूरीश्वरजी
मुनिराज श्री रामचन्द्रविजयजी

-: भाषांतरकर्त्री :-

सौ. प्रेमलताबेन नरेशकुमार सुराणा, बिकानेर पालीताणा

संपादक : मु. श्री जयानंदविजयजी

प्राप्ति स्थान :

शा देवीचंद छगनलालजी सदर बाजार, भीनमाल–३४३ ०२९(राज.) फोन : (02969) 220387	**श्री आदिनाथ राजेन्द्र जैन पेढी** साँथू – ३४३०२६ (राज.) फोन : (02973) 254221
श्री विमलनाथ जैन पेढी बाकरा– ३४३०२५ (राज.)	
शा नागालालजी वजाजी खींवसरा गोपीपुरा, काजी का मैदान, तीन बत्ती शांतिविला अेपार्टमेन्ट, सुरत, (गुजरात) फोन : 2422650	**महाविदेह भीनमाल धाम** तलेटी हस्तगिरि लिंक रोड, पालीताणा–३६४ २७० फोन : (02848) 243018

: प्रकाशक :

श्री गुरु रामचंद्र प्रकाशन समिति, भीनमाल, राज.

संचालक :

(१) सुमेरमल केवलजी नाहर, भीनमाल, राज.
(२) मीलियन ग्रुप, सूराणा, राज. मुंबई, दिल्ली, विजयवाडा
(३) श्रीमती सकुदेवी सांकलचंदजी नेथीजी हुकमाणी परिवार, पांथेडी, राज.
राजेन्द्र ज्वेलर्स, ४ रहेमान भाई बि.एस.जी. मार्ग, ताडदेव, मुंबई-३४
(४) स्व. हस्तीमलजी भलाजी नागोत्रा सोलंकी की स्मृति में हस्ते परिवार बाकरा (राज.)
(५) शा दूधमल, नरेन्द्रकुमार, रमेशकुमार बेटा पोता लालचंदजी मांडोत परिवार बाकरा (राज.)
मंगल आर्ट, दोशी बिल्डींग, ३-भोईवाडा, भूलेश्वर, मुंबई-२
(६) कटारीया संघवी लालचंद, रमेशकुमार, गौतमचंद, दिनेशकुमार, महेन्द्रकुमार, रवीन्द्रकुमार बेटा पोता सोनाजी भेराजी धाणसा (राज.) श्री सुपर स्पेअर्स, ११-३१-३A पार्क रोड, विजयवाडा
(७) एम. आर. इम्पेक्स, १६-ए, हनुमान टेरेस, दूसरा माला, ताराटेम्पल लेन, लेमीग्टन रोड, मुंबई-७ फोन : २३८०१०८६
(८) गुलाबचंद राजेन्द्रकुमार छगनलालजी कोठारी अमेरीका, आहोर (राज.)
(९) शा शांतिलाल, दीलीपकुमार, संजयकुमार, अमनकुमार, अखीलकुमार बेटा पोता मूलचंदजी उमाजी तलावत आहोर (राज.) राजेन्द्र मार्केटींग, पो.बो. नं. १०८, विजयवाडा
(१०) शा समरथमल, सुकराज, मोहनलाल, महावीरकुमार, विकासकुमार, कमलेश, अनिल, विमल, श्रीपाल, भरत फोला मुथा परिवार सायला (राज.) अरुण एन्टरप्राइजेस, ४ लेन ब्राडी पेठ, गुन्टूर-२
(११) शा सुमेरमल, मुकेशकुमार, नितीन, अमीत, मनीषा, खुशबु बेटा पोता पेराजमलजी प्रतापजी रतनपुरा बोहरा परिवार, मोदरा (राज.) राजरतन गोल्ड प्रोड., के. वी. एस. कोम्प्लेक्स, ३/१ अरुंडल पेट, गुन्टूर
(१२) शा नरपतराज, ललीतकुमार, महेन्द्र, शैलेष, निलेष, कल्पेश, राजेश, महीपाल, दिक्षीत, आशीष, केतन, अश्वीन, रीकेश, यश बेटा पोता खीमराजजी थानाजी कटारीया संघवी आहोर (राज.)
कलांजली ज्वेलर्स, ४/२ ब्राडी पेठ, गुन्टूर-२
(१३) शा तीलोकचन्द मयाचन्द एन्ड कं. ११६, गुलालवाडी, मुंबई - ४
(१४) शा लक्ष्मीचंद, शेषमल, राजकुमार, महावीरकुमार, प्रवीणकुमार, दीलीपकुमार रमेशकुमार बेटा पोता प्रतापचंदजी कालुजी कांकरीया मोदरा (राज.) गुन्टूर
(१५) श्री शांतिदेवी बाबुलालजी बाफना चेरीटेबल ट्रस्ट, मुंबई - महाविदेह भीनमालधाम, पालीताना - ३६४२७०
(१६) शांतिरूपचंद रवीन्द्रचन्द्र, मुकेश, संजेश, ऋषभ, लक्षित, यश, ध्रुव बेटा पोता मिलापचंदजी मेहता जालोर - बेंग्लोर
(१७) एक सद्गृहस्थ
(१८) एक सद्गृहस्थ (खाचरौद)
(१९) संघवी जुगराज, महेन्द्र, सुरेन्द्र, राज, जैनम, अक्षत बेटा पोता कुंदनमलजी भुताजी श्रीश्रीमाळ वर्धमान गौत्रीय आहोर (राज.) कल्पतरु ज्वेलर्स, ३०५ स्टेशन रोड, संघवी भवन, थाने (पश्चिम) ४०० ६०१
(२०) दोशी अमृतलाल चीमनलाल पांचशो वोरा थराद, पालीताना में उपधान कराया उसकी साधारण की आय में से।
(२१) शा भंवरलाल जयंतिलाल, सुरेशकुमार, प्रकाशकुमार, महावीरकुमार, श्रेणिककुमार प्रितम, प्रतीक, साहील, पक्षाल बेटा पोता-परपोता शा समरथमलजी सोगाजी दुरगाणी बाकरा (राज.)
जैन स्टोर्स, स्टेशन रोड, अंकापली-५३१००१
(२२) शत्रुंजय तीर्थे नव्वाणुं यात्रा के आयोजन निमित्ते शा. जेटमल, लक्ष्मणराज, पृथ्वीराज, प्रेमचंद, गौतमचंद, गणपतराज, ललीतकुमार, विक्रमकुमार, पुष्पक, विमल, प्रदीप, चिराग, नितेष बेटा-पोता कीनाजी संकलेचा परिवार मेंगलवा, फर्म - अरिहन्त नोवेल्हटी, GF3 आरती शोपींग सेन्टर, कालुपुर टंकशाल रोड, अहमदाबाद। पृथ्वीराज एण्ड कं., तिरुचिरापल्ली, T.N.
(२३) शा गजराज, बाबुलाल, मीठालाल, भरत, महेन्द्र, मुकेश, शैलेस, गौतम, नीखील, मनीष, हनी बेटा-पोता रतनचंदजी नागोत्रा सोलंकी साँथू (राज.)
फूलचंद भंवरलाल, 180 गोवींदाप्पा नायक स्ट्रीट, चेन्नइ - 600001

द्रव्य सहायक

श्री साँथू नगरे

श्री आदिनाथजी, श्री पार्श्वनाथजी आदि जिन बिम्ब
एवं श्री पुंडरीक गणधर, श्री गौतम गणधर,
श्री राजेन्द्रसूरिश्वरजी
गुरु बिम्बों की प्रतिष्ठा

वि.सं. २०५०, वैशाख सुदि ६ के दिन

पूज्य मुनिराज
श्री जयानंदविजयजी आदि ठाणा की

निश्रा में सानंद संपन्न हुई

उस प्रतिष्ठा के उपलक्ष में
सादर पुष्प प्रकाशित

श्री आदिनाथ राजेन्द्र जैन पेढ़ी

साँथू-३४३ ०२६

प्रत : ८००

द्रव्य सहायक

श्री बाकरा नगरे

श्री विमलनाथजी, श्री अजितनाथजी आदि जिन बिम्ब
एवं श्री पुंडरीक गणधर, श्री गौतम गणधर,
श्री राजेन्द्रसूरिश्वरजी, श्री धनचंद्रसूरीश्वरजी
गुरु बिम्बों की अंजन शलाका एवं प्रतिष्ठा

वि.सं. २०५९, महा सुदि ६ के दिन

पूज्य मुनिराज
श्री जयानंदविजयजी आदि ठाणा की

निश्रा में सानंद संपन्न हुई

उस प्रतिष्ठा के उपलक्ष में
सादर पुष्प प्रकाशित

श्री विमलनाथ जैन पेढ़ी

बाकरा नगर-३४३ ०२५
प्रत : ८००

द्रव्य सहायक

पूज्य पिताजी स्व. श्री तिलोकचंदजी पिराजी
की पुण्य स्मृति मे
नथमल, जयन्तीलाल, बाबूलाल सोनवाडिया
आहोरवालों के ज्ञान द्रव्य से

-: फर्म :-

टेम्पल कार्ड सेटर

४९,.के.वी. टेम्पल स्ट्रीट, सुल्तानपेट
बेंगलोर-५६० ०५३

प्रत : ४००

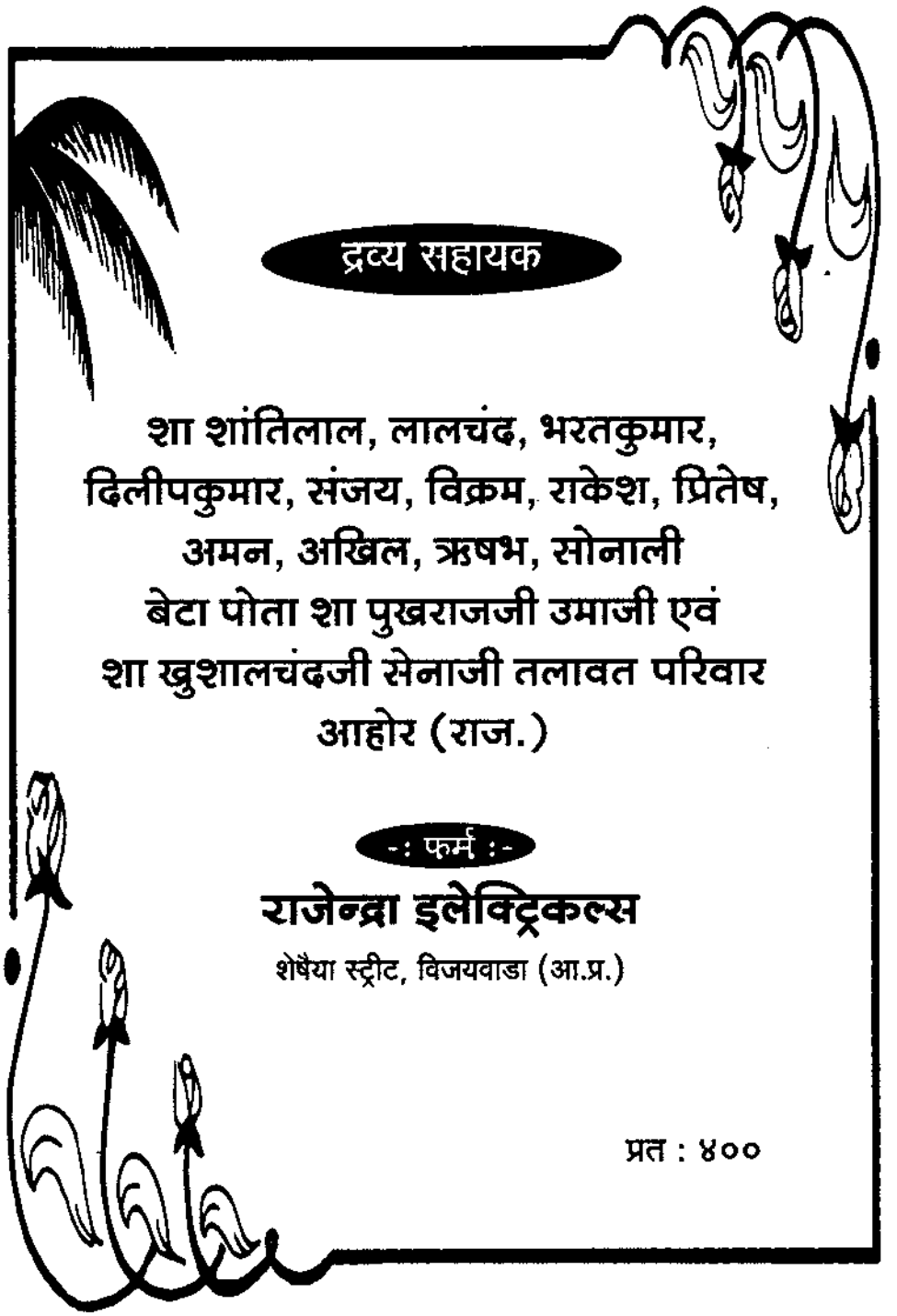

द्रव्य सहायक

शा शांतिलाल, लालचंद, भरतकुमार,
दिलीपकुमार, संजय, विक्रम, राकेश, प्रितेष,
अमन, अखिल, ऋषभ, सोनाली
बेटा पोता शा पुखराजजी उमाजी एवं
शा खुशालचंदजी सेनाजी तलावत परिवार
आहोर (राज.)

-: फर्म :-

राजेन्द्रा इलेक्ट्रिकल्स

शेषैया स्ट्रीट, विजयवाडा (आ.प्र.)

प्रत : ४००

।। श्री जीरावलाजी पार्श्वनाथाय नमः ।।
।। श्री गोडीजी पार्श्वनाथाय नमः ।।
।। श्री राजेन्द्र सुरि गुरुभ्यो नमः ।।

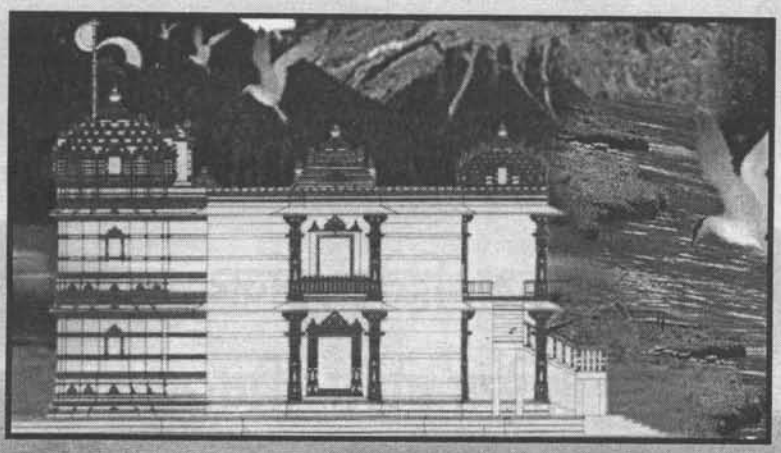

धाणसा निवासी शा जुगराज, छगनलाल, भँवरलाल,
दुर्गचन्द, धेवरचन्द, दिनेशकुमार, विजयकुमार,
महावीरकुमार, विक्रमकुमार, गौतम, विकास, मुकेश,
नितेश, विशाल, ध्रव बेटा पोता मीश्रीमलजी उकाजी
सालेचा समस्थ परिवार

कर्म

श्री राजेन्द्रा होजरी सेन्टर

मामुलपेट, बेंगलूरु

प्रत: ३००

पूज्य पिताजी स्व. श्री सरेमलजी मगाजी

बाकरा निवासी की स्मृति मे

नेमीचन्द, कान्तीलाल, अशोककुमार,

दिनेश, मुकेश, हितेश, संजय, खुशाल

क्षत्रिया बोहरा परिवार

शा मगराज सरेमल

36, बालाजी मार्केट, मामुलपेट

बेंगलूरु - 560 053.

दूरभाष : 080-22873048, Cell : 9449657778

मेस्को प्रिन्ट्स

41, कप्पीनप्पा मार्केट, मामुलपेट

बेंगलूरु - 560 053.

दूरभाष : 080-22380470, Cell: 9448687449

प्रत: ३००

अनुक्रम

विषय	पृष्ठ
मंगल	२
सम्यक्त्व के लाभ के प्रकार	३
उदायन राजा की कथा	४
सम्यक्त्व का स्वरूप	२२
देवाधिदेव का स्वरूप (देव तत्त्व)	२३
जिनभवन बनाने की विधि	२५
आज्ञा की आराधना पर दृष्टांत	२७
भरत चक्री की कथा	३१
नल दमयन्ती की कथा	३९
पूजा विधि	७६
संकास की कथा	८४
मेतार्य महर्षि कथा	८७
कालकाचार्य की कथा	९३
रौहिणेय की कथा	९५
सुदर्शन शेठ की कथा	९९
कपिल की कथा	१०६
चण्डकौशिक की कथा	१०९
शिवकुमार की कथा	११६
समृद्धिदत्त एवं श्रीपति की कथा	१२४
सागरचंद्र की कथा	१२८
अमरचंद्र की कथा	१३०
कामदेव की कथा	१३६
मूलदेव की कथा	१३९
चंदनबाला की कथा	१५२
नर्मदासुंदरी की कथा	१५८
नंदिषेण की कथा	१६७
इलाची पुत्र की कथा	१७०
धर्मरत्न योग्य के २१ गुण का वर्णन	१७४
कुमार्ग का वर्णन	१७६
आर्यरक्षित आचार्य की कथा	१७७
वज्र स्वामी की कथा	१८०
आर्यरक्षिताचार्य की कथा	१९४
कुमार्ग का वर्णन	२०२
सुमार्ग का वर्णन	२०३
नन्दीषेण की कथा	२०७
आर्द्रककुमार की कथा	२१०
शुद्ध प्ररूपक की व्याख्या	२१७
शुद्ध श्रावक और सुपात्र-अपात्र दान की व्याख्या	२१९
गुरुकुलवास का महत्व	२२०
साधुतत्त्व	२२१
गोचरी के दोषों की व्याख्या	२२३
क्रोध पिण्ड की कथा	२२५
मान पिण्ड की कथा	२२६
माया पिण्ड की कथा	२२८
लोभ पिण्ड की कथा	२३१
गोचरी के दोषों की व्याख्या	२३२
शय्या, वसति शुद्धि	२३५
वसति शुद्धि	२३६
वस्त्र शुद्धि, पात्र शुद्धि, असाधु का वर्णन	२३८
शीलांग रथ का वर्णन	२३९
आचार्य के छत्तीस गुण	२४०
आर्यखपुटाचार्य की कथा	२४४
सद्गुरु का वर्णन	२४७
केशी गणधर प्रदेशी राजा की कथा	२४९
सद्गुरु के लक्षण	२५४
पाँच प्रकार के चारित्री	२५५
बकुश-कुशील चारित्री	२५६
चण्डरुद्राचार्य की कथा	२५८
बकुश-कुशील चारित्री	२६०
पासत्थादि पांच का वर्णन	२६२
जीव तत्त्व	२६८
जीव तत्त्व-अवगाहना	२७१
जीव तत्त्व-कायस्थिति	२७२
लेश्या द्वार-संयम द्वार	२७३
योनि द्वार	२७४
क्रम-प्राप्त योग द्वार	२७५
विशुद्धि रूप गुणस्थान	२७६
गुणस्थान कालमान - गति द्वार	२७८
गुणस्थान	२७९
योग द्वार	२८०
उपयोग द्वार	२८१
अजीव तत्त्व	२८२
सम्यक्त्व	२८३
तामलि तापस की कथा	२८५
सम्यक्त्व	२८८
सम्प्रति राजा की कथा	२९०
भवदत्त की कथा	३०७
राजा-अमात्य की कथा	३१०
दुर्गन्धा की कथा	३११
सुलसा की कथा	३१४
जिनदास की कथा	३१६
सम्यक्त्व	३१८

श्री बाकरा नगरे
चातुर्मास, उपधान एवं प्रतिष्ठा महोत्सव

मरुधर देश में (राजस्थान में) जालोर जिल्ले में बाकरा नगर निवासियों के हृदय में धर्मभावना वर्षों से पल्लवित है। वि. २००१ में प्रतिष्ठोत्सव श्री तीर्थेन्द्रसूरीश्वरजी से करवाकर अनेक चातुर्मास, उपधान एवं श्री लब्धिचंद्रसूरीश्वरजी की आचार्य पदवी आदि अनेक धर्मानुष्ठान करवाकर नगर निवासियों ने लक्ष्मी का सदुपयोग किया।

मंदिर के जीर्णोद्धार की आवश्यकता जानकर विशाल जिनमंदिर बनवाने का निर्णय लिया और खातमुहूर्त, शीलारोपण आदि कार्य संपन्नकर मंदिर का कार्य प्रारंभ हुआ।

धर्मश्रवण की भावना से प्रेरित होकर श्री विद्याचंद्रसूरीश्वरजी के शिष्य एवं मुनिराज श्री रामचंद्रविजयजी के कृपापात्र मुनिराज श्री जयानंदविजयजी आदि ठाणा का चातुर्मास करवाने का श्री संघने निश्चयकर विनती की। मुनिराज श्री की सहमति प्राप्तकर चातुर्मास करवाया

उस चातुर्मास का एवं प्रतिष्ठोत्सव का संक्षिप्त स्वरूप यहां दर्शाया है।

पूर्व में २००१ में हुई प्रतिष्ठा का श्लोका भी इसमें ले लिया है। जिससे पूर्व की प्रतिष्ठा का स्वरूप भी खयाल में आ जाय।

बाकरा अंजनशलाकावर्णन श्लोको

सरसती सीमरुं सद्गुरुपाय, रचुं श्लोको सुणजो सुखदाय ।
जंबूद्वीपमां भूमि है उत्तम, अनेक नर रत्नो जहां अनुपम ।।
मरुधर देशे बाकरा शहेर, सुखी रयासत आनंद लहेर ।
चांपावत राठोडनुं राज, जालमसिंहजी भूप शीरताज ।।
धुंखलसिंहजीरा धर्म अवतार, धारापती सम करते उपकार ।
क्षत्रीवट पुरण पुराणी रीति, राम राज ज्युं पाले छे नीति ।।
रक्षक प्रजा पर प्रेम अपार, धन्य कीरती धन्य अवतार ।
शोभा शेरनी गढ मालीआं सुन्दर, गाम बीचे एक दादानुं मिन्दर ।।
कुवा तलाव अखूट नीर, वसे अढारे वर्ण सधीर ।
राज तरफसें इस्पीताल, वैद्यजी सोंहे पुष्करलाल ।।
मेडीकल ओफीसर वर्ग हुंशीआर, सर्टीफीकेट मीला अपार ।
समकितवंता श्रावक सुहावे, करी विचार इक्ठा थावै ।।
गुरु करे जो चातुर्मास, पुरण होवे मनडारी आश ।
करावा प्रतीष्ठा हुंश घणेरी, भली भावना आणी भलेरी ।।
आगेवानोए कीधो वीचार, जावुं गुरुजी पासे नीरधार ।
सूरितीर्थेन्द्र मालवामांही, नकी कर्युं छे जावा सारुं त्यांही ।।

चार श्रावको थया तैयार, भेटवा चर्णे हुंश अपार ।
टांडा मुकामे कीधां दर्शन, हर्ष अतीशय हैडुं प्रसन्न ।।
गुरु वंदता अती आनंद, आव्या में चर्णे करी प्रतीबंद ।
चोमासा केरी विनती अमारी, लेवो गुरुजी हेते स्वीकारी ।।
करवा अंजनशलाका मुहूर्त आपो, नकी करीने दिवस स्थापो ।
भावना भावी गुरुजी पधारो, करो आबादी कार्य सुधारो ।।
जोषी बोलावी मुहूर्त आप्युं, श्री संघ केरुं कष्ट ज काप्युं ।
गोळ धाणा त्यां प्रीते व्हेंचावी, जैन शासननी जय बोलावी ।।
दो हजार एक शुभ साल, माघ मास दूर टळे जंजाल ।
सुद छट्ठ ए उत्तम दन, गुरु बोले मुख सत्य वचन ।।
जयविजयजी आपकें शिष्य, मोकली गुरुजी आपे आशीष ।
करी विहार बाकरे आव्या, सर्व संघने दीलमां भाव्या ।।
कीधुं चोमासुं आनंद लेर, वर्ते सुखशान्ती घेर ज घेर ।
चातुर्मासमां लाभ अनेरो, धर्मध्यायननो ठाठ भलेरो ।।
इण रीतिसुं जय जय उचराय, चोमासुं पुरण व्यतीत थाय ।
झाबुवा नगरेथी करी विहार साथे शिष्यनो लइ परीवार ।।
लब्धिविजयजी शिष्य सुहावे, गुरुसेवा कर लब्धि को पावे ।
शहेर बाकरा समीप आवे, सुणी श्रावको दिल हरखावे ।।
सजी सामेलो नर ने नारी, गुरु वांदवा करे तैयारी ।
ढोल नगारां वाजींत्र बाजे, सोने सूरज उग्यो छे आजे ।।
गीत गावे छे नर ने नार, भेट्या जइ चरणे हुंश अपार ।
गुरुजी आगे गुंहली रचाय, कीधां दर्शन तिहां सुखदाय ।।
पुरमां पधार्या उपाश्रय स्वामी, उपदेश दीधो रखी न खामी ।।
करवा तैयारी सूचना दीधी, मनहर म्हेर गुरुवरे कीधी ।।
संघ मलीने करी तैयारी, जोइती वस्तुओ आणे ते वारी ।
शहेर बाकरे श्रावक सुभागी, धर्म प्रतापे थाय आबादी ।।
परमीट मेळववा जोधपुर जाय, गुरु पसाये उन्नति थाय ।
वकील हस्तीमलजीने जइ मळीआ, जालमसिंहजी बुद्धीना बळीआ ।।
कीनी मदद हेत जणावी, गोळ खांडरी छुटी अपावी ।
जोधाणनाथे स्हायता कीधी, शुभ कीरती जगमां लीधी ।।
कडीआ सलावट संघ बोलावे, रुडुं पबासण इंडां बनावे ।
रची मांडवो शोभा अपार, अनुपम गीत गावे नरनार ।।

कंकुपत्रिका पेली छपावी, गामोगामे सौ गामे पोचावी ।
पधारजो सौ शोभा वधारी, शोभा शाशनरी वधे सुखकारी ।
पेन्टर तेडाव्या चीत्रामण करवा, गीरनार सीधगीरी पट चीतरवा ।
कंट्राट विठलदासने देवे, दो हजार रुपैया लेवे ।।
माल संघनो मेनत तमारी, एवी सरतेथी करे तैयारी ।
काम पेन्टरे हाथज लीधुं, रुडुं चीत्रामण कामकाज कीधुं ।।
जोइती वस्तुओ सर्वे तैयार, संघे खामी नव राखी लगार ।
जोषी पंडीत जती बोलावे, नवस्मरणना पाठ करावे ।।
संघ शान्तीना काज सुहावे, देवी प्रसन्न अनुष्ठान थावे ।
शुद्ध मंत्रोना उच्चार थाय, गुरुपसायए जयजय उचराय ।।
हवे सुणजो धरीने हाम, आगेवानोनां वर्णवुं नाम ।
तगराज गुणेशमलजी वखाणुं, शुकराज जेरुपजी कुलमां भांनु ।।
वीरमाणजीरा कस्तुरजी कर्मी, बडादयालु सुदिलावर धर्मी ।
वर्जेगजी सुत गोडीरेदास, प्रभु पूरजो मनडारी आस ।।
शीरेमल जवाजी चतुर सुजांण, जवारमल मुलाजी दीसे पुनवान ।
मुळचंद तोळाजी मन उदार, मुनीलाल जुहारमल रहो सुखकार ।।
उमेदाजी के पुत्र रतन्न, हरखचंद को प्रभु प्रसन्न ।
सुलतानमल उदाजी के परवार, धन्य जीवन पुन्य अपार ।।
हेमाजी धनाजी को धन धन, रहो सुखी ने चडती दिन दिन ।
माघ वद बारस ने गुरुवार, नवपद पुजार्से होवे सुखकार ।।
भंडारी सागरमल हरखचंद, मीठालाल पुखराज को सुखकंद ।
ओगणीसो एक खरच्या धरी खंत, धर्म प्रतापे जयजयवंत ।।
उमेदाजी कूल अती आनंद, पेली नोकारसी दूरे दुःखकंद ।
माघ वद तेरस रुडो शुक्रवार, पूजा पंचकल्याणक पुन प्रकार ।।
दूजी नोकारसी संघ जीमावे, बत्रीसोएक आपी हरखावे ।
भंडारी भीमराज हीराचंद घणुं जीवो, ओपे भूताजीरा कूळ दीवो ।।
माघ वद चौदश शनी सुख करशे, दूष्ट उपाधी दूरे सौ हरशे ।
नंदीसर द्वीप पूजा भणावी, त्रीजी नोकारसी उमंग लावी ।।
शा जुहारमल रतन नवाजी नामी, स्हाय करसे अंतरजामी ।
ओगणत्रीसो एक आपे नीरधार, उरमां आनंद धरी अपार ।।
माघ वद अमावास रवीवार, नोकारसी पूजा अष्टप्रकार ।
शा सागरमल समरथमल मीश्रीमल, पार्श्वमल तीलोकचंद प्रबल ।।

सरुपाजीरा वृधी लहंत, ओगणत्रीसो एक खर्चे पुनवंत ।
माघ सुद एकम सोम सोहाके, वीशस्थान करी पूजा भणावे ।।
शा कीशनलाल रूपचंद वखाणुं, हिमतमल मांगीलाल प्रमाणुं ।
भंवरमल अचलाजी आद, नोकारसीमां माल आबाद ।।
शुभ भावना धरी विशेक, खर्चे रुपैया त्रण हजार एक ।
माघ सुद त्रीज मंगल वर्ताय, बारव्रतरी पूजा भणाय ।।
मूळचंद छगनराज सुभागी, तोलाजीकेरा शाणा वडभागी ।
नोकारसीमां नामना कीधी, ज्ञाती बन्धुरी सेवाज कीधी ।।
तीन हजार ऐकत्र दीना, धर्म अनुरागी रंगमें भीना ।
माघ सुद चोथ बुधवार दीन, ज्ञानावरण की पूजा पावन ।।
मुंता प्रतापचंद जुहारमल पुनमचंद, मुनीलाल फोजमल धेवरचंद ।
सुमेरमल मीठालाल सुखवरीआ, भजाजीकेरा कूळे अवतरीया ।।
पांत्रीसो एक आपे प्रतापी, भवोभवरी भावठ कापी ।
माघ सुद पांचम गुरु गुणकारी, पूजा रसीली नवाणुं प्रकारी ।।
नौकारसीमां जश विस्तारी, बेतालीसोएक आपे हितकारी ।
मुंता हीराचंद हर्ष अपार, मुनीलाल नेमाजी धर्मी अपार ।।
माघ शुद छठ शुक्र सुख तेज, हरखद डुंगरचंद दिल हेज ।
दाखुं सपुत सुरताजी केरा, नवपद पूजे गुंणगंभीरा ।।
प्रभु वराज्या तख्ते जे दीन, फले चुंदडी बडी नोकारसी कीन ।
अढार हजार खरच्याज दांम, जाणे सौ जन प्रख्यात नाम ।।
अढार वर्णने नहि झलपल, हरखचंद को दरीआव दिल ।
धीरी छोळो ज्युं समुद्र पूर, पीरसे सारथीआ वधीओ नूर ।।
जेना धुंवाथी आभ काजलीओ, सुवास लेवा शेषनाग सलसलीओ ।
माघ सुदी दिन सातम शनी, बडी सनात्र पूजा रसभीनी ।।
एकतालीसो एक आपे भलीपेर, नोकारसीमां आनंद लेर ।
प्रागचंद उकचंद फुलचंद नथमल, सुगालमल नेनमल मनोरमल ।।
भंवरलाल सुमेरमल सुजाण, हमीरमल वीरभांणजीरा कूलभांण ।
सुणजो आगे छे वात रसाल, ओछव आदर्यो संघे उजमाल ।।
गामोगामेथी आवे नरनार, सरता राखे छे संघ अपार ।
उतरवा सगवड कीधी अपार, वधी कीरती मरुधर मजार ।।
नवनवां नीत करी पकवांन, जीमे महाजन चतुर सुजान ।
कुंभ स्थापना पेले दीन थाय, ईंद्र ईंद्राणी संघ समुदाय ।।

कुवा उपर गुरुजी जावे, मच्छ कच्छ मुद्रा करी दिखावे ।
धूप दीपे नैवेद्य फल धरावे, गोरी मळी त्यां गीत जगावे ।।
अबीर गुलाल केशर चंदन, कर्युं पूजन जलदेव प्रसन्न ।
नोबत नगारां निशान फरके, छत्रीस वाजां सुणतां हरखे ।।
भूमी शोधन नीत नीत थावे, कळशा मंडपमां जई मुकावे ।
नीत वरघोडा ठाठ अपार, हाथी रथ घोडा उपर अश्वार ।।
नवग्रहनो पाट करावे, दश दिक्पाल दोइ पूजन थावे ।
अष्ट मंगलिक मंगल काजे, मेरु देवता स्थापन छाजे ।।
देव नुंतरीआ शान्ती सुखरास, अखंड धूप दीप सुवास ।
डगले ने पगले दान देवाय, जाचक जनोनी आशीष लेवाय ।।
अवसर उजवाळ्यो लेखुं न लीधुं, काम अविचल संघेज कीधुं ।
धजा ईंडारो वासक्षेप कराय, धामधूमथी पूजन थाय ।।
क्रिया करवामां खामी नव राखी, चडती करवामां हीमत दाखी ।
जाजम के उपर ईकठा थावे, भलीचुंपेथी चढावा बोलावे ।।
रणमां योधाने चढेज्युं शूर, दादानो अवशर हुंश भरपूर ।
लेवे चडावा पुरा पुनशाली, भवोभवनां कर्म प्रजाली ।।
मुंता हीराचंद मुनीलाल उदार, नेमाजीको सोहे सरल परीवार ।
ईंडो चडावी राखी नीज टेक, खरच्या रुपैया पंचासीसो एक ।।
शा धना हीराचंद हीरो वखाणुं, सजुजीके कूळप्रेमी प्रमाणुं ।
डंड चडावी नाम ज कीधो, बत्रीसोएक आपी जश लीधो ।।
प्रागचंद उकचंद फुलचंद नथमल, वीर भांणजीरो दरीआ समदिल ।
धजा फरकावी कामज कीना, एकसठसो एक रुपैया दीना ।।
भीमराज वर्जेंगजी विवेकी पूरा, दिसे दयालु वचनरा शूरा ।
वराजमांन अजीतनाथ करावे, बावनसोए चडावो लेरावे ।।
शा कुंदनमल करे अवीचल कांम, मीश्रीमल नाताजीको धन धाम ।
वराजमांन विमलनाथ करावे, दो हजारएक दई हरखावे ।।
शीवराज पुखराज हांसाजी ओपे, आणा धर्मरी कबु न लोपे ।
दोहजारएक खर्चे पुनवान, चंद्र प्रभु को करे वराजमान ।।
शा शीरेमल गुणेशमलजी गुणजांण, पीस्तालीसो एक आपे कूलभांण ।
प्रभु रे तोरण बारे बंधावे, दुःख दालीद्र दूर हटावे ।।
बालवाडा के वाशी सोहंद, पीराजी सुरजमल कुलचंद ।
करे वराजमान रुषभदेव, काम अवीचल कीधुं ततखेव ।।

पांत्रीसोएक लीनो चडावो, नीज हाथोसें लीनो हे लावो ।
शा लक्ष्मीचंद वनेचंदने हांम, दलीचंद चेनाजी राजी अभीरांम ।।
ओगणीसो एक आपी मलकावे, वराजमांन धर्मनाथ करावे ।
काम अवीचल हाथोसें कीधो, बाकरा संघे पुरण जश लीधो ।।
सोनमल विठाजी सांथु के वाशी, अरनाथ वराजमांन करे प्रकाशी ।
त्रेवीसो एक आपी रुपैया, भवजल सें पार लगावी नैया ।।
चुनीलाल पनाजी दीसे शुभकर्मी, सुराके वतनी सायरधर्मी ।
विमलनाथजी बराजमांन करावे, चोत्रीसो एक हस्ते दिलावे ।।
शा म्याचंद हंजारी त्रीकमचंद, पुनमाजी केरा पुनम ज्युं चंद ।
संभवनाथजी करे वराजमांन, दोहजार एक आपे गुणजांन ।।
शा प्रागचंद सोनमल अचलदास, मुनीलाल पुखराज ताराजी के सुखराम ।
अढारसो एक खरच कीना, अनंतनाथजी वराजमांन कीना ।।
कस्तुरचंद हंसराज भंवरलाल, विरभांणजीसे परवार निहाल ।
अजीतनाथ के अधिष्ठायक देव, वराजमांन करी कीधी शुभ सेव ।।
पनरसो एक आप्या तत्काल, पुन्य प्रतापे दूर जंजाल ।
प्रतापमल जुहारमल पुनमचंद, मुनिलाल फोजमल पामो सुखकंद ।।
भलाजीकेरो सोहे परवार, पुरा धर्मीष्ट दिल उदार ।
यक्षीणी प्रीते वराजमांन करवा, भवोभवनां दुःखडां हरवा ।।
राखी दिलमां पुरण टेक, आप्या रुपैया पन्नरसो एक ।
हिमतमल केशरीमल, दानी सायर ओपे छे दील ।।
घेवरचंद जेठाजी के पुनशाली, रीधीवृधी घर नीत दिवाली ।
पेला घुमटरे इंडो चडावे, एकत्रीसो एक हाथे दिलावे ।।
शा हुकमीचंद मीश्रीमल गुणजांण, मलतानमल जेठमल पारसमल सुजांण ।
परखाजीरो ए पुन्य वडायो, दूजा घुंमटरे ईंडो चडायो ।।
भुरमल सोनमल हुकमाजीरा वडभागी, पुन उदय दशा पुरण जागी ।
त्रीजा घुंमटरे ईंडो चडावे, दुःख दालीद्र दूर हटावे ।।
एकवीसो एक दीना हे पुरा, दूष्ट कर्मोंरा कीना हे चुरा ।
भीमराज फुसारांम कूलमां भांण, घेवरचंद छोगाजीके पुनवांन ।।
चोथा ईंडारो लीनो चडावो, सुख संपत्ती नीत नीत पावो ।
पनरसो एक खरची जश लीधो, कर्म खपावा काम ए कीधो ।।
शा भुदरमल जोधमल जश धारी, मीश्रीमल पेलादजी के सुखकारी ।
तेरसोएकके लावो लेरायो, ईंडो पांचमां प्रेमे चडायो ।।

सा सुलतानमल मीश्रीमल जशवंता, भभूतमल छगनलाल ओपंता ।
हांसाजी केरो परिवार सोहे, सिंहरे वराजमानकर वामन सोहे ।।
बारसो एक रुपैया देवे, जनतामां जाहेर साबाशी लेवे ।
भंडारी सुलतानमल उजमाल, भानमल मुनीलाल भंवरलाल ।।
उमेदाजीरो परिवार जश लेवे, अग्यारसोएक माणक थंभरा देवे ।
प्रभु पुंखतां हर्ष अपार, दीपचंद सेसमल दील दातार ।।
दानाजीकेरा दिलना दरीआ, अग्यारसो एक आणी जश वरीया ।
शावजेंग विरचंद हुकमाजी हांम, लुंण उतारी कीधुं शुभ काम ।।
शासननना रागी रंगमां भीना, अग्यारसो एक पुराज दीना ।
कोठारी शीरेमल सेसमल जशधारी, पुनमचंद ताराजी है पर उपकारी ।।
सोना रुपा रे फूलडे वधावे, भवोभवनां दुःख हटावे ।
एक हजार ने एकज दीध, पूर्वजन्मनुं कृत्य शुभ कीध ।।
शा तगराज छगनराज प्रख्यात, गुणेशमलजीरा कूळे विख्यात ।
पुन्य प्रतापी सहू जन जाणे, एक हजार एक दीधा ते टाणे ।।
अंजन करवारी हुंश घणेरी, धरी भावना दील भलेरी ।
शा सोनमल छोगालाल भानमल भानु, पुनमचंद सायबाजी के प्रमाणुं ।।
बडा विवेकी गुंणगंभीर, धर्मरा कामे आगे सधीर ।
बार रोकवारा नवसो पचीस, धर्म प्रतापे सुखी निशदिश ।।
मुता भलेचंद हस्तीमल हीरो, लक्ष्मीचंद खीमाजीरो सधीरो ।
धूप उखेवी लावो ज लीधो, नाम अवीचल डंको ज दीधो ।।
सातसोपचीसे लीनो चडावो, सुखसमृद्धि नीतनीत पावो ।
फोजमल मुनीलाल भावना भारी, देवीचंद दानी सद्गुण धारी ।।
काळुजीरो ए परवार धर्मी, जनम्या जश राते वडा जशकर्मी ।
थापो थापीने राखी नीज टेक, दीधा रुपैया अग्यारसो एक ।।
शा खेंगारजी रे पूरी दिल हांम, हीराजीकेरो ओपे भल नाम ।
नवसें एकावन पूरा ज दीध, प्रीते पखाल प्रभुजी रे कीध ।।
शा रखवाजी केवलजीरा कूलचंद, रेवतडावासी पामो सुखकंद ।
अंगलुसणां प्रभुरे करावे, भवोभवनां पातीक जावे ।।
सातसो पचीस पूरा कलदार, हुंश धरीने खरचे ते वार ।
मुंता अनाजी केशाजीकेरा, सायला के वासी दिल कर घेरा ।।
अंतर चडावे स्हाये जुगदीश, आप्या रुपैया नवसो पचीस ।
जवानमल फुसाजी जनम्या जश धारी, उनडीनिवासी परउपकारी ।।

भली भावना प्रेम विवेक, पेली पुजारा पनरसो एक ।
प्रभु पुजतां पाप पळाय, मीले रिधी ने सुखी सदाय ।।
सागरमल फोजाजी सायले सुभागी, फूले पूजीने पाम्या आबादी ।
मोगरो केतकी जाई जुई गुलाब, भावे चडावे धन धन भाग ।।
वीधवीध फूले प्रभुने पूजे, टूटे भवबंधन कर्मो सौ धुजे ।
एक हजार एकज दीन, शुभ कामए हस्तेथी कीन ।।
पना छोगालाल कपुरचंद, भवोभवनां दूरे दुःखफंद ।
तोळचंद सोनमल भैराजी सोहे, बरास पूजा कर मनडुं मोहे ।।
आठसो एक आप्या छे पुरा, दूष्ट कर्मोरा कीना हे चुरा ।
भंडारी बदाजी हांसाजी सोहावे, अजब रसीली आंगी रचावे ।।
पुन वंता रेवे सायले जगीस, देवे रुपैया पांचसो पचीस ।
होवे विमल पेली पूजा करंतां, विमलनाथजी हेते पूजंतां ।।
छसो एकावन आपी जश लीन, धन्य घडी पळ धन्य छे दीन ।
विमलनाथरी प्रतीमा लाई श्रीसंघको भेट दीलाई ।।
देवी चंदने रीखवदास, प्रभुपुरजो मनडानी आश ।
मुनिलाल के पुत्र कहावे, भाव अधीक भावना भावे ।।
कोठारी गोडीदास गुन जान, बाबुलाल कूळ दीपक सुजान ।
वनेंगजीरो वंश दीपायो, धन्य जनुनी कुख शोभायो ।।
चंद्रप्रभुरी शीतल छाया, पेली पूजा कर दिल हरखाया ।
आप्या रुपैया छसोएकावन, थाशे आबादी प्रभु प्रसन्न ।।
रुषभदेवनी प्रतीमा पुराणी, पूजो भवीजन आत्मगुण खाणी ।
मोक्ष मेळववा तरवा उपाय, भवोभव चकर सर्व मीट जाय ।।
सोनमल गेबचंद रगनाथमल, जशाजी केरो भूप सम दील ।
सरतवाला भंडारी उदार, उमा पनाजी उमंग अपार ।।
रुषभदेवरी पुजारा भाव, छसोएकमां लेरायो लाव ।
शा ताराचंद पीरचंद प्रतापी जाणुं केरींगजीरा कुल दिपक प्रमाणुं ।।
पुजा करवारो भाव भलेरो, तिहां आनंद पायो अनेरो ।
धर्मनाथजी प्रतापे लेर, छसोपचीस आप्या भली पेर ।।
भोळा सागरमल कुंदनमल, प्रसरी कीरती जुगमां जलहल ।
गजाजीकेरा शोभे सतवादी, दुःख दूर ने नित आबादी ।।
पांचसोएकावन देवे निरधार, हुंश हैयडामां धरी अपार ।
अरनाथ प्रभु अरी दूर करसे, मन कामना पुरण फलसे ।।

पूजा करंतां पाप पळाय, सुखसंपत्ती मीले सुखदाय ।
चुनीलाल लाधाजी चतुर सुजाण, धर्म प्रतापे नवनिधान ।।
जीवन पवित्र जश विस्तारी, हुंश विमलनाथ पुजवारी ।
चर्णअंगुठे सेवाफल पावे, सातसो एक आपी हरखावे ।।
जेठमल मुनिलाल दातार, सुमेरमल नवाजी करते उपकार ।
करशे आबादी स्हाये जगदीश, पुनवंत खर्चे पांचसोपचीस ।।
प्रभुपूजाथी पुरण कोड, पीता पुत्रनी अमर रहो जोड ।
अनंतनाथजी उपाधी हरशे, त्रीवीध ताप ए सौ दूर टळशे ।।
दीपा वनाजी सायले शीरताज, करे पुनशाली हाथे शुभ काज ।
संभवनाथरी पूजा करंतां, छसोएकमां दुःख हरंतां ।।
शा गोडीदासजी गुनगंभीर, जुहाराजीकेरा ओपे भडवीर ।
चारसो एक आपी ततरखेव, प्रिते पूजो छे अधिष्ठायक देव ।।
शा तगराज फुलचंद सोनमल सतवंता, नेनमल चांपाजीरा सोहंता ।
स्हाये नीत रेवे यक्षणी देवी, पांचसो पच्चीसे अर्पी पद सेवी ।।
मुता प्रतापचंदजी मोहे, शेर जालोरे जशधारी शोहे ।
कर्मक्षय करवा दुःखडां हरवा, भवसायरथी पार उतरवा ।।
वृष्टी फुलांरी करे भली भांत, छसो ने एक आप्या धरी खांत ।
जुहारमल हरखचंद पुखराज, हुकमीचंद मुलाजीरी कुलमाज ।।
पेली आरती प्रभु रे आगे, भावे उतारी शीवसुख मागे ।
पांचसो एकावन आप्या ते वार, धन्य जीवन तस अवतार ।।
समरथमल पुनमाजीरे प्रेम, वंशवृद्धी घर कुशल क्षेम ।
मंगलीक दिवारा चारसो एकावन, सायला के वासी धनधन पावन ।।
आंबाजी सुत पुनमाजी थारी, कुलनी माजा कीर्ती वधारी ।
चमर ढोळे सरल स्वभावी, जिन आणाने शीर चढावी ।।
सुरज्युं करे प्रभुरी सेवा, स्हाय करशे देवाधी देवा ।
चारसोएक आप्या सुखदाई, दिल दातार पुरण पुन्याई ।।
देवीचंद वरदाजी दीलडुं खोले, दुजी बाजुए चामर ढोले ।
बसोएकमां जयजयकार, धर्म पसाये सुख अपार ।।
शा जगराज उकचंद सदाजी दानी, धर्म अनुरागी पुरी निशानी ।
एकसोपचीस आपी सुख लीध, तेजराज पारसमल कारज सीध ।।
प्रभु समक्ष गीत ज गावे, थाळ सोधननो प्रीते वजडावे ।
सोनमल मेघाजी कीरती वरीआ, धन्य जनुनी कुखे अवतरीआ ।।

घंट बजडायो थयो घोंघाट, प्रभु मंदीरमां आव्यो ठीकठाक ।
अर्पे संघने एकसो पचीस, लेवे अवीचल सुख जगीस ।।
भंडारी छोगालाल गेवरचंद, जीवाजी कुळमां नीत आनंद ।
धूप सुवासे कर्म क्षय थाय, मनना मनोरथ सर्व पुराय ।।
एकसो पचीसे अमर नाम, प्रभु प्रतापे पामे धन धाम ।
दर्पण धरावे प्रभु मुख सामे, शीरेमल कुंदनमल सुख पामे ।।
मलतानमल जवाजीका गुंन ग्राम, आप्या सवासो हाथे प्रमाण ।
शा शीरेमल शेशमल दिल उमंग, भक्ति करतां नयनानंद ।।
वाय वींझणे प्रभु रे अंग, हरखे मलीने समाज संग ।
समरथमल वर्जेंगजीरा बडभागी, खर्ची सवासो पाम्या आबादी ।।
शुकराज छगनलाल अभीराम, जेरुपजीरो दिपाव्यो नाम ।
चडती दशाने भाग्य ज जागे, गुंहली रचावे प्रभु रे आगे ।।
साचा मोतीरो साथीओ पुरावे, श्रीफल सोपारी उपर मुकावे ।
मुता प्रतापचंद भलाजीकेरा, करे छांटला केशर गेरा ।।
सोवन कचोली भरी निज हाथ, मनमोहन पुजे जगतात ।
एकसो पचीस भावथी आपे, भव भव भावठ जीनजी कापे ।।
रंग पाकोने पांनांज झळके, शोभा अपार ताराज्युं चळके ।
मंडली करे नृत्य जीन आगे, भाव उज्वल सुणतां जागे ।।
तबलां पेटीरी मचावे धुन, मधुर स्वरथी गावे छे गुण ।
दश दिवस नोकारसी कीनी, द्रव्य खर्चीने कीरती लीनी ।।
भात भातना करी पकवान, जीमे महाजन वध्यो जशमान ।
रात्रे भावना बेसे जे वार, झगमग दीप जोत अपार ।।
आठे दिवस पुजा भणाय, नवनवी आंगी नीत रचाय ।
अष्टोतरी पूजा छेली भणाय, चडती संघमां जय जय वरताय ।।
मंत्र पुरण जे टाणे थावे, अष्टद्रव्य लई प्रीते चडावे ।
संघ सर्व त्यां हाजर समाज, जय जय बोले एक अवाज ।।
समाप्त ओच्छव ईणी रीते थाय, रेडीओ मंडपमां नीत गोठवाय ।
टुंक वर्णन बहोलो विस्तार, विद्यासागरनो न आवे पार ।।
कविजन भाखे मुखथी साफ, भूलचूकरी करजो माफ ।
ए गुण प्रभुना जे जन सांभळसे, भवना बंधन दुःखडां टळसे ।।
सद्गुरु सेवामां सद्भाग, श्रीजैनधर्म स्हाये वीतराग ।
नेमीचंदनी वाणी गुणखाणी, भवीजन लेजो प्रीते पिछाणी ।।

चातुर्मास में पधारे हुए मुनि भगवंत एवं साध्वीजी महाराज

आचार्यदेव श्रीमद्विजय विद्याचंद्रसूरीश्वरजी महाराज के शिष्य एवं
मुनिराज श्री रामचंद्रविजयजी के कृपापात्र
मुनिराज श्री जयानंदविजयजी,
मुनिराज श्री दिव्यानंदविजयजी, मुनिराज श्री तत्त्वानंदविजयजी आदि ठाणा
गच्छाधिपति १०८ आचार्यदेव **श्री हेमेन्द्रसूरीश्वरजी** के आज्ञानुवर्तिनी
प्र.शा.दी.वि. सा. **श्री मुक्तिश्रीजी,** वि.सा.**श्री महेन्द्रश्रीजी** की सुशिष्याएँ
वि.सा. श्री किरणप्रभाश्रीजी, वि.सा. श्री प्रमितगुणाश्रीजी आदि ठाणा

जिनकी निश्रा में चातुर्मासिक आराधना एवं उपधान तप की आराधना सानंद संपन्न हुई। चातुर्मासिक आराधना एवं उपधान आराधना में लाभ लेनेवाले एवं आराधना करनेवालों की शुभ नामावली।

नमस्कार महामंत्र आराधना

श्रावण सुद ७ बुधवार दि.१४/८/२००२
शा. पारसमल, नेमीचंद, विक्रमकुमार, अंकुशकुमार, आकाशकुमार बेटा-पोता नथमलजी प्रागजीकोमदार
फर्म - संतोष टैक्सटाईल्स, क्लोथ मर्चेन्ट नं. ३०२ टैक्सटाईल्स टोवर मार्केट रींग रोड, सूरत

श्रावण सुद ८ गुरूवार दि.१५/८/२००२
शा. हस्तीमल, लखमीचंद, किरणकुमार, प्रकाशकुमार, किशोरकुमार, उत्सवकुमार बेटा-पोता भलेचंदजी खीमाजी नागोत्रा सोलंकी
फर्म - भणसाली केमिकल्स, चेन्नई

श्रावण सुद ९ शुक्रवार दि.१६/८/२००२
शा. दूधमल, नरेन्द्रकुमार, रमेशकुमार, वीरल, अतुल, कीरीट बेटा-पोता लालचंदजी भलाजी मंडोत
फर्म-मंगल आर्ट, ४३ डोसी बिल्डींग, ३रा भोईवाडा, मुम्बई -२

श्रावण सुद १० शनिवार दि.१७/८/२००२
शा. घेवरचंद, दिनेशकुमार, लेखराज बेटा-पोता लालचंदजी भलाजी मंडोत
फर्म - घेवरचंद मंगलचंद, ४४ पेरूमल मुदली स्ट्रीट, चैन्नई - ७९

श्रावण सुद ११ रविवार दि.१८/८/२००२
शा. मंगलचंद, विक्रमकुमार बेटा-पोता लालचंदजी भलाजी मंडोत
फर्म - ओसवाल ट्रेडिंग कम्पनी, पेरूमल स्ट्रीट, चैन्नई - ७९

श्रावण सुद १२ सोमवार दि.१९/८/२००२
शा. मांगीलाल, गटमल, शान्तिलाल, कांतिलाल, नेमीचंद, भरत, ललित, राजेश सन्तोष, कमलेश, राहुल, हर्ष बेटा-पोता पूनमचंदजी प्रतापजी
फर्म-नेमिनाथ बिल्डर्स प्रा.लि., २८ सी.पी.चाल साम सेठ स्ट्रीट, मुम्बई - २

श्रावण सुद १३ मंगळवार दि.२०/८/२००२
शा. मांगीलाल, दिनेशकुमार, प्रकाश कुमार, संजयकुमार, कैलाशकुमार, जयन्तिलाल, सतीशकुमार, मोहित बेटा-पोता दीपचंदजी दोनाजी वोरा, फर्म - विशाल, केनिंग स्ट्रीट, कलकत्ता

श्रावण सुद १४ बुधवार दि.२१/८/२००२
शा. पारसमल, महेन्द्रकुमार, पप्पु बेटा-पोता साहेबचंदजी परकाजी सालेचा
फर्म-शा. पारसमलजी साहेबचंदजी, शाहीबाग, अहमदाबाद-४

श्रावण सुद १५ गुरूवार दि.२२/८/२००२

शा. लीलचंद, संजयकुमार, जितेन्द्रकुमार बेटा-पोता हंसराजजी कस्तुरजी कामदार

फर्म-संजय फैन्सी सेन्टर, पुली पटीवरी स्ट्रीट, विजयवाडा - १

आद्रवा वद १ शुक्रवार दि.२३/८/२००२

पारणा

शा. रघुनाथमल, नेमिचंद, नरपतराज, महेन्द्रकुमार, महावीरकुमार, राकेश, विशाल, मानव, चेतन बेटा-पोता सोनमलजी जसाजी वडेर मुता

फर्म-कांति टैक्सटाईल्स, ९ काशी सेटी स्ट्रीट, चैन्नई -७९

पंचरंगी तपरा पारणा

शा. कांतिलाल, मदनलाल, मांगीलाल, प्रकाश, कैलाश, दिनेश, जगदीश, अरविन्द, नरेन्द्र, अभय, अभिषेक, अजय बेटा-पोता गेबचंदजी सोनाजी वडेर मुथा

फर्म - मंगल मोती सिन्डीकेट, ३०/१५ काशी चेट्टी स्ट्रीट, चैन्नई - ७९

व्याख्यान में श्री श्राद्ध दिनकृत्य सूत्र वहोराने का लाभ

शा. तिलोकचंद, शान्तिलाल, पृथ्वीराज, राकेश, रोशन, हितेश, हार्दिक बेटा-पोता समरथमलजी सागरजी दुर्गाणी

फर्म - पृथ्वी कलेक्शन्स, चिकपेट डी. एस. लेन, बैंगलोर - ५३

श्री समराइच्च कहा वहोराने का लाभ

शा. कपूरचंद, अशोककुमार, अरविन्द कुमार, दिनेशकुमार, सतीश, आकाश, अमन, अनीश, रीतिक, राहुल बेटा-पोता हंसराजजी कस्तुरजी कामदार, फर्म - राजेन्द्र नोवल्टी हाऊस, नन्दी पाटीवारी स्ट्रीट, विजयवाड़ा

पर्वाधिराज पर्युषण में प्रभु भक्ति पूजा, प्रभावना, आंगी

एकासना आयंबिल

(चौसठ प्रहरी पौषधवालों को)

शा. सांकलचंद, प्रवीणकुमार, हार्दिक कुमार बेटा-पोता मिश्रीमलजी सुलतानजी दुर्गाणी

फर्म - दुर्गाणी एण्ड कम्पनी, २३ रघुनायकलु स्ट्रीट, चैन्नई - ३

आद्रवा वद ११ मंगलवार दि. ३/९/२००२

शा. पारसमल, दिलीपकुमार, विनोद कुमार, वरूणकुमार बेटा-पोता जगाजी सदाजी सालेचा

फर्म - शा. पारसमल जुगराजजी सालेचा, बाकरा

आद्रवा वद १२ बुधवार दि. ४/९/२००२

शा. चम्पालाल, दिनेशकुमार, धर्मेन्द्र कुमार, हितेशकुमार, दिलीप, रोशन, चीकू, हनीश बेटा-पोता घेवरचंदजी सरेमलजी दुर्गाणी

फर्म - एस. मांगीलाल एण्ड ब्रधर्स, ११ काशी चेटी लेन, चैन्नई - ७९

आद्रवा वद १३ बुधवार दि. ५/९/२००२

शा. मिश्रीमल, जयन्तिलाल, हितेशकुमार, महिपाल बेटा-पोता साहेबचंदजी सालेचा

फर्म - मिश्रीमल सुरेशकुमार, ४३ पेरूमल मुदली स्ट्रीट, चैन्नई

आद्रवा वद १४ गुरूवार दि. ६/९/२००२

शा. मांगीलाल, बिन्दू बेटा-पोता-पोता नेनमलजी सरेमलजी दुर्गाणी

फर्म - नवरतन डायमण्ड, मंडपाल स्ट्रीट, नेल्लूर-१

आद्रवा वद ३० शुक्रवार दि. ७/९/२००२

शा. मेघराज, विनोदकुमार बेटा-पोता जेठमलजी नवाजी सालेचा

फर्म - प्रिन्स सिन्डीकेट, बैंगलोर

भाद्रवा सुद २ शनिवार दि. ८/९/२००२

शा. कांतिलाल, उत्तमचंद, श्रीपालकुमार, सुनीलकुमार, विशालकुमार बेटा-पोता सुमेरमल भोनाजी सालेचा

फर्म-उत्तम सिल्क इम्पोरियम, १२ जैन मार्केट चिकपेट क्रोस, बैंगलोर - ५३

भाद्रवा सुद ३ रविवार दि. ९/९/२००२

शा. मांगीलाल, मुकेशकुमार, नमण कुमार बेटा-पोता फोजमलजी कालुजी दुर्गाणी

फर्म - एम. के. इन्टरप्राईजेज, ७२ ए.एम. लेन, चिकपेट क्रोस, बैंगलोर - ५३

भाद्रवा सुद ४ सोमवार दि. १०/९/२००२

शा. मांगीलाल जुगराज, हीराचंद, अशोक कुमार, संतोषकुमार, विकास, रविन्द्र, रोहित, चिराग, राहुल, आशीष बेटा-पोता छगनराजजी मूलाजी

फर्म-शा. मांगीलाल हिराचंद, ८७/ए डी, देवराज अर्स रोड, मैसूर

भाद्रवा सुद ५ मंगलवार दि. ११/९/२००२

शा. देवीचंद, नेमीचंद, रोशन बेटा-पोता वरदाजी जगरूपजी सालेचा

फर्म - महालक्ष्मी शुगर्स, ३५ कोन्नाइस्टलअमन कोइल स्ट्रीट, इरोड-१

दर्शनाभिलाषी

शा. संघवी रीखबचंद, प्रकाशकुमार, उत्तमचन्द, कुणाल, संभव बेटा-पोता ताराजी गजाजी, नागोत्रा सोलंकी

फर्म-आर. टी. शाह, ३० गोविन्दाप्पा नायकन स्ट्रीट, चेन्नई

चातुर्मास दरम्यान हमारे नगर में तपश्चर्या करनेवालों की शुभ नामावली

मासक्षमण

सौ. कमलादेवी सुमेरमलजी

सौ. कमलादेवी अमरचंदजी

सौ. मंजुलादेवी राजेन्द्रकुमाजी

सिद्धि तप

सौ. शान्तिदेवी दूधमलजी

सौ. फोरीदेवी हस्तीमलजी

श्रीमती पद्मावतीदेवी नेणमलजी

पन्द्रह उपवास

दीपीदेवी भंवरलालजी

ग्यारह उपवास

लताकुमारी देवीचंदजी

गणधर तप

सौ. लीलादेवी पारसमलजी

अट्ठाई

शा. भंवरलालजी समरथमलजी, बाकरा

शा. जयंतीलालजी भंवरलालजी, बाकरा

शा. जुगराजजी समरथमलजी, बाकरा

शा. चम्पालालजी छोगाजी, बाकरा

शा. कुन्दनमलजी छोगाजी, बाकरा

शा. मांगीलालजी फोजमलजी, बाकरा

शा. नरपतराजजी रघुनाथजी, बाकरा

शा. मेघराजजी होसाजी, बाकरा

शा. कान्तिलालजी सरेमलजी, बाकरा

शा. मांगीलालजी नेनमलजी, बाकरा

शा. किरणकुमार हस्तीमलजी, बाकरा

शा. प्रकाशकुमार हस्तीमलजी, बाकरा

शा. श्रेणिककुमार भंवरलालजी, बाकरा

शा. भरतकुमार सुमेरमलजी, बाकरा

शा. किरणकुमार फोजमलजी, बाकरा
शा. दिलीपकुमार चम्पालालजी, बाकरा
शा. महिपालकुमार कुन्दनमलजी, बाकरा
शा. जितेन्द्रकुमार लालचंदजी, बाकरा
शा. रमेशकुमार दूधमलजी, बाकरा
शा. सुरेशकुमार रूपचंदजी, बाकरा
शा. अशोककुमार कपूरचंदजी, बाकरा
शा. रमेशकुमार मिसरीमलजी, बाकरा
श्रीमती संगीतादेवी किरणकुमारजी, बाकरा
श्रीमती जुलीदेवी प्रकाशकुमारजी, बाकरा
श्रीमती बबीतादेवी किशोरकुमारजी, बाकरा
श्रीमती विमलादेवी जयंतीलालजी, बाकरा
श्रीमती शांतिदेवी जुगराजजी, बाकरा
श्रीमती सोवनदेवी महेन्द्रकुमारजी, बाकरा
श्रीमती भारतीदेवी ललीतकुमारजी, बाकरा
श्रीमती पिंकीदेवी भरतकुमारजी, बाकरा
श्रीमती शांतीदेवी फोजमलजी, बाकरा
श्रीमती दाडमीदेवी कान्तिलालजी, बाकरा
श्रीमती रेखादेवी नेमीचंदजी, बाकरा
श्रीमती कमलादेवी चम्पालालजी, बाकरा
श्रीमती राजुबेन कुन्दनमलजी, बाकरा
श्रीमती लताबेन दिलीपकुमारजी, बाकरा
श्रीमती अकलुदेवी छगनराजजी, बाकरा
श्रीमती लीलादेवी पारसमलजी, बाकरा
श्रीमती कमलादेवी मांगीलालजी, बाकरा
श्रीमती गवरीदेवी रघुनाथजी, बाकरा
श्रीमती सुशीलादेवी अशोककुमारजी, बाकरा
श्रीमती राजुलदेवी रमेशकुमारजी, बाकरा
श्रीमती पुष्पादेवी देवीचंदजी, बाकरा
श्रीमती सजनबाई सरेमलजी, बाकरा
श्रीमती उषादेवी कान्तिलालजी, बाकरा
श्रीमती विमलादेवी मांगीलालजी, बाकरा
टीनाकुमारी हस्तीमलजी, बाकरा
श्वेताकुमारी रामचन्द्रजी, सरत
संतोषकुमारी मांगीलालजी, बाकरा
त्रिशलाकुमारी मांगीलालजी, बाकरा

चौसठ प्रहरी पौषध के आराधक

शा.हुकमीचंदजीजुहारमलजी,बाकरा-(११ उपवास)
शा. भरतकुमार रिखबचंदजी, भूती-(९ उपवास)
शा. मोतीलालजी गोडीदासजी, आहोर -(अट्ठाई)
शा. शांतीलालजी गणेशमलजी, आहोर-(अट्ठाई)
शा. भंवरलालजी वस्तीमलजी, आहोर-(अट्ठाई)
शा. सूरजमलजी खूमाजी, सायला-(अट्ठाई)
परीख शशीकान्त नरपतलालजी, थराद-(अट्ठाई)
परीख रमणलाल चंदुभाई, थराद-(अट्ठाई)
परीख भाविन अरविन्दभाई, थराद-(अट्ठाई)
वारिया राजेन्द्रकुमार वाघजीभाई, थराद-(अट्ठाई)
अदाणी शैलेष अमृतलालजी, थराद-(अट्ठाई)
शा. मदनराजजी देवीचंदजी, भीनमाल
शा. दौलतराजजी बाबुलालजी, भीनमाल
शा. हीराचंदजी जीवराजजी, भीनमाल
शा. पृथ्वीराजजी बाबुलालजी, भीनमाल
शा. खीमचंदजी सरेमलजी, भीनमाल
शा. रमेशकुमार रावताजी, भीनमाल
शा. फुटरमलजी चुन्नीलालजी, गुडा बालोतान
शा. जोमतराजजी सोनाजी, कोरा
शा. मनोहरमलजी कोनाजी, धुम्बडिया
शा. तिलोकचंदजी प्रतापजी, मोदरा
शा. मीठालालजी थोनाजी, मोदरा
शा. पारसमलजी साहेबजी, बाकरा
परीख गिरीश फोजमलजी, थराद
परीख जिग्नेश बाबुलालजी, थराद
परीख प्रणेश सेवंतिलालजी, थराद
परीख अंकितभाई नवीनभाई, थराद

परीख चिराग प्रवीणभाई, थराद
वोहेरा पारस हिम्मतलालजी, थराद
वारिया वाघजीभाई अनोपचंदजी, थराद
वारिया धुडाभाई भूदरमलजी, थराद
वारिया रोहित नवीनभाई, थराद
वारिया मेहूल धुडाभाई, थराद
वारिया पिन्टु चंदुभाई, थराद
शा. मांगीलालजी मिश्रीमलजी, सांथू
लीलाबाई भंवरलालजी, आहोर-(अट्ठाई)
गुलाबीबाई नेनमलजी, बाकरा
बगुबाई रिखबचंदजी, बाकरा
गंगाबाई छगनराजजी, बाकरा
भमरीबाई जेठमलजी, बाकरा
भमरीबाई चंपालालजी, बाकरा-(अट्ठाई)
रेशमीबाई हरकचंदजी, बाकरा
हुलीबाई शेषमलजी, बाकरा
कमलाबाई भैरूलालजी, कडोद
कन्नीबाई जूठमलजी, रेवतड़ा
जमनाबाई फुटरमलजी, गुडाबालोतान्
एकताबेन अंकितकुमार, थराद
शांतीबाई शांतिलालजी, आहोर
मोहनबाई मोतीलालजी, आहोर
रूचिकुमारी प्रेमचंदजी, बागरा
फोरीबाई हस्तीमलजी, बाकरा

प्रभु का पारणा
घर ले जाने का लाभ

शा. सुमेरमल, महेन्द्रकुमार, ललितकुमार, भरतकुमार, आशिककुमार, अक्षयकुमार बेटा-पोता जुहारमलजी मूलाजी वोरा
फर्म - महेन्द्रा इन्टरप्राईजेज, ३ मामुल पेट, बैंगलोर - ५३

कल्पसूत्र घर ले जाने – वहोराने का लाभ

शा. जुगराज, नेमीचंद, नरेन्द्रकुमार, श्रीपालकुमार, विक्रमकुमार, नितिनकुमार बेटा-पोता समरथमलजी छोगाजी दुर्गाणी
फर्म - नरेन्द्र इन्टरप्राईजेज, पेरूगु बाजार, स्टेशन रोड, अंकापली - ५३१ ००१

बारसा सूत्र घर ले जाने – वहोराने का लाभ

शा. मांगीलाल, मुकेशकुमार, नमणकुमार बेटा-पोता फोजमलजी कालुजी दुर्गाणी
फर्म - मुकेश इन्टरप्राईजेज, २४ ए.एम. लेन, चिकपेट क्रोस, बैंगलोर - ५३

बाकरा से तीर्थेन्द्रनगर एक दिन का छः री पालित संघ का लाभ

शा. मांगीलाल, दिनेशकुमार, प्रकाश कुमार, संजयकुमार, कैलाशकुमार, जयन्तिलाल, सतीश कुमार, मोहित बेटा-पोता दीपचंदजी दोनाजी वोरा
फर्म-विशाल, केनिंग स्ट्रीट, कलकत्ता

पर्युषण पर्व पर तपस्वीयों को पारणा करवाने का लाभ

शा. पारसमल, दिलीपकुमार, विनोद कुमार, वरूणकुमार बेटा-पोता जगाजी सदाजी सालेचा
फर्म - गुरू राजेन्द्र रूलिंग मिल्स, ९ मेटल प्राईवेट लि. मुम्बई

दर्शनाभिलाषी

शा. मांगीलाल, मुकेशकुमार, नमणकुमार बेटा-पोता फोजमलजी कालुजी दुर्गाणी
फर्म - मुकेश इन्टरप्राईजेज, २४ ए.एम. लेन, चिकपेट क्रोस, बैंगलोर - ५३

श्री संघ की आज्ञा से निम्न महानुभावों ने उपधान आराधना में अपनी लक्ष्मी का सदुपयोग किया

भाद्रवा सुद १३, उत्तरपारणा

शा. देवीचंद, कांतिलाल, रमेशकुमार, प्रवीणकुमार, विक्रमकुमार, कपिल, राहुल बेटा-पोता फोजमलजी कालुजी दुर्गाणी

फर्म - रमेश फैन्सी स्टोर, एम. जी. रोड़, विजयनगरम्

एकासणा भाद्रवा सुद १५

शा. भंवरलाल, जयन्तिलाल, सुरेशकुमार, प्रकाशकुमार, महावीरकुमार, श्रेणिक कुमार, प्रीतम, प्रतीक बेटा-पोता-परपोता समरथमलजी छोगाजी दुर्गाणी

फर्म - जैन स्टोर्स, अन्कापली

एकासणा आसोज वद २

शा. पारसमल, दिलीपकुमार, विनोद कुमार, वरूणकुमार बेटा-पोता जगाजी सदाजी सालेचा

फर्म-गुरू राजेन्द्र रोलिंग मिल्स ८ मेटल प्राईवेट लिमिटेड, मुम्बई

एकासणा आसोज वद ४

शा. सुमेरमल, महेन्द्रकुमार, ललीतकुमार, भरतकुमार, महावीरकुमार, आशिक, अक्षय बेटा-पोता जुहारमलजी मूलाजी बोहरा

फर्म - महेन्द्रा इन्टरप्राईजेज, ३ मामुल पेट, बैंगलोर - ५३

एकासणा आसोज वद ५

शा. मीठालाल, पुखराज, लखमीचंद, धरमचंद, मनसुख, संदीप, संजीव, महावीर, सुनील, प्रवीण, जितेन्द्र, संतोष, दीपक, नरेन्द्र, पियुष, आयुष, आशिष, बादल, ऋषभ, अक्षीत, रोशन, प्रेम, योगेश, शुभम्, प्रतीक, निश्चल बेटा-पोता-प्रपोता हरकचंदजी उम्मेदमलजी भण्डारी

फर्म - संदीप ज्वेलर्स, सराफ बजार, जमखंडी

एकासणा आसोज वद ७

शा. चम्पालाल, कुंदनमल, दिलीपकुमार, किरणकुमार, भरतकुमार, सचिनकुमार, मुकेश, महिपाल, प्रदीप, केविन, पूजन बेटा-पोता छोगमलजी साहेबजी भण्डारी

फर्म - जैन टाईम हाऊस, नरसापुर

एकासणा आसोज वद ९

शा. सुमेरमल, अशोककुमार, सुरेशकुमार, ललितकुमार, पलास, शैलेश, रीकेश, यश बेटा-पोता भानमलजी साहेबजी भण्डारी

फर्म - श्री नाकोड़ा ज्वेलर्स, नरसापुर

एकासणा आसोज वद ११

शा. बाबूलाल, कान्तिलाल, रमेशकुमार, जुगराज, रतन, राकेश, धीरज, मुकेश, विक्रम, दर्शन, यश बेटा-पोता दीपचंदजी उमेदाजी छत्रिया वोरा

फर्म - राजेन्द्र सेल्स एजन्सी, ३६/९, रेडीरामन स्ट्रीट, चैन्नई-७९

एकासणा आसोज वद १४

शा. संघवी उकचंद, कान्तिलाल, सूरजमल, प्रवीणकुमार, ललितकुमार, कैलाशकुमार, विमलकुमार, विपुलकुमार, आशीष, शुभम बेटा-पोता नाराजी गजाजी नागोत्रा सोलंकी

फर्म - विमल इन्वेस्टमेंट, ३० गोविन्दाप्पा नायकन स्ट्रीट, चैन्नई-१

एकासणा आसोज सुद १

शा. उकचंद, अशोककुमार, नरेश, भावेश बेटा-पोता जुगराजजी सदाजी सालेचा

फर्म - शा. उकचंद जुगराजजी, बाकरा

एकासणा आसोज सुद ४

शा. मांगीलाल, गटमल, शान्तिलाल, कान्तिलाल, नेमीचंद, भरत, ललित, राजेश, सन्तोष, कमलेश, राहुल, हर्ष बेटा-पोता पूनमचंदजी प्रतापजी
फर्म-नेमीनाथ बिल्डर्स प्रा. लि., २८ सी.पी. चाल साम सेठ स्ट्रीट, मुम्बई - २

एकासणा आसोज सुद ६

शा. सुरेशकुमार, महावीरकुमार, अरूण, आतिष, अमित बेटा-पोता चम्पालालजी नेनमलजी मांडोत
फर्म - मांडोत इम्पेक्स, १० वेंकटरायन लाईन, चैन्नई - ३

एकासणा आसोज सुद ८

शा. मांगीलाल, मीठालाल, कमलेश कुमार, धीरजकुमार, विक्रमकुमार बेटा-पोता पूनमचंदजी साहेबजी भण्डारी
फर्म-धीरज मेटल हाऊस, १९, रघुनाय कुलु स्ट्रीट, चैन्नई - ३

एकासणा आसोज सुद १०

शा. इन्द्रमलजी, रमेशकुमार, चन्दनमल, प्रवीणकुमार, अरविन्द, जितेश, रोहित बेटा-पोता जुहारजी जेरूपजी नागोत्रा सोलंकी
फर्म-चन्दन स्टील, १९९२ नागजी भूदल पोल, माणक चौक, अहमदाबाद

एकासणा आसोज सुद ११

शा. देवीचंद, मांगीलाल, सुरेशकुमार, हेमन्तकुमार, ऋषभकुमार बेटा-पोता वरदाजी जगरूपजी सालेचा
फर्म-श्री महालक्ष्मी इन्टरप्राईजेज, ५६ कोनाइस्टल अमन कोइल स्ट्रीट, ईरोड - १

एकासणा आसोज सुद १३

शा. मूलचंद, महेन्द्रकुमार, ललित, कमलेश, संदीप, नवीन, आशीष, चेतन, अंकित बेटा-पोता छगनराजजी मिश्रीमलजी दुर्गाणी
फर्म - श्री महेन्द्रा मेटल हाऊस, ३३ रघुनाकलु स्ट्रीट, चैन्नई-३

एकासणा आसोज सुद १५

संघवी रीखबचंद, प्रकाशकुमार, उत्तमचन्द, कुणाल, संभव बेटा-पोता ताराजी गजाजी नागोत्रा सोलंकी
फर्म-आर. टी. शाह, ३०, गोविन्दाप्पा नायकन स्ट्रीट, चैन्नई

एकासणा कार्तिक वद २

शा. कान्तिलाल, उत्तमचंद, राजेशकुमार, भावेश बेटा-पोता हंसराजजी कस्तुरजी मांडोत
फर्म - शा. कस्तुरचंद भंवरलाल, पेरूमाल मुदली स्ट्रीट, चैन्नई - ७९

एकासणा कार्तिक वद ४

शा. पारसमलजी, दिलीपकुमार, विनोद कुमार, वरूणकुमार बेटा-पोता जुगराजजी सदाजी सालेसा, मुम्बई

एकासणा कार्तिक वद ६

शा. मेघराज, तेजराज, सन्तोषकुमार, चिराग बेटा-पोता हंसराजजी कस्तुरजी मांडोत
फर्म - सन्तोष नोवल्टी, पूली पाटी वारी स्ट्रीट, विजयवाड़ा - १

एकासणा कार्तिक वद ८

शा. मांगीलाल, जुगराज, हीराचंद, अशोककुमार, सन्तोषकुमार, विकास, रविन्द्र, रोहित, चिराग, राहुल, आशीष बेटा-पोता छगनराजजी मूलाजी
फर्म-शा. मांगीलाल हीराचंद, ८७ ए.डी. देवराज अर्स रोड, मैसूर

एकासणा कार्तिक वद १०

मुथा हस्तीमल, लकमीचंद, किरणकुमार, प्रकाशकुमार, किशोरकुमार, उत्सवकुमार बेटा-पोता भलेचंदजी खीमाजी नागोत्रा सोलंकी
फर्म - भंसाली केमिकल्स, चैन्नई-३

एकासणा कार्तिक वद १२

शा. भंवरलाल, पुखराज, अश्विनकुमार, सुरेशकुमार बेटा-पोता हंसराजजी कस्तुरजी मांडोत

फर्म - मद्रास फैन्सी स्टोर, ५८ पेरूमल मुदली स्ट्रीट, चैन्नई-७९

एकासणा कार्तिक वद ३०

शा. जुगराज, नेमीचंद, नरेन्द्रकुमार, श्रीपालकुमार, विक्रमकुमार, नीतिनकुमार बेटा-पोता समरथमलजी छोगाजी दुर्गाणी

फर्म-नरेन्द्र इन्टरप्राईजेज, पेरूगु बजार, अंकापल्ली

एकासणा कार्तिक सुद २

शा. मिश्रीमल, देवीचंद, सूरजमल, रमेशकुमार, महावीरकुमार, नरेन्द्रकुमार, जुगराज, संजयकुमार, खेतमल, अमीत बेटा-पोता नाथाजी प्रतापजी छत्रिया वोरा

फर्म-शा. नेमाजी नथमल, १५-७, गंगानामा स्ट्रीट, गुडीवाडा

एकासणा कार्तिक सुद ४

शा. मिलापचंदजी, गौतमकुमार, राजेश कुमार, पंकजकुमार बेटा-पोता भंवरलालजी मिश्रीमलजी दुर्गाणी

फर्म-राजेन्द्रा एण्ड कंपनी, ६ समुन्द्र मुदली स्ट्रीट, चैन्नई - ३

एकासणा कार्तिक सुद ५

शा. मोहनलाल, प्रवीणकुमार, जितेन्द्र कुमार बेटा-पोता सोनमलजी जीवाजी भण्डारी

फर्म - वर्धमान इन्टरप्राईजेज, स्प्रींग रोड, विशाखापट्टनम-२

उपधान तप के तपस्वीयों का पारणा

कार्तिक सुद ७

शा. पारसमल, दिलीपकुमार, विनोद कुमार, वरूणकुमार बेटा-पोता जुगराजजी सदाजी सालेसा

फर्म-जुगराज तेजराज एजेन्सी प्रा. लि., मुम्बई

उपधान आराधना में तपस्वीयों ने

उपकरण देवारो चढ़ावो

शा. मांगीलाल, मुकेशकुमार, नमणकुमार बेटा-पोता फोजमलजी कालुजी दुर्गाणी

फर्म - एम. के. इन्टरप्राईजेज, ७२ ए. एम. लेन चिकपेट, बैंगलोर - ५३

अट्ठाई एवं इस के ऊपर के तपस्वीयों का

बहुमान करने का चढ़ावा

शा. चम्पालाल, कुन्दनमल, दिलीप कुमार, किरणकुमार, भरतकुमार, सचिन कुमार, मुकेशकुमार, महिपालकुमार, प्रदीपकुमार, केविन, पूजन बेटा-पोता छोगमलजी साहेबाजी भण्डारी

फर्म-जैन टाईम हाऊस, कोर्ट स्ट्रीट, नरसापुर

दर्शनाभिलाषी

शा. पारसमल, दिलीपकुमार, विनोद कुमार, वरूणकुमार बेटा-पोता जुगराजजी सदाजी सालेसा

फर्म-जुगराज तेजराज एजेन्सी प्रा. लि., मुम्बई

महामंगलकारी उपधान तप में निम्न महानुभावों ने आराधना का अनुपम लाभ लिया उनकी शुभनामावली

प्रथम उपधान करनेवाले महानुभाव

श्री अमरचंदजी रामाजी, साँथू
श्री मांगीलालजी शिवराजजी, साँथू
श्री घेवरचंदजी ताराजी, बाकरा
श्री मीठालालजी जैरूपचंदजी, धाणसा
श्री भीखमचंदजी नथमलजी, भैंसवाड़ा
श्रीमती गुलाबीदेवी नेनमलजी दुर्गाणी, बाकरा
श्रीमती लीलादेवी रतीलालजी, बाकरा
श्रीमती मंजुलादेवी बाबुलालजी, धाणसा
श्रीमती फोरीदेवी हस्तीमलजी, बाकरा
श्रीमती मरगीदेवी मूलचंदजी, बाकरा
श्रीमती ललीतादेवी ललीतजी, बाकरा
श्रीमती शांतीदेवी घेवरचंदजी, दादाल
श्रीमती शांतीदेवी शेषमलजी, सुराणा
श्रीमती सुगंधीदेवी बंशीलालजी, आकोली
श्रीमती वलमीदेवी ओटमलजी, आलासन
श्रीमती पुष्पादेवी शांतीलालजी, आलासन
श्रीमती मोहनीदेवी कांतीलालजी, आलासन
श्रीमती शांतीदेवी छगनराजजी हकमाणी, पाँथेड़ी
श्रीमती प्यारीदेवी बाबुलालजी कोठारी, बाकरा
श्रीमती भंवरीदेवी गोदराजजी, भीनमाल
श्रीमती भमरीदेवी लकमीचंदजी हिराणी, रेवतड़ा
श्रीमती शान्तीदेवी हस्तीमलजी वेदमुथा, रेवतड़ा
श्रीमती प्यारीदेवी मीठालालजी, धाणसा
श्रीमती मंजुलादेवी भूरमलजी, धाणसा
श्रीमती गवरीदेवी रघुनाथमलजी वडेरमुथा, बाकरा
श्रीमती शांतीबाई लालचंदजी वडेरमुथा, बाकरा
श्रीमती बगसुबाई छगनराजजी दरगोणी, बाकरा
श्रीमती सज्जनबाई सरेमलजी क्षत्रीया वोरा, बाकरा
श्रीमती जड़ावीबाई जुगराजजी वेदमुथा, रेवतड़ा
श्रीमती गुलाबीबाई सौभागमलजी क्षत्रीय वोरा (शोभराजजी) बाकरा
श्रीमती गवरीबाई मुलतानमलजी दुरगोणी, बाकरा
श्रीमती पानीबाई रीखबचंदजी क्षत्रिय वोरा, बाकरा
श्रीमती प्यारीबाई गटमलजी हुण्डिया, दासपा
श्रीमती शान्तीबाई पीरचंदजी कोठारी, मडगांव
श्रीमती धापुबाई सोनमलजी भंसाली, बाकरा
श्रीमती प्यारीबाई मीठालालजी, धाणसा
श्रीमती भागवंतीबाई पुखराजजी, भैंसवाड़ा
श्रीमती सविताबाई अमृतलालजी, थराद
श्रीमती सीताबाई नैनमलजी, धाणसा
बेबीकुमारी नैनमलजी, बाकरा
गीताकुमारी नैनमलजी, बाकरा
कविताकुमारी मोहनलालजी, धाणसा
टींकाकुमारी जुगराजजी दुरगाणी, बाकरा
त्रिशलाकुमारी ओटमलजी क्षत्रीय वोरा, बाकरा
बबीताकुमारी ओटमलजी क्षत्रीय वोरा, बाकरा
संगीताकुमारी उदयचंदजी दुरगाणी, बाकरा
पिंकीकुमारी राजेन्द्रकुमारजी क्षत्रीय वोरा, बाकरा
पिंकीकुमारी उदयचंदजी दुरगाणी, बाकरा
लताकुमारी देवीचंदजी, बाकरा
डिम्पलकुमारी छगनराजजी हकमाणी, पाँथेड़ी
चन्द्राकुमारी तेजराजजी, दादाल
हीनाकुमारी छगनराजजी, जुना जोगापुरा
ममताकुमारी हरखचंदजी, जुना जोगापुरा
दिव्याकुमारी दानमलजी, जुना जोगापुरा

द्वितीय उपधान करनेवाले महानुभाव

श्री हस्तीमलजी भलाजी, बाकरा
श्री मांगीलालजी पेराजमलजी, मोदरा
श्रीमती हुलीबाई शेषमलजी, बाकरा

श्रीमती पद्मावतीबाई नैनमलजी, बाकरा
श्रीमती पद्माबाई कुन्दनमलजी, बाकरा
श्रीमती विमलादेवी कांतीलालजी, बाकरा
श्रीमती कमलादेवी मांगीलालजी, बाकरा
श्रीमती सुमटीदेवी भीकमचंदजी, भैंसवाड़ा
श्रीमती पारूदेवी घेवरचंदजी संघवी, बाकरा
श्रीमती पोनीबाई मीठालालजी, बाकरा
श्रीमती जमुदेवी रीखबचंदजी, बाकरा
श्रीमती लीलादेवी भैरूलालजी, आहोर
श्रीमती पवनीदेवी सुमेरमलजी, सुराणा
मंगलीकुमारी ओटमलजी, सुराणा
श्रीमती जमुबाई हस्तीमलजी, सुराणा
श्रीमती सुमटीबाई लादमलजी, सुराणा
मनीषाकुमारी तेजराजजी, दादाल
अल्काकुमारी कांतीलालजी, बिशनगढ़
टीणाकुमारी हस्तीमलजी, बाकरा
श्रीमती आशादेवी कांतीलालजी, बिशनगढ़
श्रीमती जमकुदेवी भंवरलालजी, मोदरा

तृतीय उपधान करनेवाले महानुभाव

श्री मूलचंदजी पुखराजजी, सियाणा
श्री हुकमीचंदजी जुहारमलजी, बाकरा
श्री घेवरचंदजी हस्तीमलजी, भीनमाल
श्रीमती मेतीबाई रिखबचंदजी, बाकरा
श्रीमती सुआदेवी फुलचंदजी, बाकरा
श्रीमती लीलादेवी पारसमलजी, बाकरा
श्रीमती कोनुदेवी मंगलचंदजी भण्डारी, जालोर
श्रीमती सुकीदेवी मोहनलालजी, आहोर
श्रीमती सुकीबाई थानमलजी, आहोर
श्रीमती शांतीबाई रिखबचंदजी, आकोली
श्रीमती कमलादेवी कानमलजी, आकोली
अठारिया शा. उकचंदजी ताराचंदजी संघवी

उपधान में उजमणा में

छोड़ भरवाने वालों के नाम

शा. मीठालालजी जैरूपचंदजी बंदामुथा, धानसा
शा. उकचंदजी ताराजी संघवी, बाकरा
शा. माँगीलालजी पेराजमलजी रतनपुरा वोहरा, मोधरा
मुथा भीकमचंदजी नथमलजी, भैंसवाड़ा
शा. धरमचंदजी मुलतानमलजी दुर्गाणी, बाकरा
शा.रतीलालजी तगाजी दुर्गाणी, बाकरा
शा. पीरचंदजी सुरजमलजी कोठारी, मडगांव
शा. लकमीचंदजी छगनराजजी हीराणी, रेवतड़ा
शा. जुगराजजी पुनमचंदजी वेदमुथा, रेवतड़ा
शा. नैनमलजी तगाजी दुर्गाणी, बाकरा
शा. कान्तीलालजी धरमाजी श्रीश्रीमाल संघवी, आलासण
शा. ओटमलजी धरमाजी श्रीश्रीमाल संघवी, आलासण
शा. गोदराजजी जोमतराजजी बोहरा, भीनमाल
शा. रघुनाथमलजी सोनाजी वडेरमुथा, बाकरा
शा. सुरेशकुमार लालचंदजी वडेरमुथा, बाकरा
शा. गटमलजी हंजारीमलजी हूडीया, दासपा
शा. नेमीचंदजी सरेमलजी क्षत्रियवोरा, बाकरा
शा. घेवरचंदजी जोमतराजजी संघवी, धानसा
शा. छगनराजजी रोमाजी श्रीपत बोराणा राठौड़, पाँथेड़ी
शा. मुलचंद छगनराजजी दुर्गाणी, बाकरा
शा. पुकराजजी केसाजी बंदामुथा, धानसा
शा. बाबुलालजी गोराजी कोठारी, बाकरा
शा. रूपचंदजी देवीचंदजी खाटेड संघवी, बाकरा
शा. जुगराजजी समरताजी दुर्गाणी, बाकरा
शा. कैलाशकुमारजी मिश्रीमलजी मुथा, माण्डवला
शा. मनोरमलजी पुकराजजी मुथा, भैंसवाड़ा
शा. मेलापचंदजी भंवरलालजी दुर्गाणी, बाकरा
शा. रिकबचंदजी पनाजी क्षत्रिय वोरा, बाकरा
शा. हस्तीमलजी उकाजी सालेचा, धाणसा
शा. अशोककुमार शोभराजजी क्षत्रीय वोरा, बाकरा

मुनिराज श्री जयानंदविजयजी आदि ठाणा
एवं
शासनदीपिका प्रवर्तिनी विदुषी सा. श्री मुक्तिश्रीजी आदि ठाणा की
परम पावन निश्रा में
श्री विमलनाथादि जिनबिम्बों की अंजनशलाका
एवं प्रतिष्ठोत्सव का संक्षिप्त विवरण

दिव्याशीष

कालिकाल सर्वज्ञ शिथिलाचारोन्मूलक विश्वपूज्य
राजेन्द्रकोषादि अनेक ग्रंथ निर्माता मोहनखेड़ादितीर्थ प्रेरक
प्रभु श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी महाराज के पट्टधर
चर्चाचक्रवर्ती श्रीमद्विजय धनचन्द्रसूरीश्वरजी म. के पट्टाभूषण
व्याकरणशास्त्री श्रीमद्विजय तीर्थेन्द्रसूरीश्वरजी म. के पट्टविभूषक
शांतमूर्ति श्रीमद्विय लब्धिचन्द्रसूरीश्वरजी म.सा. की कृपादृष्टि
हमारे बाकरा संघ पर सतत रही है।
चरणों में कोटी कोटी वंदना

परम पावन निश्रा

शिथिलाचारोन्मूलक कालिकाल सर्वज्ञ जगत्पूज्य
परम योगीन्द्राचार्य प्रभु श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी म. के पट्टाभूषण
चर्चाचक्रवर्ती श्रीमद्विजय धनचन्द्रसूरीश्वरजी म. के पट्टधर
विद्याविशारद श्रीमद्विजय भूपेन्द्रसूरीश्वरजी म. के
पट्टादित्य व्याख्यानावाचस्पति श्रीमद्विय यतीन्द्रसूरीश्वरजी म. के पट्टविभूषक
कविरत्न श्रीमद्विजय विद्याचन्द्रसूरीश्वरजी म. के शिष्य एवं
मुनिराज श्री रामचन्द्रविजयजी के कृपापात्र
मुनिराज श्री जयानन्दविजयजी,
मु.श्री दिव्यानंदविजयजी, मु. श्री तत्त्वानंदविजयजी
आदि ठाणा ।

मानद् उपस्थिति

।। विश्वपूज्य प्रातः स्मरणीय युग प्रभावक
१००८ श्रीमद्विजय राजेन्द्रसूरीश्वरजी-धनचन्द्र-भूपेन्द्र-
यतीन्द्र-विद्याचन्द्रसूरि गुरूभ्यो नमः।।
अमर-विद्या-मान-मनोहर भाव-हेत-गुरभ्यो नमः।।
प.पू. तपस्वीरत्न, सुविशुद्ध संयममूर्ति राष्ट्रसंत शिरोमणी
गच्छाधिपति हेमेन्द्रसूरीश्वरजी म.सा. की आज्ञानुवर्ती
स्व. प.पू.गु.विदुषी प्रखर व्याख्यात्री भावश्रीजी म.सा.,
प.पू. स्व. गुरु विदुषी शांतमूर्ति हेतश्रीजी म.सा., की सुशिष्या
प.पू. शासनदीपिका प्रवर्तिनी गु.
श्रीमुक्तिश्रीजी म.सा., सा. जयंतश्रीजी म.सा.,
सा. चन्द्रप्रभाश्रीजी म.सा., सा. महेन्द्रश्रीजी म.सा.,
सा. हेमप्रभाश्रीजी म.सा., सा. किरणप्रभाश्रीजी म.सा.,
सा. कुशलप्रभाश्रीजी म.सा., सा. कीर्तिप्रभाश्रीजी म.सा.
सा. प्रियलताश्रीजी म.सा., सा. विजयाश्रीजी म.सा.,
सा. तरुणप्रभाश्रीजी म.सा., सा. वसंतबालाश्रीजी म.सा.
सा. तत्त्वदर्शनाश्रीजी म.सा., सा. प्रमितगुणाश्रीजी म.सा.
सा. दर्शनरेखाश्रीजी म.सा., सा. सौम्यदर्शिताश्रीजी म.सा.
सा. सौम्यरत्नाश्रीजी म.सा., सा. मुक्तिप्रज्ञाश्रीजी म.सा.
सा. कैवल्यप्रियाश्रीजी म.सा., सा. संवरवर्षिताश्रीजी म.सा.
सा. मुक्तिरत्नाश्रीजी म.सा., सा. मुक्तिदर्शिताश्रीजी म.सा.
आदि ठाणा।

सं. २०५९ महा सुद ६ शुक्रवार दि. ६/२/२००३ को प्रतिष्ठोत्सव संपन्न हुआ। उसमें लाभ लेनेवालों की शुभ नामावली

मूलनायक श्री विमलनाथजी की मूर्ति भराने के लाभार्थी

शा. उकचन्द, अशोककुमार, नरेश, भावेश बेटा-पोता जगाजी सदाजी सालेचा परिवार

फर्म-मरुधर इंडस्ट्रीज लि., अहमदाबाद

श्री संभवनाथजी की मूर्ति भराने के लाभार्थी

संघवी शा. रीकबचन्द, प्रकाशकुमार, उत्तमचन्द, कुणाल, संभव बेटा-पोता ताराजी गजाजी नागोत्रा सोलंकी परिवार

आर.टी. शाह एण्ड कम्पनी, चेन्नई

श्री महावीरस्वामीजी की मूर्ति भराने के लाभार्थी

मांडोत शा. सुरेशकुमार, महावीरचन्द, अरूण, आतिश, अमित बेटा-पोता चंपालालजी नेणमलजी कामदार परिवार

मांडोत इम्पेक्स, नं. १०, वेंकटरायन लेन, चेन्नई - ३

प्रभुजी के मुनीम

शा. नेमीचन्द, कान्तिलाल, अशोककुमार, दिनेशकुमार, मुकेशकुमार, हितेष, संजय, खुशाल बेटा-पोता सरेमलजी मगाजी छत्रिया वोरा परिवार

फर्म - शा. मगराज सरेमल, बैंगलोर-५३

तिलक द्वारा बहुमान

शा. घेवरचन्द, गिरधारीलाल बेटा-पोता छोगाजी जीवाजी भंडारी परिवार

फर्म - राजधानी बेंगल्स, होरपेट, गुमसी सर्कल, टूमकूर-५७२ १०१

माला द्वारा बहुमान

शा. मुन्नीलाल, मीठालाल, बाबुलाल, पुखराज, प्रकाशकुमार, ललितकुमार, दिनेशकुमार, बालुकुमार, संजयकुमार, पिन्टू, नरेश, भावेश, अंकुश, रिषभ बेटा-पोता फोजमलजी कालुजी दुर्गाणी परिवार

फर्म - पी. प्रकाश फेन्सी स्टोर्स, एम. जी. रोड, विजयनगरम्

साफा-चूनडी द्वारा बहुमान

संघवी शा. घेवरचन्द, अशोककुमार, रमेशकुमार, नेमीचन्द, हेमन्त, मोहित, संभव बेटा-पोता ताराचन्दजी गजाजी नागोत्रा सोलंकी परिवार

फर्म - संघवी क्रेडिट कोरपोरेशन, २८/२३, ई.के. अग्रहारम् स्ट्रीट, चेन्नई-३

भगवान के माता-पिता

शा. मांगीलाल, दिनेशकुमार, प्रकाश कुमार, संजयकुमार, कैलाशकुमार, जयन्तिलाल, सतीशकुमार, मोहितकुमार बेटा-पोता दीपचन्दजी दोनाजी वोरा परिवार

फर्म - 'विशाल' केनिंग स्ट्रीट, कलकत्ता

भगवान के इन्द्र-इन्द्राणी

शा. मिश्रीमल, जयन्तिलाल, हितेषकुमार, महिपाल बेटा-पोता साहेबचन्दजी परकाजी सालेचा परिवार

फर्म - शा मिश्रीमल सुरेशकुमार, ४३, पेरूमल मुदली स्ट्रीट, चेन्नई - ७९

भगवान के मामा-मामी

शा. पारसमल, महेन्द्रकुमार, संजय बेटा-पोता साहेबचन्दजी परकाजी सालेचा परिवार

फर्म - शा. पारसमल साहेबचन्दजी, ३०२, घेवर कोम्पलेक्स, शाहीबाग, अहमदाबाद-४

भगवान के भुआ-भुरोसा

शा. सुरेशकुमार, नरेशकुमार, मुकेश कुमार, आकाश, कुणाल बेटा-पोता जेठमलजी साहेबचन्दजी सालेचा परिवार

फर्म - राजेन्द्रा थ्रेडस्, ५ रेड्डी रामन स्ट्रीट, चेन्नई-७९

महामंत्री

शा. मुन्नीलाल, खीमराज, श्रीपाल, उत्तम बेटा-पोता सोनमलजी अमेदाजी छत्रीया वोरा परिवार
फर्म - नाकोड़ा बेन्कर्स, सरगुर (कर्नाटक)

नगरसेठ

शा. नरेन्द्रकुमार, हीराचन्द, सुरेशकुमार, हितेशकुमार, कुलदीप, नितिन, सोनु बेटा-पोता शेषमलजी कपुरजी वोरा परिवार
फर्म - 'वंदना' वालटेक्स रोड, नायडु प्लाजा, चेन्नई - ३

सेनापति

शा. बाबुलाल, राहुलकुमार, जिगरकुमार बेटा-पोता सोनमलजी सोपाजी दुर्गाणी
फर्म - शा. बाबुलाल सोनमलजी, भंडारी हार्डवेयर एण्ड प्लाईवूड, ५-३-५८७, ओल्ड तोपखाना रोड, ऊसमानगंज, हैदराबाद-५०० ०१२

राजज्योतिषी

संघवी शा. उकचन्द, कान्तिलाल, सूरजमल, प्रवीणकुमार, ललितकुमार, कैलाशकुमार, राजेश, विपुल, आशीष, शुभम् बेटा-पोता ताराचन्दजी गजाजी नागोत्रा सोलंकी परिवार
फर्म - राजेन्द्रा इन्वेस्टमेन्ट, ३० गोविन्दाप्पा नायकन स्ट्रीट, चेन्नई-१

भगवान के सास-ससुर

शा. मूलचन्द, महेन्द्रकुमार, ललित, कमलेश, संदीप, नवीन, आशीष, चेतन, अंकित बेटा-पोता छगनराजजी मिश्रीमलजी दुर्गाणी परिवार
फर्म - महेन्द्रा मेटल हाऊस, ३३, रघुनायकुलु स्ट्रीट, चेन्नई-३

छडीदार

भंडारी शा. दौलतराज, भूपेशकुमार, राजेशकुमार, अश्विनकुमार बेटा-पोता सोनमलजी साहेबजी परिवार
फर्म - आशापूरी इलेक्ट्रोनिक्स, ६८१/एफ, ओपनकारा स्ट्रीट, महाशक्ति टावर्स, कोयम्बटूर-६४१ ००१

प्रियंवदा दासी

शा. रतीलाल, मुकेशकुमार बेटा-पोता तगराजजी सोपाजी दुर्गाणी परिवार

भगवान की बहन राजकन्या

शा. मिश्रीमल, देवीचन्द, सूरजमल, रमेशकुमार, महावीरकुमार, नरेन्द्रकुमार, जुगराज, संजयकुमार, खेतमल, अमित बेटा-पोता नाथाजी प्रतापजी छत्रिया वोरा परिवार
फर्म - शा. नेमाजी नथमल, १५/७, गंगानामा स्ट्रीट, गुडीवाडा (ए.पी.)

कुल महत्तरा

शा. पुखराज, नरेन्द्रकुमार, ललितकुमार, नरपतकुमार बेटा-पोता सरेमलजी भूराजी दुर्गाणी परिवार
फर्म - नवरत्ना डायमण्ड, १३/६६, मंडपाल गली, नेल्लुर (ए.पी.)

कोषाध्यक्ष

शा. नेमीचन्द, प्रवीणकुमार, अरविन्द कुमार बेटा-पोता भूरमलजी हकमाजी भंसाली परिवार
फर्म - वर्धमान एजन्सी, ५३४, मैन रोड, सेवापेट, सेलम-२

हरिणगमैषी देव

शा. चंपालाल, कमलेश, धर्मेश बेटा-पोता सोनमलजी हकमाजी भंसाली परिवार
फर्म - एस.सी. ट्रेडर्स, ४४२/५६६, मैन रोड, सेवापेट, सेलम-२

प्रथम दिवस

माह वद १० सोमवार, दि. २७/१/२००३

कुंभ स्थापना

शा. मांगीलाल, मीठालाल, धीरजकुमार, विक्रमकुमार बेटा-पोता पूनमचन्दजी साहेबाजी भंडारी परिवार

फर्म - धीरज मेटल हाऊस, चेन्नई

दीपक स्थापना

शा. कान्तिलाल, मदनलाल, मांगीलाल, प्रकाश, कैलाश, दिनेश, जगदीश, अरविन्द, नरेन्द्र, अभय, अभिनव, अजय बेटा-पोता गेबचन्दजी सोनाजी वडेरमुथा परिवार

फर्म - मंगल मोती सिन्डीकेट, नं. ३०/१५, काशीचेटी स्ट्रीट, चेन्नई-७९

ज्वारारोपण

शा. घेवरचन्द, उत्तमचन्द, किशोरकुमार, सुरेशकुमार बेटा-पोता मुलतानमलजी छोगाजी रायगाँधी मुथा परिवार

फर्म - एस. के. ट्रेडर्स, बारलेन रोड, टुमकूर-५७२ १०१

पार्श्वनाथ पंच कल्याणक पूजा

शा. पारसमल, महेन्द्रकुमार, संजय बेटा-पोता शा. साहेबचन्दजी परकाजी सालेचा परिवार

फर्म - शा. पारसमल साहेबचन्दजी, नं. ३०२ घेवर कोम्पलेक्स, शाहीबाग, अहमदाबाद - ४

अंगरचना एवं भक्ति भावना

शा. रतनकुमार बेटा-पोता भानमलजी छोगाजी भंडारी परिवार

फर्म - राजधानी बेंगल्स, होरपेट, गुमसी सर्कल, टुमकूर (कर्नाटका)

द्वितीय दिवस

माह वद ११ मंगलवार, दि. २८/१/२००३

प्रातः नाश्ता

शा. कांतिलाल, नेमीचन्द, किरणकुमार, योगेश, महावीर, बादल बेटा-पोता फोजमलजी प्रतापजी नागोत्रा बोहरा परिवार

फर्म - चंचल इन्वेस्टमेन्ट, चेन्नई

सुबह की नवकारसी

शा. देवीचन्द, नेमीचन्द, रोशन बेटा-पोता वरदाजी जगरूपजी सालेचा परिवार

फर्म - महालक्ष्मी शुगर्स, ३५ ईस्ट कोन्गला अमन कोईल स्ट्रीट, ईरोड़-६३८ ००१

समकित अष्ट प्रकारी पूजा

कोठारी बाबुलाल, पारसमल, महावीर कुमार बेटा-पोता गोराजी वजींगजी परिवार

फर्म - बाबाजी सिल्क मिल्स, २०४९, अभिषेक मार्केट, रिंगरोड़, सुरत-२

शाम की नवकारसी

शा. मदनराज, लुकचन्द, कुशलराज, महेन्द्रकुमार, प्रदीपकुमार, महावीर, रिषभ, आयुष बेटा-पोता तिकमचन्दजी पुनमाजी रेड गोता परिवार

फर्म - शा. तिकमचन्द महेन्द्रकुमार एण्ड को., ८९/ए, देवराज अर्स रोड, मैसूर - ५७० ००१

अंगरचना एवं भक्ति भावना

शा. उदयचन्द, हेमेन्द्रकुमार बेटा-पोता फूलचन्दजी सोपाजी दुर्गाणी परिवार

फर्म - अरिहन्त एजेन्सी, ३७, एम.एम. लेन, गनीगर पेट, नगरथपेट क्रास, बैंगलोर-५६० ००२

तृतीय दिवस

माह वद १२ बुधवार, दि. २९/१/२००३

प्रातः नाश्ता

शा. बाबुलाल, सुरेशकुमार, अशोक कुमार, राजेन्द्रकुमार बेटा-पोता पारसमलजी सागरजी दुर्गाणी परिवार, फर्म - सुरेश फेन्सी स्टोर, विजयवाड़ा

सुबह की नवकारसी

मांडोत शा. सुरेशकुमार, महावीरचन्द, अरुण, आतिश, अमित बेटा-पोता चंपालालजी नेणमलजी कामदार परिवार

फर्म - मांडोत इम्पेक्स, १० वेंकटरायन लेन, चेन्नई-३

श्री पंचजिन पंच कल्याणक पूजा

प्रभावना

कोठारी मांगीलाल, पारसमल, पोपटलाल, कमलेश, मनीष, विक्रम, अमित, राजु, अनिल, संजु बेटा-पोता मिश्रीमलजी प्रागजी परिवार

फर्म - शा. सुमेरमल मिश्रीमल, ९८८ थोमस स्ट्रीट, कोयम्बटूर

शाम की नवकारसी

शा. शंकरलाल, विमलचन्द, रमेशकुमार, मुकेशकुमार, दिलखुश, राजेन्द्र, राहुल बेटा-पोता मिश्रीमलजी सागरजी दुर्गाणी परिवार

फर्म - शा. मिश्रीमल एण्ड कंपनी, मैन रोड, बोब्बिली (ए.पी.)

अंगरचना एवं भक्ति भावना

शा. राजेन्द्रकुमार, मांगीलाल, किरणकुमार अभिषेक बेटा-पोता मिश्रीमलजी जेरूपजी छत्रिया वोरा परिवार

फर्म - शा. राजेन्द्रकुमार मिश्रीमलजी, बाकरा गांव-३४३०२५ (राज.)

चतुर्थ दिवस

माह वद १३ गुरूवार, दि. ३०/१/२००३

प्रातः नाश्ता

शा. गटमल, कमलकुमार बेटा-पोता कपुरचन्दजी पन्नाजी छत्रिया वोरा परिवार

फर्म - रूप मिलन साडी, एम.पी.लेन, चिकपेट क्रास, बैंगलोर-५३

सुबह की नवकारसी

शा. मांगीलाल, बिन्दु बेटा-पोता नेनमलजी सरेमलजी दुर्गाणी परिवार

फर्म - नवरत्ना डायमण्ड, १३/९९, मंडपाल गली नेल्लुर (ए.पी.)

१०८ महा अभिषेक पूजा

शा. रघुनाथमल, नेमीचन्द, नरपतराज, महेन्द्रकुमार, महावीरकुमार, राकेश, विशाल, मानव, चेतन बेटा-पोता सोनमलजी जसाजी वडेरमुथा परिवार

फर्म - नरपत ज्वेल्र्स, ३२डी, पेरूमाल मुदली स्ट्रीट, चेन्नई-७९

शाम की नवकारसी

शा. मांगीलाल, दिनेशकुमार, प्रकाश कुमार, संजयकुमार, कैलाशकुमार, जयन्तिलाल, सतीशकुमार, मोहितकुमार बेटा-पोता दीपचन्दजी दोनाजी वोरा परिवार

फर्म - 'विशाल', केनिंग स्ट्रीट, कोलकत्ता

अंगरचना एवं भक्ति भावना

शा. विमलकुमार, ललितकुमार, अशोक कुमार बेटा-पोता मीठालालजी सोनमलजी भंडारी परिवार

फर्म - सरगम टेक्सटाईल्स, ब्राडीपेट, मैन रोड, गुन्टूर (ए.पी.)

पंचम दिवस

माह वद १४ शुक्रवार, दि. ३१/१/२००३

प्रातः नाश्ता

शा. देवीचन्द, नरेन्द्रकुमार, महावीरकुमार, राजेशकुमार, नवरत्न, प्रकाश बेटा-पोता शा. मगराजजी तेजराजजी छत्रिया वोरा परिवार

फर्म - शा. मगराज नरेन्द्रकुमार, १३३/४ मामुलपेट, बैंगलोर-५३

सुबह की नवकारसी

शा. चम्पालाल, दिनेशकुमार, धर्मेन्द्र कुमार, हितेशकुमार, दिलीपकुमार, रोशन कुमार, निखिल, हर्ष बेटा-पोता घेवरचन्दजी सरेमलजी दुर्गाणी परिवार

फर्म - एस. मांगीलाल एण्ड ब्रदर्स, ११, काशीचेट्टी लेन, चेन्नई-३

नन्दावर्त महापूजन

शा. सुरेशकुमार, चम्पालाल, रमेशकुमार, भरत, जितेन्द्र, हितेश, संदीप, चिराग बेटा-पोता शा. लालचन्दजी सोनाजी वडेर मुथा परिवार

फर्म - कांति टेक्सटाईल्स, ६, काशी सेटी स्ट्रीट, चेन्नई-७९

सिद्धचक्र महापूजन

शा. सुमेरमल, महेन्द्रकुमार, ललितकुमार, भरतकुमार, महावीरकुमार, आशीक, अक्षय बेटा-पोता जुहारमलजी मूलाजी नागोत्रा बोहरा

फर्म - महेन्द्रा इन्टरप्राईजेस, मामुलपेट, बैंगलोर-५३

वीश स्थानक महापूजन

शा. नेनमल, कैलाशकुमार, अशोक कुमार, रिषभ बेटा-पोता तगराजजी सोपाजी दुर्गाणी परिवार

फर्म - मैसूर बटन सेन्टर, १४६/६, के. आर. ए. मार्केट, कुम्बार पेट, बैंगलोर-२

शाम की नवकारसी

शा. चम्पालाल, कुंदनमल, दिलीपकुमार, किरणकुमार, भरतकुमार, सचिनकुमार, मुकेशकुमार, महीपालकुमार, प्रदीप कुमार, केवीन, पूजन, नयन बेटा-पोता छोगमलजी साहेबाजी भंडारी परिवार

फर्म - जैन टाईम हाऊस, कोर्ट स्ट्रीट, नरसापुर-५३४ २७५ (ए.पी.)

अंगरचना एवं भक्ति भावना

शा. छगनराज ललितकुमार, दिनेशकुमार बेटा-पोता सुखराजजी जेरूपजी रेड गोता परिवार

फर्म - महावीर ट्रेडर्स, पेरूमाल मुदली स्ट्रीट, चेन्नई

षष्ठम दिवस

माह वद ३० शनिवार, दि. १/२/२००३

प्रातः नाश्ता

शा. सुमेरमल, अशोककुमार, सुरेशकुमार, ललितकुमार, पलास, शैलेश, रींकेश, यश बेटा-पोता भानमलजी साहेबाजी भंडारी परिवार

फर्म - श्री नाकोड़ा ज्वेल्र्स, नरसापुर (ए.पी.)

सुबह की नवकारसी

संघवी शा. घेवरचन्द, अशोककुमार, रमेशकुमार, नेमीचन्द, हेमन्त, मोहित, संभव बेटा-पोता ताराचन्दजी गजाजी नागोत्रा सोलंकी परिवार

फर्म - संघवी क्रेडिट कोरपोरेशन, २८/२३, ई.के. अग्रहारम् स्ट्रीट, चेन्नई-३

दश दिग्पाल पूजन

शा. देशमल, रमेशकुमार, राजेशकुमार, महावीरकुमार बेटा-पोता हरकचन्दजी नवाजी कांकरिया परिवार

फर्म - मगराज देशमल एण्ड को., मामुल पेट, बैंगलोर-५३

नवग्रह पाटला पूजन

शा. रिकबचन्द, अशोककुमार, महेन्द्र कुमार, प्रवीणकुमार, गौतमकुमार, सुशील कुमार बेटा-पोता देवीचन्दजी भूताजी कोंटेड संघवी परिवार

फर्म - अशोक इलेक्ट्रीकल्स, कपडा बाजार, गुन्टुर

अष्टमंगल पाटला पूजन

शा. रूपचन्द, महावीरकुमार, पारसमल, बाबुलाल, सुरेशकुमार, चंपालाल बेटा-पोता देवीचन्दजी भूताजी कोंटेड संघवी परिवार

फर्म - मरक्युरी मार्केटींग, चेन्नई-७९

शाम की नवकारसी

शा. हस्तीमल, लकमीचन्द, किरणकुमार, प्रकाशकुमार, किशोरकुमार, उज्जवल बेटा-पोता भलेचन्दजी खीमाजी नागोत्रा सोलंकी परिवार

फर्म - भंसाली केमिकल्स, चैन्नई

अंगरचना एवं भक्ति भावना

शा. मेघराज, विनोदकुमार बेटा-पोता जेठमलजी नवाजी सालेचा परिवार

फर्म - प्रिन्स सिन्डीकेट, बैंगलोर-५३

सप्तम दिवस

माह सुद १ रविवार, दि. २/२/२००३

प्रातः नाश्ता

शा. घेवरचन्द, चम्पालाल, रतनलाल, राजेशकुमार, वस्तीमल, दूधमल, जसवन्तराज बेटा-पोता चुन्नीलालजी लादाजी भंसाली परिवार

फर्म - भारत इंडस्ट्रीज, १२१, नगरथपेट, बैंगलोर-२

सुबह की नवकारसी

मांडोत शा. पारसमल, नेमीचन्द, विक्रमकुमार, अंकुशकुमार, आकाश कुमार बेटा-पोता नथमलजी *प्रागचन्दजी कामदार परिवार*

फर्म - शा. नथमल सुमेरमल, ५४, पेरूमाल मुदाली स्ट्रीट, चेन्नई-७९

श्री अष्टकर्म निवारण पूजा

शा. मीठालाल, पुखराज, लखमीचन्द, धरमचन्द, मनसुख, संदीप, संजीव, महावीर, सुनील, प्रवीण, जितेन्द्र, संतोष, दीपक, नरेन्द्र, पियुष, आयुष, आशिष, बादल, ऋषभ, अक्षीत, रोशन, प्रेम, योगेश, शुभम्, प्रतीक, निश्चल बेटा-पोता हरकचन्दजी उम्मेदमलजी भंडारी परिवार

फर्म - संदीप ज्वेल्र्स, सराफ बाजार, जमखंडी

शाम की नवकारसी

शा. भंवरलाल, जयन्तिलाल, सुरेशकुमार, प्रकाशकुमार, महावीरकुमार, श्रेणिक कुमार, प्रीतम, प्रतीक, सुमन बेटा-पोता समरथमलजी छोगाजी दुर्गाणी परिवार

फर्म - जैन स्टोर्स, अन्कापली (ए.पी.)

अंगरचना एवं भक्ति भावना

शा. रतीलाल, मुकेशकुमार बेटा-पोता तगराजजी सोपाजी दुर्गाणी परिवार

अष्ठम दिवस

माह सुद २ सोमवार, दि. ३/२/२००३

प्रातः नाश्ता

शा. बाबुलाल, कान्तिलाल, रमेशकुमार, जुगराज, रतन, राकेश, मुकेश, धीरज, विक्रम, दर्शन, यश बेटा-पोता दीपचन्दजी अमेदाजी छत्रिया वोरा परिवार

फर्म - राजेन्द्रा सेल्स एजन्सी, ३६/९, रेड्डी रमन स्ट्रीट, चेन्नई-७९

सुबह की नवकारसी

मांडोत शा. भंवरलाल, पुखराज, अश्विनकुमार, सुरेशकुमार बेटा-पोता हंसराजजी कस्तुरजी कामदार परिवार

फर्म - मद्रास फेन्सी स्टोर, ५८, पेरूमाल मुदली स्ट्रीट, चेन्नई-७९

श्री महावीर पंच कल्याणक पूजा

संघवी शा. रिकबचन्द, प्रकाशकुमार, उत्तमचन्द, कुणाल, संभव बेटा-पोता ताराजी गजाजी नागोत्रा सोलंकी परिवार

फर्म - आर.टी.शाह एण्ड कं., चेन्नई

शाम की नवकारसी

शा. सोकलचन्द, प्रवीणकुमार, हार्दिक कुमार बेटा - पोता मिश्रीमलजी सुरथानमलजी दुर्गाणी परिवार

फर्म - दुर्गाणी एण्ड को., नं. २३, रघुनायकुलु स्ट्रीट, चेन्नई

अंगरचना एवं भक्ति भावना

शा. मदनलाल, विमलकुमार बेटा-पोता मांगीलालजी पीराजी सालेचा परिवार

फर्म - एम.एम. होजरी, मीरा काम्पलेक्स, चिकपेट क्रास, बैंगलोर-५३

नवम दिवस

माह सुद ३ मंगलवार, दि. ४/२/२००३

प्रातः नाश्ता

शा. इन्द्रमल, रमेशकुमार, चन्दनमल, प्रवीण, अरविन्द, जितेन्द्र, रोहित बेटा-पोता जुहारमलजी जेरूपजी नागोत्रा सोलंकी परिवार

फर्म - चन्दन स्टील, नागजी भूदरजीनी पोल, माणक चौक, अहमदाबाद

सुबह की नवकारसी

शा. तिलोकचन्द, शांतिलाल, पृथ्वीराज, राकेश, रोशन, हितेष, हार्दिक बेटा-पोता समरथमलजी सागरजी दुर्गाणी परिवार

फर्म - पृथ्वी कलेक्शन्स, चिकपेट, डी.एस. लेन, बैंगलोर-५३

श्री अठारह अभिषेक पूजन

शा. सुमेरमल, भानमल, नेमीचन्द, मुकेशकुमार, राजेशकुमार, भावेशकुमार, चेतनकुमार बेटा-पोता हंजारीमलजी पूनमाजी रेड गोता परिवार

फर्म - शा. नेमीचन्द एण्ड को., ४४९, संतेपेट, मैसूर

शाम की नवकारसी

शा. मांगीलाल, जुगराज, हीराचन्द, अशोककुमार, संतोषकुमार, विकास, रविन्द्र, रोहित, चिराग, राहुल, आशीष बेटा-पोता छगनराजजी मूलाजी परिवार

फर्म - शा. मांगीलाल हीराचन्द, ८७/ए/डी, देवराज अर्स रोड, मैसूर-१

अंगरचना एवं भक्ति भावना

शा. चम्पालाल हिराचन्दजी बेटा-पोता भीमाजी भूताजी भंडारी परिवार

फर्म - पद्मावती मेटल कोरपोरेशन, ११बी/२, एकाम्बरेश्वर अग्रहारम स्ट्रीट, नरसिंह मार्केट, चेन्नई-३

दशम दिवस

माह सुद ४ बुधवार, दि. ५/२/२००३

प्रातः नाश्ता

शा. देवीचन्द, मांगीलाल, सुरेशकुमार, हेमन्तकुमार, ऋषभकुमार बेटा-पोता वरदाजी जगरूपजी सालेचा परिवार

फर्म - महालक्ष्मी इंटरप्राईजेज, ५६, इस्ट कोंगला अमन कोईल स्ट्रीट, ईरोड-६३८ ००१

सुबह की नवकारसी

शा. दूधमल, नरेन्द्रकुमार, रमेशकुमार, विरल, अतुल, कौशिक बेटा-पोता लालचन्दजी भलेचन्दजी मांडोत परिवार

फर्म - मंगल आर्ट, ५३, दोशी बिल्डिंग, तीसरा भोईवाडा, मुम्बई - २

श्री विशविहरमान जिन पूजा

शा. दलीचन्द, महेन्द्रकुमार, संजयकुमार बेटा-पोता पुखराजजी मूलाजी नागोत्रा सोलंकी परिवार

फर्म - राजेन्द्रा शो रूम, ९०/३ एन. एस. सी. बोस रोड, चेन्नई

शाम की नवकारसी

संघवी शा. उकचन्द, कान्तिलाल, सूरजमल, प्रवीणकुमार, ललितकुमार, कैलाशकुमार, राजेश, विपुल, आशीष, शुभम् बेटा-पोता ताराचन्दजी गजाजी नागोत्रा सोलंकी परिवार

फर्म - विमल इन्वेस्टमेन्ट, ३०, गोविन्दाप्पा नायकन स्ट्रीट, चेन्नई-१

अंगरचना एवं भक्ति भावना

कोठारी शा. मांगीलाल, कुंदनमल, जितेन्द्र कुमार, नितिनकुमार, हार्दिककुमार, मिन्टू बेटा-पोता पुखराजजी प्रागजी परिवार

फर्म - श्री महावीर फेन्सी स्टोर्स, ४/१३, रंगा बिल्डिंग काशी चेट्टी लेन, चेन्नई - ६०० ०७९

एकादशम दिवस

माह सुद ५ गुरूवार, दि. ६/२/२००३

प्रातः नाश्ता

शा. देवीचन्द, कान्तिलाल, रमेशकुमार, प्रवीणकुमार, विक्रमकुमार, कपिलकुमार, राहुलकुमार बेटा-पोता फोजमलजी कालुजी दुर्गाणी परिवार

फर्म - रमेश फेन्सी स्टोर, एम. जी. रोड, विजयनगरम् (ए.पी.)

सुबह की नवकारसी

शा. मांगीलाल, गटमल, शांतिलाल, कांतिलाल, नेमीचन्द, भरत, ललित, राजेश, संतोष, कमलेश, राहुल, हर्ष बेटा-पोता पूनमचन्दजी प्रतापजी नागोत्रा बोहरा परिवार

फर्म - नेमीनाथ बिल्डर्स प्रा. लि., २८, सी.पी. चाल, शामसेठ स्ट्रीट, मुम्बई

श्री नेमिनाथ पंचकल्याणक पूजा

शा. लकमीचन्द, सोमराज, विक्रमकुमार, प्रदीपकुमार बेटा-पोता कुंदनमलजी भोलाजी नागोत्रा सोलंकी परिवार

शाम की नवकारसी

शा. जुगराज नेमीचन्द, नरेन्द्रकुमार, श्रीपालकुमार, विक्रमकुमार, नितिनकुमार बेटा-पोता समरथमलजी छोगाजी दुर्गाणी परिवार

फर्म - नरेन्द्र इन्टरप्राईजेज, पेरूगु बाजार, अंकापल्ली (ए.पी.)

मेहन्दी

संघवी शा. उकचन्द, कान्तिलाल, सूरजमल, प्रवीणकुमार, ललितकुमार, कैलाशकुमार, राजेश, विपुल, आशीश, शुभम् बेटा-पोता ताराचन्दजी गजाजी नागोत्रा सोलंकी परिवार

फर्म - शांति इन्वेस्टमेन्ट, ३०, गोविन्दप्पा नायकन स्ट्रीट, चेन्नई-१

अंगरचना एवं भक्ति भावना

शा. कांतिलाल, उत्तमचन्द, श्रीपालकुमार, सुनीलकुमार, विशाल बेटा-पोता सुमेरमलजी भोनाजी सालेचा परिवार

फर्म - उत्तम सिल्क एम्पोरियम, १२, जैन मार्केट, चिकपेट क्रास, बैंगलोर-५३

द्वादशम दिवस

माह सुद ६ शुक्रवार, दि. ७/२/२००३

फलेचुन्दडी बडी नवकारसी

संघवी शा. रिकबचन्द, प्रकाशकुमार, उत्तमचन्द, कुणाल, संभव बेटा-पोता ताराजी गजाजी नागोत्रा सोलंकी परिवार

फर्म - आर. टी. शाह एण्ड कं., चेन्नई

बृहत् शांति स्नात्र (अष्टोतरी महापूजन)

शा. हेमन्तकुमार, प्रतीक, निशित बेटा-पोता मुन्नीलालजी जवाहरमलजी रायगांधी परिवार

फर्म - एम. जे. रायगांधी, ७२, न्यु टिम्बर मार्केट, पूना-४२

अंगरचना एवं भक्ति भावना

शा. मिलापचन्द, गौतमकुमार, राजेशकुमार, पंकजकुमार बेटा-पोता भंवरलालजी मिश्रीमलजी दुर्गाणी परिवार फर्म - राजेन्द्रा एण्ड कम्पनी, ६, समुद्र मुदली स्ट्रीट, चेन्नई-३

त्रयोदशम दिवस

माह सुद ७ शनिवार, दि. ८/२/२००३

प्रातः नाश्ता

शा. वनेचन्द, दलीचन्द, अशोककुमार, हसमुख, महावीर, मानव, जिनेन्द्र बेटा-पोता लकमीचन्दजी चेनाजी लोलस गोता परमार परिवार
फर्म - श्री राजेन्द्रा मेटल कोरपोरेशन, ३०३, मिन्ट स्ट्रीट, चेन्नई-३

सुबह की नवकारसी

शा. अमीचन्द, श्रीपाल, किरण, पंकज बेटा-पोता जेठाजी जगरूपजी सालेचा परिवार
फर्म - महालक्ष्मी ट्रेडिंग कम्पनी, २९, ईस्ट कोंगला अमन कोईल स्ट्रीट, ईरोड-६३८ ००१

सत्तर भेदी भूजा

शा. हुकमीचन्द, दीपककुमार, प्रवीणकुमार, आशीष, सचिन बेटा-पोता जुहारमलजी मुलाजी नागोत्रा सोलंकी परिवार फर्म - महालक्ष्मी बटन सेन्टर, २६/आई, रेड्डी रमन स्ट्रीट, चेन्नई

अंगरचना एवं भक्ति भावना

शा. शान्तिलाल, कांतिलाल, रमेशकुमार, संदीप, प्रदीप बेटा-पोता खेतमलजी छोगाजी भंडारी परिवार फर्म - शा. जीवाजी खेतमल, देवी नर्सिंग होम रोड, अनन्तपुर (ए.पी.)

आपश्री सकल संघ के दर्शनाभिलाषी

शा. मांगीलाल, मुकेशकुमार, नमणकुमार बेटा-पोता फोजमलजी कालुजी दुर्गाणी परिवार
फर्म - मुकेश इन्टरप्राईजेज, बैंगलोर-५३

धजा चढ़ाने का लाभ

शा. चंपालालजी घेवरचंदजी दुर्गाणी परिवार

दंड चढ़ाने का लाभ

शा. सुरेशकुमारजी जेठमलजी सालेचा

मुख्य कलश चढ़ाने का लाभ

शा. पारसमलजी जगाजी सालेचा

द्वितीय कलश

शा. दूधमलजी लालाजी माण्डोत

तृतीय कलश

शा. पारसमलजी नथमलजी माण्डोत

चतुर्थ कलश

शा. कांतिलालजी होसाजी माण्डोत

तोरण वांदवारो लाभ

शा. तलोकचंदजी धर्माजी पटीयात धाणसा

जिनमंदिर द्वारोद्घाटन का लाभ

शा. कमलेशकुमार दीपचंदजी क्षत्रियवोरा

भगवान बिराजमान के चढ़ावे

श्री विमलनाथजी (मूलनायक भगवंत)

शा. दूधमलजी लालाजी माण्डोत

श्री संभवनाथजी

संघवी रिखबचंदजी ताराजी नागोत्रा सोलंकी

श्री महावीर स्वामी

शा. उकचंदजी जगाजी सालेचा.

श्री अजितनाथजी

संघवी उकचंदजी ताराजी नागोत्रा सोलंकी

श्री विमलनाथजी

शा. मंगलचंदजी लालाजी माण्डोत

श्री पार्श्वनाथजी

शा. पारसमलजी जगाजी सालेचा

श्री चन्द्रप्रभुस्वामी

शा. सुरेशकुमारजी चंपालालजी माण्डोत

श्री विमलनाथजी

शा. कांतिलालजी चून्नीलालजी धाणसा

श्री संभवनाथजी

शा. दिनेशकुमार मंगलचंदजी दुर्गाणी रेवतड़ा

श्री अनन्तनाथजी

शा. पारसमलजी सरेमलजी रेवतड़ा

श्री धर्मनाथजी

शा. भंवरलालजी भेराजी सरत

श्री अरनाथजी

शा. मांगीलालजी देवीजी सालेचा

श्री आदिनाथजी

शा. पारसमलजी जगाजी सालेचा

श्री वासुपूज्य स्वामीजी

शा. मिठालालजी भबुतमलजी सरत

श्री पुंडरीक स्वामीजी

शा. मांगीलालजी फोजमलजी दुर्गाणी

श्री गौतम स्वामीजी

शा. मोहनलालजी गणेशमलजी तलावट आहोर

श्री राजेन्द्रसूरीश्वरजी

शा. मुथा भूपेन्द्रकुमारजी अमीचंदजी आहोर

श्री धनचंद्रसूरीश्वरजी

शा. सुखराजजी चमनाजी धाणसा

श्री यक्ष विराजमान

शा. छगनलालजी कुंदनमलजी क्षत्रियावोरा

श्री यक्षिणी

शा. छगनलालजी कुंदनमलजी क्षत्रियावोरा

मोबण स्थापना

शा. भीमचंदजी मुलतानमलजी दुर्गाणी

अंजन वहोराने का लाभ

शा. पारसमलजी जगाजी सालेचा

देखेंगे... देख लेना

महोत्सव में आप आ जाना...

- मुनिराज श्री जयानन्द विजयजी के प्रसंगानुसार प्रवचन
- परमकृपालु श्री विमलनाथजी श्री अजितनाथजी के शानदार जानदार दर्शन
- भव्य अंगरचना के द्वारा प्रभु प्रतिमा की अलौकिक शोभा
- पूजा भक्ति के लिए संगीतकार सोहनलाल शास्त्री, रेखा त्रिवेदी, जगदीश आचार्य, सरदार भाई पधारेंगे।
- इन्द्रध्वजा, बैण्ड, ढोल, शहनाई, हाथी, अश्वादि के साथ भव्य वरघोडे
- बाकरा के श्री तीर्थेन्द्र सूरि सेवा मंडल एवं श्री तीर्थेन्द्र सूरि बालिका एवं महिला मंडल की अनुपम सेवा
- श्री विमलनाथ भगवान अंजनशलाका प्रतिष्ठा महोत्सव समिति द्वारा सम्पूर्ण व्यवस्था की जायेगी।
- हेलिकोप्टर द्वारा दिव्य पुष्प वर्षा
- बालमंच, जयति इंटरनेशनल द्वारा प्रस्तुति 'जयति पार्श्वनाथ' लाईट एण्ड साउन्ड कार्यक्रम दि. ५/२/२००३
- बाकरा रोड स्थित श्री चमत्कारी पार्श्वनाथ तीर्थेन्द्रनगर तीर्थ के दर्शन
- सोमपुरा श्री हंजारीमल एवं ईश्वरसिंह के द्वारा निर्मित नूतन भव्य जिनालय के दर्शन
- सुरीला संगीत - अजन्ता बेन्ड, डीसा द्वारा...
- स्वामी वात्सल्य में रसवती का रसास्वाद चखायेंगे।
- सुरुचि भोज - धना मनसा, अहमदाबाद

अंजनशलाका प्रतिष्ठा महोत्सव के विशेष आकर्षण

: विधिकारक :

अंतरराष्ट्रीय विधिकारक सुरेन्द्रभाई सी. शाह, गुरुजी अपनी श्री विजय लब्धिसूरी जैन धार्मिक पाठशाला, बैंगलोर अभ्यासकों के साथ पधारकर शास्त्रानुसार विधि-विधान कराएंगे। एवं पंचकल्याणक कार्यक्रम प्रस्तुत करेंगे।

: संगीतकार :

सोहनलाल शास्त्री, रेखा त्रिवेदी (रामसिन, मुंबई), जगदीश आचार्य-आबुरोड, सरदारभाई ज्ञानी एण्ड पार्टी, बैंगलोर

: विडीयो एवं फोटोग्राफी :

राठी स्टूडियो, चेन्नई

: झाँकी – टेन्ट :

स्वस्तिक टेन्ट हाऊस

: स्टेज एवं लाईट :

रघुनाथ सुथार, बाकरा

: विशेष अतिथि :

महोत्सव प्रसंगे बाकरा के ठाकुर साहब श्रीमान् भेरूसिंहजी सोपावत एवं ठिकाणा परिवार पधारकर महोत्सव की शोभा बढायेंगे।

व्यवस्था समितियाँ

श्री तीर्थेन्द्रसूरी सेवा मंडल, बाकरा

मंगल घर समिति

१. शा. हुकमीचंद जुहाराजी मुथा
२. शा. चम्पालाल लालचंदजी वडेरमुथा
३. किरणकुमार हस्तीमलजी मुथा
४. ललितकुमार जयन्तीलालजी दुर्गाणी
५. किरणकुमार फोजमलजी
६. ललितकुमार छगनजी
७. मनीषकुमार भबुतमलजी

मोमेन्टो लाने सम्बन्धी समिति

१. शा. मेघराज जेठाजी सालेचा
२. शा. मंगलचंद लालचंदजी मांडोत
३. शा. चम्पालाल छोगाजी भंडारी
४. शा. नेमीचंद सरेमलजी

जल व दूध व्यवस्था समिति

१. शा. जुगराज समरथाजी दुर्गाणी
२. शा. दुधमल लालचंदजी मांडोत
३. शा. अचलचंद जेठाजी सालेचा
४. शा. मांगीलाल नेणमलजी दुर्गाणी

भोजन समिति

१. शा. कपूरचंद होसाजी मांडोत
२. शा. नेणमल तगाजी दुर्गाणी
३. शा. गटमल कपूरजी
४. शा. मोहनलाल सोनाजी भंडारी
५. शा. चम्पालाल छोगाजी भंडारी
६. शा. घेवरचंद सरेमलजी मुथा

श्री विमलनाथ स्वामी अंजनशलाका एवं प्रतिष्ठा महोत्सव समिति

कार्यरत ग्रुप समितियाँ : भोजन समिति

१. शा. नेणमल तगाजी
२. शा. गटमल कपूरजी
३. शा. मोहनलाल सोनाजी
४. शा. चम्पालाल छोगाजी
५. शा. घेवरचंद सरेमलजी मुथा
६. शा. छगनराज सकाजी
७. शा. पारसमल नथमलजी
८. शा. सांकलचंद मिश्रीमलजी
९. शा. मांगीलाल फोजाजी
१०. शा. घेवरचंद चुनाजी
११. शा. मेघराज जेठाजी
१२. शा. घेवरचंद ताराजी

कोठार समिति

१. शा. कान्तिलाल होसाजी मांडोत
२. शा. विमलकुमार मीठालालजी भंडारी
३. शा. शांतिलाल तिलोकजी दुर्गाणी
४. शा. मूलचंद छगनराजजी दुर्गाणी
५. शा. चम्पालाल छोगाजी भंडारी

वित्त विभाग समिति

१. शा. भंवरलाल समरताजी दुर्गाणी
२. शा. राजेन्द्रकुमार मिश्रीमलजी
३. शा. लकमीचंद कुन्दनमलजी मुथा
४. शा. मांगीलाल छगनजी
५. शा शान्तिलाल पुनमजी बासा

निर्माण समिति

१. शा. जुगराज समरताजी दुर्गाणी
२. शा. मांगीलाल दीपाजी वोरा
३. शा. सुरेशकुमार चम्पालालजी मांडोत
४. शा. गटमल कपुरजी
५. शा. शान्तिलाल पुनमजी बासा
६. शा. रूगनाथमल सोनाजी वडेरमुथा

टेन्ट, लाईट, माईक डेकोरेशन विडियोग्राफी संगीतकार समिति

१. संघवी प्रकाश रिखबचंदजी
२. सुरेशकुमार चम्पालालजी मांडोत
३. नेमीचंद सरेमलजी
४. कान्तिलाल सुमेरजी सालेचा
५. शा. नेमीचंद देवीजी सालेचा
६. प्रकाश गेबचंदजी वडेर मुथा

प्रचार एवं प्रसार समिति

१. शा. दुदमल लालचंदजी मांडोत
२. शा. पारसमल साहेबाजी सालेचा
३. शा. देवीचंद मगाजी
४. शा. नेमीचंद सरेमलजी

वरघोडा समिति

१. शा. नेमीचंद सरेमलजी
२. शा. संघवी प्रकाश रिखबचंदजी
३. शा. सुरेशकुमार चम्पालालजी मांडोत
४. शा. रतीलाल तगाजी दुर्गाणी
५. शा. नेमीचंद देवीचंदजी

मन्दिर निर्माण समिति

१. शा. जुगराज समरथाजी दुर्गाणी
२. शा. रिकबचंद ताराजी संघवी
३. शा. मांगीलाल नेणाजी दुर्गाणी
४. शा. पारसमल साहेबाजी सालेचा
५. शा. हकमीचंद जुहाराजी मुथा
६. शा. पारसमल नथमलजी मांडोत
७. शा. मांगीलाल फोजाजी दुर्गाणी

साधु-साध्वी भगवन्तों को आमंत्रण देने समिति

१. शा. हुकमीचंद जुहाराजी मुथा
२. शा. घेवरचंद सुनाजी भंसाली
३. शा. मूलचंद छगनजी दुर्गाणी
४. शा. पारसमल साहेबाजी दुर्गाणी
५. शा. मांगीलाल दीपाजी वोरा

क्रय-विक्रय समिति

१. शा. मांगीलाल छगनजी
२. शा. राजेन्द्रकुमार मिश्रीमलजी
३. शा. मदनराज तीकमजी
४. शा. नेणमल तगाजी दुर्गाणी
५. शा. कपूरचंद होसाजी मांडोत
६. शा. गटमल कपुरजी
७. शा. महावीर रूपचंदजी

साधु-साध्वी वैयावच्च

१. शा. हुकमीचंद जुहारमलजी मुथा
२. शा. चम्पालाल लालजी वडेरमुथा

३. शा. किरणकुमार हस्तीमलजी मुथा
४. शा. ललीतकुमार जयन्तीलालजी दुर्गाणी

मेहमानों को आमंत्रण देने के लिए समिति

१. दुदमल लालचंदजी मांडोत
२. पारसमल साहेबाजी सालेचा
३. शा. शान्तिलाल तिलोकचंदजी दुर्गाणी
४. शा. मदनलाल तीकमजी
५. कान्तिलाल गेबजी वडेरमुथा

सलाहकार समिति

१. शा. दूदमल लालचंदजी मांडोत
२. शा. सांकलचंद मिश्रीमलजी दुर्गाणी
३. शा. हस्तीमल भलाजी मुथा
४. शा. बाबुलाल गोराजी कोठारी
५. शा. रूगनाथमल सोनाजी वडेरमुथा
६. शा. उकचंद जगाजी सालेचा
७. शा. पारसमल नथमलजी मांडोत
८. शा. रिकबचंद ताराजी आर.टी.सा
९. शा. घेवरजी सुनाजी भंसाली
१०. शा. छगनराज सकाजी
११. शा. मांगीलाल फोजाजी दुर्गाणी

स्वागत समिति

१. शा. छगनराज सकाजी
२. शा. भंवरलाल होसाजी मांडोत
३. शा. मांगीलाल फोजाजी दुर्गाणी
४. शा. सांकलचंद मिश्रीमलजी दुर्गाणी
५. शा. मांगीलाल देवीजी सालेचा
६. शा. मांगीलाल दीपाजी वोरा
७. शा. चम्पालाल छोगाजी भंडारी
८. शा. रूगनाथमल सोनाजी वडेरमुथा
९. संघवी रिकबचंद ताराजी आर.टी.सा
१०. शा. दुदमल लालचंदजी मांडोत
११. शा. घेवरजी सुनाजी भंसाली
१२. शा. पारसमल जगाजी सालेचा

श्री तीर्थेन्द्रसूरी जैन सेवा मण्डल, बाकरा

: समस्त व्यवस्था समिति :

१. अचलचंद जेठाजी
२. संघवी कान्तिलाल उकचंदजी
३. भण्डारी मांगीलाल पूनमचंदजी
४. शान्तिलाल तिलोकचंदजी
५. राजेन्द्रकुमार मिश्रीमलजी
६. नेमीचंद सरेमलजी
७. नेमीचंद देवीचंदजी
८. संघवी प्रकाशकुमार रीकबचंदजी
९. प्रकाशकुमार गेबचंदजी
१०. महावीरकुमार रूपचंदजी
११. भंडारी विमलकुमार मीठालालजी
१२. मांडोत सुरेशकुमार चम्पालालजी

आवास प्रवास समिति एवं यातायात

१. मेघराज होसाजी
२. नेमीचंदजी देवीचंदजी
३. नेमीचंदजी भुरमलजी
४. राजेन्द्रकुमार मिश्रीमलजी
५. अशोककुमार भानमलजी भंडारी
६. अशोककुमार छगनराजजी

पूछताछ समिति

१. किरणकुमार हस्तीमलजी
२. शान्तिलाल खेतमलजी
३. सुरेशकुमार शेषमलजी
४. उत्तमचंद घेवरचंदजी मुथा
५. प्रकाशकुमार रीकबचंदजी परमार
६. अशोककुमार छगनराजजी

डिजल वितरण समिति

१. कुन्दनमल छोगाजी भंडारी
२. महावीरकुमार बाबुलालजी कोठारी

बिस्तर वितरण समिति

१. नरेन्द्रकुमार शेषमलजी
२. अशोककुमार शोभराजजी

बेनर व बैज समिति

१. नेमीचंद सरेमलजी
२. महावीरकुमार चम्पालालजी
३. किरणकुमार फोजमलजी
४. मनीषकुमार भबुतमलजी

मंदिरजी में व्यवस्था समिति

१. शान्तिलाल पूनमचंदजी (बासा)
२. नेमीचंद सरेमलजी
३. राजेन्द्रकुमार मिश्रीमलजी
४. नेमीचंद देवीचंदजी
५. दलीचंद पुखराजजी
६. संघवी प्रकाशकुमार रीकबचंदजी
७. मांडोत सुरेशकुमार चम्पालालजी
८. भंडारी विमलकुमार मीठालालजी
९. प्रकाशकुमार गेबचंदजी

स्वाद्य सामग्री खरीदी समिति

१. मेघराज जेठमलजी सालेचा
२. कान्तिलाल सुमेरमलजी सालेचा
३. महावीरकुमार रूपचंदजी
४. पोपटलाल मिश्रीमलजी कोठारी
५. रमेशकुमार इन्दरमलजी
६. रमेशकुमार घेवरचंदजी

श्री तीर्थेन्द्र सूरि जैन सेवा मण्डल, बाकरा भोजनशाला कक्ष, बहुमान कक्ष, नगरी एवं रात्रि भक्ति–पूजा की व्यवस्था के ग्रुप

१. श्री विमलनाथ ग्रुप २. श्री अजितनाथ ग्रुप
३. श्री राजेन्द्रसूरी ग्रुप ४. श्री धनचन्द्रसूरी ग्रुप
५. श्री तीर्थेन्द्रसूरी ग्रुप ६. श्री लब्धिसूरी ग्रुप

श्री तीर्थेन्द्रसूरी जैन महिला एवं बालिका मंडल, बाकरा भोजनशाला कक्ष, पूजा, नगरी की व्यवस्था के ग्रुप

१. श्री शान्तिनाथ ग्रुप २. श्री शीतलनाथ ग्रुप
३. राजुल ग्रुप ४. चन्दनबाला ग्रुप

मंडल की पोषाक व्यवस्था

१. कमलेशकुमार दिपजी
२. वोरा प्रकाशकुमार मांगीलालजी
३. संघवी प्रकाशकुमार रिखबचंदजी
४. प्रकाशकुमार गेबचंदजी
५. सुरेशकुमार चम्पालालजी

जैन संघ – बाकरा गाँव

१. शा नेमीचन्दजी छगनजी रेड़ गोता
२. शा हस्तीमलजी भलाजी नागोत्रा सोलंकी
३. शा सुमेरमलजी हंजाजी रेड़ गोता
४. शा वजेराजजी रखबाजी रेड़ गोता
५. शा मीठालालजी हरकाजी भंडारी
६. शा मदनलालजी मांगीलालजी सालेचा
७. शा कांतीलालजी सुमेरमलजी सालेचा
८. शा छगनलालजी सकाजी रेड़ गोता
९. शा सांकलचन्दजी मसराजी दुर्गाणी
१०. शा मिलापचन्दजी भंवरजी दुर्गाणी
११. शा हिम्मतमलजी पुखराजजी दुर्गाणी
१२. शा अचलचन्दजी जेठाजी सालेचा
१३. शा बाबुलालजी भबुताजी दुर्गाणी
१४. शा मुलचन्दजी छगनराजजी दुर्गाणी
१५. शा मुन्नीलालजी जेटाजी सालेचा
१६. शा मेघराजजी जेटाजी सालेचा
१७. शा अशोककुमारजी छगनजी सालेचा
१८. शा चंपालालजी छोगाजी भंडारी

१९. शा जोदराजजी भुदरजी भंडारी
२०. शा दोलतराजजी सोनाजी भंडारी
२१. शा मांगीलालजी पुनमाजी भंडारी
२२. शा सुमेरमलजी भोनाजी भंडारी
२३. शा कांतीलालजी सोनाजी भंडारी
२४. शा नेमीचन्दजी भुरमलजी भंसाली
२५. शा मंगलचन्दजी लालाजी मान्डोत
२६. शा मुकेशकुमारजी सुमेरजी मान्डोत
२७. शा पारसमलजी नथमलजी मान्डोत
२८. शा रंगनाथमलजी सोनाजी वडेर मुथा
२९. शा सुरेशकुमारजी लालजी वडेर मुथा
३०. शा दुदमलजी लालाजी मान्डोत
३१. शा मांगीलालजी फोजाजी दुर्गाणी
३२. शा कांतीलालजी गेबजी वडेर मुथा
३३. शा बाबुलालजी सोनाजी दुर्गाणी
३४. शा उदयचन्दजी फुलाजी दुर्गाणी
३५. शा रतीलालजी तगाजी दुर्गाणी
३६. शा खीमचन्दजी इन्दरमलजी भंडारी
३७. शा चंपालालजी हीराचन्दजी भंडारी
३८. शा ललीतकुमारजी कोनाजी कंकुचोपड़ा
३९. शा घेवरचन्दजी चुनाजी भंसाली
४०. शा कांतीलालजी होसाजी मान्डोत
४१. शा मेघराजजी होसाजी मान्डोत
४२. शा देशमलजी हरकाजी कांकरीया
४३. शा घेवरचन्दजी मुल्तानजी राय गांधी मुथा
४४. शा किरणकुमारजी भवरजी मान्डोत
४५. शा सुरेशकुमारजी चंपालालजी मान्डोत
४६. शा मुन्नीलालजी फोजाजी दुर्गाणी
४७. शा घेवरचन्दजी लालाजी मान्डोत
४८. शा मनोहरमलजी उकचन्दजी मान्डोत
४९. शा इन्दरमलजी जुहारजी नागोत्रा सोलंकी
५०. शा उकचन्दजी ताराजी नागोत्रा सोलंकी
५१. शा. रीकबचन्दजी ताराजी नागोत्रा सोलंकी
५२. शा रतनचन्दजी भानमलजी भंडारी
५३. शा कपुरचन्दजी होसाजी मान्डोत
५४. शा घेवरचन्दजी ताराजी नागोत्रा सोलंकी
५५. शा मनोहरमलजी जीवाजी मान्डोत
५६. शा लीलचन्दजी होसाजी
५७. शा हुकमीचन्दजी जुहाराजी नागोत्रा सोलंकी
५८. शा दलीचन्दजी पुखराजजी नागोत्रा सोलंकी
५९. शा घेवरचन्दजी छोगाजी भंडारी
६०. शा शांतीलालजी खेताजी भंडारी
६१. शा मांगीलालजी दीपाजी वोरा
६२. शा रुपचन्दजी देवीजी खांटेड संघवी
६३. शा रीखचन्दजी देवीजी खांटेड संघवी
६४. शा दीपककुमारजी हरकाजी नागोत्रा सोलंकी
६५. शा देवीचन्दजी वरदाजी सालेचा
६६. शा मांगीलालजी देवीजी सालेचा
६७. शा लकमीचन्दजी कुन्दनमलजी नागोत्रा सोलंकी
६८. शा रतीलालजी जुहाराजी मान्डोत
६९. शा सुगालचन्दजी उकचन्दजी मान्डोत
७०. शा भवरलालजी होसाजी मान्डोत
७१. शा हेमन्तकुमारजी मुन्नीलालजी रायगांधी मुथा
७२. शा घेवरचन्दजी सरेमलजी राय गांधी मुथा
७३. शा नेनमलजी तगाजी दुर्गाणी
७४. शा नेमीचन्दजी सरेमलजी छत्रीया बोहरा
७५. शा शंकरलालजी मसराजजी दुर्गाणी
७६. शा देवीचन्दजी फोजाजी दुर्गाणी
७७. शा राजेन्द्रकुमारजी मसराजी छत्रीया बोहरा
७८. शा मीश्रीमलजी नाथाजी छत्रीया बोहरा
७९. शा छगनलालजी कदणाजी छत्रीया बोहरा
८०. शा भंवरलालजी कुंदनमलजी
८१. शा देवीचन्दजी मगाजी छत्रीया बोहरा
८२. शा हीराचन्दजी मगाजी छत्रीया बोहरा

८३. शा सुमेरमलजी भोनाजी भंडारी
८४. शा विमलकुमारजी मीठालालजी भंडारी
८५. शा मोहनलालजी सोनाजी भंडारी
८६. शा मदनलालजी तीकमाजी रेड़ गोता
८७. शा चंपालालजी पारसमलजी दुर्गाणी
८८. शा तिलोकचंदजी समरथाजी दुर्गाणी
८९. शा पुखराजजी सरेमलजी दुर्गाणी
९०. शा चंपालालजी घेवरजी दुर्गाणी
९१. शा मांगीलालजी नेनमलजी दुर्गाणी
९२. शा उकचन्दजी जगाजी सालेचा
९३. शा मगनराजजी तेजराजजी सालेचा
९४. शा पारसमलजी जगाजी सालेचा
९५. शा बाबुलालजी पारसमलजी दुर्गाणी
९६. शा मिलापचन्दजी सरेमलजी रेड़ गोता
९७. शा खीमचन्दजी मुन्नीलालजी नागोत्रा सोलंकी
९८. शा सुरेशकुमारजी जेठाजी सालेचा
९९. शा मीश्रीमलजी साहिबाजी सालेचा
१००. शा पारसमलजी साहिबाजी सालेचा
१०१. शा मांगीलालजी छगनराजजी पटियात
१०२. शा मांगीलालजी पुखराजजी कोठारी
खड़ गांधी
१०३. शा ओटमलजी सरेमलजी कोठारी खड़ गांधी
१०४. शा मांगीलालजी मसराजजी कोठारी
खड़ गांधी
१०५. शा अंचलचन्दजी कपुरजी छत्रीया बोहरा
१०६. शा रमेशकुमारजी ओटमलजी छत्रीया बोहरा
१०७. शा गटमलजी कपुरजी छत्रीया बोहरा
१०८. शा ललीतकुमारजी शेषमलजी दुर्गाणी
१०९. शा धर्मचन्दजी मुल्तानजी दुर्गाणी
११०. शा भीमराजजी मुल्तानमलजी
१११. शा भेरमलजी प्रेमाजी दुर्गाणी
११२. शा बाबुलालजी दीपाजी छत्रीय बोहरा
११३. शा भवरलालजी समरथाजी दुर्गाणी
११४. शा जुगराजजी समरथाजी दुर्गाणी
११५. शा भबुतमलजी सोनाजी वाणीगोता
११६. शा प्रकाशकुमारजी रीकबचन्दजी परमार
११७. शा मुल्तानमलजी हकमाजी सालेचा
११८. शा शांतीलालजी मुल्तानजी दुर्गाणी
११९. शा घेवरचन्दजी जुहाराजी नागोत्रा बोहरा
१२०. शा सुमेरमलजी जुहाराजी नागोत्रा बोहरा
१२१. शा रतीलालजी सोनाजी छत्रीया बोहरा
१२२. शा कांतीलालजी फोजाजी नागोत्रा बोहरा
१२३. शा मांगीलालजी पुनमाजी नागोत्रा बोहरा
१२४. शा वनेचन्दजी लकमाजी परमार
१२५. शा दलीचन्दजी लखमीचन्दजी
१२६. शा मांगीलालजी रखबाजी छत्रीया बोहरा
१२७. शा वस्तीमलजी तगाजी छत्रीया बोहरा
१२८. शा कांतीलालजी कदणाजी छत्रीया बोहरा
१२९. शा अशोककुमारजी सोभराजजी छत्रीया बोहरा
१३०. शा खीमचन्दजी सोनाजी छत्रीया बोहरा
१३१. शा अमरचन्दजी मसराजजी छत्रीया बोहरा
१३२. शा नरेन्द्रकुमारजी शेषमलजी वोरा
१३३. शा बाबुलालजी गोराजी कोठारी खड़गांधी
१३४.शा कन्हैयालालजी लस्सीरामजी लुणीया मुथा

।। ॐ नमो वीतरागाय ।।

वादिमसिंहाऽऽचार्यवर्यश्रीचन्द्रप्रभाचार्यविरचितम्

आचार्यश्रीचक्रेश्वरसूरिप्रारब्धतत्प्रशिष्याऽऽचार्यश्रीतिलकसूरिनिर्वाहितवृत्तिसमेतम्

सम्यक्त्व प्रकरणम्

(दर्शन शुद्धि प्रकरणम्)

❋

जैसे कमल बावड़ी से घटीयन्त्र की धारा द्वारा बाहर निकलता हुआ जल क्रमशः उद्यान के पेड़-पौधों को सिञ्चित करते हुए निरन्तर उद्यान को हरियाली प्रदान करता है, उसी प्रकार जिनकी वाणीरूपी कमल-बावड़ी से निकलती हुई वचन-धारा से जल की बूँदों के समान गुण-समूह उच्छ्वलित हो रहा हो, ऐसे गुणानुरागी आचार्यों की श्रेणि-परम्परा द्वारा उसी वाणी के तत्त्वरूपी जल द्वारा आज भी इस शासनरूपी उद्यान को सफलतम् प्रयत्नों द्वारा सिञ्चित किया जा रहा है, ऐसे तीन जगत् के अधिपति श्री वर्धमान जिनेश्वर को मैं भक्तिपूर्वक प्रणाम करता हूँ।

इस श्रुतसार रूपी सम्यक्त्व ग्रन्थ का अर्थ बहुत विशाल है। अतः न अति विस्तार से एवं न अति संक्षेप से व्याख्या न करते हुए मैं सरल व सुबोध वृत्ति को रचने का प्रयास करूँगा।

जो इस ग्रन्थ से अपरिचित हैं, वे शुभमतिवाले मन की एकाग्रता के साथ इसका श्रवण करें। जो इससे परिचित है। वे उसकी गहरायी में उतरकर आत्म शुद्धि को प्रकट करें। इस तत्त्व ज्ञान को श्रोताओं को सुनाये जाने पर श्रोताओ में आन्तरिक तत्त्वज्ञान का प्रकाश होता है।

इसी अभ्यास के अनुराग से इसकी रचना करने के लिए मेरी बुद्धि प्रवृत्त हुई है, ताकि किसी भव्य के उपकार से परम्परा से मेरे पुण्य की वृद्धि हो।

इस वृत्ति को रचते हुए मेरे मन में शंका भी उत्पन्न होती है कि कदाचित् प्रतिस्पर्धा से भरे हुए विद्वानों में कोई मुझसे भी ज्यादा विद्वान् हो सकते हैं, अथवा मेरे समान जिनकी मति है या फिर मुझसे भी हीन मतिवाले के द्वारा यह वृत्ति कैसे पढ़ी जायगी-कोई ऐसा भी शक करे। तो, मेरा इस वृत्ति को रचने से क्या लाभ होगा?

किन्तु मन में एक विश्वास उत्पन्न होता है कि श्री चन्द्रप्रभसूरिजी द्वारा गुम्फित वचनों के अर्थ को देखने में तत्पर चित्त अथवा उस अर्थ को पढ़ने से वचन पवित्रात्मकता को प्राप्त करेगा। उसको लिखने का कार्यमय व्यापार सारमय होगा, अतः ऐसे सत्कर्म में लीन मेरी आत्मा का परमार्थतः फल सिद्ध होगा।

क्षेत्र-स्वभाव से ही महाविदेह क्षेत्र की अपेक्षा यहाँ भरत-क्षेत्र में शुभ-भावना नाम-मात्र की है। सम्पूर्ण बल, बुद्धि, आयुष्य आदि की हीनता को प्राप्त होनेवाला यह अवसर्पिणी काल है, मिथ्यात्व के उदय का कारक यह दुःषम नाम का पाँचवाँ आरा है। मनःपर्यव एवं केवलज्ञान का विच्छेद हो चुका है, जाति-स्मरणज्ञान का संगम भी लगभग नहीं है। यह काल भस्मक ग्रह के उद्गम से प्रवृत्त है। असंयतों की महिमा-पूजा की प्रचुरता है-यह दसवाँ आश्चर्य है। और भी, इस युग के मनुष्य महाव्रत स्वीकार कर लेने पर भी संयम में रत नहीं देखे जाते हैं। परम्परा से श्रावक भी सम्यक्त्वादि गुणों के द्वारा आत्मा को भावित नहीं करते हैं। इतना सब कुछ होते हुए भी वर्त्तमान में धर्म विच्छेद को प्राप्त नहीं होगा, क्योंकि समवसरण में विराजमान् भगवान् महावीर स्वामी के द्वारा दुःप्पसह

आचार्य के पर्यवज्ञान तक (विद्यमानता तक) धर्म की विद्यमानता कही गयी है।

कुशाग्र बुद्धि से संपादित बोध और संबंध रूपी सिद्धान्त शास्त्र-प्रबन्ध परम विशाल है। वर्त्तमान में मनुष्य स्थूल बुद्धि से युक्त है, क्योंकि वे अल्परूप में ही, मिथ्यात्व को छोड़कर सम्यक्त्व को ग्रहण करते हैं, देशविरति-सर्वविरति को स्वीकार करते हैं। उसे धारण करने के लिए प्रयत्न से जुटें-ऐसा विचार करके करुणारस से पूरित अन्तःकरण के द्वारा सिद्धान्त से उद्धृत करके कोई कोई गाथाओं को यथावस्थित करते हैं, कोई पुनः उसके अर्थ को देव तत्त्वादि के क्रम से संकलित करके भवीजनों के बुद्धि रूपी नेत्रों में रहे हुए, कलिकाल के बल से मंडराते हुए महामोह रूपी आवरण को हटाने में श्रेष्ठ सिद्धांजन के समान, चलित होते हुए चारित्र-धर्म रूपी राजभवन को सहारा देने में स्तम्भ के समान, मिथ्यात्व-अंधकार के समूह को खण्डित करने में प्रचण्ड सूर्य-मण्डल रूप, महादुर्लभ रूप से प्राप्त मनुष्य जन्म को सफल बनाने के लिए, भवसागर के सेतु, रागादि बाधाओं से भयभीत प्राणियों के शरण-रूप, इस सम्यक्त्व-प्रकरण को संक्षेप में कहूँगा।

धर्म की राजधानी में सुशोभित चारित्र-महाराजरूपी मूर्तियों, सुविशुद्ध सिद्धान्त, उपनिषद् आदि की विचारणा से उत्पन्न स्फूर्तियाँ, सकल श्वेताम्बर दर्शनों में दीपक की उपमारूपी, उन्माद के प्रतिवाद को प्रकृष्टता के साथ निवारण करने में, उनके समूह का विघटन करने में सिंह के समान उपमित, अप्रतिम प्रतिभा से युक्त पुरुषों द्वारा अपराभूत कहे जानेवाले आचार्य पूज्य श्री चन्द्रप्रभसूरिजी अन्धकार के समूह को नष्ट करने के लिए, शिष्ट सिद्धान्त की अनुवर्त्तना के लिए मङ्गलरूपी अभिधेय व प्रयोजन रूप अभिधायक को प्रथम ही दो गाथाओं में कहते हैं-

पत्तभवन्नवतीरं दुहदवनीरं सिवंबतरुकीरं।
कंचणगोरसरीरं नमिऊण जिणेसरं वीरं ॥१॥
वुच्छं तुच्छमईणं अणुग्गहत्थं समत्थभव्वाणं।
सम्मत्तस्स सरूवं संखेवेणं निसामेह ॥२॥

पदार्थ को सतात्पर्य ही कहा जाता है। 'पत्तभवन्नवतीरं' अर्थात् कठिनाई से तरने योग्य समुद्र के तट को प्राप्त। यहाँ उपचार से तीरासन्न होने से 'तीरम्' कहा गया है। जैसे-गंगा के समीप का देश गंगा कहा जाता है। यह प्रभु की छद्मस्थावस्था का कथन है। इसमें भी स्वामी (महावीर) के अत्यन्त नजदीक सिद्धि होने से भवोदधि का तटवर्ती कहा गया है।

'दुहदवनीरं' - दुःखरूप अग्नि को बुझाने में नीर के समान। अर्थात् वन की अग्नि संतापक होती है, उसे जल के द्वारा शान्त किया जाता है। जैसे-वन की अग्नि को बुझाने में वृक्ष, बादल व जल सहायक होते हैं, वैसे ही दुर्गति आदि दुःख से संतप्त मनुष्यों के लिए भगवान् की देशना ही निर्वाण रूप है। इससे कैवल्य दशा का ज्ञान होता है। इसीमें भगवान् की धर्मोपदेशात्मकता भी निहित है।

'सिवंबतरुकीरं' - निर्वाणरूपी आम्रवृक्ष के शुक के समान। अर्थात् निर्वाणपद ही भगवान् की परम निर्वृत्ति है-इस कथन से भगवान् की सिद्धावस्था कही गयी है।

'कंचणगोरसरीरं' - स्वर्ण के समान गौरवर्णीय शरीर है जिनका। अर्थात् इसके द्वारा भगवान् की रूपातिशय की संपत्ति को कहा गया है।

'नमिऊण' - नमस्कार करके। 'जिणेसरं' - जिसने रागादि दोषों को जीत लिया है - ऐसे जिनेश्वर को। सामान्य केवलि में तो कहे जानेवाले अष्ट महाप्रतिहार्य, चौंतीस अतिशय आदि ऐश्वर्य का योग नहीं होता है, जिनेश्वरों में होता है। इसलिए जिणेसरं कहा गया है।

'वीरम्' - परीषह उपसर्गों को सहन करने में इन्द्रों के चित्त को अनुरक्त बनानेवाले वीर नाम के चौबीसवें तीर्थंकर को प्रणाम करता हूँ।

'वुच्छतुच्छमईणं' - तुच्छ बुद्धि मंद बुद्धिवालों के लिए कहूँगा अर्थात् गुरुतर शास्त्र के बोध में असमर्थ बुद्धि को तुच्छ मति कहा गया है। ऐसी मति जिनकी है उनके उपकार के लिए कहूँगा। 'अणुग्गहत्थं' - उपकार के लिए।

'सम्मत्थभव्वाणं' - समस्त भव्यों के लिए या समर्थ भव्यों के लिए। अर्थात् मुक्ति-मंजिल को प्राप्त करने की योग्यता वालों के लिए तो उपकाररूप है, पर जिनमें मोक्ष जाने की योग्यता नहीं है, उन अभवी जीवों के लिए यह वृत्ति उपकाररूप नहीं है। अतः समस्त भवीजनों के लिए उपकार रूप है। समस्त शब्द के ग्रहण से भव्यों के प्रति सामान्यता दर्शायी गयी है अथवा समर्थ भव्य धर्मोपदेश-अनुग्रह के अधिकारी होते हैं। कहा भी गया है-

होई समत्थो धम्मं कुणमाणो, जो न बीहइ परेसिं।
माइपिउसामिगुरुमाइयाण, धम्माऽणभिन्नाणं ॥१॥ (श्रावक धर्मविधि-गाथा ५)

धर्म से अनभिज्ञ माता-पिता-स्वामी-गुरु आदि के द्वारा धर्म में रूकावटें उत्पन्न किये जाने पर भी धर्म का निर्वाह करता हुआ जो दूसरों से नहीं डरता है, वही समर्थ होता है।

'सम्मत्तस्स सरुवंति'-देव तत्त्व आदि के श्रद्धानरूप सम्यक्त्व के स्वरूप को, 'संखेवेणं' संक्षेप में, 'निसामेह'-सुनो ॥१-२॥

जो संक्षेप में कहा गया, अब उसकी उपपत्ति को कहते हैं-

सुयसायरो अपारो आउं थोअं जिआ य दुम्मेहा।
तं किं पि सिक्खियव्वं, जं कज्जकरं च थोवं च ॥३॥

सिद्धांत-समुद्र महत्त्व की अपेक्षा से, दृष्टि से परे है अर्थात् अपार है, जीवन थोड़ा है, जीवों की बुद्धि अल्प है।

कहने का तात्पर्य यह है कि कुण्ठित बुद्धिवाले भी जीव आयुष्य छोटा होने पर तथा सिद्धान्त अपार होने पर भी सिद्धान्त को पढ़े अर्थात् कुछ भी सीखना चाहिए, पढ़ना चाहिए, जो कि इसलोक और परलोक के लिए कार्यकारी हो, प्रयोजन को सिद्ध करनेवाला हो और थोड़ा भी हो। इस गाथा में दो 'च' का उपयोग समान योग में किया गया है। ये दोनों 'च' दोनों विशेषणों की समकक्षता को द्योतित करते हैं ॥३॥

यहाँ सम्यक्त्व प्रकरण छोटा भी है और कार्यकारी भी है। अतः पढ़ना ही चाहिए। उस सम्यक्त्व के लाभ के प्रकार को कहते हैं-

मिच्छत्तमहामोहंधयारमूढाण इत्थ जीवाणं।
पुण्णेहिं कह वि जायइ दुल्लहो सम्मत्तपरिणामो ॥४॥

मिथ्यात्व कठिनाई से छेदे जाने के कारण 'महा' शब्द से परिलक्षित है। मिथ्यात्व मोहनीय को अंधकार की संज्ञा दी गयी है क्योंकि सत्य-दर्शन का तिरोधायक होने से मिथ्यात्व अंधकार ही है। 'मूढाण' अर्थात् विवेक रहित प्राणियों का 'इत्थ' (एत्थ) यहाँ संसार में, 'पुण्णेहिं' पुण्य-कारणों द्वारा अर्थात् शुभ अध्यवसायों के द्वारा, 'कह वि' किसी भी प्रकार से 'जायइ' उत्पन्न होता है, 'दुल्लहो सम्मत्त परिणामो' सम्यक्त्व का परिणाम दुर्लभ है।

कहने का तात्पर्य यह है कि मिथ्यात्व मोहनीय के अंधकार से मूढ़ जीवों को शुभ भावों द्वारा ग्रन्थि आदि भेदन के द्वारा अति दुर्लभ सम्यक्त्व रत्न की प्राप्ति कैसे होती है - यह उदायन राजा की कथा से ज्ञात होता है।

जिसका सम्यक्त्व परिणाम अति दुर्लभ था। वह उदायन राजा कौन था? उसे दुर्लभ समकित रत्न कैसे प्राप्त

हुआ? वह निम्न कथा के द्वारा कहा जाता है-

।। उदायन राजा की कथा ।।

हमेशाँ से समुद्र की लहरों रूपी भुजाओं से मित्र की तरह आवेष्टित जम्बूद्वीप यहाँ शाश्वत है। उस जम्बूद्वीप में संपूर्ण सम्पदाओं से युक्त भरतक्षेत्र है जो कि दक्षिण में किसी वधू के ललाट पर अर्धचन्द्राकार तिलक की आकृति के समान है। भरतक्षेत्र में कुण्डलरूप सिन्धुसौवीर मण्डल है। वहाँ बड़े-बड़े गाँव स्वर्णमय एवं उद्यान मौतिकमय शोभित होते हैं। उस सिन्धुसौवीर मण्डल में, अतीतभयवाला वीतभय नामक पत्तन है। जैसे पिता का घर कल्याणकारी होता है, वैसे ही यह पत्तन भी कल्याण का रखवाला है। जहाँ गृहस्थों को, विनाश के भय से पहले ही, एकता की शिक्षा दी जाती है। निश्चय ही अभी भी सूर्य ने दक्षिणोत्तर आयन का त्याग नहीं किया है। व्यापार के अनुरागी पुर के पुरुष व स्त्रियाँ देव जनित आनन्द का उपभोग करते हुए अत्यधिक कल्याण को प्राप्त होते हैं। जहाँ मन्दिरों से निकलते हुए धूप के धुएँ का गुबार आकाश में ऊपर की ओर उठ रहा है, मानो देवलोक के वृक्षों के पुष्प में रहा हुआ मकरन्द पाने के लिए भ्रमरों की कतार जा रही हो! जहाँ त्रिकाल-सन्ध्या में मन्दिरों में वाद्यंत्रों की ध्वनि गुंजायमान हो रही हो, मानों उत्कण्ठित मयूर आकाश में चारों ओर मधुर निनाद गुंजा रहे हों। विशाल सहस्रार्जुन नामक वृक्ष के समान बड़े-बड़े वृक्ष जिन पर बन्दर कूद-फौद कर रहे हों, शोभित हो रहे हों। जहाँ पंडितों द्वारा दान देने के लिए लक्ष्मी चलायमान है। लोह की श्रृंखला के समान जिस नगर के चारों ओर खाई विस्तार से बनायी गयी है। जहाँ वृद्धजनों के स्वर्णश्री की तरह विशिष्ट वृक्षों को संपदा वाले आरामों अर्थात् उद्यानों में और राम अर्थात् मनोहरता-सुरम्यता में सिर्फ 'आ' कार का ही फर्क दिखायी देता है।

उस नगर में मुकुटधारी दस राजाओं द्वारा क्रमिक प्रणम्य उदायन नाम का राजा हुआ। सिन्धुसौवीर आदि सोलह जनपदों से घिरे हुए वीतभय आदि ३६३ पुर पर वह शासन करता था। यदि विश्व की वस्तुओं में चन्द्रमा की किरणों से उज्ज्वल कोई शुभ्र वर्ण है तो पहले से ही यानि अनादि काल से एकमात्र यश ही वह वस्तु है। निर्मल यश रूपी चन्द्रमा के गुणों को देखकर, वैशेषिकों द्वारा जो निर्गुण कहा गया है, उसे कोई भी नहीं मानेगा। ऐसे निर्मल यश को उदायन राजा धारण करता था। जैसे बाघ के आने की आशंका से मृग एकान्त स्थान में छिपकर बैठ जाता है, ठीक वैसे ही महल के आँगन में स्वस्तिक को देखकर ही उसके दुश्मन दूर भाग जाते थे। कहा जाता है कि उदायन राजा के धनुष का ताण्डव बहुत ही अद्‌भुत था। उसका एक ही बाण रणक्षेत्र में अपना लक्ष्य-वेध कर लेता था।

उधर सम्पूर्ण अद्‌भुत कलाओं की निधि, देवी-देवताओं के समान रूप को धारण करनेवाली चेटक राजा की सुपुत्री प्रभावती उदायन राजा की महारानी थी। विनय, सुशीलता आदि गुणों से जो अत्यन्त निर्मल थी। जो विद्वद्‌जनों के मन में, राजहंसिनी की तरह रमण करती थी। जिसके अद्‌भुत गुण रूपी मोतियों की माला में शीलरत्न बिना किसी विरोध के नायक रूप को शरण लेकर रहता था। श्रेष्ठ साधुओं में उसकी संविभक्ति उच्चता के योग्य थी अर्थात् उसकी भक्ति सुसमर्थ थी। तत्त्वों की अनुप्रेक्षा में उसकी आसक्ति तथा अनुराग पग-पग पर था।

उस प्रभावती की कुक्षि से अभिचिकुमार नाम का एक पुत्र उत्पन्न हुआ। वह युवराजपद को धारण करता हुआ बिल्कुल पिता के समान ही हुआ। केशी नाम का भानजा, जो महानिधि से सम्पन्न, विनीत था, वह राजा को अपने पुत्र की तरह ही प्यारा था।

इधर अङ्ग देश में विशाल नगरी चम्पापुरी के नाम से प्रख्यात थी। जिसमें रहनेवाले स्नेही जन स्वर्ग को भी नकारते थे अर्थात् स्वर्ग से भी बढ़कर सुखी वहाँ के नागरिक थे। उस नगर में कुमार नन्दित नाम का एक विलासी

स्वर्णकार रहता था। वह रूप में कामदेव के समान एवं संपत्ति में कुबेर के समान था। वह स्वरूपवती स्त्रियों को देख-देखकर पाँच-पाँच सौ स्वर्णमुद्राओं में उन्हें खरीद लेता था। इस प्रकार उन स्त्रियों से विवाह करता हुआ वह लम्पट पाँचसौ स्त्रियों का स्वामी बन गया।

सोये हुए लोगों में जागृत के समान उसके नागिल नाम का एक मित्र था। वह धर्म-कर्म के मर्म को जाननेवाला तथा अरिहन्त प्रभु का परम श्रद्धालु था। एक दिन वह (कुमार नन्दित) अपने भवन के उद्यान में रक्त अशोक वृक्ष के नीचे श्रेष्ठ हाथी की तरह अपनी पत्नियों के समूह के बीच क्रीड़ा कर रहा था। उस समय उसने हवा से उड़ती हुई रज के समान, सुवर्णद्वीप में होनेवाले, बादलों से घिरे हुए विद्युत् पुंज की तरह दक्षिण दिशा से आते हुए उत्कट ज्योति समूह को आकाश में अपनी खुली आँखों से देखा। क्षणार्ध के लिए तो यह क्या है? इस प्रकार सभी विस्मित हो गये। लेकिन तभी ज्योति सहित केले के वृक्षों के बीच दो अप्सराओं को देखा। रति-प्रीति में परम आनन्द को पानेवाले उसने चिन्तन किया कि क्या ये कामदेव की प्रियाएँ हैं? अथवा शंकर की प्रणयिनी वे दोनों पार्वती हैं। इनके जैसा रूप इस जगत् में अन्य किसी का संभव नहीं है। निश्चय ही ये दोनों जगत् विधाता ब्रह्मा की तूलिका के अग्रभाग से गिरनेवाली अमृत बूंदें हैं, जो गगन के आँगन में तारिकाएँ बन गयी हैं। अगर रतिसुख के स्थानरूप ये किसी भी प्रकार से प्राप्त हो जायें, तो स्वर्ग-मोक्ष को प्राप्त करने के लिए सुखार्थियों के द्वारा पुरुषार्थ क्यों किया जाये! उनके पास जाकर उनके मुख-सुधारस के सिंचन से तत्क्षण उसके रोम हर्ष से खिल उठे। अपने करकमलों को जोड़कर स्नेहपूर्वक कहा-अमित पुण्य की प्रगल्भता को प्राप्त आप दोनों कौन हैं? तब उन दोनों ने कहा-हम दोनों पंचशैल द्वीप के अधिवासी हासाप्रहास नाम के व्यन्तराधिपति की प्रियाएँ हैं। लेकिन इस समय हम उनसे बिछुड़ जाने के कारण उनके विरह से आतुर हैं। अपने अनुरूप प्रेमी को देखने के लिए हम यहाँ आयी हैं। कुमार नन्दी ने कहा-अच्छा! यदि ऐसा है तो हे शुभे! प्रियों में प्रिय एकमात्र मुझे स्वीकार करो, तो मुझे अच्छा लगेगा। यह भवन मेरा है, लक्ष्मी मेरे बाये अंक की दासी है। यह मेरा क्रीड़ा उद्यान है, सरोवर, वापी, पर्वत - ये सब मेरे वश में रहे हुए हैं। ज्यादा क्या कहूँ? हे देवियों! मेरा प्रेम स्वीकार करो। जो तुम्हें बड़ी कठिनाई से मिलता है, वह सुख तो कुछ भी नहीं है। तब उन दोनों ने कहा-हमारा भी यही प्रयोजन है। तुम पंचशैल द्वीप पर आकर हमसे मिलो। वे दोनों देवियाँ ऐसा कहकर आकाश मार्ग से चली गयी।

कुमार नन्दी उनके वियोग से अश्व की तरह हो गया। उसे आहार रुखा लगने लगा। हवा अग्नि की लपट के समान, कमलनाल तीक्ष्ण बाणों के समान तथा पुष्पशय्या अंगारों के समान लगने लगी। वह सोचने लगा कि मेरे शरीर में रहे हुए जलतत्त्व से क्षण क्षण में निकलनेवाली अञ्जलि रूपी जलराशि मेरे काम रूपी ताप को शान्त नहीं कर सकती। उन देवियों के संगरूपी औषधि ही इस काम ज्वाला को बुझा सकती है।

अतः ऐसा मन में निश्चय करके वह राजा के पास गया और उन्हें अवगत करवाकर पूरे नगर में यह उद्घोषणा करवा दी कि जो कोई भी निष्णात बुद्धिवाला मुझे पञ्चशैल द्वीप ले जायगा, मैं उसे करोड़ स्वर्णमुद्रायें दान में दूँगा। वह पटह सुनकर समस्त द्वीपों के मार्ग का ज्ञाता एक व्यक्ति अपने घर से निकला और उसके पास जाकर बोला-मैं आपको आपके इच्छित द्वीप ले जाऊंगा। स्वर्णकार ने भी तत्क्षण उसे एक करोड़ स्वर्णमुद्राएँ दे दी। कहा भी गया है-

विद्यते किमदेयं वा कामिनां कामिनीकृते ।

अर्थात् कामिनी के लिए कामियों को क्या अदेय होता है?

अनुकूल पवन मन को शान्ति प्रदान कर रहा था। महापोत पर मल्लाह सवार हुआ। बड़ी-बड़ी विशाल चंचल लहरों से अपने मन की तुलना करते हुए अथाग तल वाले समुद्र के बीच भाग में जहाज पहुँच गया। तब

उसने कहा कि क्या सामने से निकलते हुए काले काजल की तरह ऊँचे उठे हुए मेघों के समूह को देख रहे हो? प्रत्युत्तर में कुमार नन्दी ने कहा कि हे भद्र! पाप की राशि के घर के समान वडवानल से निकलते हुए पिण्डीभूत हुए अंधकार को देख रहा हूँ। उस ज्ञाता व्यक्ति ने कहा कि हे भद्र! यदि ऐसा ही है, तो फिर जैसे मन्त्र-तन्त्र के ज्ञाता मंत्री के श्लोक वाक्य को ध्यान से सुना जाता है, वैसे ही मेरे वाक्यों को एकदम ध्यान से सुनो।

इस प्रदेश में अञ्जनादि पर्वत की तरह अपनी पाँखों के छेदन के भय से मानो यहाँ आकर रहा हुआ हो, ऐसा एक पर्वत है, जो बहुत ही विशाल है और यहाँ से थोड़ा ही आगे है। उस पर रहे हुए बड़े-बड़े काले-काले वटवृक्ष इसके नितम्ब के समान दिखायी पड़ते हैं। मूसलाधार बरसात के डर से उसकी गुफाएँ अंधकार के समूह की तरह निकली हुई हैं।

कुछ समय बाद चंचल लहरों के आंदोलित होने से यह पोत घुमता हुआ नीचे डूब जायगा। पर उससे पहले जीवन बचाने का कोई न कोई उपाय अवश्य प्रकट होगा।

कुमार नन्दी ने कहा-तुम कैसे जानते हो कि हम इस वडवानल से निकल जायेंगे? हाय! अब यह पोत पञ्चशैल नहीं जायगा। अगर तुम यह सब जानते थे, तो तुमने ऐसा क्यों किया? क्यों मुझे रस्सी से बाँधकर कुएँ में लटकाया? और अब वह रस्सी भी काट देना चाहते हो? मुझे विश्वास दिलाकर तुमने मेरा स्वर्ण ले लिया और मुझे समुद्र में फेंक दिया। हे धूर्त्त! तुमने तो बहुत अच्छा किया। इससे ज्यादा हित दूसरा कौन कर सकता है?

उसने कहा-मैं झूठा नहीं हूँ। हे सेठ! मैंने आपका कुछ भी अहित नहीं किया है। मैंने आपका हित ही साधा है। जो कहता हूँ, वह सुनो। इस तरह विलाप मत करो। अभी कुछ ही देर में यह जहाज समुद्र में से ऊपर उछलेगा, अतः आप व्याकुलता रहित होकर शाखा-मृग की तरह इस वृक्ष की किसी शाखा को मजबूती से पकड़ लेना। वहाँ आप वृक्ष के मूल में दो जीव, दो मुख, एक पेट तथा भिन्न-भिन्न फल को चाहनेवाले तीन पैरवाले भारण्ड पक्षी को देखेंगे। वे पञ्चशैल से आकर यहाँ निवास करते हैं। आप उसके पाँवों को पकड़कर चिपक जाना, जब वे बहुत सवेरे यात्रा करते हुए पंचशैल द्वीप जायेंगे। आप बिल्कुल भी मत डरना, क्योंकि जैसे महाशरीर वाली गाय के शरीर पर रेंगते हुए कीड़ों से गाय को कुछ भी फर्क नहीं पड़ता, वैसे ही आपके द्वारा उन भारण्ड पक्षी के पैरों पर लिपट जाने से उन्हें कुछ भी पता नहीं पड़ेगा। इस प्रकार यह वही पंचशैल है, जहाँ पर आप मेरे द्वारा प्रयत्नपूर्वक पहुँचाये गये हैं। हवा के द्वारा कंपायमान होती हुई ध्वजा की तरह वृद्धत्व के कारण मेरे अंग भी शिथिलता से कंप कंपा रहे हैं। इस देह को छोड़ते ही मैं मृत्यु को वरण करनेवाला हूँ। अतः मेरे वचनों को आप अन्यथा न मानें।

इस प्रकार कहकर अपने परिवार के लिए स्वर्ण देकर भविष्य में मरने की इच्छा करनेवाला वह संपूर्ण देश व द्वीपों का ज्ञाता उछलकर समुद्र में विलिन हो गया।

कुमार नन्दी स्वर्णकार भी जहाज के समुद्र से आकाश की ओर उछलने पर वटवृक्ष की शाखा पकड़कर उस पर चढ़ गया। बाद में भारण्ड पक्षी के पैरों को पकड़कर शीघ्र ही वह सुखपूर्वक पंचशैल पहुँच गया। वहाँ घूमते हुए उसने अनेक प्रकार के सुन्दर-सुन्दर रत्नप्रासाद देखे। उस श्रेष्ठ व्यन्तरपुर को देखकर वह आश्चर्यचकित रह गया। हवा से हिलती हुई ध्वजाएँ, छोटी-छोटी घण्टियों के कम्पायमान होने से मधुर निनाद की गूंजती आवाज, दूर तक दीपों की जगमगाहट से युक्त भवनों की कतारें तारों के समूह की तरह शोभित हो रही थीं। स्वच्छ स्फटिक के समान भवनों के आगे घूमती हुई युवा-स्त्रियों के पाँवों की पायजेब के नुपूरों की मधुर झंकार अन्तरिक्ष में गतिभ्रम पैदा कर रही थी।

ऐसे रमणीय नगर में पूछते-पूछते वह हासाप्रहास नामके भवनों के पास पहुँचा। उन भवनों के वातायन में रहे हुए किसीने उसे देखा। तब उसे उस भवन में लाया गया। वहाँ रही हुई उन दोनों देवियों ने कहा-यह रत्नों का

बना हुआ संपूर्ण महल हमारा है। तुम हमारे लिये ही इतना कष्ट उठाकर यहाँ आये हो। पर तुम मनुष्य देह में हो और हम देवियाँ हैं। मनुष्य से देवियों का संबंध कैसे हो सकता है? अतः तुम पुनः अपने नगर में जाकर हमारे लिये अग्नि प्रवेश आदि कुछ ऐसा कार्य करो, जिससे अगले भव में हम दोनों के पति बन सको।

उसने कहा कि इस विशाल दुस्तर समुद्र को तैरकर अथवा लांघकर जाने में मैं समर्थ नहीं हूँ। तब उन दोनों देवियों द्वारा उसे हंस की तरह अपने करकमलों में ग्रहण करके क्षणार्ध में ही उसके घर के उद्यान में छोड़ दिया गया। उसे वहाँ देखकर सभी विस्मित रह गये। उसकी कुशल क्षेम पूछा और कहा कि तुम कहाँ से आये हो? तब उसने जो कुछ देखा था, वह सब कुछ परिजनों को बताया और हासा-प्रहासा देवियों का एकाग्र मन से ध्यान करके उन्हें सब कुछ दिखाया। लोग कहने लगे कि हमें भी यह अदृष्ट पंचशैल द्वीप वहाँ जाकर देखना चाहिए।

कुमार नन्दी ने महादान देकर, उन प्रियाओं का मन में ध्यान धरकर, चिता रचकर उस में अग्नि साधन जुटाया।

उसी समय उसका प्रिय मित्र नागिल वहाँ आया और बोला - स्त्रियों में मोहित होकर तुमने यह कौनसी लीला रचायी है? खिन्न होकर उन दोनों कुदेवियों के लिए तुम यह क्या करने जा रहे हो? करोड़ों के मूल्य का मनुष्य जन्म तुम कोड़ियों में गंवा रहे हो।

जैसे-कोई शेरनर बिना स्नान किया हुआ, भूख-प्यास से पीड़ित, जूं-लीख से छूटकारा पाने के लिए, बिखरे केशोंवाला नखों से मस्तक से लाखों बार खींच-खींचकर जूँ व लीख को निकालता है, उसके नख घिस जाते हैं, पर वह जूँ-लीख को निकालने में समर्थ नहीं होता। भाग्योदय से वह मन के मनोरथ पूर्ण करनेवाले कल्पवृक्ष को प्राप्त करता है। कल्पवृक्ष पाते ही वह प्रार्थना करता है कि हे कल्पवृक्ष! हाथ में कंघी लेकर मेरे सिर में रहे हुए इन जूँ-लीखों को साफ करो। इनसे घिरा हुआ मैं अतिशय कष्ट पा रहा हूँ। अतः इन दुष्कर्माणुओं रूप जूँ-लिखों को मुझसे विलग करो, जिससे मैं सुखी हो जाऊँ।

इसी प्रकार तुम भी कल्पवृक्ष के समान मनुष्य जन्म को पाकर भी उस व्यक्ति की प्रार्थना के समान काम से उत्पन्न सुख की वांछा करते हो। अगर तुम इस मनुष्य भव में जैन दीक्षा स्वीकार करोगे, तो तुम्हारी आत्मा ध्यान रूपी जल से क्षणमात्र में निर्मल बन जायगी। तब तुम मुक्ति स्त्री रूपी एकान्त सुख की निधि का वरण करोगे। उस मुक्तिश्री का आलिंगन करने से न तो बुढ़ापा आयगा, न ही मृत्यु। विषयों में सुख खोजने वाले मूर्खों को क्या कहा जाय? कहा भी है -

निम्बद्रुमाद् भवन्तीह सहकारफलानि किम् ।

अर्थात् नीम के वृक्ष से आम्रफल की प्राप्ति कैसे हो सकती है?

कुटिल नारी के केश-पाश में कामान्ध व्यक्ति ही रंजित होते हुए देखे गये हैं। अस्थिर चित्तवाली स्त्रियाँ देखने से ही चपल मालुम होती हैं। हवा से हिलायी जाती हुई ध्वजा का वस्त्र देखने में ही अस्थिर ज्ञात होता है। वैसे ही कुटिल नारी चंचल होती है। वह किसी एक की होकर नहीं रह सकती। कपट रूपी द्वय स्तनों के कपाट से आवेष्टित नारी के छोटे से दिल में आवास करना बहुत से दोषों का कारण है। जिनधर्म से विपरीतता को धारण करते हुए पातकियों के लिए जगत् में स्त्रियों के नाभिमण्डल अर्थात् गर्भावास के अलावा अन्य कोई स्थान नहीं है। एक दोष रूपी स्त्री को ग्रहण करने से अन्य दोष भी अनायास ही आ जाते हैं। जैसे-स्याही पात्र को ग्रहण करने मात्र से हाथों में कालिमा आ जाती है। और भी, अगर स्त्रियाँ खुद द्वारा अर्जित थोड़ा सा धर्म भी देती हैं, तो हे मित्र! हासा-प्रहासा देवियाँ तो उस स्त्री की दासी के समान भी नहीं हैं। अतः जलती हुई आग की चिंगारियाँ छोड़ती हुई, लपटों से घमघमायमान अग्नि रूपी चिता में तुम प्रवेश मत करो-ऐसा नागिल बोला। हे मित्र! लौट आओ। इस अज्ञान मृत्यु

से लौट आओ। अग्नि में पतङ्गे की तरह गिरकर व्यर्थ ही यम के अतिथि न बनों।

हितैषी मित्र नागिल के द्वारा प्रतिबोधित किये जाने पर भी निदान पूर्वक कुमार नन्दी ने अपने आप को जलती हुई चिता में होम दिया। बहुत सारी शिक्षाओं के द्वारा भी अकृत्य से वापिस न लौटा। जैसे द्वार का शिथिल निरोध होने पर वह द्वार खुल जाता है वैसे वह मूढ़ बुद्धिवाला अकाल मृत्यु से पीछे नहीं हटा। और जैसे हाथी स्मृति भंग हो जाने से हल्की सी श्रृंखलाओं से बंधा होने पर भी उन श्रृंखलाओं को नहीं तोड़ पाता है।

तब उस स्वर्णकार के चितानि में गिर जाने पर श्याम धूम्र के साथ परिजन के शोक-शब्द भी गगन मण्डल में छा गये। राग-भोग सहित ५०० पत्नियाँ व्यर्थ में ही छूट गयी। कहा गया-उसका अनुसरण करनेवाला भी अब कौन था। सब कुछ एक झटके में ही छूट गया। और वह मरकर अज्ञान-कष्ट रूपी तप के माध्यम से हासा-प्रहासा देवियों के व्यन्तर देवरूप में उत्पन्न हुआ।

वेदना से आर्त्त मनुष्य की तरह नागिल भी अपने मित्र की अज्ञान-मृत्यु को देखकर परम निर्वेद को प्राप्त हुआ। कामसुख में जड़ रूप से लिप्सावाला तो मोक्ष सुख से पराङ्मुख होकर अग्नि में प्रवेश करता है और कामसुख में क्षणिक लिप्सावाला भवोदधि को पार कर लेता है। राजीमती को देखकर भगवान् अरिष्टनेमि के भाई रथनेमि भी अपने व्रत से चलित हो गये। अतः कामरूप दास का कहना ही क्या? अथवा जिसके लिये मैं शोक करता हूँ वह मेरा है ही नहीं-यही सत्य वचन है। कहा भी है-

दूरे ज्वलन्तमीक्षन्ते सर्वे नाऽधः स्वपादयोः।

अर्थात् दूर से जलता हुआ सभी को दिखायी देता है। यानि दूसरे के अकृत्य सभी को दिखते हैं परंतु स्वयं के पैरों में जलता हुआ यानि स्वयं के पाप दिखायी नहीं देते।

गुरु के उपदेश से बाल्यावस्था से धर्म को जाननेवाला मैं अगर दीक्षा नहीं लूँगा, तो यह मेरे लिये दुःख की बात होगी। इस तरह अत्यधिक विचार करके विकल आत्मा वाले नागिल ने शुद्धात्मा बनकर सिद्धि सुख की एक मात्र चाह में निमग्न बनकर व्रत को ग्रहण किया। दीक्षा ग्रहण करके नागिल ऋषि अतिनिर्मल भावों से व्रत का पालन करने लगा। केवलियों के संयम शिखर को क्या कोई भी अन्यत्र कम्पित कर सकता है? अपने गुरु के साथ चिरकाल तक विहार करते हुए बारह प्रकार के तप द्वारा अपनी कर्मशिला को पतली करते हुए पवित्रता को प्राप्त होता रहा। सम्यग् आराधना करके समाधि मरण प्राप्तकर वह बारहवें देवलोक में इन्द्र का सामानिक देव हुआ।

एक बार आठवें नन्दीश्वर नाम के द्वीप में अरिहन्त चैत्य की यात्रा के लिए सभी देव रवाना हुए। वह स्वर्णकार भी हास-प्रहासा भवन में विद्युन्माली नामक देव हुआ। हास-प्रहासा के वातायन से देवों को जाते देखकर हासा-प्रहासा देवियों ने विद्युन्माली देव को कहा कि - हे नाथ! नन्दीश्वर जाने के लिए निकलते हुए देवेन्द्रों के सामने गाते हुए वाद्यन्त्र बजाना हम किङ्कर देवों का अधिकार है। यह सुनकर अभी-अभी देव रूप से उत्पन्न हुआ वह अहंकारी क्रोध से दुर्द्धर होकर, महासुभट की तरह भारी हाथ भूमि पर मारकर, सूर्य की किरणों की तरह ताम्रवर्णी आँखों से ताण्डव नृत्य करते हुए निरभ्र आकाश में बोलने के लिए उद्यत हुआ-मुझ स्वामी के अभाव में कपोल कल्पित स्वामित्व भाव से ये देव ताण्डव कर रहे हैं। क्यों न हो? सूर्य के पीछे-पीछे जाते हुए दीप क्या प्रकाशित नहीं होते? वेश्या के नाट्य-स्थान में मेरे आसन के समीप बैठने से मुक्तावली की तरह ये पटह वाजिंत्र मेरे गले में डालना चाह रहे हैं, अतः निश्चय ही ये मरने के इच्छुक है। और भी, हे मेरी पत्नियों! सुनो, तीनों भुवन में त्रि-जगत् के जीतने में ओजस्वी मेरा प्रतिपक्षी कोई नहीं है। शेर के साथ हरिण की क्या प्रतिस्पर्द्धा! महाशक्तिशाली शस्त्र ही पर्वतों के समूह तथा हाथी के मस्तक का भेदन करता है।

इस प्रकार दोनों पत्नियों को यह सब बताकर वह देवों के समूह के सामने स्वयं ही पटह लेकर कुछ ध्वनि

करता है। तब पूर्व में किये हुए दुष्कृत्यों के कारण पटह (ढोल) उसके कण्ठ में लगा, लगते ही अनचाहे अचानक महाविष की तरह से उसको कालज्वर के समान वह लज्जित व परास्त होता हुआ उसे गले से उतारने में समर्थ नहीं हुआ।

तब हासा-प्रहासा ने अपने प्रिय की यह स्थिति देखकर कहा-लज्जा न करके आपको यह वाद्य अवश्य ही बजाना चाहिए। तब वह वाद्यंत्र को बजाता हुआ इन्द्रों के समक्ष गया। दूसरी बार वाद्यंत्र बजाते हुए उसके दिल में महादुःख हुआ। अहो! इन कल्पवासी देवों की महा ऋद्धि देखो! हा! हा! मुझ जैसे-अपुण्यशालियों को तो देवों की दासता ही मिली। मेरे द्वारा पूर्व भव में कुछ भी सुकृत नहीं किया गया होगा। तभी तो देवों के किङ्कर के रूप में मैं पराधीन बना हूँ।

नागिल देव भी यात्रा करता हुआ वहाँ आया। पूर्व भव के मित्र-स्नेह को अवधिज्ञान से उसने जाना। अपने आगे दीनभाव से वाद्यंत्र बजाते हुए पूर्वभव के मित्र को देखा। उस पर दया करके उससे बोलने के लिए शीघ्र ही उसके पास गया। नागिल देव के अंगों की प्रभा से उत्पन्न चक्र से अतिक्रान्त होकर सूर्य के तेज के समान उसके तेज को देखने के लिए समर्थ न होने वाले नेत्र-रोगी की तरह वह वहाँ से सरकने लगा। तब विद्युन्माली को देखकर अमर दैविक कान्ति को शांतकर उससे बोला - क्या मुझे नहीं जानते? उसने भी इस प्रकार से कहा-किस राज्य से आप आये? मैं आप जैसे इन्द्रादि देवों को नहीं जानता हूँ।

पुनः नागिल देव ने उससे कहा-बिना किसी लागलपेट के बताता हूँ कि पूर्वभव में मैं और तुम कैसे थे और अब कैसे हैं? हासा-प्रहासा देवियों ने खिन्न वाणी से कहा-आप हमारे स्वामी हैं। इसके अलावा हम और कुछ नहीं जानते।

नागिल ने कहा-पूर्वजन्म में तुम्हारे रूप पर मोहित होकर इस प्रकार से मरकर यह सुर किङ्कर हुआ। यह सब देखकर वह भी जान गया कि यह मेरा मित्र नागिल है। नागिल ने कहा-मैंने तो पण्डित मरण से उच्च गति प्राप्त की, पर तुमने मेरे वचनों का आदर नहीं किया। अतः सुरकिङ्कर के रूप में पैदा हुए।

तब विद्युन्माली ने कहा-हाथी को वश में करने के लिए खड्डा खोदने के कष्ट की तरह अब मैं भी कष्ट सहन करूंगा। अर्हत् दीक्षा ग्रहण करके तुम्हारे जैसा देव बनुँगा। पश्चात्ताप करता हुआ स्वर्णकार देव बोला-जो हुआ, सो हुआ। हे मित्र! अब क्या करुँ-यह आदेश दो।

तब नागिल देव ने कहा कि देवों में सर्वविरति या देशविरति नहीं होती। आर्हत रूपी धर्म के सर्वस्व रूप सम्यक्त्व को तुम ग्रहण करो। हे मित्र! यह सम्यक्त्व सिद्धिगामियों में रेखा की तरह प्राप्त होता है। जैसे जल के बिना औषध निष्फल है, उसी प्रकार सम्यक्त्व के बिना दीक्षा निष्फल है। स्वामी वीर की जीवन्त प्रतिमा को बनाओ। ऐसा करने से कदाचित् तुम्हारी धर्मबुद्धि स्थिर बनें। इससे जन्मान्तर में भी सम्यक्त्व रत्न की प्राप्ति तुम्हें सुलभ होगी। कभी भी तुम्हें दुर्गति आदि दुःख भी प्राप्त नहीं होगा। जो छोटी सी भी अर्हत् प्रतिमा की प्रतिष्ठा करता है, वह निर्वाण नगर में स्वयं को सदा-सदा के लिए स्थापित करता है। जिस भव्य के द्वारा अर्हत् प्रतिमा नित्य अर्चित-पूजित होती है, वह क्षणमात्र में ही धन व पुण्य को बार-बार प्राप्त करता है।

स्वर्णकार देव भी अर्हत् धर्म की संभावनाओं को देखकर एवं नागिल देव की ऋद्धि देखकर उसके वचनों की शरण में चला गया। इस प्रकार नागिल उसे जैन धर्म में आरुढ़कर प्रथम देवलोक के इन्द्र की सेवा से उसे मुक्त करवाकर अच्युत विमान में चला गया।

कुमारनन्दी देव भी श्रेष्ठ अर्हद् भक्ति के द्वारा महामतिवाला होकर महाहिमवान् पर्वत में गया। गोशीर्षचन्दन की लकड़ी का छेदन करके जगत् को आनन्द देनेवाले श्री महावीर जिनेश्वर की जीवन्त प्रतिमा की रचना की। फिर

शीघ्र ही प्रतिष्ठा करके, विभूषित करके, भक्तिपूर्वक अर्चना करके, नमस्कार करके, मस्तक नमाते हुए नये-नये स्तवनों से भक्ति की। गोशीर्षचन्दन के द्वारा स्वयं मूर्ति के खाली स्थानों को भरकर उस अर्हत् प्रतिमा को महानिधि की तरह रखा। और प्रतिदिन उसकी पूजा अर्चना करता रहा। फिर एक दिन उस मूर्ति को लेकर आकाश मार्ग से आते हुए विद्युन्माली ने समुद्र में एक विशाल जहाज को देखा। वह जहाज घूमर नृत्य करनेवाले अभ्यस्तों की तरह गोल-गोल घूम रहा था अथवा घोड़े की तरह भूमि के गोल-गोल चक्कर लगा रहा था। उस जहाज में आन्तरिक चिन्ता से आतुर अपने-अपने अभीष्ट देवताओं का स्मरण करते हुए लोगों को मृत्यु की इच्छा करते हुए देखा। किसी दैवीय उत्पात से घूमते हुए इस जहाज को ६ माह से अधिक हो गया था। अवधिज्ञान से सारी स्थिति जानकर जहाजों में स्थित एक वणिक् से पूछा-कहाँ जाओगे? तब उस देव को देखकर हाथ जोड़कर मस्तक से लगाकर दीनतापूर्वक उन्होंने कहा-हे प्रभो! अन्धे कुँए में घूमते हुए हम लोगों का उद्धार करो। भाग्यवशात् आप ही हमारे कुलदेव के समान आज दिखायी दिये हैं। सिन्धुसौवीर कोटीरपुर वीतभयनगर की सन्निधि में हमारे घर हमें शीघ्र ही पहुँचाओ। हे देव! हम पर प्रसन्न होओ।

तब वह व्यन्तर देव बोला-मत डरो! मत डरो! मैं शीघ्र ही तुम सबको क्षणभर में ही अपने-अपने इच्छित स्थान पर पहुँचा दूँगा। तब उत्पात करनेवाले उस देव को डराकर व्यंतर देव ने उसे भगा दिया। फिर उस अर्हत् प्रतिमा को एक मंजूषा में बंदकर उस जहाज में रक्षा औषधि की तरह रख दिया। फिर उसने कहा कि-उदायन राजा से कहना कि अब आप ही यहाँ पर रखी हुई देवाधिदेव अरिहंत की प्रतिमा के मालिक हैं। इस प्रकार कहकर देव के अंतर्ध्यान हो जाने पर देव की कृपा से क्षणार्ध में ही वह जहाज उड़कर वीतभयनगर पहुँच गया। तब उस पोत का स्वामी पोत से उतरकर जहाज में रहे हुए यात्रियों को अवगत कराकर स्वयं राजा की सभा में आया। अपने आभूषण (शिरस्त्राण) उतारकर राजा के सामने नमस्कार करके संपूर्ण उत्पात आदि वृतान्त राजा को निवेदन किया। देव के द्वारा अर्पित की गयी मंजूषा के बारे में भी बताया। साथ ही यह भी कहा कि समुद्र के किनारे उस अद्भुत लक्ष्मी को देखने के लिए आपको अवश्य ही आना चाहिए। तब देवकृत उपद्रव से मुक्त हुए उस पोतपति ने चमत्कार के दर्शन में पिपासु बने राजा को चलने के लिए आग्रह किया। राजा भी देवाधिदेव को स्वयं देखने के लिए हर्षित होकर अश्व की तरह वेगवान होकर चला। पोतपति राजा आदि सभी को एकत्रित करके जहाज के समीप लाया। अपने सर्वस्व की तरह उस मंजूषा को लाकर राजा के सामने रखा। राजा द्वारा पूर्व में ही आदेश दिये गये कर्मचारी द्वारा तीक्ष्ण कुल्हाड़ियों के द्वारा अपने-अपने अभीष्ट देवों को याद करके उस मंजूषा को तोड़ने का प्रयास किया गया। उनकी कुल्हाड़ियाँ टूट गयीं पर देवाधिदेव के दर्शन नहीं हुए। कहा भी गया है-

निःपुण्यानां भवेत्किं वा चिन्तारत्नं दृशोः पथि ।

अर्थात् अपुण्यशालियों को क्या मार्ग में पड़ा चिन्तामणि रत्न भी दिखायी देता है?

राजा की आज्ञा से अन्य पाखण्डियों को भी अपने अपने देवों का स्मरणकर उस मंजूषा को खण्डित करने की प्रेरणा दी गयी। उनकी कुठारें भी मंजूषा के समीप जाते ही अति-कुण्ठित हो गयी। उनके मन के मनोरथ खण्डित हो गये, पर वह मंजूषा नहीं टूटी।

उस आश्चर्य को रानी प्रभावती ने भी उत्सुकता से सुना और अपनी दासी द्वारा राजा को अर्ज किया। उस दासी ने राजा के पास जाकर अंजलि-बद्ध प्रणाम करके कहा-हे देव! देवी आपको अर्ज करती हैं कि आपकी आज्ञा से मैं भी इस कौतुक को देखने के लिए आना चाहती हूँ। हो सकता है, कदाचित् ये मेरे ही देवाधिदेव हों।

तब राजा ने भी स्नेहपूर्वक उस दासी को देवी को बुलाने के लिए आज्ञा प्रदान की। राजा ने भी विचार किया कि शायद इस मंजूषा में, प्रभावती देवी के हृदय समुद्र में प्रतिबिम्बित होनेवाले अर्हत् देव रूपी चन्द्र हों।

दासी के द्वारा रानी प्रभावती को राजा का आदेश कहा गया। देवी ने उसी समय स्नानादि के द्वारा देह की पावनता-पवित्रता को धारण किया। श्वेत परिधान से तत्क्षण अपने अंगों का गोपन करते हुए मोती-माणक आदि अलङ्कारों से युक्त होकर मानो चाँदनी ही मूर्त्त रूप में प्रकट हो रही हो। इस प्रकार पूजा के उपकरण आदि से युक्त होकर दासियों से घिरी हुई प्रमोद रस का संचार करती हुई देवी नृप के समीप पहुँची। तब रानी ने राजा की आज्ञा से स्वयं चन्दन के द्वारा उस चन्दन से निर्मित मंजूषा की अर्चना की। पुण्य-फल की उत्पत्ति के कारण रूपी पुष्पों से पूजा की। आत्मा के कर्म रूपी झुण्ड को उड़ाने के लिए धूप-दीप द्वारा धूम को उत्पाटित किया। आकृष्टि-मन्त्र की तरह पञ्च-नमस्कार मन्त्र से नमस्कार करके इस प्रकार कहा-अगर इस मंजूषा के भीतर त्रिकाल को जाननेवाले वीतराग देवाधिदेव अरिहन्त देव हैं, तो वे मुझे दर्शन देवें। परम अरिहन्त को ध्यानेवाली मेरे लिये इस मंजूषा रूपी आवरण योग्य नहीं है। देवी के इस प्रकार कहते ही द्रष्टा जनसमूह के दर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम के साथ जैसे प्रातः होते ही पद्मकोश खिल जाता है, ठीक वैसे ही वह मंजूषा भी अपने आप खुल गयी। उस मंजूषा के अन्दर विद्युन्माली देव द्वारा निर्मित गोशीर्षचन्दन की बनी हुयी, दिव्य अलंकारों को धारण किये हुए अम्लान-पुष्पमाला धारण किये हुए जीवन्त स्वामी श्री वीरप्रभु की अद्‌भुत जिनेश्वर प्रतिमा प्रकट हुई। जैसे-वर्षाऋतु में सर्वत्र जल की वृद्धि हो जाती है वैसे ही प्रतिमा के दर्शन होने से जिनप्रवचन की अभूतपूर्व प्रभावना हुई।

देवी प्रभावती ने उस प्रतिमा की पूजाकर, प्रणामकर, आनन्दाश्रुओं से सरोबार होकर भक्तिपूर्वक स्तवन करना प्रारंभ किया-जयश्री वीर! विश्व के मालिक! विमल ज्ञान दर्शन के धारक। रागद्वेष से विरहित। मुक्तिश्री का वरण करनेवाले। सभी अवर देव आप देवाधिदेव का गुणगान करते हैं। वह होली के पर्व में बनाये हुए राजा के समान आप मुझे अतीव सुंदर लग रहे हैं। आपके ये तीन छत्र-तीन लोक के स्वामीत्व के सूचक हैं। आपके बिना किसी भी अन्य देव का कुछ भी प्रभाव नहीं हो सकता। आपके चलने पर अन्य देव आपके चरण-कमलों तले स्वर्ण कमल रखते हैं। जो श्री (लक्ष्मी) वीर जिनेश्वर के समवसरण में दिखायी देती है। वह श्री अरिहंत देव के सिवाय अन्यत्र देवों में नहीं सुनी गयी है। सुमेरु पर्वत की तरह तारों के करोड़ों देव हैं, पर रात्रि में भी वे चाँद का साथ नहीं छोड़ते हैं। हे देव! आपके दर्शन से जो अतिशय आनन्द मुझे प्राप्त हुआ है, उसे अन्य वचनों से कैसे कहुँ? वह तो आपकी वाणी का ही विषय है। इस प्रकार वहाँ रहे हुए जो आपकी स्तुति करते हैं, वे कर्म कालिमा को क्षीण करके शीघ्र ही भवान्त को प्राप्त करते हैं।

इस प्रकार देवी के स्तवन को सुनकर एवं प्रतिमा को देखकर कौन अरिहंत धर्म को हर्ष से रोमांचित होकर प्राप्त नहीं करेगा? केवल गाढ़ मिथ्यात्व के उदय वाले एवं भूत-पिशाच रूपी व्यन्तर देवों के परवश बने हुए लोग ही उस कठिनता से प्राप्त होनेवाली बोधि (सम्यक्त्व) को प्राप्त नहीं कर पाते।

राजा उदायन दुर्लभ बोधि होने से सम्यक्त्व प्राप्त न कर सका। पाखंडियों ने भी प्रशंसा करते हुए कहा-धन्य है रानी प्रभावती महासती! निश्चित ही इसका भाग्य जगा है। निष्पुण्य वालों को ही इस प्रकार के देवदर्शन दुर्लभ हैं। पर इस महासती को तो सत्य रूपी समुद्र में चन्द्र रूपी अर्हत् देव के दर्शन प्राप्त हुए हैं। इस प्रकार वीर जिनेश्वर देव निश्चय ही यह देवाधिदेवता हैं, क्योंकि इस प्रकार की अतिशय स्फूर्ति उनके प्रतिनिधियों में भी देखी जाती है। देवी के स्नेह से प्रभावित होकर देवाधिदेव के आगे नरेन्द्रों ने भी सुन्दर संगीत उत्सव किया। नगररक्षकों को आदेश दिया कि पताकाओं के समूह के आधाररूप बाजारों की शोभा को अभी सुन्दर बनाओ।

फिर देवाधिदेव की प्रतिमा को रथ पर आरोपित करके राजा ने शीघ्रता से नगर में प्रवेश करवाना प्रारम्भ किया। रथ को जाते हुए देखकर प्रतिमा-दर्शन के कौतुक से सभी पुरजनों के द्वारा आदर सहित उठकर अभ्युत्थान आदि किया गया, तब वह नगर ध्वजाओं के चलित होने से नृत्याभास से, स्त्रियों के धवल परिधान में मंगल-

मधुरम गीत गाये जाने से दीप्तिमान हो गया। नान्दीतूर्य की आवाज से चारों ओर पथिकों के द्वारा नृत्य किया जा रहा था, मानों दिशावधूएँ नृत्य करने के लिए आकुल-व्याकुल हो रही हों। उल्लासपूर्वक नाट्य-गान, स्त्रियों के कोलाहल के प्रतिनाद से ऐसा लग रहा था, मानो स्वर्ग को ही वश में कर लिया गया हो। हर्ष के आवेग से नृत्य करते हुए मनुष्यों के पग के प्रहार से सुप्त मनुष्य भी उस महोत्सव को देखने के लिए जागृत हो गये।

अत्यधिक जन संकुल होने से शीघ्र गति करने में अक्षम वह रथ धीरे-धीरे चलता हुआ नगर के द्वार पर पहुँचा नगर-नारियों के द्वारा पुण्य-वृक्ष पर आरुढ होने के कारण स्थान रूपी चावल के थालों से चावलों को उछाला गया। महात्यागी के समान धनभण्डार रूपी पुण्यराशि को देखता हुआ, जो सत्य है वह तुच्छ नहीं है-इस प्रकार विचार करता हुआ पुरजनों के द्वारा रथ पुर में प्रविष्ट हुआ। घरों से उठती हुई ध्वजाएँ आकाश में एक दूसरे से मिल रही थीं। संपूर्ण चाँदनी से बंधा हुआ वह नगर दीप्तिमंत हो रहा था।

उस जैन रथ को देखने की उत्कण्ठा वाला कोई भाग्य विभूति से दूध को निकालना छोड़कर वहाँ आया। कोई रथ दर्शन के पुण्य से स्वयं को कर्मशून्य बनाने के लिए घर को शून्य छोड़कर वहाँ आ गया। कोई परोसे हुए थाल को यों ही छोड़कर रथ-दर्शन के आनन्द रस को पीने की पिपासा से वहाँ आ गया। कामभोगों को शुष्क बनाकर, दूध से भरे स्तनों के साथ शीघ्र ही वहाँ आने में असमर्थ स्त्रियाँ अपनी निन्दा आप ही कर रही थीं। विस्फारित नेत्रों से उस महिमावन्त रथ को देखते हुए आनन्द रस से भरे हुए लोगों को भूख-प्यास का भान ही नहीं था।

इस प्रकार लोगों के द्वारा देखा जाता हुआ पग-पग पर पूज्यमान वह रथ तोरण से बंधे हुए राजमहल के पास आया। अन्तःपुर के समीप मनोरम चैत्य करवाकर राजा के द्वारा वह प्रतिमा रथ से उतारकर लायी गयी।

रोज स्नान करके नये वस्त्र धारण करके प्रभावती देवी त्रिसंध्या में उस प्रतिमा की पूजा करने लगी। दूषित अष्ट कर्मरूपी प्रेतज्वर हटाने के लिए प्रतिमा के सामने देवी अखण्ड चावलों से अष्टमंगल की रचना करती। संपूर्ण विधि से चैत्य-वंदना करती हुई वह उस मन्दिर रूपी उद्यान को आनन्दाश्रु जल की उर्मियों से सिञ्चित करती थीं। प्रभु के अंतरंग स्नेह से रंजित होकर देवी दिव्यभाव रस से युक्त होकर अद्‌भुत नृत्य प्रतिमा के सामने करती थी। उदायन राजा भी प्रेयसी प्रिया प्रभावती की चाह में (उस पर रहे हुए स्नेह के कारण) वीणा बजाते हुए सदा ग्रामराग स्वर की संगत दिया करता था। इस प्रकार की क्रिया को देखते हुए भी राजा को प्रतिबोध नहीं हुआ। कहा भी गया है-

यद्वेक्षुवाटजस्यापि स्यान् माधुर्यं नलस्य किम् ।

अर्थात् ईक्षु को पीलने से मशीन में मधुरता कैसे आयगी?

इस प्रकार एक दिन जिनवर की पूजा करते हुए महादेवी ने भक्तिरस से युक्त संगीत गाया। उदायन राजा के द्वारा भी विविध वाद्यन्त्रों के द्वारा वाद्य बजाया गया। वाद्य-वादन करते हुए मानों राजा स्वयं ही वाद्य-स्रष्टा बन गया। प्रभावती देवी ने शास्त्र क्रम से मनोरम नृत्य किया, उस नृत्य के द्वारा उसने सभी रसों को मूर्तिमंत कर दिखाया। तब नृत्य में प्रकर्षता को आरूह होकर देवी के नृत्य किये जाने पर राजा को नृत्य देखकर ऐसा लगा मानो देवी युद्ध में सिर रहित धड़ की तरह नाच रही है। अहो! यह क्या है? इस प्रकार क्षोभ से राजा क्षुब्ध हो गया। और प्रमादवश उसका हाथ बाजे पर लड़खड़ा गया। वाद्यंत्र बेसुरा हो गया। प्रभावती के नृत्य में बाधा पहुँची। उसने कुपित होकर कहा-मेरे नृत्य के अवसर पर आपने शिरोच्छेद की तरह मेरा नृत्य छेदन करके मुझे चोट पहुँचायी है। ग्रीष्म ताप से आकुल भरे नयनों की तरह म्लान मुखवाले राजा ने कहा-हाँ! देवी! मुझसे यह प्रमाद हो गया है। राजा के दिन के इन्दु के समान म्लान मुख को देखकर रानी ने कहा-हे देव! यह चैत्य मिथ्या भाषण का स्थान नहीं

है। अतः जो सही बात है, वही कहो। अन्योक्ति के द्वारा मुझे न छलें। हे नाथ! सद्भाव का गोपन प्रेम के अभाव का चिह्न है। तब देवी के अत्यधिक आग्रह करने पर राजा ने स्खलित वाणी के द्वारा भावी अनिष्ट की आशंका को स्पष्ट किया। हे देवी! यह दुर्निमित्त है। आयुष्य की अल्पता को सूचित करता है। अतः शीतऋतु के कम्पन की तरह मेरा दिल अभी भी काँप रहा है। प्रभावती ने यह सब श्रवणकर अक्षुभित अंतःकरण से राजा को कहा-इसका यही कार्य है नाथ! कि तत्त्वज्ञों द्वारा भयभीत नहीं होना चाहिए। ग्रीष्म-ताप से क्लान्त कोयल का कण्ठ चलाचल हो सकता है। वैसे ही अगर जीवन है तो इस प्रकार के कौतुक तो होते ही रहते हैं। विद्वानों को इसमें कुछ भी शोक नहीं करना चाहिए। क्योंकि कोई भी मनुष्य परभव में आने या जाने में अथवा स्खलित होने में समर्थ नहीं है। सब कुछ कर्म के वश में है। और भी, हे स्वामी! मैं जन्म से ही अरिहन्त प्रभु की उपासिका हूँ। मेरे दिल में देव अरिहन्त व गुरु सुसाधु हैं। मैं धर्म-कर्म की विनिर्मिति से कृतकृत्य हूँ। अगर इसी समय मृत्यु आ जाय, तो भी कोई भय नहीं है। मेरे परमानन्द के कारण में जो यह कु दुर्निमित बना है, इससे ज्ञात होता है कि मुझे धर्म में विशेष प्रयत्न करना चाहिए। इस प्रकार कहकर देवी निर्विकार भाव से अपने आवास में चली गयी। राजा अपनी प्रेयसी के विघ्न की आशंका से विमना हो गया।

एक दिन प्रभावती देवी ने देव अर्चना के लिए स्नान आदि करके अपनी दासी को पवित्र श्वेत वस्त्र लाने के लिए आदेश दिया। दासी भी उन वस्त्रों को लेकर आ गयी। पर भावी अनिष्ट के वश से देवी को वे वस्त्र लाल दिखायी दिये। तब देवी क्रुद्ध होकर उसको बोली-हे बेवकूफ! क्या मैं सोलह वर्ष की नवयौवना बनकर जानेवाली हूँ, जो तुम यह लाल वस्त्र लेकर मेरे पास आयी हो? इस प्रकार देवी द्वारा दासी पर कुपित होने से वह दासी देवी के देखते ही देखते चक्र से आहत की तरह तत्काल ही भूमि पर गिरकर मर गयी।

तभी श्वेत वस्त्रों को देखकर तत्क्षण ही देवी परम विषाद को धारणकर अवाक् रह गयी। अहो! अपराध के बिना ही मेरे द्वारा दासी मारी गयी। चिरकाल से पालित मेरा पहला व्रत आज खण्डित हो गया। श्रुत में पंचेन्द्रिय वध को नरक का द्वार कहा गया है। लोक में भी स्त्री-हत्या को महापाप कहा गया है। जैसे वस्त्र को निर्मल करने में जल तथा सोने-चाँदी को निर्मल करने में आग कारण है, वैसे ही मेरे निर्मलीकरण का कारण अब संयम ही है।

इस प्रकार विचार करके देवी ने राजा को अनिष्ट दर्शन कहा। दासी के प्राणभंग से प्रथम व्रत का भंग भी बताया। व्रत भंग से उत्थित वैराग्य जल से प्लावित नयनों के द्वारा महादेवी ने राजा से कहा-हे प्रभो! आपके द्वारा एक अनिष्ट देखा गया और मेरे द्वारा दूसरा। इन दोनों अनिष्टों से ज्ञात होता है कि मेरी आयु बहुत ही अल्प है। अतः हे प्रिय स्वामी! यह जानकर मुझे आज्ञा दीजिए कि मैं संयम मार्ग को स्वीकार करके निरवद्या बनूँ। यह सब सुनकर तथा देवी की अल्प आयुष की संभावना से राजा ने कहा कि हे देवी! जो तुम्हें रुचिकर लगे, वही करो। पर यदि मैं तुम्हें अभी भी प्रिय हूँ तो हे देवी! देवत्व को प्राप्त होने के बाद, तुम मुझे मोक्षमार्ग में बोधित करना। प्रभावती ने भी राजा की प्रणय से उज्ज्वल वाणी को स्वीकार किया। क्योंकि-

स्नेहस्य ही रहस्यं तद्यादाज्ञा न विलंङ्घयते ।

अर्थात् स्नेह ही वह रहस्य है, जिससे कि उसकी आज्ञा का उल्लंघन नहीं किया जा सकता।

राजा के द्वारा देवाधिदेव की प्रतिमा की पूजा के लिए विशेषरूप से देवदत्ता नाम की कुब्जिका दासी को नियुक्त किया। महाप्रभावना के साथ शुद्ध भावों से प्रभावती ने परिव्रज्या लेकर अनशन करके प्रतिक्षण चित्त-समाधान रूपी सुधारस का पान किया। आयुष्य पूर्णकर सौधर्म देवलोक में सौधर्मेन्द्र के समान देव के रूप में उत्पन्न हुई। तब प्रभावती ने अवधिज्ञान से उपयोग लगाकर राजा के प्रतिबोध के आग्रह को जाना। ऋषि के रूप में राजा के आस्थान मण्डप में आयी। स्नेह भाव से अमृत के समान स्वाद वाले फल-उपहार आदि हाथों से भेंट

किये। राजा भी उसके ऋषि रूप को देखकर भक्ति भाव से प्रसन्न हुआ। उनके आगमन को धन्य मानता हुआ प्रिय वचनों के द्वारा उस ऋषि का अभिनन्दन किया। उसके द्वारा लाये हुए फलों को लेकर राजा दिव्य गंध-रस से युक्त फलों को देखता हुआ बहुत प्रसन्न हुआ। फिर अद्‌भुत श्रद्धा से युक्त वृक्ष के फलों को राजा ने आदर सहित खाया। फल के स्वाद से प्रेरित राजा ने कहा-भगवन्! आपने इस प्रकार के फल कहाँ पाये? क्या किसी देव ने दिये हैं? क्योंकि यह फल वृक्ष के तो नहीं हो सकते। उसने कहा-राजन्! ये फल हमारे आश्रम में बहुत होते हैं। तपस्वियों का तप-तेज तो स्वर्ग से भी अतिशय होता है। उन फलों के स्वाद में आसक्त बनें राजा ने कहा-हे ऋषि! इस प्रकार फलोद्यान से युक्त आपके आश्रम के मुझे दर्शन कराइये।

अपनी शक्ति से राजा की सभा को स्तंभित करके वह ऋषि अकेले राजा को मंत्रियों के देखते-देखते ले गया। कितनी ही दूर ले जाकर उस प्रकार के बगीचे वाले ऋषि के आश्रम को दिखाया। दृष्टि को सुख प्रदान करनेवाले आश्रम को देखकर राजा हर्षित हुआ। मैं गुरुओं के आश्रम में आ गया हूँ। मेरा भोजनादि के द्वारा सत्कार किया गया है। चिरसिंचित वृक्ष की तरह अब फल की आशा पूर्ण होगी। इस प्रकार विचार करते हुए राजा यात्रा की थकान से मार्ग में एक वृक्ष की छाया में बैठ गया। तब वहाँ के सभी ऋषि राजा को चोर समझकर उसे पकड़-पकड़कर लाठी से मारने लगे। उन यमदूतों के हाथों से बड़ी कठिनाई से छूटकर जीवित बचा हुआ राजा ज्वरार्त्त के समान काँपने लगा। भागते हुए उसने आगे अर्हत् मुनि को बैठे हुए देखा। उन मुनि ने उस राजा को कहा-अब मत डरो! मत डरो। तब उनकी शरण ग्रहण करके उनके द्वारा आश्वस्त होकर स्वस्थ होकर राजा ने विचार किया-इतने दिनों तक इन दाम्भिक वेषवाले धूर्त्त ऋषियों के साथ बिना किसी आशंका के मैं अज्ञानी की तरह कैसे बैठा रहा?

तब ऋषियों से विरक्त उसे मुनियों ने उपदेश देकर समस्त आर्हत् धर्म के मूल सम्यक्त्व का विस्तार से वर्णन किया। तब राजा के हृदय में वह सिद्धि-सुख को देनेवाला धर्म प्रविष्ट हुआ। जैसे-शुद्ध वस्त्र पर रंग चढ़ाने के लिए वस्त्र को किसी के द्वारा बांधा जाता है, तब वह बन्धन का साधन पाश कहलाता है। वैसे ही राजा को प्रभावती देव द्वारा सम्यक्त्व का रंग चढ़ाने के लिए यह सब किया गया था। तब प्रभावती देव ने प्रत्यक्ष होकर राजा को अर्हत् धर्म में स्थिर करके उससे होनेवाली श्रेयता का दर्शन कराया। तुमको महाकष्ट होने पर मेरा स्मरण करना-ऐसा कहकर अपनी संपूर्ण देवमाया का उपसंहार करके प्रभावती देव तिरोहित हो गया। राजा भी उसी क्षण अपने आपको पहले के आस्थान-मण्डप में स्वयं को सिंहासनासीन देखकर विस्मित हो गया। तब से उदायन राजा परमार्हती हो गया। उसने अपने राज्य में अर्हत् धर्म की एकछत्रता की घोषणा की।

इधर गन्धार देश में उत्पन्न श्राद्ध नाम का गन्धार हुआ। वैताढ्य पर्वत के चैत्य को वंदन करने के लिए वह प्रतिदिन जाता था। वैताढ्य के मूल में जाकर उसने अभिग्रह धारण किया था कि इस चैत्य को वन्दन किये बिना मैं इस जन्म में भोजन ग्रहण नहीं करूँगा। उसके इस निश्चय को जानकर शासन देवता तुष्ट हुए। उसे लेकर उस चैत्य के सामने अभिवंदना करने के लिए शासनदेवी ने उसे छोड़ा तथा कामप्रद १०८ गुलिका उसे भेंट की।

'मैं देवाधिदेव की अर्चना करने के लिए अभी वीतभयनगर जाऊँ'-इस प्रकार कहकर उस गान्धार ने एक गुलिका मुँह में रख ली। उस गुलिका के प्रभाव से वह तत्क्षण वहाँ आया और उस प्रतिमा को वन्दन किया। देवदत्ता दासी को उसने देखा। दैवयोग से उसके शरीर के कुबड़ेपन के होते हुए भी अर्हत् देव के प्रति उसकी जागरणा को देखा। गान्धार ने अपनी आयु थोड़ी जानकर वे गुलिकाएँ उस कुबड़ी दासी को देकर स्वयं संयम ग्रहण किया। कुब्जा ने एक गुलिका मुख में रखकर सद्रूप संपदा पाने की इच्छा की। बनाये हुए वैक्रिय रूप की तरह वह क्षण भर में ही दिव्य शरीर की मालिका बन गयी। इस प्रकार स्वर्ण पांचालिका की तरह वह स्वर्णांगी बनकर

सम्पूर्ण राजकुल में सुवर्णगुलिका के नाम से विख्यात हुई।

उसने विचार किया कि यदि मेरे अनुरूप पति नहीं मिलता है, तो मेरा यह रूप वृथा है। रति के कामदेव की तरह मेरे अनुरूप यहाँ कौन है? उदायन आदि सभी राजा मेरे लिये पितृ तुल्य हैं। दूसरे राजा तो इस राजा को कर देनेवाले कृषक की तरह हैं। अतः मालवाधीश चण्डप्रद्योत ही रम्भा के महाऋद्धि वाले कुबेर की तरह मेरा पति हो। इस प्रकार विचार करती हुई पुरुष के समागम की इच्छा वाली वह द्वितीय गुलिका को खाकर वासवदत्ता के अंतःपुर में चली गयी। गुलिका की अधिष्ठात्री देवी ने राजा प्रद्योत के आगे उसके रूप का वर्णन किया। स्त्रीलोलुप उस राजा ने भी उसी क्षण से उसको मन में बैठाकर उसे लाने के लिए अपने दूत को भेजा। उस सुवर्णगुलिका ने दूत से कहा कि उन्हें मुझसे काम है, तो स्वयं क्यों नहीं आये? क्या यह प्रेमी की कठोरता नहीं है? दूत ने जाकर राजा को उसके द्वारा कही गयी बात बतायी। राजा भी उसके सुधासिक्त वचनों से रंजित हो गया।

तब राजा गिरियों के इन्द्र रूप जंगम अनिलगिरि पर सवार होकर रात्रि में वहाँ आया। क्यों न आये?

दुःकरं किं हि कामिनाम्।

कामियों के लिए क्या दुष्कर है?

वह भी राजा प्रद्योत का स्मरण करती हुई मूर्त्तिमान होकर बैठी थी। अचानक राजा को सामने पाकर उसकी कञ्चुकी रोमांचित होकर फूलने लगी। प्रद्योत भी पृथ्वी पर अवतरित देवी की तरह उसे देखकर बोला-आओ देवी! शीघ्र ही मेरे पुर की ओर प्रस्थान करें। तब दासी ने कहा-मैं स्वामी द्वारा जीवन्त स्वामीजी की अर्चा के लिए छोड़ी गयी हूँ। अतः आप उस मूर्त्ति के प्रतिनिधि रूप तत्त्व को लेकर आयें। जिससे वह यहाँ स्थापित करके इसे मैं ग्रहण करके चली आऊँ। उस प्रतिमा के प्रतिरूप को उकेर कर वह प्रतिरूप वहाँ रखो। ताकि मैं मूल प्रतिमा ग्रहण कर सकुँ। क्षणभर राजा दासी के साथ राग-रंग रमण करके रात्रि में ही वेगपूर्वक वहाँ से निकल गया। शीघ्र ही राजा प्रद्योत उज्जयिनी पहुँचा। लेप के द्वारा वैसी ही प्रतिमा की रचना की। उस प्रतिमा को लेकर चण्डप्रद्योत पहले के समान ही रात्रि में वहाँ आया। उस दासी को शीघ्र ही वह प्रतिमा समर्पित की। वह भी उस प्रतिमा को चैत्य में अर्चनाकर बिठाकर वहाँ रही हुई मूल प्रतिमा को लेकर नृप के समीप आयी। राजा भी पवन वेग से दासी तथा प्रतिमा को लेकर दोनों को हाथी पर बैठाकर मन के वेग के समान वेग द्वारा अवन्ती की ओर चल पड़ा।

उदायन राजा ने जैसे ही प्रातः होते ही अपने नयनाम्बुज खोले, हस्ति मण्डलीक के स्वामी ने राजा को विदित कराया कि हे स्वामिन्! आर्हती दीक्षा को स्वीकार करने के समान सभी हाथी भावपूर्वक निर्मद हो गये हैं। राजा भी उस हस्ती-मण्डलीक स्वामी द्वारा निर्मदत्व के कारण को कहने से हंसकर विचार करने लगा कि कोई तत्त्व की तरह निर्मल योगी है। तभी किसी ने आकर बताया कि राजन्! रात्रि में प्रद्योत अनिलगिरि हाथी पर सवार होकर आया था। वह कुब्जा दासी को लेकर चला गया।

तब राजा ने कहा-निश्चय ही प्रद्योत के हाथी की गन्ध से सिंहनाद की तरह हाथियों का मद सूखता हुआ दूर हो गया है। लेकिन देखो! चैत्य प्रतिमा हमारी है या नहीं? उस दास ने लौटकर बताया कि प्रतिमा यहीं है।

कुछ समय बाद जब राजा पूजा करने के लिए प्रतिमा के पास पहुँचा, तो तुषारापात से मुरझाये हुए कमलों की बेल की तरह म्लान पुष्पों की माला धारण किये हुए प्रतिमा को देखा। राजा ने विचार किया कि क्या भविष्य में कुछ अनिष्ट होनेवाला है? क्योंकि इससे पूर्व इस प्रतिमा की माला के फूल कभी नहीं मुरझाए। तब राजा ने संपूर्ण देव-द्रव्यों को बिखेर कर देखा, तो सोचा-निश्चय ही यह वह मूल प्रतिमा नहीं है। निश्चय ही उस चोर प्रद्योत ने कुब्जिका दासी के साथ देवाधिदेव की प्रतिमा को भी चुरा लिया है। लेकिन मेरी दिव्य प्रतिमा को चुराकर आखिर वह कहाँ जायगा? क्योंकि-

स्थानं शृङ्गालिकायाः किं नष्टायाश्चण्डरोचिषः।

अर्थात् तीव्र प्रकाश हो जाने पर गायब हुई गीदड़ी के लिए कौन सा स्थान छिपने के काबिल होता है?

तब उदायन राजा ने दूत के द्वारा चण्डप्रद्योत को कहलवाया कि तुम्हारा दासीहरण करना युक्त नहीं है। तुमने अपने विनाश की चेष्टा की है। मांगने पर तो राजकन्या भी मिल जाती है, तो फिर दासी का तो कहना ही क्या? अतः इस दुष्कृत्य को दूर करने के लिए मस्तक मुँडवाकर आना चाहिए। जगत् में वही जीवन श्रेष्ठ माना जाता है जिसकी प्रशंसा सज्जनों की सभा में खुले दिल से की जाती है। दूसरों के देखते हुए भी अगर शक्ति हो, तो वह वस्तु (अभीष्ट वस्तु) छीनकर ग्रहण की जाती है और शक्ति न हो, तो परम भक्ति से प्रसन्न करके माँग ली जाती है। किंतु चोरी करके तुमने अपनी मृत्यु को पुकारा है। मेढ़की को निकालने के लिए तुमने सर्प के मुख में हाथ डाला है। ज्यादा क्या कहूँ, अगर जानते हुए भी तुमने मोहित होकर यह अकार्य किया है तो तुम्हारी इस एक गलती को क्षमा किया जा सकता है। वह दासी तो हमारे द्वारा आपको वैसे भी दे दी गयी है, पर अगर जीना चाहते हो तो हमारी प्रतिमा वापस लौटा दो।

तब अपनी भौंहों को धनुष की तरह नचाते हुए कुछ हंसता हुआ चण्डप्रद्योत अवज्ञापूर्वक दूत से बोला- तुम्हारे स्वामी के द्वारा यह सब अनुचित ही कहा गया है, जिसे तुम नहीं जानते हो। पिता द्वारा दिया गया राज्य भी लक्ष्यहीन के लिए शिर-नाश का कारण बनता है।

दूत ने प्रत्युत्तर में कहा-यदि गृहस्वामी के व्यग्र रहने पर जंगली जानवर कुछ लेकर चला जाता है तो इसमें उसका क्या पौरुष है? महा ओजवाले यदि शक्ति होते हुए भी चोरी करते हैं, तो यह उनका बचपना है। रावण द्वारा सीता को चुराये जाने पर क्या राम ने सीता को वापस प्राप्त नहीं किया? इस प्रकार सुनकर क्रोधित होते हुए प्रद्योत ने अपने व्यक्तियों से कहा-इसका मुख स्याही से काला करके गले से पकड़कर इसे बाहर निकाल दो। इस प्रकार से अपमानित हुआ दूत अपने स्वामी के पास पहुँचा। उदायन राजा अपने दूत की ऐसी दशा देखकर अत्यन्त कुपित हुआ।

अपने रणकुशल हाथों में खुजली महसूस करके प्रद्योत को शिकस्त देने की इच्छा से उसके सामने जाकर युद्ध करने के लिए जीत की भेरी बजवायी। हाथी, घोड़े, पैदल सेना से घिरा हुआ मर्यादा से मुक्त सागर की तरह शौर्य को धारण किये हुए उदायन राजा आगे बढ़ा। दूसरी दिशा से प्रत्यक्ष दिशापालकों की तरह अनेक बद्धमुकुटवाले राजा भी उसके साथ आगे बढ़ें। उस समय ग्रीष्मकाल अपने संपूर्ण यौवन पर था। लेकिन उदायन अपने तेज की उष्मा से कालजिह्वा की अवहेलना करता हुआ सूर्य राज की तरह श्रेष्ठ महायोद्धा, हाथों द्वारा, बाणों द्वारा संपूर्ण लोगों का शत्रु के समान हनन करता हुआ चला। ताप से उष्णांशु की तरह तृष्णा से अतिशय विह्वल बने सैनिकों ने हजारों हाथों से जल पीते हुए जलस्थान सूख गये। धातुमय मनुष्य पसीने से भीगे हुए शरीर से ग्रीष्मता के ताप से तपित होते हुए मानो पिघलकर द्रवरूप हो गये। अत्यधिक उष्णता से उत्तप्त धरती की रेत जन्तुओं को कढ़ाई में चनों की तरह पका रही थी।

तब उदायन की सेना के सैनिक मरुभूमि के जंगलों में मृगतृष्णा से आकर्षित होकर लक्ष्यभ्रष्ट होते हुए स्खलित होते हुए, गिरते हुए, भूमि में लुण्ठित होते हुए मरे हुओं की तरह प्यास से आर्त्त होकर मूढ़ चेतनावाले बन गये। उदायन अपनी सेना को पानी के लिए तड़पते देख क्लान्त हो गया। शीघ्र ही उसने प्रभावती देव द्वारा किये गये संकेत का स्मरण किया। स्मरण करते ही साधे हुए वेताल की तरह देव प्रकट हुआ। स्मरण का कारण पूछा। राजा ने तृषा की व्यथा कही। उस देव ने विशाल सेना के आदि, मध्य तथा अवसान में तीन कुण्ड की रचनाकर उसमें दिव्य जल भर दिया। उस जल से स्नान, पान आदि करते हुए सम्पूर्ण सेना अमृत की तरह उस जल को पीकर

मानो जीवित हो गयी। वे तीनों कुण्ड त्रिपुष्कर कुण्ड के नाम से प्रसिद्ध हुए। जो आज भी जल व अन्न के निधान की तरह हैं।

तब वह प्रभावती देव सेना को आश्वासन देकर राजा से पूछकर अपने कल्पावास को लौट गया। अब वह उदायन राजा आगे बढ़ता हुआ मार्ग में आये हुए राज्यों के दुर्द्धर राजाओं को जीतता हुआ मालव मण्डल को प्राप्त हुआ। मालवेश चण्डप्रद्योत भी उदायन राजा को आया हुआ जानकर शीघ्र ही चतुरङ्गिणी सेना से आवृत्त होकर वीरता के साथ शत्रु के सामने आया। उन दोनों की सेनाएँ क्षमा व क्रोध में एक से बढ़कर एक थीं। अपने-अपने स्वामी की विजय की आकांक्षा को मन में धारण किये हुए रणांगन में आमने-सामने थीं। रण भेरी की गंभीर ध्वनि, धनुष की प्रत्यंचा की गूंज उठी ध्वनि को पैदा कर रही थी। मानों अद्वैतमत के शब्द की साक्षात् स्थापना हो गयी हो। अपने-अपने स्वामी के रण में धनुष-बाणों के द्वारा प्रवृत्त सुभटों द्वारा जय-लक्ष्मी से विवाह करने के लिए बाणों का मण्डप धारण किया गया प्रतीत होता था। कोई योद्धा हाथियों के मस्तक का छेदन करने के लिए आभरणों की तरह हाथी को आकर्षित करने के लिए मोती बिखेर रहे थे। कोई डोलते हुए हाथियों को वश में करने के लिए जयश्री प्राप्त करने के लिए विपक्ष पर मन्त्र जाप की तरह वाणी प्रहार कर बींध रहे थे। इस प्रकार रण के अत्यधिक बढ़ जाने से व अत्यधिक जनसंहार की संभावना से उदायन ने दूत के द्वारा चण्डप्रद्योत को कहलवाया- हम दोनों की शत्रुता में इस प्रकार का जनक्षय उचित नहीं है। पृथ्वी पर धोबी का आयुष गधे की मृत्यु की तरह प्रतीत होता है। धोबी के लिए गधे की मृत्यु दुःखदायी होती है। वैसे हमारे लिए यह जनसंहार दुःखदायी होगा। इसलिए घोड़े व सेना आदि को छोड़कर हम दोनों का अकेले युद्ध करना ही उचित है। आरुढ़ सेना हो या पदाति सेना-हम दोनों का रण तुल्य स्थिति में है। अतः हम दोनों प्रातः रथ पर आरुढ़ होकर युद्ध करेंगे। उदायन के दूत के सामने अवंती नरेश ने भी यही प्रतिज्ञा धारण की।

प्रातःकाल होते ही उदायन कवच धारण करके रथ पर आरुढ़ होकर धनुष बाण से सुशोभित होकर ग्रीष्म काल के सूर्य की तरह दुर्दर्श प्रताप के साथ आगे आया उदायन का रथी मेरे रथी से परास्त नहीं होगा-ऐसा विचार करके प्रद्योत अपने अनिलगिरि हाथी पर सवार होकर आया। उसको हाथी पर चढ़ा हुआ देखकर उदायन बोला- अरे! नीच! भ्रष्ट-प्रतिज्ञा ही तेरी हार का कारण है। इस प्रकार कहकर धनुष लेकर उसकी डोरी की टंकार से सिंहनाद की तरह तत्क्षण प्रद्योत के हाथी को क्षुभित किया। वेग से अपने रथ की डोरी खींचकर जयश्री से क्रीड़ा करने की लालसा लिए साहस के साथ युद्ध करना प्रारंभ किया। चण्डप्रद्योत नृप के हाथी के पीछे रथ दौड़ाते हुए तीक्ष्ण मुखी बाणों के द्वारा वह धन्वी दुर्जनों को पृथ्वी तल पर गिराता चला जा रहा था। प्रद्योत के हाथी के पैरों को उदायन ने इस कदर बाणों से जकड़ दिया की वह अचल की तरह चलने में असमर्थ होता हुआ वज्र से आहत होने की तरह भूमि पर गिर गया। तत्क्षण उदायन ने प्रद्योत को केशों से पकड़कर प्रतिमा व दासी के चोर को शीघ्र ही बाँध लिया। फिर अपर विधि के विधान की तरह उसके भाल पर देवनागरी लिपि में दासीपति लिख दिया। अक्षर अंकित करके उसको दास की तरह धारण करके वीतभय के स्वामी राजा उदायन ने उज्जयिनी में प्रवेश किया। भय से उद्भ्रान्त वह दासी शीघ्र ही भाग गयी। कहा भी है-

नान्यत् प्रतिविधानं हि महादोष विधायिनाम् ।

क्योंकि महापाप करनेवाले के लिए भागने के सिवाय अन्य कोई प्रतिविधान नहीं है।

उदायन ने वहाँ पर रही हुई अपनी उस प्रतिमा को देखकर तत्काल आनन्द से खिलकर पूजाकर के अभिवंदना की। तब उस प्रतिमा को अपने नगर में ले जाने के लिए वह उठाने लगा। पर वह प्रतिमा वज्रशिला की तरह इंच मात्र भी न हिली। पुनः अर्चना करके दोनों हाथों से अंजलि बनाकर राजा ने कहा-हे स्वामी! मुझसे क्या

भूल हुई है? जिससे कि आप नहीं चल रहे हैं? हे प्रभो! आपके लिये ही मैंने यह सारा उपक्रम किया है। उसीका यह विपरीत फल क्या आप मुझ किंकर को दे रहे हैं?

तब शासन देवी ने प्रतिमा के मुख में अवतीर्ण होकर कहा-राजन्! तुम्हारे सिवाय अन्य किसी की इस प्रकार की भक्ति नहीं हो सकती। पर तुम्हारा नगर कुछ समय बाद धूल की वृष्टि से युक्त हो जायगा। उस स्थल पर मुझे ले जाने का आग्रह मत करो।

देवता के कथन से राजा ने उस प्रतिमा की विशेष रूप से तीर्थ की तरह पूजा-अर्चना-स्तुति करके, प्रणाम करके अपने नगर लौटने लगा। कुछ समय के प्रयाण के बाद वर्षाकाल समीप आ जाने से राजा को बीच मार्ग में ही रुकना पड़ा। सेना अन्यत्र गरज रही थी। श्यामवर्णी बादल इधर गरज रहे थे। जलरहित प्रदेश को इन्द्र के पुरस्कार रूप जल की प्राप्ति हो रही थी। विद्युत् आकाश में कृपाण की तरह चमक रही थी। बरसात की धारा बाणों की वर्षा की तरह एक पर एक की तरह पड़ रही थी। क्षात्र धर्म से अनभिज्ञ योद्धा की तरह नष्ट होते हुए मनुष्यों का भी वृष्टि हनन कर रही थी। उस वर्षा के भय से कोई भी अच्छे-अच्छे वस्त्रों को धारण नहीं कर रहा था। श्रीमंत लोग भी जीर्ण वस्त्रों में नगर में संचार कर रहे थे। चलने में अक्षम होने से मार्ग शून्य हो गये थे। पाँवों से एक कदम जाने के लिए भी कोई समर्थ नहीं था। लोगों से सर्वस्व ग्रहणकर अत्यन्त स्वर्ण लक्ष्मी से उन्मत्त बनी नदी भी तब समुद्र में डाल रही थी। [इतनी जलवृष्टि हुई कि जिसमें लोगों का सर्वस्व बह रहा था।] स्थान-स्थान पर लोगों से धन ग्रहण किया जा रहा था। मार्ग में रक्षा के साधनभूत पोतवाहक के लिए दिये गये पण्य को भी छीना जा रहा था। कीचड़ से पाँव को खींचकर निकालना बन्धन से मुक्त होने के समान दुर्दम था। प्रधान मनुष्य भी शिघ्र ही भूमि पर गिराये जा रहे थे। वर्षाकाल कृत इस असमंजस को देखकर राजा ने सैन्य का निवेशकर वहाँ नया नगर स्थापित किया। राजा ने उस नगर के चारों ओर की दशा देख ली थी, अतः चोर, लुटेरों के भय से बचने के लिए उन्हें धोखा देने के लिए नगर के चारों ओर धूली का कोट बनवाया। प्रद्योत नृप को वहाँ के कारागार में डाल दिया गया। राजनीति में नीतिज्ञ उदायन ने भोजन-वस्त्र आदि से उसका सम्मान भी किया।

पर्युषण पर्व आ जाने के कारण परमार्हती राजा उदायन ने उपवास धारण किया। तब रसोइये ने राजा प्रद्योत से पूछा कि आपको क्या भोजन चाहिए? प्रद्योत ने पूछा-आज मुझसे पूछने का क्या कारण है? तब रसोइये ने कहा-पर्युषण पर्व होने से स्वामी अंतःपुर के परिवार सहित उपवास की तपस्या से युक्त हैं। आप सदा ही राजपरिवार के योग्य बने हुए भोजन को ग्रहण करते हैं। आज राजपरिवार के उपवास होने से मैं आपकी भोजन की इच्छा जानने के लिए आया हूँ।

यह सुनकर प्रद्योत मन ही मन भयभीत हुआ कि कहीं यह आहार में विष देकर मुझे मार न डाले। तब उस रसोइये के सामने नाटक करते हुए प्रद्योत ने कहा-अहो! मेरा इतना प्रमाद है कि मुझे पर्युषण पर्व का भी भान नहीं रहा। मेरे माता-पिता भी परमार्हती थे। अतः मैं भी शुभ भावों के साथ आज उपवास करूँगा। रसोइये ने प्रद्योत द्वारा कथित सारी बातें राजा उदायन को बतायीं। राजा ने कहा-मैं इस प्रकार के श्रावक को अच्छी तरह जानता हूँ। पर इसके प्रति वैरभाव त्यागे बिना मैं पर्युषण पर्व का प्रतिक्रमण कैसे करूँगा? बिना कषाय छोड़े कषायी मनुष्य जन्मांतर में भी प्रायः अपनी दुश्मनी को बढ़ाता ही है। विवेकियों द्वारा कषायों का निग्रह किया जाना चाहिए। अन्यथा वे संसार के नये हेतुओं को बढ़ानेवाले होंगे। आध्यात्मिक पर्वों पर भी जिसकी कषाय की अग्नि शांत नहीं होती, वह अभवी हो या दूरभवी निश्चय ही पुनः पुनः गर्भावास को धारण करता है। प्रशान्त कषायवाला भी पुनर्भव में उन कषायों द्वारा पतित होता है। अतः लोगों को लवमात्र भी कषाय पर विश्वास नहीं करना चाहिए। क्षणिक अग्नि जैसे शरीर को जला देती है वैसे ही कषाय भी आत्मा के सद्गुणों को जलाते हैं। आर्हत् धर्म में उपेक्षा नहीं

करनी चाहिए, अन्यथा अवरोधक के अभाव में अनन्त आकाश की तरह कषाय बढ़ता जाता है। अंतः कोडाकोडी वर्ष तक संयम पालनेवाला मनुष्य मुहूर्त भर की स्थितिवाले कषाय से हार जाता है, जैसे धनवान जुए में लक्ष्मी हार जाता है।

अतः प्रद्योत के अकार्य को मिथ्यादुष्कृत पूर्वक उसके अपराध को क्षमा करके, स्वयं उदायन राजा ने उसे मुक्त किया। अवन्तीपति ने भी कहा-मेरे द्वारा अनुचित किया गया है। आप क्षमा के योग्य हैं। अतः मुझे क्षमा करें। तब उदायन राजा ने प्रसन्न होकर उज्ज्वल मन से उसके भाल पर लिखे अक्षर छिपाने के लिए स्वर्ण के पट्टे से उसके मस्तक को बाँधा। पट्टबन्ध होने से प्रद्योत भी प्रसन्न हुआ। उस पट के सामने ऐश्वर्य सूचक मुकूट बाँधा गया। उदायन ने अपने पूर्व के कीर्त्तिस्तम्भ रूप सामन्त बनाकर प्रद्योत को अवन्ती के राजसिंहासन पर प्रतिष्ठित किया।

वर्षाकाल बीत जाने पर वीतभय नरेश बिना किसी भय के वीतभय नाम के अपने नगर को गया। व्यापारी आदि भी सभी पुनः वहाँ प्रतिष्ठित हो गये। अनेक प्रकार के व्यवहार द्वारा अन्य लोग भी वहाँ आकर बस गये। जहाँ पर वर्षाकाल के दौरान राजा उदायन दश राजाओं के साथ शिविर लगाकर ठहरा था, वह स्थान दशपुर नगर के नाम से विख्यात हुआ।

इस प्रकार उदायन राजा ने इंद्र के समान निर्दैत्य निःसंपन्न होकर चिरकाल तक अपने साम्राज्य का उपभोग किया।

एक दिन उदायन राजा ने पक्खी के दिन पौषधशाला में रहकर पौषधव्रत ग्रहण किया। रात्रि में धर्मजागरणा करते हुए उस राजा के मन में पारिणामिक सुख देनेवाले इस प्रकार के परिणाम पैदा हुए-**धन्य है वे, जिनके द्वारा बालवय में ही संयम ग्रहण किया जाता है**, जिससे उन्हें किसी प्रकार के कर्मबन्ध का कारण नहीं प्राप्त होता। धन्य है वे ग्राम, नगर, पुर, पत्तन! जहाँ ज्ञातनन्दन श्री वीरप्रभु स्वयं विचरण करते हैं। जिनके मस्तक पर श्री वीरप्रभु के हस्त-कमल हैं, उनके भवोदधि के किनारे को पाने की क्या बात है? मैं भी धन्य हो जाऊँ! अगर सद्धर्म रूपी बगीचे में वर्षा करने वाले भगवान् महावीर यहाँ पधार जायँ।

इस प्रकार रात्रि बीत जाने पर प्रातः पौषध पारकर देवपूजा करके जब सभा में आकर उदायन राजा अपने सिंहासन पर आसीन हुआ। तब उद्यानपालक ने आकर बधाई दी कि पूर्वोद्यान में प्रभु महावीर का समवसरण लगा हुआ है। यह सुनकर उदायन अत्यन्त प्रमुदित हुआ। उसने विचार किया कि मेरे भावों को जानकर ही भगवान् अवश्य पधारे हैं। प्रिय वचनों को सुनकर खुश होते हुए राजा ने सिर्फ अधोवस्त्र छोड़कर धारण किये हुए सारे वस्त्राभूषण उद्यानपालक को दे दिये।

प्रभु के राग से रंजितमना उसने अपने पुर को उत्तंभित ध्वजावाला बनाया। बंदियों को छोड़ दिया। फिर अंतःपुर परिवार सहित आनन्द से भरा हुआ राजा उदायन भगवान महावीर को वंदन करने के लिए आया। प्रफुल्लित नयनों से प्रभु को देखकर हाथों को मुकुट की तरह मस्तक से लगाकर जय-जय कार करते हुए वह स्वामी के नजदीक आया। तीन प्रदक्षिणा देकर भूमि पर मस्तक रखकर एकाग्र मन से उच्चवाणी में प्रभु स्तुति के श्लोक बोलने लगा। उचित भूप्रदेश में स्वामी के ऐश्वर्य से विस्मित वह राजेन्द्र विकसित आँखों से उस ऐश्वर्य को देख विस्मित रह गया। क्षीर, गुड़ व द्राक्ष से भी मधुर वाणी में जिनधर्म की व्याख्या सुनकर श्रेयसी भक्ति में निमग्न उसकी आँखें आनंदाश्रु से निमग्न हो गयीं। वीतराग वाणी सुनते ही राजा को इस प्रकार का संवेग उत्पन्न हुआ कि मैं अभी ही व्रत ग्रहण कर अपने मनोरथ सिद्ध करुँ। व्याख्यान पूर्ण होने पर प्रभु को नमस्कार करके अपने भवन में जाकर चिन्तन करने लगा कि यह राज्य किसको देकर मैं संयम ग्रहण करूँ? इस जन्म में यह राज्य अनेक अनर्थों

का मूल है और परभव में दुर्गति का कारण है। अतः मैं अपने पुत्र को तो यह राज्य नहीं दूँगा। महासती प्रभावती की कुक्षि से उत्पन्न हुआ मेरा पुत्र इस राज्य के द्वारा अपनी भव-भ्रमणा न बढ़ा ले। मेरे बाद मेरा यह नगर उपसर्ग युक्त हो जायगा। मेरे पुत्र की देव की तरह ख्याति है, वह ख्याति कहीं अन्यथा न हो जाय। मेरा पुत्र अभीचिकुमार युवराज के रूप में ही भोगादि को भोगता हुआ सुखपूर्वक देशादि की पालना करेगा।

इस प्रकार अपने मन में विचार करके अपने पुत्र के सक्षम होते हुए भी उदायन राजा ने अपना राज्य अपने भाणेज केशीकुमार को दे दिया। यथास्थिति सचिव सामन्त आदि को स्थापित करके दरिद्रता का घात करनेवाला महादान को आचरित किया। विस्तृत साम्राज्य को छोड़कर श्री वीरप्रभु के हाथों से शुद्ध मतिवाले उदायन ने परिव्रज्या ग्रहण की। श्री वीर जिनेन्द्र की आज्ञा से सुधर्मास्वामी के समीप श्रुत व चारित्र रूप द्वय शिक्षाओं को शीघ्र ही राजर्षि ने ग्रहण किया।

ग्यारह अंग को धारण करनेवाले मुनियों के मध्य विशिष्ट मतिवैभव के द्वारा सूत्र व अर्थ के ज्ञान द्वारा वे राजर्षि क्रमशः गीतार्थ हुए। फिर वीतराग प्रभु की आज्ञा से वे एकाकी विहार करते हुए महान् तैज रूप क्षमा को प्रसाधित करते हुए विचरते रहे। अनेक प्रकार के दुष्कर महातपों से अपनी आत्मा को तपाया। दुःसह्य परीषह रूपी सेना का सामनाकर विजयी बनें।

इधर उदायन द्वारा अपने भाणेज केशीकुमार को राज्य देकर स्वयं आप्त दीक्षा स्वीकार कर लेने पर उदायन के पुत्र अभीचिकुमार ने विचार किया-मेरे राज्य के अधिकारी होते हुए, राज्य करने में योग्य होने पर, न्यायी होने पर भी अयोग्य की तरह पिता ने मुझे राज्य नहीं दिया। बल्कि इस राज्य को अपने भाणजे केशी को सौंप दिया। क्या मेरे पिता लोकाचार को नहीं जानते? यद्यपि मेरे विवेकी पिता द्वारा इस प्रकार किया गया है। फिर भी मैं उदायन का पुत्र इसका सेवक कैसे बनूँ? मेरी राज्य लक्ष्मी को दूसरों के द्वारा भोगते हुए मैं कैसे देख सकता हूँ? इस प्रकार विचार करके अभिमान के महाधन से युक्त होकर वह कूणिक राजा के पास चला गया।

उधर उदायन राजर्षि एकबार व्याधि से पीड़ित हो गये। उस बीमारी के बढ़ने से वह हिमार्क के समान निस्तेज बन गये। शाकिनी के समान रोग से ग्रस्त होने पर भी उसके अंतर परिणाम वर्धमान रहे। तप से कृश होते हुए राजर्षि क्रमशः कृशतम होते चले गये। देह में रोग की स्थिति को जानते हुए भी देह की स्पृहा से रहित होकर वैद्यों के द्वारा औषध बताये जाने पर भी वे ग्रहण नहीं करते थे। अन्य समय किसी एक वैद्य ने उनके रुग्ण शरीर को देखकर कहा-भगवन्! आपकी देह रुग्ण होने से सशल्य है। मुनि ने कहा-महाभाग! देह को छोड़कर रोग रहेंगे भी कहाँ? कर्मसहित देहियों की देह रोगमय ही होती है। वैद्य ने कहा-यह सही है पर श्रेष्ठ गति को जाने के लिए यह देह एक मार्ग के समान है। अगर इसकी उपेक्षा की गयी, तो दुश्मन की तरह लक्ष्य दुःसाध्य हो जायगा। देह ही मुनियों के लिए धर्म का साधन है। धर्मार्थियों को देह के साधन के लिए भेषज का सेवन करना चाहिए। उस स्वजन वैद्य के द्वारा बार-बार मुनि को समझाकर व्याधि और व्याधि-चिकित्सा को जानकर उन्हें बताया। अनेक प्रकार के क्वाथ, पथ्य आदि के द्वारा इस व्याधि का समूलोच्छेद किया जा सकता है। लेकिन मोक्ष के पथिक सावद्य औषधि का सेवन नहीं कर सकते। मुनि का याचना-पात्र सदा निरवद्य होता है। व्याधि की वृद्धि का निरोध करने के लिए केवल दही का भोजन स्वीकार किया। तब वे राजर्षि दही रूपी पथ्य का सेवन करते हुए ग्राम-नगर में विचरने लगे। जहाँ दही सुप्राप्य होता, वहाँ ग्रहण कर लेते।

एक बार उदायन राजर्षि विहार करते हुए वीतभयनगर पहुँचे। कहा गया है-

संक्रामन्ति मुनीन्द्रा हि मासे मासे दिनेशवत् ।

अर्थात् मुनि सूर्य की तरह प्रतिमास विहार करते हैं।

उदायन द्वारा स्थापित वहाँ केशी नाम का राजा था। काष्ठ में लगे हुए घून की तरह उसका राज्य अमात्यों द्वारा ग्रस लिया गया था। केशी के द्वारा सब कुछ जानते हुए भी किसीसे कुछ नहीं कहा गया। अपने मामा को वहाँ आया हुआ जानकर केशी अत्यन्त प्रसन्न हुआ। पर सचिव उदायन को आया हुआ जानकर शंकित हो गये। वह सब कुछ जानकर हमारा रहस्य उगल देगा। हमारा वृत्त जानकर यह केशी हम पर शासन करेगा। हमारी वृत्ति के अनुरूप ही यह हमारा सम्मान करेगा। इस प्रकार आत्मभीरु वे पापी नृप को ऊपर चढ़ाने के लिए बोले-राजन्! आपके मामा स्पष्ट रूप से तप से निर्विग्न हो गये हैं। तभी तो यह राज्य कण्डरीक की तरह आपको दे दिया है। अब वापस ये अपना राज्य लेने आये हैं। आप भ्रम में न रहें। हमारा विश्वास करें। केशी ने कहा-क्या कहते हो? मामा राज्य लेने आये हैं। राम के आदेश से भरत की तरह मैं यह राज्य मामा को दे दूँगा। तब उन्होंने कहा-राज्य दे दीजिए। पर वह पुण्य से मिलता है, अन्य किसी कारण से नहीं। अन्यथा अपने पुत्र को छोड़कर भानजे को राज्य कौन देता है? हे देव! यह तो राज्य धर्म है कि पिता से भी राज्य छीनकर ग्रहण किया जाता है। तो फिर उनके दिये हुए राज्य को क्यों छोड़ा जाय?

इस प्रकार उन धूर्तों द्वारा भ्रमित किया हुआ वह अपने मामा का वैरी बन गया। उसने सचिवों से पूछा कि अब क्या करुँ? सचिवों ने कहा-विष दे दीजिए। तब एक पशु पालकर उसके दूध से निर्मित दही में विष मिलाकर मुनि के लिए रखा। मूढ़ ने उनके लिए वैसा किया। अहो! कैसी विचित्रता!

संसारे किमसंभवि।

संसार में क्या असंभव है?

अपर भवनों में भिक्षा के लिए जाने पर उन दुरमात्यों द्वारा वहाँ पर भी जहरमिश्रित दही करवाया गया। वहोरने पर धर्मरक्षक देवता ने उस विषमिश्रित दही का हरण करके मुनि से कहा कि आप यहाँ दही ग्रहण न करें, क्योंकि आपको विष मिलाकर दिया जायगा। दही का त्याग करने पर साधु की व्याधि दिनोदिन बढ़ने लगी। बिना बुझी हुई अग्नि की तरह बिना औषधि के व्याधि बढ़ती ही गयी। उस व्याधि की प्रशान्ति के लिए साधु ने पुनः दही ग्रहण किया। वहाँ पर भी देवता ने तीन बार विष का अपहार किया। अगले दिन प्रमादवश वह प्रभावती देव नहीं आया। और राजर्षि ने सविष दही को खा लिया। पर चरमशरीरी होने के कारण उस विष से मृत्यु तो नहीं हुई, लेकिन ताप अत्यधिक बढ़ गया। उस विषताप से अपना अंतिम समय जानकर मुनि ने अनशन धारण कर लिया। ऐसी स्थिति में कौन बुद्धिमान स्वार्थ में मोहित होता है। राजर्षि उदायन एक मास का अनशन पालकर केवलज्ञान प्राप्त करके अंत में सिद्ध गति को प्राप्त हुए। वह प्रभावती देव भी मुनि के निर्वाण के बाद वहाँ आया। काल रात्रि की तरह उस पापी राजा आदि पर कुपित हुआ। क्रोधान्ध होकर उस देव ने संपूर्ण पुरी पर बिना स्खलित हुए लगातार धूल की वृष्टि करते हुए उसे धूल से एकसार बना दिया।

उस नगर में मुनि का शय्यातर कुम्भकार अति भक्तिवाला था। केवल उसे अभय देकर वीतभयपुर से सिनपल्ली ले जाकर वहाँ का राजा बना दिया, तथा उस पल्ली का नाम कुम्भकारकृत पुर रखा।

इधर अभीचिकुमार भी विदेश में भी स्वदेश की तरह कूणिक के द्वारा गौरव सहित सुखपूर्वक सत्कारपूर्वक रखा गया। वह भी श्रमणोपासक होकर अर्हत् धर्म के तत्त्वों को जाननेवाला बना। विशुद्ध मति के द्वारा गृहिधर्म का पालन करता था। धार्मिक क्रियाओं द्वारा आत्मा को निर्मल बनाते हुए विचरता था। पर पिता द्वारा राज्य नहीं दिये जाने के आशय को वह नहीं भूल पाया। अन्त में कामदेवादि श्रावकों की तरह भोग-भोगकर अंत में पन्द्रह दिन की तपस्या में स्थिर होकर संलेखना धारण की। पर पिता के प्रति मत्सर-भाव की आलोचना न करने के कारण शुभ कर्मों को निष्फल करके वह असुर के रूप में पैदा हुआ। वहाँ अंतः पल्योपम की स्थिति को भोगकर अभीचि का

जीव वहाँ से च्युत होकर महाविदेह क्षेत्र में उत्पन्न होकर सिद्धि प्राप्त करेगा।

इस प्रकार जैसे उदायन राजा ने अत्यधिक कष्टपूर्वक यह सम्यक्त्व रत्न प्राप्त किया, वैसे ही अन्य देहियों के लिए भी इसे प्राप्त करना प्रायः दुर्लभ ही है ।।४।।

इस प्रकार सम्यक्त्व की दुर्लभता में उदाहरण रूप यह उदायन की कथा पूर्ण हुई।

अब सम्यक्त्व के स्वरूप को कहते हैं-

देवो[1] धम्मो[2] मग्गो[3] साहू[4] तत्ताणि[5] चेव समत्तं।
तव्विवरीयं मिच्छत्तदंसणं देसियं समए ।।५।।

अर्थात् १ देव, २ धर्म, ३ मार्ग, ४ साधु और ५ तत्त्व - ये सम्यग्भाव हैं। शुद्धतम आत्मा के परिणाम रूप सम्यक्त्व है। यहाँ उपचार से देवादि तत्त्वों को ही सम्यक्त्व का हेतु होने से सम्यक्त्व कहा गया है। उससे विपरीत अर्थात् देवादि तत्त्वों के श्रद्धान से विपरीत मिथ्यात्वदर्शन कहा गया है। समए अर्थात् सिद्धान्त में। यह द्वार गाथा का अर्थ हुआ।।५।।

(१) देवतत्त्व

*अब **'यथोद्देशं निर्देश'** के अनुसार देवतत्त्व का वर्णन करते हैं -*

चउतीस अइसयजुओ अट्ठमहापडिहेरकयसोहो।
अट्ठदसदोसरहिओ सो देवो नत्थि संदेहो ।।६।।

अर्थात् चौंतीस अतिशय से युक्त, अष्ट महाप्रातिहार्य से शोभित, अट्ठारह दोष से रहित ही देव है। इसमें कोई संदेह नहीं।।६।।

अब अतिशयों के विभाग को स्तव द्वार से कहते हैं-

चउरो जम्मप्पभिई इक्कारसकम्मसंखए जाए।
नव दस य देवजणिए चउतीसं अइसए वंदे ।।७।।

अर्थात् चार अतिशय जन्म से होते हैं, ११ अतिशय घाती कर्म के क्षय से प्राप्त होते हैं। बाकी १९ अतिशय देवकृत होते हैं। वे अतिशय इस प्रकार हैं-

(१) शरीर प्रस्वेद रहित होता है।
(२) श्वासोच्छ्वास पद्म कमल के समान सुगंधित होता है।
(३) लोही, मांस गाय के दूध के समान श्वेत होते हैं।
(४) आहार-निहार अदृश्य होता है।

ये चार अतिशय जन्म कृत होते हैं।

(१) योजन मात्र में असंख्य देवादि समा जाते हैं। योजनगामी वाणी ध्वनित होती है।
(२) संपूर्ण सभा अपनी-अपनी भाषा में उपदेश श्रवण करती है।
(३) भामण्डल के पृष्ठ भाग में मार्तण्ड मण्डल होता है।
(४) एक-एक दिशा में सो योजन तक (कहीं-कहीं ५०० योजन का भी जिक्र आता है। चारों दिशा एवं ऊपर नीचे मिलाकर) महामारी नहीं होती।
(५) दुर्भिक्ष नहीं होता।
(६) युद्ध-विग्रह नहीं होता।
(७) जन्म वैर, जाति वैर शांत हो जाते हैं।

(८) अतिवृष्टि नहीं होती।
(९) अनावृष्टि नहीं होती।
(१०) ईति-भीति नहीं होती।
(११) रोग नहीं होता।

ये ११ अतिशय घाती कर्म के क्षय से प्रकट होते है।

(१) आकाश में देव दुन्दुभि बजे।
(२) चँवर डोले।
(३) तीन छत्र मस्तक पर रहे।
(४) रत्नमय ध्वजा चले।
(५) पाद पीठ सहित सिंहासन होवे।
(६) आकाश में आगे-आगे धर्मचक्र चले।
(७) पाँव रखने के स्थान पर स्वर्ण कमल होवे।
(८) कंटक औंधे मुख हो जावे।
(९) तीन कोट की रचना होवे।
(१०) अशोक वृक्ष रहे।
(११) चतुर्मुखी देशना देवे।
(१२) विहार में वृक्ष भी नमस्कार करते हैं।
(१३) केश नाखून बढ़े नहीं।
(१४) पक्षी भी प्रदक्षिणा करें।
(१५) छः ऋतु इन्द्रिय अर्थ के अनुकूल होवे।
(१६) सुगन्धित जल की वर्षा होवे।
(१७) रात्रि में भी कम से कम एक करोड़ देव पास में रहे।
(१८) अनुकूल पवन चले।
(१९) पुष्पवृष्टि होवे।

ये १९ अतिशय देव कृत हैं। इस प्रकार ये चौंतीस अतिशय तीर्थंकरों के होते हैं।।७।।

अब प्रतिहार्यों को कहते हैं-

कंकिल्लि[1] कुसुम वुट्ठि[2] दिव्वज्झुणि[3] चामरासणाइं[4] च।
भावलय[5] ६भेरिछत्तं[6] जयंति जिणं पाडिहेराइं[7] ।।८।।

गाथा का अर्थ इस प्रकार है - कंकेलि, कुसुमवृष्टि, दिव्यध्वनि, चँवर, स्वर्ण सिंहासन, भामण्डल, भेरी, छत्र ये आठ प्रातिहार्य हैं।।८।।

विशेषता यह है कि मनुष्य, देव, तिर्यंच की भाषा संवादी दिव्य ध्वनि तीर्थंकरों की एक योजन तक ध्वनित होती है। 'पाडिहेराइं' अर्थात् प्रतीहार का कर्म-प्रातिहार्य है। जैसे-प्रतीहार सदा पास में खड़ा रहता है, वैसे ही समवसरण के अभाव में भी अष्ट प्रातिहार्य सदा संमुख रहते हैं। अतिशय के मध्य में कह दिये जाने पर भी यहाँ अलग से कहा है। प्राकृत भाषा होने से विभक्ति का लोप सर्वत्र ही है।।८।।

अब डेढ़ गाथा में अट्ठारह दोष कहकर उसे छोड़नेवाले स्वामी को दो पदों द्वारा प्रणाम करते हैं-

अन्नाणकोहमयमाणलोहमायारई य अरई य।
निद्दासोय अलियवयण चोरियामत्सरभयाइं ॥९॥
पाणिवह पेमकीडापसंगहासा य जस्स इइ दोसा।
अट्ठारस वि पणट्ठा नमामि देवाहिदेवं तं ॥१०॥

१ अज्ञानमय यथावस्थित बोध, २ क्रोध-कोप, ३ मद-जाति, लाभ, कुल, ऐश्वर्य, बल, रूप, तप, श्रुत के द्वारा आठ प्रकार का है। ४ मान-दुरभिनिवेश पर चढ़ा हुआ। ५ लोभ-गृद्धता। ६ माया-शठता। ७ रति-इष्ट शब्दादि विषय प्राप्त होने पर मन की खुशी। ८ अरति-रति से विपरीत जानना। ९ निद्रा। १० शोक। ११ अलीकवचन-झूठ बोलना। १२ चोरी। १३ मत्सर-द्वेष, परगुण में असहिष्णुता। १४ भय-इहलोक, परलोक, आदान, अकस्मात्, आजीविका, मरण, श्लाघा-इस प्रकार सात प्रकार का है। १५ प्राणिवध-प्राणियों का मन, वचन, काया से अतिपात करना। १६ प्रेम-स्नेह, राग। १७ क्रीड़ा-प्रसंग-अब्रह्म का सेवन। १८ हास-विस्मय आदि में मुख को चौड़ा करना। चः समुच्चय अर्थ में है। यहाँ प्राणातिपात आदि चार ही मुख्य रूप से कहे गये हैं। परिग्रह नहीं कहा गया है। वह गृद्धि स्वभाव रूप होने से लोभ में समाहित हो गया है। शेष स्पष्ट ही है॥९-१०॥

इस प्रकार का देवों का स्वरूप होता है। इसके विपरीत अदेव होते हैं। ऐसी निश्चित मतिवाले जीवों के लिए देवाधिदेव के नामों को कहते हैं-

तस्स पुणो नामाइं तिन्नि बहत्थाइं समयभणियाइं।
अरिहंतो अरहंतो अरुहंतो भावणीयाइं ॥११॥

अर्थात् उनके पुनः तीन नाम हैं। जो यथार्थ सिद्धांत में कहे गये हैं। अरिहंत, अरहंत तथा अरुहंत इस प्रकार इनकी भावना करनी॥११॥

अब नामों की यर्थाथता को कहते हैं-

अट्ठविहं पि य कम्मं अरिभूयं होइ सव्वजीवाणं।
तं कम्ममरिहंता अरिहंता तेण वुच्चंति ॥१२॥

अर्थात् आठ प्रकार के कर्म सभी जीवों के लिए शत्रु रूप होते हैं। उन कर्म रूपी अरि को हनने के कारण वे अरिहंत कहे जाते हैं॥१२॥

अरहंति वंदणनमंसणाइं अरहंति पूयसक्कारं।
सिद्धिगमणं च अरहा अरहंता तेण वुच्चंति ॥१३॥

अर्हन्ति-पूजा, सत्कार आदि में, वन्दन-स्तवनादि में, नमस्करण-प्रणाम करने में। यहाँ पूजा वस्त्र-माला आदि के द्वारा अर्चा करने को कहा है। सत्कार-अभ्युत्थान आदि के द्वारा होता है। सिद्धि गमन की योग्यता-यह प्रतीति अध्याहार होने से सिद्धि गमन के प्रति योग्यता होने से ही उसे अरहंत कहा जाता है। बार-बार क्रिया का उपादान अतिशय को ख्यापित करता है॥१३॥ तथा-

अच्चंत दड्ढंमि बीयंमि न अंकुरो जहा होइ।
दड्ढंमि कम्मबीए न रुहइ भवअंकुरो वि तहा ॥१४॥

जिस प्रकार अत्यन्त जले हुए बीज से अंकुर पैदा नहीं होता, उसी प्रकार दग्ध कर्मबीज वाले को पुनर्भव प्राप्त नहीं होता है-यह तात्पर्य है॥१४॥

अब इन्हीं भगवान् के सर्वथा आराध्यरूप उपदेश को कहते हैं-

तं नमह तं पसंसह तं झायह तस्स सरणमल्लियह।
मा किणह कणयमुल्लेण पित्तलं इत्तियं भणिमो ॥१५॥

उन अरिहन्त, अर्हन्त अथवा अरोहन्त को शिर से नमस्कार करो, वचन के द्वारा उनकी प्रशंसा, स्तुति करो, मन से उनका पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ व रूपातीत रूप से ध्यान करो, रागादि से डरनेवाले उनकी रक्षक रूप, मित्र रूप शरण में आश्रित हो।

कहा गया है कि - सोने के मूल्य द्वारा पीतल को मत खरीदो। इसका यह अभिप्राय है कि वस्तुओं के नाम, वर्णादि की साम्यता होने पर भी महान् अंतर होता है। अतः भ्रान्ति में पड़कर स्वर्णमुल्य के तुल्य नमन, प्रशंसा ध्यान आदि से पीतल तुल्य सरागी देवों की आराधना न करो। और भी-

अक्कसुरहीण वीरं कक्कूर रयणाई पत्थरा दो वि।
एरण्डकप्परुक्खातरुणो पुण अंतरं गरुयं ॥१॥
पंथसरिसा कुपंथा सुवन्नसरिसाणि पित्तलाईणि।
धम्मसरिसो अहम्मो कायव्वो नित्थ मइमोहो ॥२॥

कंकर एवं रत्न दोनों ही पत्थर हैं, एरंड और कल्पवृक्ष दोनों ही वृक्ष हैं, फिर भी इन दोनों में महान् अंतर है, वैसे ही सामान्य देव (सरागी देव) और वीर प्रभु दोनों ही देव होने पर भी उन दोनों में महान् अंतर है।

पंथ के समान कुपंथ को, सुवर्ण के समान पीत्तल एवं धर्म के समान अधर्म को माननेरूप मति मोह नहीं करना चाहिए। यह गाथा का अर्थ है।।१५।।

मैं उन देवाधिदेव को नमस्कार करता हूँ। वह नमनादि भगवान् की परम पदस्थ की प्रतिमा में ही है। वह प्रतिमा आलम्बन है और वह आयतन में स्थापित करके ही नमस्कार करना चाहिए। उस विद्यापन के उपदेश को कहते हैं-

मेरूव्व समुत्तुंगं हिमगिरिधवलं लसंतधवलधयं।
भवणं कारेयव्वं विहिणा सिरिवीयरायस्स ॥१६॥

मेरु के समान उत्तुंग, हिमगिरि के समान धवल, लहराती उल्लसित धवल ध्वजा युक्त श्री वीतराग का भवन विधि से करवाना चाहिए।।१६।।

विधिपूर्वक जो कहा गया है, उसे कहते हैं-

जिणभवणकारणविही सुद्धा भूमीदलं च कट्ठाई।
भियगाणइसंघाणं सासयवुड्ढी य जयणा य ॥१७॥

जिनभवन कारणविधि को कहते हैं - भूमि शुद्ध, निःशल्य हो एवं जिनभवन के लिए भूमि लेते समय किसी को (दूसरों को) अप्रीतिकर न हो। काष्ट, ईंट, पत्थर आदि शुद्ध-स्वभाव से निष्पन्न हों। अर्थात् ओर्डर देकर बनवाया हुआ न हो। उचित मूल्य में उस-उस वस्तु के ही व्यापारियों से ही खरीदे गये हों। सूत्रधार आदि कारीगरों को उनके कार्य की योग्यता अनुसार वेतन दिया गया हो, अधिक से अधिक दान द्वारा उन्हें संतुष्ट व प्रसन्न किया गया हो, जिससे उनके आशय की, शुभ अध्यवसाय की वृद्धि हो। जैसे-

पिच्छिस्सं इत्थ अहं वंदणगनिमित्तमगए साहू।
कयपुन्ने भगवंते गुणरयणनिही महासत्ते ॥१॥

तथा

पडिबुज्झिसंति इहं दट्ठूण जिणिंद बिंबमकलंकं।
अन्ने वि भव्वसत्ता केहिं ति तओ वर धम्मं ॥२॥
ता एयं मे वित्तं जमित्थमुवओगमेइ अणवरयं।
इय चिंतापरिवाडिया सासयवुड्ढी य मुक्खफला ॥३॥

(पञ्चवस्तु ११२६,११२७,११२८ सप्तम पञ्चाशके २६,२७,२८)

यहाँ आने का कारण पूछेंगे तो कहेंगे कि कृतपुण्य, गुणरत्ननिधि, महासत्त्वशाली भगवान को वंदना करने के निमित्त से हम साधु आये हैं। तथा जिनेश के बिम्ब को निष्कलंक देखकर ही प्रबोध को प्राप्त होंगे। अन्य भी सत्त्व वाले भवी अपने श्रेष्ठ धर्म को छोड़कर जिनधर्म को ग्रहण करेंगे। तथा मेरा धन निरन्तर इसी उपयोग में आवे-इस प्रकार विचार करके शाश्वत वृद्धि रूप मोक्ष फल को प्राप्त करेंगे।।१७।।

यत्ना का मतलब जल आदि को छानकर काम में लेना बताया गया है। अब जिन भवन बनवाने के अधिकारी का एवं आज्ञा का महत्त्व बताते हैं।

अहिगारिणा इमं खलु कारेयव्वं विवज्जए दोसो।
आणाभंगाउ च्चिय धम्मो आणाइ पडिबद्धो ॥१८॥

इस गाथा में 'खलु' एवं अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, क्योंकि वही अर्थ संगत है। 'अधिकारिणी' शब्द का वक्ष्यमाण रूप होने से अधिकारियों द्वारा ही जिन-सदन करवाना चाहिए। इसके विपरीत अनधिकारियों द्वारा कराये जाने पर दोष लगता है। किस कारण से? तो कहा जाता है कि आज्ञा भङ्ग होने से। यहाँ आज्ञा जिनागम रूप है। उसका भंग होने से अन्यथा करण होता है। आज्ञा भंग होने से दोष कैसे लगता है-इसके हेतु को कहते हैं कि धर्म आज्ञा से बंधा हुआ स्वाधीन होता है।।१८।।

इसी को विशेष रूप से कहते हैं-

तित्थगराणामूलं नियमा धम्मस्स तीइ वाघाए।
किं धम्मो किमहम्मो मूढा नेयं वियारंति ॥१९॥

तीर्थंकरों के मूल नियम व धर्म को व्याघात करने के द्वारा क्या धर्म होता है? या अधर्म होता है? इस तरह वे मूढ़ विचार नहीं करते।।१९।।

अब बुद्धिमानों द्वारा जो ज्ञेय है, उसे कहते हैं-

आराहणाइ तीए पुन्नं पावं विराहणाए उ।
एयं धम्मरहस्सं विन्नेयं बुद्धिमंतेहिं ॥२०॥

इसका अर्थ यह है कि आराधना पुण्य का कारण है, विराधना पाप का कारण है। इस प्रकार बुद्धिमानों के द्वारा धर्म का रहस्य जाना जाता है। इस अर्थ में एक दृष्टान्त कहा जाता है-

क्षितिप्रतिष्ठित नामका एक नगर था। जहाँ रहनेवाले लोग प्रतिमा की तरह अभिवन्दित थे। वहाँ जितशत्रु नामक राजा राज्य करता था। उसने शत्रु पक्ष में रही हुई कालिमा को अपने यश की धवलता से उच्छेद कर दिया था। उसकी रत्नावली नामकी मुख्य पटरानी अनुपम श्री से युक्त थी। तीन जगत के प्रार्थनीय सुखों की वह निधान थी।

एक बार राजा अपनी सभा में बैठा हुआ राज्य कार्यों में अपनी आज्ञानुसार निर्णय कर रहा था। उसी समय उद्यानपालक ने आकर मधुर स्वर में ज्ञात कराया कि संपूर्ण आम्रवृक्ष आम्रमंजरियों से आवेष्टित हो गये हैं। ऋतुराज वसन्त उद्यान की भूमि पर सर्वत्र छा गया है और वह आपके संग का इच्छुक है। यह सुनकर महाराज ने

प्रमुदित वाणी में सुरभिश्री को देखने की इच्छा से पटहवादकों को आदेश दिया-डुगडुगी पिटवाकर नागरिकों को आज्ञा दो कि एकाग्र मन से हे मनुष्यों सुनो! प्रातःकाल राजा अन्तःपुर परिवार सहित वसन्त क्रीड़ा के लिए पूर्वी उद्यान में जायेंगे अतः नागरिक पश्चिमी उद्यान में वसन्त क्रीड़ा करें। आरक्षक ने राजा द्वारा कथित आदेश उद्घोषित करवा दिया। क्योंकि-

अनुलङ्घया हि राजाज्ञा सतां गोत्र स्थितिर्यथा ।

अर्थात् सत्पुरुषों की कूल मर्यादा ही ऐसी है कि राजाज्ञा अनुलंघनीय है।

उस राजाज्ञा को सुनकर यौवन के उन्माद की मदिरा के मद से विह्वल, अदीर्घदर्शी, मूर्ख, पापी, कुलकलंकी, समान वयवाले, दुर्दान्त कुछ उच्छृंखल दुष्ट युवा धनिक पुत्र रमणियों का स्मरण करते हुए परस्पर इस प्रकार बोले-धिक्कार है हमारे धन को! धिक्कार है हमारे जीवन को! धिक्कार है हमारे रूप और यौवन को! क्योंकि हमने राजा के अंतःपुर की रूप ललनाओं को नहीं देखा। वे सुभगा स्त्रियाँ हमें अनुराग वशीभूत देखकर अपने दक्ष कटाक्षों द्वारा काम बाणों की तरह हमारे चित्त का नाश करेंगी। अतः हमें वहाँ चलकर अपनी दृष्टि को सफल बनाना चाहिए। अपने मनोरथों को पूर्ण करने से हमारा पुरुष जन्म सार्थक हो जायगा। इस प्रकार विचार करके वे दुरात्माएँ विकारी के वेष की तरह स्वयं को बनाकर विपुल कामोद्रेक से प्रभात होने से पहले ही जिस वन में राजा आनेवाले थे उस वन के गहन वृक्षों पर चढ़कर छिपकर बैठ गये।

सभी नागरिक समग्र सामग्री से युक्त होकर पश्चिमोद्यान में आनंद स्यन्द को पाने के लिए आ गये।

राजा के अंगरक्षक पूर्वोद्यान में अन्वेषण करके राजा की रक्षा के लिए पास में लक्ष्मण रेखा खींच दी, जिससे पूर्व स्थित उद्यान में कोई जाने न पाये।

सूर्योदय की वेला में राजा कुमार-कुमारियों आदि अपने अन्तःपुर से घिरा हुआ पूर्वोद्यान में जाने के लिए चला। तीक्ष्णसूर्य के ताप को सन्मुख देखकर यशसिन्धु जगत्बन्धु राजा ने अपने भृत्यों से कहा-अहो! सूर्य के सम्मुख, समागम से वसन्त क्रीड़ा नहीं हो पायगी। कृतान्त का जनक यह सूर्य मुझे अचाक्षुस बना देगा। भृत्यों ने कहा-हम कुमतिवालों को इस प्रकार का विचार ही पैदा नहीं हुआ। पर कोई बात नहीं देव! आप पश्चिमवाले उद्यान में पधार जायें। क्योंकि उग्र-तेजवाला सूर्य संग्राम करता हुआ पूर्व से पश्चिम की ओर जाते-जाते अंत में क्षीण हो जायगा।

अतः राजा तत्काल ही पश्चिम के उद्यान की ओर चला तथा नागरिकों को पूर्वोद्यान की ओर भेज दिया। तब नृप की पत्नियाँ-अनुचरी आदि आगे रहे हुए थे, वे राजा से पहले ही उद्यान में पहुँच गयीं। रथों से उतरकर सभी आच्छादित स्थानों में सुखासीन हो गये, मानों रंगभूमि में नाटक के पात्र की तरह यमराज के हाथों से छूटे हों। आगे गये हुए कुछ मनुष्यों द्वारा राजा की रानियों को देखा गया। उन्हें देखते ही लोकोत्तर खुशी को प्राप्त हुए नागरिकों ने प्रणाम किया। तत्काल ही वहाँ राजा के साथ रहे हुए अंगरक्षक वहाँ आ गये और उन्हें फटकारा कि क्यों राज-रानियों को देख रहे हो?

उधर पूर्वोद्यान में लोगों को आते हुए देखकर जब यह जाना कि राज-परिवार वसन्त क्रीड़ा के लिए इस उद्यान में नहीं आ रहा है, तो वे पूर्व में बैठे हुए राजरानियों को देखने की इच्छावाले दुष्ट दुःखित होकर शाखाओं से भूमि पर उतरे। [अंगरक्षकों के द्वारा राजवृतान्त जाना, तो पश्चिमोद्यान की तरफ जाने के लिए उद्यत हुए।] उन्हें ऐसा करते देख अंगरक्षकों ने पकड़ लिया और कहा-हे दुरात्माओं! तुमने राजाज्ञा भंग की है। इस प्रकार कहकर उन्हें पकड़कर ले गये। ठीक ही है-

तीव्रपापं सद्यःफलं यतः।

जितना तीव्र पाप होता है, उतना ही शीघ्र फल मिलता है।

सभी नागरिक राजा का आश्रय लेकर बिना किसी शंका के बिना हटाये यथेच्छित काम क्रीड़ाएँ करने लगे। राजा भी अपने परिवार सहित सुरभि सम्पदा का उपभोग करके अपराह्न होने पर पश्चिम उद्यान से अपने भवन को लौट गया। अंगरक्षकों के द्वारा दोनों उद्यानों से लोगों को पकड़कर दूसरे दिन राजा के सामने पेश किया गया। राजा ने पूछा-ये कौन हैं? उन्हें किस कारण से पकड़ा गया है? तब अंगरक्षकों द्वारा संपूर्ण वृत्तान्त राजा को सुनाया गया। यह सुनकर धीमन्त राजा ने थोड़ा भी क्रोध नहीं किया। अंतरंग दुश्मनों के षड्वर्ग के विजेता ही जगत्पति होते हैं। तब क्षमाधारी न्याय-अन्याय की विवेचना के विशेषज्ञ अपराध के अनुमान से निग्रह-अनिग्रह करने के लिए स्वयं राजा ने पहले पश्चिम उद्यान गामी व्यक्ति से पूछा-अंतःपुर की स्त्रियों को तुमने कैसे देखा? उसने कहा-देव! आपकी आज्ञा से ही हम वहाँ गये थे। पहले यही तय था। बाद में अंतःपुर की स्त्रियाँ वहाँ आ गयीं। तब हमने सोचा कि सुखासन से देवों की देवियाँ ही उतरकर आयी हैं। देखते ही आनन्दातिरेक से हमने अपनी माता की तरह उन्हें प्रणाम किया। और भी, चक्षु के विषय में आये हुए रूप को न देखना अशक्य है। जो राग द्वेष सहित हैं अपने आप को काबू में नहीं रख पाते। बुध व्यक्ति ही ऐसी स्थिति में निरासक्त होता है, अर्थात् नहीं देखता है। हमने अन्तःपुर की देवियों को देखने के लिए उद्यम नहीं किया, अपितु स्वयमेव ही हमें उन देवियों के दर्शन हो गये। इसमें हम सदोष हैं या निर्दोष हैं-इसका विचार करके हमें दण्डित कीजिए, क्योंकि-

यतो धर्मतुलाः नृपः।

राजा न्यायी होते हैं।

तब राजा ने पवित्र बुद्धि से विचार करके उनका चारित्र निर्दोष है-इस प्रकार सत्कार करके उन सबको छोड़ दिया।

दूसरे अपराधियों को, जो पूर्व के उद्यान से पकड़े गये थे, राजा ने पूछा-रे अधर्मों! तुम इस उद्यान में पहले से आकर क्यों बैठे? रात्रि में ही वृक्ष पर चढ़कर घोंसले में छिपे हुए पक्षी की तरह बैठकर पापियों! क्या तुमने राजाज्ञा का उल्लंघन नहीं किया? क्या तुमने नगाड़े की घोषणा नहीं सुनी?

तब उन वाचालों ने कहा-स्वामी! हम तो आपके अंतःपुरियों के अमृत से भरे रूप को देखने की इच्छा से कौतुक से वहाँ गये थे। निधान की तरह जो किसी भी प्राणी के लिए अदर्शनीय है, वह रूप मनुष्य का है या देव का? राजा के साथ क्रीड़ा करती हुई उन रूप ललनाओं को हम वृक्ष के मध्य स्थित रहकर विस्फारित नेत्रों से देखेंगे। पर हमारे दुर्भाग्य से देव वहाँ नहीं आये। हमने देवियों को नहीं देखा। अतः हमारा उद्यम व्यर्थ हुआ। राजकुल की स्त्रियों के दर्शनों की लालसा वाले हम निर्दोष हैं। हमने उन्हें नहीं देखा, अतः दोष की आशंका ही नहीं है। हमने अभिमान से नहीं, बल्कि बालपन की चपलता से आज्ञा का भंग किया है। इसलिए हे देव! आप हम पर अप्रसन्न मत होना।

राजा ने कहा-हे मूर्खों! ऐसी कोई माँग मत करो। क्योंकि राजा की आज्ञा पालन ही जीवन है और भंग करना राजघात है। अतः आज्ञा मानने में ही सार है। राजा की आज्ञा का भङ्ग करना राहुग्रास के समान है। इन्हें घटिका गृह में ले जाकर लोगों को सूचित करके इनका निग्रह करो। बहुत सारे द्रव्य के द्वारा भी वे छोड़े नहीं गये। क्योंकि राजा अपने पुत्र की आज्ञाभंग को भी सहन नहीं करते।

उस घटिका गृह के पास राजा ने अपने जासूस छोड़ दिये। कौन विशुद्ध मति वैभववाला क्या बोलता है यह जानने के लिए जासूस नियुक्त किया।

उस निगृहितों को देखकर कोई बोला-हाय धिक्कार है इस प्रकार की नीति को! धिक्कार है राजा की अविवेकिता को। हाथी के बच्चों के समान, कामदेवों के समान रूपवाले, तेजस्वी स्वर्ण के समान अंगवाले, समुद्र में खिले हुए कमल की तरह नेत्रवाले, जो लावण्य सुधा के सिन्धु हैं, जो कदली-गर्भ के समान कोमल हैं, हाय! हाय! यमराज की तरह क्रूर आत्मावाले राजा ने इनका निग्रह किया है। इनके प्रति निग्रहिवाक्य कहने में क्या राजा की जिह्वा इनकी माताओं की तरह बांझ नहीं हुई?

दूसरे व्यक्ति ने उनको इस स्थिति में देखकर कहा-अहो! इनकी अज्ञानता है कि इन्होंने राजाज्ञा का उल्लंघन किया। महाऋद्धिवाले कुल में उत्पन्न होकर, नवयौवन से सुसंपन्न, मनोरथ से भरे हुए ये बिना सुख का स्वाद लिये ही रह गये। भोगकाल उपस्थित होने पर भी वैभव द्वारा भोगयोग्य होने पर भी अपने दुष्कर्मों द्वारा भोग-वैभव से बाहर कर दिये गये। राजा की भी अज्ञानता है कि इन्हें इतना बड़ा दण्ड दिया। शायद इससे मनुष्य के कष्ट से कितनी प्रमाणता है यह ज्ञात हो। इनके आज्ञा भंग करने से क्या राजा के अंग-उपांग या राज्यांग कुछ भी भंग हुआ? हे दुर्दैव! कहो, क्या कहा जाये? न राग मिला, न कैद मिली। अगर द्रव्य दण्डादि के द्वारा इन्हें दण्डित किया जाता, तो क्या राजा का धन इनकी तरह जीवित नहीं रहता।

तीसरे शुचिचित्त वाले व्यक्ति के द्वारा कहा गया- राजा ने ठीक ही किया, जो इन्हें दण्डित किया। लोगों में अन्य लोगों के प्रति अन्याय करने की प्रवृत्ति ही पैदा नहीं होगी। जवान स्वच्छंदचारी नहीं होंगे। राजाज्ञा का विलोप करनेवाला ऐसा ही सहन करेगा। आज्ञा को माननेवाला कामदेव से भी ज्यादा सुख सम्पत्ति प्राप्त करेगा। राजा के इस प्रकार के दण्डविधान को देखकर भयभीत मनुष्य आज से ही साँप की तरह कुपित राजा की आज्ञा का उल्लंघन नहीं करेंगे।

उन-उन व्यक्तियों के द्वारा कहा हुआ सभी जासूस के द्वारा राजा के सामने रखा गया। उनका कहा हुआ संपूर्ण यथातथ्य निवेदन किया गया।

तब राजा ने अपराधियों को निरपराधी बताने वाले प्रथम व्यक्ति को बुलाकर युक्तिपूर्वक उसे अपराधी सिद्ध करके उन अपराधियों के पास भेज दिया।

दूसरे व्यक्ति को बुलाकर उसे देशत्याग का दण्ड दिया क्योंकि उसने अपराधियों के दण्ड को अनुचित बताया।

तीसरे व्यक्ति को बुलाकर राजा ने उसका वस्त्रदान आदि कुशल वस्तुओं से सत्कार करके विसर्जन किया।

यहाँ पर उपनय किया गया है कि जैसे राजा ही तीर्थंकर है। नीःराग होने से वह स्वामी परम निर्वृत्ती में अभिनन्दित होते हैं। भक्त व अभक्त मनुष्यों के अनुग्रह व निग्रह को धारण नहीं करते हैं। वे कर्मदोष को स्वयं ही प्राप्त करते हैं। जैसे शीतकाल में मनुष्यों के लिए आग आराधक होती है, पर शीत ऋतु चले जाने पर वही आग विराधक होकर बाधक बन जाती है। अथवा जैसे-चिन्तामणी रत्न की सेवा-पूजा करके मनुष्य चिन्तित वस्तु प्राप्त कर लेता है, पर उन रत्न की अवज्ञा करनेवाला व्यक्ति कुछ भी प्राप्त नहीं कर पाता। और भी-

जिनाज्ञा का भंग करनेवाले श्रीमन्त के पुत्रों की तरह संसार के अन्त रूप महादण्ड को प्राप्त होते हैं। जो अपने सम्बन्धियों के साथ अज्ञानता से पक्षपात करते हैं, उससे वे भी उन्हीं की गति के गामी होते हैं। जो भग्न-जिनाज्ञा वालों में माध्यस्थ रूप से रहते हैं, वे अपने सर्वस्व धर्म की हानि करके भव अटवी में भ्रमण करते हैं। जो जिनाज्ञा का भंग करते हैं-वे अच्छे वेष-आडम्बरों आदि के द्वारा कुष्ठ से दूषित व्यक्ति की तरह दूर से ही त्याग दिये जाते हैं। वे तपस्वी दीर्घकाल तक संसार में अनन्त दण्डों को प्राप्त करते हैं, उन्हें पिशाच की तरह दुर्गति ग्रसित करती है। जिनाज्ञा के लोपी अपने पाप से गिर जाते हैं, उस क्रिया से विपराङ्मुख होकर उन्हीं का शोक करते हैं।

जो स्वयं जिनाज्ञा में नित्य रमण करते हुए भूतल पर विचरण करते हैं, वे सुसाधु इस लोक में जगत्पूज्य होते हैं। परलोक में भी वे स्वर्ग-अपवर्ग को प्रदान करनेवाली कार्मणशरीर द्वारा दुष्प्राप्य श्री का स्वयं वरण करते हैं। और भी-

संसार के निर्वाण रूपी फल में जिनाज्ञा की विराधना और आराधना को जानकर भव से निर्वृत्ति पाने की इच्छा वाले संसार से भयभीत जनों द्वारा सतत जिनाज्ञा आराधनी चाहिए।।२०।।

अब प्रस्तुत जिन भवन बनाने के अधिकारी को कहते हैं-

अहिगारी उ गिहत्थो सुहसयणो वित्तसंजुओ कुलजो।
अक्खुद्दो धिइबलिओ मइमं तह धम्मरागी य ।।२१।।

वह अधिकारी गृहस्थ, शुभ आशयवाला, वित्त-युक्त, कुलवान्, अक्षुद्र अर्थात् अकृपण या अक्रूर, धृतिबल वाला, मतिमान् तथा धर्मानुरागी होना चाहिए। धृतिबल इसलिए कहा गया है कि धृतिबल से हीन व्यक्ति पश्चात्ताप के द्वारा धर्म का हनन करता है।।२१।।

अधिकारी द्वारा जिनगृह के निर्माण में क्या करना चाहिए, वह कहते हैं-

निप्फाइऊण एवं जिणभवणं सुंदरं तहिं बिंबं।
विहिकारियमह विहिणा पइट्ठविज्जा लहुं चेव ।।२२।।

जिनभवन को निष्पादित करके विधिकारित सुन्दर बिंब को विधि के द्वारा शीघ्र ही प्रतिस्थापित करना चाहिए।

जिनबिम्ब की कारण विधि बताते हैं-

सम्मान्य सूत्रधारं प्राग्वस्त्राद्यैः विभवोचितम्।
मूल्यमर्प्य विलोभस्य तस्य शुद्धेन चेतसा ॥१॥
प्रतिष्ठाविधि संक्षेप में इस प्रकार है-
चैत्यान्तः शोभने लग्नेऽधिवास्योचितपूजया।
स्थाप्यं बिम्बं जिनेन्द्रस्य पञ्चमङ्गलपूर्वकम् ॥२॥

इन दोनों गाथाओं का अर्थ इस प्रकार है-

वह जिनबिम्ब सन्मान्य, सूत्रधार को उचित वैभवयुक्त वस्त्रादि से सन्मानित करना। उसको शुद्ध चित्त से मूर्ति का उचित परिश्रम उदारतापूर्वक अर्पित करना ।।१।।

चैत्य के अन्दर शुभ लग्न में अधिवासित करके उचित पूजा के द्वारा पंचमंगल पूर्वक जिनेन्द्र के बिम्ब को स्थापित करें ।।२।।२२।।

अब जिनभवन की ही निर्मापन विधि को विशेष करने के लिए भेदों को कहते हैं-

अहिगारिणा विहीए कारवियं जं न साहुनिस्साए।
तमनिस्सकडं अट्ठावइच्चं सेसं तु निस्सकडं ।।२३।।

अधिकारी के द्वारा विधि से कराया हुआ जो साधुनिश्रित नहीं है, वह अनिश्राकृत है। अर्थात् जो साधु की निश्रा में, यति-आश्रय से अथवा मेरे गुरु यहाँ रहेंगे, व्याख्यान आदि करेंगे इस लक्ष्य से न कराया गया हो वह अनिश्राकृत है। जैसे कि भरत चक्रवर्ती द्वारा कराया हुआ अष्टापदगिरि शिखर पर रहा हुआ जिनभवन अनिश्राकृत है। शेष तो स्व गुरु द्वारा प्रतिष्ठित होने से निश्राकृत है।।२३।।

श्री भरत चक्रवर्ती द्वारा कराया गया अनिश्राकृत अष्टापद चैत्य का सम्प्रदाय से वर्णन यह है-

।। भरतचक्री की कथा ।।

जम्बूद्वीप नाम के द्वीप में अर्धभरत क्षेत्र है। उसके दक्षिण में गंगा-सिन्धु नदी हैं। उस नदी के मध्य खण्ड में अवसर्पिणी काल में सुषमदुःषम नामक तीसरा आरा कल्पवृक्ष से युक्त होकर चलायमान था। वहाँ सातवें कुलकर नाभिराजा व उनकी रानी मरुदेवी हुई। आषाढ मास के कृष्णपक्ष की चतुर्थी के निर्मल दिन युगादिदेव के जीव ने सर्वार्थसिद्ध विमान से च्युत होकर श्री मरुदेवी माता की सरोवर के समान कुक्षि में हंस के समान तीन ज्ञान से युक्त पवित्रात्मा ने अवतार लिया।

तीन लोक में क्षणभर के लिए उद्योत व्याप्त हो गया। कोई अनिर्वाच्य अद्भुत सुख त्रैलोक्यवासियों का भवसंगी हो गया। मरुदेवी माता ने अर्धजागृत अवस्था में वर्णराशि में स्वर की तरह स्वप्नों में उत्तम चौदह उत्तम स्वप्न देखे। जो इस प्रकार हैं - (१) वृषभ, (२) हस्ति, (३) सिंह, (४) लक्ष्मीदेवी, (५) पुष्पों की माला, (६) चन्द्रमा, (७) सूर्य, (८) भरा हुआ कलश, (९) श्वेत ध्वजा, (१०) पद्माकर, (११) पयोराशि [क्षीर समुद्र], (१२) कल्पवासियों का विमान, (१३) रत्नों का ढेर, (१४) धुमरहित जलती अग्नि। इन चौदह पदार्थों को मुख में प्रवेश करते देखा।

नाभिराजा के निद्रा से उठने पर प्रमुदित होते हुए देवी ने उन स्वप्नों को कहा। उन्होंने भी निवेदन किया कि अति उत्तम पुत्र की प्राप्ति होगी। तब एकसाथ आसन चलित होने पर सभी देव वहाँ आये। स्वप्न-पाठक (नाभिराजा) के समान शक्रेन्द्र ने भी देवी के स्वप्नों का वही अर्थ कहा। हे देवी! आपने जो चौदह महास्वप्न देखे हैं, उसका फलितार्थ यह है कि आपका पुत्र चौदह राजलोक के स्वामित्व को प्राप्त करेगा। वह मातृका-बीज के समान जगत्प्रभु होकर चौदह पूर्वों का उपदेश देगा। उसके चतुर्दश-पूर्वधर शिष्य होंगे। इस प्रकार स्वप्न का अर्थ प्रकाशित करके इन्द्र व देव अपने-अपने स्थान पर चले गये।

इन्द्र के कहे हुए अर्थ को सुनकर मरुदेवी अत्यन्त प्रमुदित हुई। नाभिराजा भी अति प्रसन्न हुए। क्योंकि-

कस्येष्टाख्या मुदे न वा ?

इष्ट कथन होने पर कौन मुदित नहीं होता?

क्रम से नौ मास लगभग पूर्ण होने पर चैत्र कृष्णा अष्टमी के दिन रात्रि में देवी ने युगलधर्मी पुत्र व पुत्री को जन्म दिया। अचेतन दिशाएँ भी मुदित हो गयीं। तो चेतनावान् लोगों की प्रसन्नता का तो कहना ही क्या? तीन जगत् में उद्योत हो गया। देवों ने आकाश में देव दुंदुभि बजायी। नारक भी खुश हुए। धरती ने शांति की श्वास ग्रहण की। अर्थात् उस समय धरती पर किसीको अंश मात्र दुःख न रहा। सभी जीवों ने शाता का अनुभव किया।

अधोलोकवासिनी आठ दिशाकुमारियों का आसन चलायमान हुआ। अरिहन्त-जन्म को अवधिज्ञान से जानकर वे सूतिकर्म करने के लिए आयीं। [1]भोगंकरा, [2]भोगवती, [3]सुभोगा, [4]भोगमालिनी, [5]सुवत्सा, [6]वत्समित्रा, [7]पुष्पमाला और [8]अनिन्दिता नाम की आठ दिशाकुमारियों ने प्रभु व उनकी माता को नमस्कार करके ईशान कोण में सूतिगृह बनाया। संवर्त्तक वायु से उसे शुद्ध बनाकर धर से योजनमात्र पृथ्वी को शुद्ध बनाया।

[1]मेघंकरा, [2]मेघवती, [3]सुमेघा, [4]मेघमालिनी, [5]तोयधारा, [6]विचित्रा, [7]वारिषेणा तथा [8]बलाहका देवियों ने ऊर्ध्वलोक से आकर अरिहन्त प्रभु को माता सहित प्रणाम करके हर्षपूर्वक सुगंधित जल व पुष्पों द्वारा वर्षा की।

[1]नन्दा, [2]उत्तरानन्दा, [3]आनन्दा, [4]नन्दिवर्द्धना, [5]विजया, [6]वैजयन्ती, [7]जयन्ती तथा [8]अपराजिता इन आठ दिशाकुमारियों ने रुचक पर्वत की पूर्वदिशा से आकर जिनेश्वर भगवन् तथा उनकी माता को नमस्कार किया। फिर हाथ में दर्पण लेकर पूर्व दिशा में खड़ी हो गयीं।

[1]समाहारा, [2]सुप्रदत्ता, [3]सुप्रबुद्धा, [4]यशोधरा, [5]लक्ष्मीवती, [6]शेषवती, [7]चित्रगुप्ता व [8]वसुन्धरा नाम की दिशाकुमारियाँ

रुचक पर्वत की दक्षिण दिशा से आयीं। आदिदेव तथा उनकी माता को नमस्कार करके हाथों में स्वर्ण झारियाँ लेकर दक्षिण दिशा में खड़ी हो गयीं।

[1]इलादेवी, [2]सुरादेवी, [3]पृथिवी, [4]पद्मवती, [5]एकनासा, [6]नवमिका, [7]भद्रा तथा [8]सीता नाम की दिशाकुमारियाँ रुचक पर्वत के पश्चिम से आकर हाथ में पंखा लेकर स्वामी व मरुदेवी को नमस्कार करके पश्चिम में खड़ी हो गयीं।

[1]अलम्बुसा, [2]मित्रकेशी, [3]पुण्डरीका, [4]वारुणी, [5]हासा, [6]सर्वप्रभा, [7]श्री, [8]ह्री - ये आठ दिशाकुमारियाँ रुचक पर्वत की उत्तरी दिशा से आकर जिन व जिनेश्वर की जननी को नमस्कार करके हाथों में चंवर लेकर प्रणिपात करके मोद-ध्वनि करते हुए उत्तर दिशा में खड़ी हो गयीं।

[1]चित्रा, [2]चित्रकनका, [3]शतेरा तथा [4]सौत्रामणि ये चार दिशाकुमारियाँ रुचक पर्वत की विदिशा से आकर हाथों में दीप लेकर विदिशा में स्थित हो गयीं।

[1]रूपा, [2]रूपासिका, [3]सुरूपा, [4]रूपकावती-ये चार दिशाकुमारियाँ रुचक द्वीप की ऊपरी दिशा से आकर प्रभु की नाल को निश्चित स्थान पर आरोपित करके अखिल सूतिकर्म किया। प्रभु व उनकी माता को देवदुष्य वस्त्र-अलंकार आदि से विभूषित किया। उन दोनों को रक्षापोटली बाँधकर जिनेश के पास आयीं। चकमक पत्थर को बजाकर कहा कि आपकी आयु पर्वत के समान दीर्घ होवे। अर्हत् भक्ति करते हुए प्रीतिपूर्वक सुंदर गान गाकर छप्पन दिशाकुमारियों ने उनके गुण व स्तुति गीत गाये।

फिर शक्रेन्द्र का आसन चलायमान होने पर अवधिज्ञान से अरिहन्त के जन्म को जानकर अपनी पर्षदा सहित इन्द्र वहाँ पर आया। भगवान् को [पंच रूप से] ग्रहण करके स्वर्ण-सुमेरु पर्वत के शीखर पर ले जाकर अत्यन्त उत्सवपूर्वक प्रभु का जन्मोत्सव मनाया। उसके बाद माता के पास में प्रभु को रखकर वे नन्दीश्वर द्वीप गये। वहाँ अष्टाह्निका पर्व मनाकर वे अपने-अपने स्थान पर लौट गये।

माता ने बालक के गर्भ में आते ही प्रथम स्वप्न में वृषभ देखा। अतः माता-पिता ने बालक का नामकरण ऋषभ किया। उसके साथ जन्मी युगल-बालिका का नाम सुमंगला रखा। शक्र के द्वारा जिनेश्वर के अंगुठे में अमृत का सिंचन किया गया उससे उनकी शैशवावस्था पूर्ण हुई। किसी समय बचपन में शक्र के हाथ से इक्षु ग्रहण करने से शक्रेन्द्र ने उनके वंश का नाम इक्ष्वाकु वंश प्रतिष्ठित किया।

अंगुष्ठ पान की वय बीत जाने के बाद अन्य जिनेश्वर तो मर्त्यलोक के आहार का भक्षण करते हैं, पर प्रभु ऋषभ तो देव प्रदत्त-आहार से वृद्धि को प्राप्त हुए।

एक बार एक बाल-युगल किसी वृक्ष के नीचे गया। काक-ताली न्याय से उस वृक्ष का फल बालक के मस्तक पर गिरने से उस युगल में से बालक की मृत्यु हो गयी। यह बाला तो निरालम्ब हो गयी है, अतः इसे किसी दूसरे को अर्पित करने में कोई भय नहीं है। वह भी अगर ऋषभ को दे दी जावे-ऐसा उसके पिता ने विचार किया। और नाभि राजा को दी। उन्होंने भी उसे स्वीकारा। फिर कुछ समय पश्चात् त्रिजगत्पिता के विवाह के समय को जानकर सौधर्मेन्द्र देवलोक से सपरिवार आया। अवसर्पिणीकाल में पहली बार संपूर्ण विधिपूर्वक सुमंगला व सुनन्दा-दोनों कन्याओं का विवाह ऋषभ के साथ किया गया। तब से लगाकर सर्वत्र पाणिग्रहण की स्थिति प्रचलित हुई। लोक में व्यवहारिक सत्क्रियाओं को कौन नहीं करता!

शाता वेदनीय कर्म भी भोगे बिना क्षय को प्राप्त नहीं होता। अतः अनासक्त होते हुए भी जगत्पति ने उन दोनों के साथ विलास-सुख भोगा।

अन्य किसी समय महादेवी सुमंगला ने चौदह महास्वप्न देखकर गर्भ धारण किया। अवधि पूर्ण होने पर भरत पुत्र के साथ ब्राह्मी को जन्म दिया। जो वर्षा ऋतु के बादलों के बीच सौदामिनी से युक्त था। सुनन्दा महादेवी

ने भी बाहुबली-सुन्दरी एक युगल शेष उनपचास पुरुष जोडों को क्रम से जन्म दिया।

पुत्रों का कलाकलाप मातृकादि लिपि एवं ब्राह्मी-सुन्दरी आदि को अंकमालिका प्रभु के द्वारा ही बतायी गयी।

इस प्रकार कुछ समय बीत जाने के बाद काल के दोष से युगलियों की प्रवृत्ति में कुछ-कुछ अन्याय दृष्टिगोचर होने लगा। कुछ युगलिकों ने हकार-मकार-धिक्कार नीति की अवहेलना करनी शुरु कर दी। तब युगलिकों के मुखिया ने प्रभु को यह सब अवगत कराया। तीन ज्ञान के धारी प्रभु ने ज्ञान से जानकर कहा कि लोगों के अन्याय का निवारक राजा होता है। लोगों ने पूछा-वह कैसे होता है? तो नाभिनन्दन ने कहा-सभी के द्वारा अभिषेक किये जाने पर वह जगत् का पति होता है।

युगलिक राजा का अभिषेक करने के लिए जल लाने गये, तभी सुरेन्द्र का सिंहासन कंपायमान हुआ। शक्र ने अवधिज्ञान से जाना कि स्वामी के राज्यकाल का अवसर आ गया है। अतः उसने आकर स्वयं सर्वप्रथम उनका राज्याभिषेक किया।

देवदूष्य वस्त्रों से उनके शरीर को ढककर, दिव्य आभूषणों से भूषित करके इन्द्रों ने प्रभु को अत्युच्च सिंहासन पर बैठाया। वे युगलिक भी कमल दल में पानी लाकर बड़े-छोटे के अनुसार क्रमिक खड़े रहकर प्रभु को देखकर विस्मित रह गये। देवदूष्य वस्त्रादि कहीं खराब न हो जाय, इस आशंका से युगलिकों ने उनके पाँवों का जल के द्वारा अभिषेक किया। शक्रेन्द्र ने उन युगलिकों का अपने स्वामी के प्रति विनयराग देखकर कुबेर के पास जो नगरी निर्माण करवायी थी उस नगरी का नाम विनीतानगरी रखा। फिर वे देवलोक चले गये। विनीतानगरी का दूसरा नाम अयोध्यापुरी भी-पड़ा। नौ योजन चौड़ी बारह योजन लम्बी स्वर्णमय, रत्नमय भवनों के द्वारा आडम्बर से उल्लसित विनीतानगरी मर्त्यलोक में अवस्थित होकर मानो अलकापुरी पर हंस रही थी। ऐसी नगरी का निर्माण करके शक्र के आदेश से यक्षराज ने अक्षय वस्त्र, रत्नों का समूह एवं धन धान्यादि से उस नगर को पूरित किया।

प्रभु के जन्म के बीस लाख वर्ष पूर्ण हुए। तब भारत की भूमि पर ओंकार वाङ्मय की तरह सर्वप्रथम राजा हुए ऋषभ ने ६३ लाख वर्ष पूर्व तक राजनीति व लोकनीति का प्रवर्त्तन किया। भरत क्षेत्र के देश, ग्राम, पुर आदि में बसते हुए लोगों द्वारा उनका अद्भुत ऐश्वर्य महाविदेह की लक्ष्मी के समान सर्वत्र प्रसारित हुआ।

किसी समय जब धरा पर पुष्पकाल अवतीर्ण हुआ अर्थात् वसन्त ऋतु आयी उसके आगमन के साथ तरु उच्च रूप में विकसित होने लगे। वृक्षों ने भी पुष्पों से श्रृंगार किया। खिले हुए पुष्पों के रस से युक्त पपीहे गान करने लगे। निर्मल अनिल के संगम से लताएँ नववधूओं की तरह सात्विकभाव से कंपन को प्राप्त हुईं। कोयलें कामिनियों की तरह पंचम स्वर में गाने लगीं। आम्रवृक्ष आमों के भार से भूमि का स्पर्श करने लगे।

तब परिवार के अनुरोध से स्वामी उद्यान में गये। वहाँ स्वतन्त्र रूप से लोगों को विलास करते हुए देखा। उनको देखकर प्रभु विषयों में विषादवान् हुए। विचार किया कि अहो! इस शरीर के द्वारा मेरे लिये आत्महित की कुछ भी चेष्टा नहीं की गयी। उनके इस प्रकार विचार करते ही लोकान्तिक देव उनके पास आये और कहा-प्रभु! जगत् के जीवों के हित के लिए तीर्थ का प्रवर्त्तन कीजिए। अवधिज्ञान से अपने संयम काल को जानकर राजा ने अपने ज्येष्ठ पुत्र भरत को अपना राज्य दिया। बलशाली बाहुबली को तक्षशिला का राज्य दिया। अङ्ग-बङ्गादि देश दूसरे अन्य पुत्रों को दिये। उद्घोषणा पूर्वक स्वामी ने वर्षभर तक दान दिया। शक्र की आज्ञा से कुबेर यक्ष नित्य भगवान् के भण्डार को भरते रहे। वर्ष के अन्त में आसन चलित होने पर इन्द्र सपरिवार वहाँ आया और राज्याभिषेक की तरह दीक्षा का महोत्सव आयोजित किया।

चैत्र कृष्णा अष्टमी के दिन अपराह्न में जगत्पति ने कच्छादि देश के राजाओं के साथ चार हजार लोगों के परिवार के साथ दीक्षा ग्रहण की। चार मुष्टि के द्वारा केशों का लोच करने पर इन्द्र के आग्रह से मस्तक के पीछे का

लोच नहीं किया। वे केश ऋषभदेवजी के चेहरे पर भृंगाली के जैसे शोभायमान हो रहे थे। उसके बाद मनुष्य क्षेत्र में रहे हुए संपूर्ण मनःपर्यायों का अवबोध करानेवाला मनःपर्याय ज्ञान उत्पन्न हुआ।

ऐसा कोई भी नहीं था, जिसके मन में प्रभु के दीक्षोत्सव को देखकर खुशी न हुई हो। केवल उनके अंतरंग ज्ञातिजन ही दुःखित थे। स्वामी को वंदन करके सभी देव अपने स्थान पर लौट गये। बाहुबली आदि भी सभी अपने-अपने नगर को चले गये। कच्छादि साधुओं के साथ स्वामी मौन होकर विचरने लगे। भिक्षा के लिए स्वामी जब घरों में जाते थे, तो भिक्षा से अनभिज्ञ लोग उन्हें रत्नादि देने के लिए थाल भर-भर कर लाते। पर प्रभु वापस लौट जाते। इस प्रकार भगवान् क्षुधा, पिपासा आदि परीषहों को सहन कर रहे थे।

उनके साथ के कच्छादि राजर्षि क्षुधादि के द्वारा क्लान्त होकर हमने प्रभु को पूर्व में पूछा नहीं, ऐसा विचार करके कहा गया-हमारे द्वारा भगवान् की चर्या पालना शक्य नहीं है। क्योंकि-

को हि दन्तावलैः सार्द्धमिक्षून् भक्षयितुं क्षमः।

कौन व्यक्ति दांतों के द्वारा इक्षु खाने में समर्थ है?

अतः हम जब तक प्रभु नहीं बोलेंगे, तब तक वनवास करेंगे। भगवान् मौन का त्याग करेंगे तो हम पुनः इनका आश्रय ग्रहण करेंगे। इस प्रकार निश्चयकर वे सभी वनवासी होकर कन्दमूल फल आदि खाकर काल यापन करने लगे।

भगवान् ने जिस समय दीक्षा ग्रहण की उस समय नमि-विनमि कहीं दूर गये हुए थे। भगवान् निःसंग है इस प्रकार नहीं जानते हुए राज्य की आशा से वे प्रभु के समीप आये। और उनकी सेवा करने लगे। भगवान् को नमस्कार करने आये धरणेन्द्र ने जब यह देखा, तो उनकी भक्ति से प्रसन्न होकर नमि-विनमि को वैताढ्य का ऐश्वर्य देनेवाली विद्या दी।

उन दोनों ने प्रभु को नमस्कार कर विद्या सिद्ध की। फिर वैताढ्य पर्वत पर जाकर नगरी की रचना करके सदन में प्रभु की मूर्ति की प्रतिष्ठा की।

भगवान् को दीक्षा लिए लगभग एक वर्ष होने को आया, तभी गजपुर में श्रेयांसकुमार को जातिस्मृति ज्ञान उत्पन्न हुआ। उसने दान देने की विधि जानी और इक्षुरस से प्रभु का पारणा कराया।

एक बार भगवान् विहार करते हुए तक्षशिला नगरी पधारे। रात्रि में नगर के बाहर ही प्रतिमा की तरह, स्तम्भ की तरह ध्यान में स्थिर हो गये। बाहुबली भगवान को आया हुआ जानकर प्रातः जब वन्दना करने के लिए आया, तब तक भगवान् वहां से अन्यत्र विहार कर चुके थे। बाहुबली अत्यन्त दुःखित हुआ। सोचने लगा-धिक्कार है मुझ अपुण्यशाली को! मेरे यहाँ कल्पवृक्ष खुद चलकर आया और मुझे ज्ञात ही नहीं हुआ। फिर जो भूमि भगवान् के चरण-स्पर्श से पवित्र हुई उस भूमि को नमस्कार करके बाहुबली ने वहाँ स्वर्ण-रत्नमय निर्मल धर्मचक्र का निर्माण किया। भगवान् की पादुका की वहाँ स्थापना करके स्वयं उसने तीन जगत् में आनंद को उत्पन्न करनेवाले महोत्सव को किया।

फिर अनार्य देशों में विचरण करके भगवान् अयोध्या पुरी में आये। वहाँ पुरिमताल में न्यग्रोध वृक्ष के मूल में हजार वर्ष के संयम-पालन के प्रभाव से फाल्गुन वदी ग्यारस के दिन तेले की तपस्या में उज्ज्वल केवलज्ञान को प्राप्त किया। तेज आंधी से भूमि रजरहित हो गयी। नैरयिकों ने भी क्षण भर के लिए (अन्तमुर्हूर्त तक) सुख का अनुभव किया। आसनों के कम्पायमान होने से सभी देव-देवेन्द्रों ने आकर समवसरण की रचना की। जगत्प्रभु समवसरण में विराजे।

इधर भरत राजा के शस्त्रागार में उसी समय चक्ररत्न उत्पन्न होने की बधाई मिली। एक तरफ पिताश्री के

केवलज्ञान की बधाई, दूसरी तरफ चक्ररत्न की उत्पत्ति। पहले किसकी अर्चा करुँ? भरत सोच में पड़ गया। फिर उसने विचार किया कि चक्र तो इस लोक में सौख्य प्रदाता है, जबकि पिता का केवलज्ञान प्राप्ति रूप चक्र सिद्धि-सुख को देनेवाला है। अतः प्रभु की पूजा के लिए अपने अनुचरों को आदेश दिया। स्वयं भरत राजा अपनी दादी मरुदेवी के पास स्वामी तीर्थंकर की कैवल्य लक्ष्मी की प्राप्ति की बधाई देने पहुँचे।

मरुदेवी माता जिस दिन से ऋषभ ने प्रव्रज्या ली थी, उसी दिन से पुत्र के दुःख को दिन-रात मन में धारण किये हुए थी। वह न सुख से खाती थी, न सोती थी। उनका रुदन थकने का नाम ही नहीं लेता था। नित्य बहती हुई आँखें चमक विहीन, नीली, निस्तेज हो गयीं थीं। भरत ने उनको वैसी स्थिति में देखकर कहा-हे माँ! क्यों दुःख करती हो? माता, तेरे पुत्र के ऐश्वर्य जैसा अन्य किसी का ऐश्वर्य नहीं है। अतः हे देवी! आओ। अपने पुत्र की अद्‌भुत संपदा को देखो। उसको देखने मात्र से आपको निर्वृत्ति पैदा होगी। इस प्रकार कहकर दादी को हाथी के हौदे पर बैठाकर भक्तिपूर्वक स्वयं ही उन पर छत्र धारणकर राजा भरत प्रभु दर्शन को रवाना हुए। समवसरण के नजदीक आकर भरत ने माता मरुदेवी से कहा-हे मात! अपने पुत्र के ऐश्वर्य को देखो। तुमल गीत-नाद सुनो।

यह सब सुनते ही मरुदेवी की आँखों से आनन्दाश्रु प्रवाहित होने लगे। नदी के पूर में जैसे कीचड़ बह जाता है, वैसे ही आँसुओं के आवेग से उनकी दृष्टि का कालापन भी दूर हो गया। पुत्र की अत्यन्त अद्‌भुत श्री को देखकर उनके क्षण सुधा कुण्ड में डूबे हुए सुखमय हो गये। उन्होंने विचार किया कि इतने समय तक पुत्र-विरह के आर्त्तध्यान में अवतिष्ठ होकर मैं व्यर्थ ही खेद का भाजन बनी। पुत्र की इस प्रकार की श्री का ज्ञान किसीने भी मुझे नहीं कराया। मैं यहाँ तक आयी हूँ। फिर भी यह मुझे बुला नहीं रहा है। मेरे सामने भी नहीं देखता है। अतः यहाँ के संबंध स्वार्थमय हैं। यहाँ कोई किसी का स्वजन नहीं है। इस प्रकार का ध्यान करते हुए क्षणभर में ही मोह को दूर करके भाव से संयम प्राप्त करके मरुदेवी ने केवलज्ञान पाया। हाथी के हौदे पर बैठे-बैठे ही अन्तकृत् केवली के रूप में इस अवसर्पिणी काल में सबसे पहले सिद्धत्व का वरण किया।

ऋषभदेव की केवलज्ञान उत्पत्ति की महिमा करके देव मरुदेवी माता के शरीर को क्षीर-सागर में ले गये।

भरत ने प्रभु के समवसरण में प्रवेश करके सपरिवार वन्दना नमस्कार करके देशना सुनी। प्रभु के पास धर्म की व्याख्या सुनकर भरत राजा के ५०० पुत्र व ७०० पोतों ने दीक्षा ग्रहण की। उनके मध्य पुण्डरीक आदि ८४ मुनियों को उत्पाद, निगम, ध्रौव्य रूप से प्रभु ने त्रिपदी प्रदान की। देवेन्द्र द्वारा वासचूर्ण थाल में भरकर लाने पर भगवंत ने उन श्रेष्ठ मुनियों पर वासक्षेप किये। उन्हें उसी समय गणधर लब्धि प्राप्त हुई। और उन सबने द्वादशांगी की रचना की। ब्राह्मी को दीक्षा देकर भगवान ने उसे प्रवर्त्तिनी पद पर प्रतिष्ठित किया। दीक्षा लेने की भावनावाली सुन्दरी को भरत ने रोक लिया। कच्छ-महाकच्छ आदि सभी तापसों ने भी वापस आकर प्रभु के हाथों से दीक्षा ग्रहण की। भरत आदि श्रावक हुए। सुन्दरी आदि श्राविकाएँ हुई। गोमुख यक्ष हुआ। चक्रेश्वरी शासन देवी हुई।

फिर उत्पन्न हुए चक्र की पूजा करके भरतेश्वर ने छः खण्डों पर साठ हजार वर्ष में विजय पायी। फिर चक्रवर्ती का अभिषेक हुआ। ३२ हजार राजा दास हुए। चक्र छत्र आदि चौदह रत्न उत्पन्न हुए। ६४ हजार रानियाँ हुई। शंखादि नव निधियाँ हुई। आदेश को तुरन्त पूरा करनेवाले सोलह हजार यक्ष हुए। ८४ लाख हाथी हुए। ८४ लाख घोड़े हुए। इस प्रकार चक्रवर्ती पद की ऋद्धि भोगते हुए अपने अधिपत्य पृथ्वी पर निवास करते हुए भरत ने छःखंड साधकर आने के बाद सुन्दरी की जर्जर काया को देखकर उसकी दासियों से पूछा कि सुन्दरी की यह दशा कैसे हुई। दासियों ने कहा-देव! आपके घर में श्री की अति प्रचुरता है। कोई कमी नहीं है। पर नमक रहित आहारादि से आयम्बिल व्रत की आराधना करते हुए इनके शरीर की यह स्थिति हुई है। उसके इस प्रकार के भावों को जानकर भरत अत्यधिक प्रमुदित हुआ।

एकदिन उसने सुना कि प्रभु अष्टापद पर्वत पर पधारे हैं। चिरकाल से दर्शन के लिए उत्कण्ठित भरत ने वहाँ जाकर प्रभु को प्रणाम करके सुन्दरी को संयम ग्रहण करवाया। भरत के अयोध्यापुरी लौटने पर आयुधागार में नियुक्त एक प्रहरी ने आकर कहा कि चक्ररत्न चक्रशाला में प्रवेश नहीं कर रहा है। आपके भाई आपकी आज्ञा के बिना ही राज्य कर रहे हैं। तब चक्रवर्ती ने शीघ्र ही अपने दूतों द्वारा उन्हें कहलवाया-अगर राज्य करने की इच्छा है तो मेरे अधीन रहना होगा। अट्ठानवें भाई अहंकार युक्त होकर बोले-हमें राज्य पिताश्री ने दिया है। फिर भरत की अधीनता क्यों स्वीकार करें? हे दूत! तुम चले जाओ। हम भरत के साथ मित्रता या शत्रुता, पिता से पूछकर ही तय करेंगे। तब वे अट्ठानवे ही भाई शीघ्र ही पिता से पूछने के लिए अष्टापद पर्वत पर गये। ऋषभदेव ने अङ्गारक के आख्यान से उन सभी को प्रतिबोधित किया। उन्होंने राज्य का त्यागकर व्रत को स्वीकार किया। शुक्लध्यान द्वारा केवलज्ञान को प्राप्त किया। दूत से यह सारा वृत्तान्त जानकर भरत क्षेत्र के अधिपति भरत ने अग्नि के तेजांशु की तरह उनके राज्य को ग्रहण कर लिया।

लघु भाइयों के राज्य हरण को जानकर भरत के आये हुए दूत को बाहुबली ने कहा-अरे! बृहत्कुक्षि के समान तुम्हारे राजा की वृत्ति नहीं भरती, जो कि अतिलोभ से भाइयों के राज्य को भी छीन रहा है। क्या उन्हीं के समान मेरा राज्य भी छीनने की इच्छा है? लेकिन याद रखना कि-

मरीचान्यप्यधीर्वाञ्छत्यत्तुं चणकलीलया।

चने के समान वह मूर्ख मिर्ची को खाना चाहता है।

अगर उसकी इच्छा मेरी राज्य लेने की है, तो मैं आता हूँ। युद्ध में सत्जय प्राप्त करने में मैं समर्थ हूँ। ऐसा कहकर बाहुबली ने दूत को निकाल कर भेज दिया। भरत को आया जानकर बाहुबली भी अपनी संपूर्ण सेना के साथ आगे आया। उन दोनों बलियों का संङ्गाम बारह वर्ष तक चला। तब मनुष्यों व देवों ने प्रार्थना की कि दृष्टि आदि के द्वारा केवल भरत बाहुबली में ही युद्ध हो। व्यर्थ जनसंहार से क्या लाभ? सभी दृष्टि आदि युद्ध में बाहुबली ने भरत को पराजित किया। तब भरत ने बाहुबली पर चक्ररत्न चलाया। चक्ररत्न भी बाहुबली की प्रदक्षिणा करके लौट आया, क्योंकि सगोत्रियों पर प्रभाव दिखाने में चक्ररत्न भी समर्थ नहीं है। यह जानकर तथा प्रतिज्ञा भ्रष्ट भरत को देखकर बाहुबली ने विचार किया-

धिग्राजतां यत्र भातृघातोऽपि चिन्त्यते।

धिक्कार है ऐसे राज्य को जहाँ भातृ-घात का विचार किया जाता है।

इसलिए विरक्त होते हुए बाहुबली ने वहीं स्वयं ही दीक्षा अंगीकार कर ली। उनकी इस क्रिया को देखकर देवों ने पुष्पवृष्टि की। बाहुबली मुनि ने विचार किया कि अगर पिता के पास जाऊँगा, तो मुझसे पूर्व दीक्षित छोटे भाइयों के सामने मुझे झुकना पड़ेगा। अतः केवल ज्ञान प्राप्त करने के लिए वे वहीं कायोत्सर्ग में स्थित हो गये। भरत ने बाहुबली को उस स्थिति में देखकर लज्जित होते हुए अपनी गर्हा की। उन्हें नमस्कार करके उनके पुत्र सोमयशा को उनके राज्यासन पर आरूढ किया।

भरत चक्री अयोध्या को लौट गये। बाहुबली एक वर्ष तक ऐसे ही खड़े रहे। तब प्रभु ऋषभ ने ब्राह्मी-सुंदरी के द्वारा बाहुबली को प्रतिबोधित कराया। प्रतिबुद्ध होकर प्रभु के समीप जाने के लिए बाहुबली मुनि ने जैसे ही कदम उठाया, उन्हें केवलज्ञान हो गया। इस प्रकार उनको केवलज्ञान की प्राप्ति हुई।

एक बार अष्टापद पर्वत पर प्रभु को नमस्कार करके भरत चक्री ने पूछा-स्वामी! आप जैसे और मेरे जैसे इस भरत क्षेत्र पर और कितने होंगे? तब स्वामी ने कहा-२३ तीर्थंकर व ११ चक्रवर्ती और होंगे। तब पुनः भरत ने पूछा कि क्या इस सभा में कोई भावी तीर्थंकर की आत्मा है? तब भगवान् ने कहा-हाँ, है। भरत का पुत्र मरीचि जो इस

समय परीषह से पराजित होकर स्वबुद्धि से कल्पित त्रिदण्डी वेष को धारण किये हुए है[1], वही महावीर स्वामी नाम का चौबीसवाँ तीर्थंकर बनेगा। तब भरत ने मरीचि के त्रिदण्डी वेष को नहीं, बल्कि उसके अन्दर रही हुई भावी तीर्थंकर की आत्मा को नमस्कार किया। मरिचि अत्यन्त हर्षित होकर अपनी भुजाओं को फड़काते हुए अति गर्वित होकर बोला-अहो! मेरा कुल कितना श्रेष्ठ है! समग्र कुलों की शोभारूप मेरा कुल है। मेरे दादा प्रथम तीर्थंकर, मेरे पिता प्रथम चक्रवर्ती हैं और मैं अंतिम तीर्थंकर बनूँगा। अहो! मेरा कुल धन्य है।[2]

इस प्रकार अभिमान करके उसने नीच गोत्र कर्म निकाचित बन्ध कर लिया। कपिल को भी भगवा वेशधारियों में भी धर्म है-इस प्रकार कहकर उत्सूत्र प्ररूपणा से उसका (मरिचि का) कर्म गुरुतम हो गया। अपने समान मूढों की सहाय के लिए दीक्षित करके वह कपिल दर्शन प्रवर्त्तित करता रहा। तभी से कपिल दर्शन प्रवृत्त हुआ।

एक बार प्रभु के समवसरण में भरत ने शक्र से कहा-मुझे अपने मूल रूप का दर्शन कराओ। मुझे उत्सुकता है। शक्र ने कहा-मेरे उस रूप को मनुष्य नहीं सह पायेंगे। लेकिन आपकी इच्छा व्यर्थ न जाय इसलिए मेरी अंगुली को मूल रूप में देखें। भरत चक्री ने सोचा-मेरा कहा हुआ शक्र ने भी विफल नहीं किया। उसको देखने के बाद भरत ने शक्र महोत्सव शक्र स्तंभ बनवाकर प्रारंभ किया।

एक बार आहार सामग्री से पूर्ण ५०० गाडियों के द्वारा भरत ने परिवार सहित भगवान् को आहार के लिए निमंत्रित किया। भगवान् ने कहा-यह राजपिण्ड है तथा आधाकर्म नामक दोष से युक्त है। अतः रोगियों के लिए अपथ्य की तरह यह हमारे योग्य नहीं है। दुःखित होते हुए भरतचक्री ने कहा-मैं भाइयों के राज्य का हरण करनेवाला क्षुल्लक हूँ। पर यह आहार पंक्तिबद्ध पूज्यों के लिए है, न कि मेरे लिए। फिर यह राजपिण्ड कैसे हुआ। आप भी अपंक्तिबद्ध है अतः आपके निमित्त भी नहीं है। भगवान् ने कहा-दुःख मत करो। यह व्यवस्था तो रोगियों की है। हम वीतरागियों के लिए तो कुछ भी उष्ण या शीतल नहीं है। भरत ने पूछा-यह अन्नादि किसके लिए बनाया गया है? ऐसा पूछने पर गाड़ीवान ने झूठ कहा कि यह गुणाधिकों के लिए दान देने के लिए भक्तिपूर्वक बनाया गया है। तब भरत ने कहा-मुनियों को छोड़कर दूसरा कौन मुझसे अधिक गुणवाला है? अथवा देशविरति गुणाधिक है, इसलिए उन्हें दे दो। मुमुक्षुओं के लिए मेरे घर में कुछ भी कल्पनीय नहीं होगा। इसलिए धर्मशाला में रहनेवालों को बुलाकर दे दो।

भरत के वचनों को धारण करके धर्मशाला में तथा श्रावकों को सदा (साधर्मिकों को) भोजन दिया जाने लगा। ताकि धर्म में तत्पर मनुष्य कृषि आदि पाप कार्य न करें।

तब उनके द्वारा भोजन किये जाने पर भी दूसरों की अधिकता हो जाने पर अत्यधिक निर्विग्न होकर रसोइये ने राजा को बताया। तब राजा ने छः छः महीने तक सम्यक् प्रकार से परीक्षा करके जानने के लिए काकिणी रत्न के द्वारा उनके देह पर तीन रेखा कर दी। आप इंद्रियों के द्वारा जिते गये हो। भय बढ़ रहा है अतः आप किसीको मत मारो-मत मारो इस प्रकार वे भरत के द्वारा कही हुई बात अंतपुर के द्वार पर राजा को बोले।

यह सुनकर भरत ने विचार किया-मुझे विषयों पर विजय प्राप्त करनी चाहिए। किसी देहधारी की हत्या न हो, जिससे उनका भय न बढ़े। इस प्रकार विचारकर भरत संवेग को प्राप्त हुआ। दुष्कर्म का शोधन करनेवाले ध्यान में प्रतिक्षण प्रवृत्त हुआ। उस भरत चक्री ने आर्य वेदों को बनाकर लगातार पढ़ा। जिससे राजपूज्य होने से अन्य जन भी उसे पढ़ने लगे। मा-हन्—मा-हन् बोलनेवालों के द्वारा पढ़े जाने से वे श्रावक क्रम से ब्राह्मण कहे जाने लगे।

1. किसी कथा में भरत ने पूछा और भगवान ने प्रथम वासुदेव, महाविदेह में चक्रवर्ती और भरत में अंतिम तीर्थंकर होने का कहा था, ऐसा लिखा है। 2. किसी कथा में तीर्थंकर, चक्रवर्ती एवं प्रथम वासुदेव ये तीनों नाम लेकर कुल मद से नाचने का लिखा है।

काकिणी रत्न से बनायी हुई रेखाएँ कालान्तर में यज्ञोपवित के रूप में बदल गयीं।

मूल में ५० योजन गहरा, ऊपर शिखर में दस योजन, उत्सेध में आठ योजन प्रमाण सभी पर्वतों का मण्डल ऐसे शत्रुञ्जय गिरी पर स्वामी एक बार विहार करते हुए पधारें। दिव्य समवसरण में धर्मदेशना दी। पुण्डरीक नाम के गणधर करोड़ों साधुओं से आवृत्त होकर केवलज्ञान को उत्पन्न करके चैत्र पूर्णिमा के दिन निर्वाण को प्राप्त हुए। देवों के द्वारा महिमामण्डित उस गिरि पर भरत द्वारा आदि अरिहंत तथा पुण्डरीक गणधर की प्रतिमा युक्त चैत्य बनवाया गया। जैसे भास्कर सूर्यविकासी कमल को विकसित करता है, वैसे ही अनेक देश-कुलादि में विचरते हुए भगवान् ने भव्यों को प्रबोधित किया।

भगवान् के ८४ हजार साधु तथा तीन लाख साध्वियाँ थीं। तीन लाख पचास हजार श्रावक तथा पाँच लाख ४ हजार ५०० श्राविकाएँ थीं। दीक्षा दिन से लगाकर एक लाख पूर्व वर्ष तक संयम पालने के बाद नाभि-पुत्र भगवान् अपना मोक्ष काल जानकर अष्टापद गिरि पर गये। दस हजार साधुओं के साथ भगवान् ने चौदह भक्त की तपस्या के साथ पादपोपगमन अनशन स्वीकार किया।

उनके वृत्तान्त को जानकर अन्तःपुर परिवार सहित भरत अष्टापद गिरि की ओर पैदल ही चल पड़ा। अत्यधिक शोक से ग्रसित होकर मार्ग की थकान को न जानता हुआ, पाँवों से निकलते हुए खून से लथपथ कदमों के चिह्नों से भूमि पर न्यास करते हुए, शिर पर स्थित आतपत्र के होते हुए भी परम आतप को सहन करता हुआ, छत्र धारण करनेवालों के हाथ में छत्र रहने पर भी परम दुःख से वह बिना छत्र के चल रहा था। अष्टापद पर्वत के समीप आकर वेगपूर्वक पर्वत पर चढ़कर उसने पर्यंकासन में बैठे हुए प्रभु को देखा। शोक हर्ष से आक्रान्त मन वाले भरत ने भरी हुई आँखों के साथ अञ्जलिपूर्वक नमन करके भगवान् के पास में बैठ गया। तब वहाँ इन्द्र-सुरेन्द्र आदि चारों जाति के देव आये एवं भगवान् से वन्दना करते हुए उनके नेत्र आँसूओं से भर गये।

माघ कृष्णा त्रयोदशी के दिन पूर्वाह्न में त्रिजगत् प्रभु दस हजार साधुओं के साथ निर्वाण को प्राप्त हो गये। प्रभु जब आत्यन्तिक सुख रूप मोक्ष को प्राप्त करते हैं, तो सुख को लेशमात्र भी नहीं जाननेवाले नारक जीवों को भी क्षणिक सुख का अनुभव होता है।

भरत चक्रवर्ती तो यह सब देख-सुनकर तत्काल ही शोक मग्न हो गया। अचेतन की तरह उसके अंगों में किंचित् भी स्फुरणा नहीं हुई। भरत चक्री को इस प्रकार शोक से चेतनाशून्य जानकर शक्रेन्द्र ने उन्हें वापस चेतना में लाने के लिए उन्हें जोर से कसकर पकड़कर चीत्कारपूर्वक आक्रन्दन किया। उस आक्रन्दन को सुनकर भरत ने भी दुःख से भरकर ब्रह्माण्ड को गुंजाते हुए विलाप किया, जिससे शोकार्त्त तिर्यंच भी दुःख का अनुभव करने लगे। भरत को जागृत करके शक्र ने अपने शोक को दूर हटाते हुए स्वामी की उचित उत्तर क्रियाएँ की। फिर नन्दीश्वर द्वीप जाकर सभी देव-देवेन्द्रों ने अष्टाह्निका महोत्सव किया। उसके बाद सभी अपने-अपने स्थान पर लौट गये।

तब भरत चक्री ने वर्धकी रत्न के द्वारा वहाँ एक योजन चौड़ा ३ गाऊ उठा हुआ प्रासाद बनाया। जो रत्नकांति को फैलाता हुआ, आकाश में चित्र की भाँति उकेरा हुआ, लगता था। मानों आकाश में साक्षात् आकाशगंगा दिखायी दे रही हो। प्रासाद के ऊपर निर्मल इन्द्र ध्वजा लहरा रही थी। उस प्रासाद में ऋषभादि चौबीस ही अरिहन्तों के यथामान, यथावर्ण प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा भरत ने स्वयं की।

मेरे गुरु के पास करवाऊँगा तो मेरे गुरु आदि ही यहाँ रहेंगे, दूसरे नहीं। वे ही यहाँ व्याख्यान करेंगे। इस प्रकार की बातों से साधु निश्रा के बिना ही भरत ने वहाँ मूर्तियों की स्थापना की। इसी कारण से यह चैत्य आज भी अनिश्राकृत कहा जाता है।

वहाँ से अयोध्या लौटकर कुछ वर्षों के बाद एक बार भरत चक्री अपने दर्पण भवन में गया। वहाँ अंगुली

का आभरण गिर जाने से शोभा विहीन अंगुली को देखकर भावितमना होकर आत्मा की निर्मलता को प्राप्त करके गृहस्थ वेश में ही केवली हो गये। फिर देव प्रदत्त चारित्र वेश धारण करके जगत् में लोगों को प्रबोध देकर शिवपुरी को प्राप्त किया।

श्री नाभिपुत्र के पवित्र चरित्र को यहाँ कुछ संक्षेप में वर्णित किया गया है। इसे प्रसन्नतापूर्वक सुनकर भवी जीव शाश्वत सुख को प्राप्त करें।

अष्टापद की वक्तव्यता पूर्ण हुई॥२३॥

अब अरिहन्त के बिंब की पूजा के लिए क्या करना चाहिए वह कहते हैं-

कुसुमक्खय धूवेहिं दीवयवासेहिं सुंदरफलेहिं।
पूआ घयसलिलेहिं अट्ठविहा तस्स कायव्वा ॥२४॥

कुसुम, अक्षत, धूप, दीप, वास, सुंदर फल, घृत तथा सलिल (जल)-आठ प्रकार से बिम्ब की पूजा करनी चाहिए। आठ प्रकार उपलक्षण से कहे गये हैं। वैसे तो वस्त्र-आभरण आदि अनेक प्रकार से अर्हन्त बिम्ब की पूजा जैसे नल दमयन्ती ने पूर्वभव में की थी, वैसे करनी चाहिए।

नल दमयन्ती की कथा इस प्रकार है-

॥ नल दमयन्ती की कथा ॥

इस भरत क्षेत्र में भूमिरूपी स्त्री के भाल पर रहे हुए तिलक के समान कोशल नाम का देश था। कोशलनगरी विस्तृत व्याप्त नाक के समान सुमना अप्सराओं के द्वारा मनोरम आनन्द करनेवाली थी। वहाँ अंतरंग शत्रुओं को वश में करके इक्ष्वाकु वंशीय निषध नाम का राजा बाहरी शत्रुओं को दास बनाकर पृथ्वी पर राज्य करता था। उसके सुन्दरी नाम की पत्नी रूप से भी अति सुन्दर थी। उसे देखकर आँखों में भ्रम पैदा होता था कि यह मनुष्याणी है या देवी? उसके दो पुत्र थे। पहला पुत्र शत्रुरूपी दावानल को छलने वाला नल था। दूसरा उसके विपरीत स्वभाववाला कूबर था।

उधर पृथ्वी तल पर अच्छे राजा से युक्त विदर्भ देश था। जिसके ऊपर-ऊपर ग्राम तथा नीचे-नीचे नगर थे। वहाँ दक्षिण दिशावधू के मस्तक को आभूषित करनेवाला अति विशाल सुखकारी अद्भुत कुण्डिनपुर नाम का श्रेष्ठ नगर था। यात्रा को जाते हुए उस नगर को देखकर शक्र भी देवों को कहता था कि उस सम्यक् कला की गवेषणा करो, जिससे छोटे से भी इस नगर में मैं बुद्धिपूर्वक वास करुँ।

वहाँ पर भीम के समान महा प्रतापी भीमरथ नामका राजा था। वह सौन्दर्य से, शौर्य से, विषमआयुधों को भी अपहत कर लेता था। उसका उग्र प्रताप ही मेदिनी पर शासन करता था। चतुरङ्गिणी सेना तो केवल परिवार रूप अथवा घेरने के लिए थी।

उसकी एकमात्र पत्नी पुष्पदन्ती गुणों की खान थी। जिसका लावण्य सुधा-समुद्र में मकरध्वज की तरह था। उन दोनों की निरुपम रूपश्री से युक्त एक पुत्री हुई। उसके रूप का स्वरूप वाणी से अगोचर था। माना जाता है कि उसके अंग निर्माण में विधाता कोई ओर ही था। मिट्टी कुछ ओर ही थी तथा दलिक भी कुछ अलग ही थे। उसके जैसा रूप त्रिलोक में कहीं भी नहीं देखा गया, नहीं कानों से सुना गया। फिर उस रूप का वर्णन कैसे किया जाय? उसके ललाट पर चमकता हुआ तिलक जन्म से ही था, मानों उसके भाल पर नन्हा सूर्य चमक रहा हो। गर्भ में स्थित रहते हुए भी उसके द्वारा दुर्दम शत्रु दमित किये गये। अतः पिता ने उसका नाम दमयन्ती रखा।

उसके वृद्धि को प्राप्त होने पर राजालोकों द्वारा कुतूहल से देखी जाती वह सभा में राजा की गोद में बैठकर

मुन्मुन बोलती थी। करकमलों द्वारा गोद में लेनेवालों के पास भी सुन्दर नवगीत गाते हुए बातें करती थी। तालियों के ताल के मध्य अंगूठे के वादन से जब वह नृत्य करती थी, तो वादन करनेवाले खुश होकर कहते थे-और नृत्य करो। और नृत्य करो। इस प्रकार सौभाग्यशालिनी वह स्वयं सौभाग्य का सेवन कर रही थी। हंसती हुई मुखमुद्रा से वह अनेक क्रीड़ाओं द्वारा क्रीड़ा करती थी। उसके कला-ग्रहण का काल प्राप्त होने पर राजा ने कलाचार्य को बुलाकर राजकन्या को कलाओं से शिक्षित बनाने के लिए कलानिधी को अर्पण कर दी। उसके हृदय रूपी दर्पण में शीघ्र ही कलाएँ संक्रान्त हो गयीं। कलाचार्य तो सिर्फ कलाओं के दर्शक ही हुए। पूर्वभव में धर्म किया हुआ होने से सुलभबोधि होने से उसने धर्माचार्य को प्राप्तकर शीघ्र ही सम्यक्त्व ग्रहण किया। कर्म-प्रकृति आदि शास्त्रों के समूह दुर्गम होने पर भी उसने पढ़ लिये। इस प्रकार वह अद्‌भुत बुद्धि की पात्र बनी। प्रव्रज्या रूपी सत्‌चर्या ही साध्यमान है। इस प्रकार माता-पिता की भी जिनधर्म युक्त मति बनी। जिनधर्म भाव से रञ्जित उसको देवी ने सुवर्ण से निर्मित भावी तीर्थंकर शांतिनाथ प्रभु की दिव्य प्रतिमा अर्पित की एवं कहा कि हे वत्से! इस प्रतिमा की नित्य पूजा करना। वह भी चिंतमाणि के समान उस मूर्ति को प्राप्त करके नित्य अर्चना करती थी। लीला से ललित सुन्दर यौवन को प्राप्त करके उसकी देह जन्मान्तर को पाने के समान परिवर्तित हो गयी। उसके चरण-कमल गति करते हुए तरल तरंगों की तरह दृष्टिगोचर होते थे। क्रीड़ा से सुध-बुध खोते हुए उसके नेत्र कमल के समान प्रतीत होते थे। उसकी कटि तनुता को प्राप्त नितम्ब का अनुसरण करती थी। उसके वक्ष समुन्नत स्तनों से युक्त तथा अद्वैत रूप एक आह्वान था। यौवन को धारण किये हुए कुमारी का अंग-विन्यास मानो चित्रलिखित सा था। उसका वह रूप रति के रूप के गर्व को कुचलनेवाला था।

उसके विवाह योग्य वय प्राप्त होने पर राजा ने सोचा कि इस सुन्दरी के असदृश रूप को देखते हुए इसे सदृश वर कैसे मिलेगा। अतः इसके विवाहित बनाने के लिए मैंने अयोग्य वर का चयन किया तो निश्चय ही मैं लोकापवाद का कारण बनूँगा। अतः मैं इसके लिए स्वयंवर का आयोजन करूँगा। स्वेच्छा से वरण करने पर मेरा कोई दोष न होगा-इस प्रकार विचारकर बिना वेतन के सिर्फ भोजन वस्त्र आवास के द्वारा काम करनेवाले अनुचरों को बुलाकर सभी राजाओं को संदेश करवा दिया।

तब राजपुत्री के सौभाग्य-गुण के अनुरागी कामदेव रूपी शिकारी के अर्धचन्द्राकार नेत्र रूपी बाणों से चारों ओर से बिंधकर विवाह के आमन्त्रण के आने से उसके वशीभूत मानसवाले सभी राजा वेगपूर्वक मृग समूह की तरह वहाँ आ गये। तब महासत्त्वधारी, तत्त्वज्ञ, कलानिधि, इक्ष्वाकु वंशीय, कामदेव के रूप को भी अपने रूप से तुच्छ बताते हुए नल भी वहाँ पर आया। विदर्भपति ने उन सभी का आगमन स्वीकार करते हुए कुण्डिनपुर की चारों दिशाओं में उनके रहने की व्यवस्था की।

देवों की सुधर्मा सभा के समान, वर्णन से अतिक्रान्त एक विशाल स्वयंवर-मण्डप बनवाया गया। उस स्वयंवर मण्डप में बनाये हुए सिंहासनों की ज्योति स्वर्ग के विमानों का भी अपमान कर रही थी। जल सरोवरों के समान वे रत्न सिंहासन प्रतीत हो रहे थे। उन सिंहासनों पर आसीन विभिन्न देश के राजा वेश-भूषा व रत्नाभूषणों से आवेष्टित होकर अपनी-अपनी कान्ति से मानों एक दूसरे का तिरस्कार करते हुए लग रहे थे।

तभी चमकते हुए दिव्य तिलक से भूषित, बादल रहित पूर्व दिशा में निकलनेवाले सूर्य की तरह मनोहर बिम्ब रूप, पूर्णिमा के पूर्णचन्द्र की तरह, हर्ष से युक्त मुखवाली, वर्षाश्री की तरह स्निग्ध समुन्नत पयोधरवाली, रक्त नयन युक्त कटाक्षवाली, सुन्दर हस्त-पैर-दन्तावलि युक्त, पक्षियों के झूलने से हिलनेवाली शाखाओं से झरते हुए तथा उल्लसित नवपल्लवों की तरह, मोतियों के अलंकारों से युक्त अंगवाली, खिले हुए पुष्प की तरह, शरद ऋतु में रहे हुए अति शुभ्र बादलों की तरह विशद वस्त्रों से ढकी हुई, मल्लिका की तरह मञ्च पर आसीन राजाओं

के कोटि-कटाक्षों को देखती हुई, समुद्र की लहरों की तरह दिशापतियों के मन को उद्विग्न बनाती हुई, पिता की आज्ञा का अखण्डपालन करती हुई, मण्डप की शोभा को बढ़ाती हुई एवं भूपालों के मनों को उत्कण्ठित करती हुई दमयन्ती वहाँ आयी। उसे देखकर वे सारे राजा मानों कार्मण उपमावाले बहुत से कामविकारों को वश में करने के लिए बाधित हुए।

पिता के आदेश पर अन्तःपुर की प्रतीहारी ने एक-एक राजा के स्वरूप का परिकीर्तन आरंभ किया। हे पुत्री! यह काशी नरेश हैं। इनके बल से स्फूरित भुजाबलों का यश त्रिपथगा गंगा के बहने से उसके तटों पर किनारे-किनारे बहता है। अतः यदि गंगा के समीप जाने का लक्ष्य रखती हुई गंगा से खेलना चाहती हो, तो साक्षात् गंगा के समान देवता का वरण करो।

दमयन्ती ने कहा-हे भद्रे! सुना जाता है कि काशी में रहनेवाले दूसरों को ठगने में चतुर होते हैं, वे मुझे इष्ट नहीं है।

तब प्रतिहारी ने आगे बढ़कर कहा-ये कोङ्कण नरेश है। सिंह के समान इन्होंने अनेक पापियों का अंग-भंग किया है। इनका वरण करके नन्दन वन के समान कदलीवन में ताप से तप्त ग्रीष्म में सुख का स्थान प्राप्त करो।

दमयन्ती ने कहा-कोङ्कण के लोग प्रायः निष्कारण ही क्रोध करते हैं। उन्हें अनुकूल करने के लिए पग पग पर उनका क्रोध शान्त करने की शक्ति मुझमें नहीं है।

तब कुछ आगे जाकर प्रतीहारी ने कहा-देवी! वाणी के स्वामी हैं। कश्मीर की क्यारियों में खिलनेवाली केशर के रूप के समान इन्द्र हैं, इनका वरण करो।

राजपुत्री ने कहा-भद्रे! क्या मैं नहीं जानती कि कश्मीर तुषार का ढेर है। अतः आगे चलो।

आगे जाकर प्रतिहारी ने कहा-ये कौशाम्बी के स्वामी हैं। अपने अङ्ग से उन्होंने अनंग (कामदेव) को जीत लिया है। क्या ये तुम्हारे मन का हरण नहीं करते?

दमयन्ती ने कहा-यह वरमाला अद्भुत हो गयी है। उसे सुनकर अबुधा भद्रा बोली-इसका खण्डन करना तो अत्योक्ति ही है।

फिर पुनः कुछ आगे जाकर बोली-हे गुणरागिणी! दानवीर, धर्मवीर, युद्धवीर अवन्तीपति को तुम क्यों नहीं पसन्द करती?

दमयन्ती ने कहा-हे भद्रा! पिता के समान उम्रवाले इन्हें मैं प्रणाम करती हूँ।

तब वह भद्रा उनका उल्लंघन करके दूसरे नृप का गुणगान करने लगी। गौड़ के चूड़ामणि राजा स्त्रियों के लिए चिन्तामणी के समान हैं। अतः हे देवी! इनका वरण करके देवी की तरह चिन्तित अर्थ की प्राप्ति का भाजन बनो।

राजदुहिता ने कहा-क्या मनुष्य भी इस प्रकार महादेव के समान विकसीत होता है? तब उसका अतिक्रमण करके भद्रा ने कलिंग देश के राजा को दिखाया। जिसकी तलवार राहु पर आक्रमण करके दोनों ओर से शशि को अम्लान बनाती है। देवी! तुम उस पति को प्राप्त करके जयश्री रूपी पत्नी की सौत बन जाओ।

देवी ने कहा-चल-चल कर थक जाने से मैं बोलने में समर्थ नहीं हूँ। तब उसको भी छोड़कर भद्रा ने कहा-देवी! देखिये! यह सुभग प्राप्त ग्राम व ग्रामणियों से युक्त निषध का राजा नल है। जिसको दृष्टि द्वारा देखने पर देव भी निर्निमेष होकर प्रशंसा करते हैं। दमयन्ती भी उसको देखकर विस्मित रह गयी। सौभाग्य विलास की नवनिधि रूप इनका लावण्य अहोभाव युक्त है। नल के ही गुणग्राम का विचार करती हुई, उसके वश होकर उसने नल के गले में वरमाला डाल दी।

अहो! अच्छा वरण किया। इस प्रकार बार-बार बोलते हुए कोलाहल हुआ। किसी दुराचारी ने प्रतिशब्द किया। तभी कृष्णराज ने म्यान से तलवार खींचकर नल को कहा-हे सुभग! मान का मर्दन करनेवाले को शूर मानते हो या अन्य को? दमयन्ती को ले जाने के लिए नल योग्य भर्त्ता नहीं है। मैं ही सीता के राम की तरह इसका पति हूँ।

नल ने भी उसे आक्षेप करके कहा-हे कुलपांसन्! पिशाच वात से मूढ की तरह क्यों विकथन करते हो? दुर्भाग्य से तुम्हारा अभाग्य है कि दमयन्ती ने तुम्हारा वरण नहीं किया। दुःख है कि तुम सन्ताप करते हो। उसे पाने के लिए कोई तपस्या क्यों नहीं करते? इस समय उसको चाहनेवाला तूँ पापी है। यह परस्त्री है। धर्म से तो रहित हो ही, क्या तुम कुल से भी रहित हो? मुझे तुम्हें कुछ शिक्षा देनी चाहिए। इस प्रकार हाथ में तलवार लहराते हुए भूमि पर पद प्रहार करके जलते हुए कोपानल से नल खड़ा हुआ। दोनों ने सेना को सजाकर रोष से ग्रस्त मनवालों की तरह परस्पर युद्ध शुरु कर दिया।

तब दमयन्ती ने विचार किया-हाय! मैं कितनी मन्दभागिनी हूँ, जिससे कि मेरे निमित्त से यह जीवसंहार उपस्थित हुआ। अगर अरिहन्त प्रभु में मेरी निश्चल भक्ति है, तो मेरे प्रिय जयश्री का वरण करें व अरति उपशमित हो। इस प्रकार कहकर के झारी में से जल-बिन्दुओं को लेकर तीन बार कृष्णराजा पर छिड़काव किया। उस जल के स्पर्श मात्र से वह बुझे हुए अंगारे के समान हो गया। हाथ में रही हुई तलवार के अग्रभाग के स्पर्श मात्र से वृक्ष से गिरते हुए पके हुए पत्ते की तरह गिर गया।

दमयन्ती इस वृत्त से लोकोत्तर महिमा से शोभित हुई। क्या किसी देवी ने मानुषी रूप को धारण किया है? तेज रहित होकर कृष्णराजा ने ऐसा विचार किया। दमयन्ती सामान्य नहीं है और न ही नलराजा सामान्य है। तब प्रशान्तचित्त होकर कृष्णराजा ने क्षमायाचना की। नल ने भी उनका सम्मान किया। क्योंकि-

सन्तो हि सुकृतिप्रिया।

सज्जनों को अच्छे कार्य प्रिय होते हैं।

नल को महर्षि की तरह शाप व अनुग्रह में समर्थ जानकर विदर्भ राजा ने आनन्दित होकर उसके साथ अपनी सुता का विवाह किया। हस्ती, अश्व, रथ, रत्नादि नल को पहेरामणी (दहेज) में दिया। अन्य नृपों का सम्मान करके उन्हें अपने-अपने राज्यों की ओर बिदा किया। वहाँ कुछ दिन रहकर नल भी रवाना हुआ। क्योंकि-

तिष्ठन्ति श्वसुरावासे चिरं नार्यो न पूरुषाः।

श्वसुर गृह में चिरकाल तक नारियाँ रहती हैं, पुरुष नहीं।

सत्कार करके कुछ दूर तक भीमराजा भी नल के साथ चले। जाती हुई दमयन्ती को माता ने प्रेम से शिक्षा दी-हे पुत्री! परनिन्दा मत करना। विनीत होना। प्रिय बोलना। विपत्ति आने पर भी साये की तरह पति का साथ न छोड़ना। परम ऐश्वर्य को प्राप्त करके स्वप्न में भी गर्व मत करना। अपने निष्कलंक शील को प्राण त्यागने पर भी न छोड़ना। उन शिक्षाओं को धारण करके माता-पिता की आज्ञा से रथ पर आरूढ होकर अपने पति के उत्संग में बैठकर वह रवाना हुई। उसके साथ ही दमयन्ती की तरह सर्वराज की जयश्री को प्राप्त करके चतुरंगिणी सेना भी चलने को उद्यत हुई। सेना के चलने से उनके पाँवों से उठनेवाली धूलि से धूसरित सूर्य की छवि ढंक गयी। मानों वह स्नान करने के लिए दूसरे समुद्र में चला गया हो। चारों ओर से जगत् को देखने के आलोक को खा जानेवाला अंधेरा पृथ्वी पर प्रसरित होता चला जा रहा था। तब दिशाएँ तम के द्वारा कवलित की तरह हो गयीं। जैसे अदृश्यीकरण मन्त्र से वस्तुएँ गायब हो जाती हैं, वैसे ही दिशाएँ भी अंधेरे में लुप्त हो गयीं। ऊँबड़-खाबड़ भूमि में मार्ग दिखायी नहीं पड़ रहा था। जैसे कि ध्यानलीन आँखों से कुछ भी अलक्षित रहता है। इतना सबकुछ होते हुए

भी अपने स्थान को जाने की उत्कण्ठा से नैषधि-नल ने अपने प्रयाण को नहीं रोका। मूर्च्छित की तरह उसकी सेना मार्ग में अन्धों की तरह स्खलित होती हुई गिरती हुई जाती देखकर नल ने अपनी प्रिया से कहा-क्षण भर के लिए जागो, देवी! अंधकार सेना को बाधित कर रहा है। तुम्हारे भाल में रहे हुए तिलक से रात्रि में भी अरुणोदय हो जायगा। आदर्श नारी की तरह उठकर देवी ने अपने हाथ से मस्तक को रगड़ा, तुरन्त तिलक मार्ग के अंधेरे को नष्ट करनेवाला प्रभासूर्य साबित हुआ। तिलक रूपी सूर्य के प्रताप से अंधकार रूपी कर्दम को शोषण किये जाने से संपूर्ण सैन्यबल बिना किसी बाधा के आगे जाने के लिए समर्थ हुआ। कोशल को नजदीक पाकर नल ने अपनी प्रिया से कहा-देवी! जिनचैत्य रूपी मोतियों से भूषित यह मेरी नगरी है। पद्ममाला के समान चैत्यों की कतार देखकर दमयन्ती द्विगुणित हर्ष से भर गयी। उसने कहा-देव! मैं धन्य हूँ कि मेरे आप पति हैं। नित्य ही ये चैत्य मेरी अर्चना का विषय होंगे।

ऊंचे-ऊंचे तोरणों से आबद्ध उच्च पताका शोभित हो रही थी। वधू-वर के आगमन में मानो पृथ्वी श्रृंगारमय हो रही थी। दमयन्ती से विवाह हुआ मानो सुधासेक से सौभाग्य-पादप आर्द्र हुआ हो। प्रस्तुत मंगल से शुभ दिन में नल ने वहाँ प्रवेश किया। प्रिया सहित माता-पिता को प्रणाम किया। दोनों ने प्रीतिपूर्वक शुभाशीषों से उनका अभिनन्दन किया।

वे दोनों नवविवाहित पति-पत्नी आनन्दपूर्वक रहने लगे। कभी जल क्रीड़ा के द्वारा परम सुख को अनुभूत करते। कभी झूला झूलते हुए क्रीड़ा करते। कभी उद्यान में जाकर पुष्प श्रृंगार करते। कभी पासों के द्वारा चौपड़ खेलने का कौतुक करते। कभी दिव्य काव्यों द्वारा एक दूसरे का वर्णन करते। कभी एकान्त स्थान में ये दोनों एक दूसरे की प्रशंसा करते हुए प्रशंसित नृत्य करते। कभी दमयन्ती के द्वारा नृत्य किये जाने पर नल स्वयं वाद्य बजाता। इस प्रकार दोनों ने एक दूसरे के साथ नयी-नयी लीलायें करते हुए कितना ही काल व्यतीत कर दिया।

अन्य किसी दिन निषध भूपति ने अपने राज्य पर नल को प्रतिष्ठितकर एवं कूबर को युवराज पद देकर स्वयं ने संयम ग्रहण किया। नल शत्रुओं के लिए अग्नि के समान असह्य प्रतापवाला था। प्रजा के नयनों के चाँद की तरह उसने राज्य का पालन किया। दिशापतियों को भी जो दर्प से मानते हैं, तुच्छता से नहीं। उनके द्वारा भी वीर माना जाता हुआ कोई भी नल के अनुशासन का उल्लंघन करने में समर्थ नहीं था।

किसी दिन नल ने अमात्य आदि कुछ वृद्धों को पूछा कि क्या मुझे पिता द्वारा उपार्जित राज्य पर ही शासन करना चाहिए या उनसे भी ज्यादा? उन्होंने कहा कि भारत वर्ष को (तीन अंश से कुछ कम) तुम्हारे पिता ने भोगा। अगर तुम संपूर्ण भारत पर राज्य करो, तो पिता के योग्य पुत्र कहे जाओगे।

यहाँ से दो सौ योजन की दूर पर तक्षशीलानगरी है। वहाँ का राजा कदम्ब आपकी आज्ञा को नहीं मानता है। अर्ध भरत के विजयरूपी चन्द्रमा से आपकी यश किरणें चमक रही हैं, पर यह एक अहंकारी आपकी छवि में लाञ्छन की तरह है। आपके द्वारा इसकी उपेक्षा किये जाने पर वह छोटे से रोग की तरह उपचय को प्राप्त होकर बढ़ता हुआ असाध्य रोग की तरह हो जायगा। उसका हनन करने के लिए, परास्त करने के लिए अपने मन को तैयार कीजिए। कहा भी गया है-

प्रभास्फोटेऽपि सूर्यस्य तमः किं न विलीयते।

सूर्य की प्रभा का स्फुटन होने पर अंधकार विलीन क्यों नहीं होगा? होगा ही।

लेकिन पहले दूत के मुख के द्वारा उसको अनुशासित करना चाहिए। संग्राम से अथवा प्रणाम से-यह निर्णय शत्रु करे-यह अच्छा है।

नल राजा ने वाणी-कुशल दूत को बुलाकर उसे सीखा पढ़ाकर उस कदम्ब राजा के पास भेजा। दूत ने

तक्षशिला जाकर कदम्ब राजा को अपने स्वामी का सन्देश गर्व सहित कहा। हे कदम्ब! मेरे स्वामी अर्ध भरत के ईश हैं। राजा नल स्वयं अपनी कृपापूर्वक खुशी से तुम्हें आज्ञा प्रदान करते हैं कि हमारे चरण-कमलों की रज अपने भाल पर लगाकर हमारी आज्ञारूपी मुकूट को धारणकर बिना किसी भय के राजा बनो। अगर ऐसा नहीं करोगे, तो तुम्हारे राज्य के राजा, प्रधान, मित्र, कोष, राष्ट्र, दुर्ग व सैन्य-इन सात अंगों का विनाश हो जायगा। अर्थात् तुम्हारे राज्य के सातों अंग नष्ट कर दिये जायेंगे। जैसे कि अन्त तक सुकृत करनेवाले महाऋषि का शील भ्रष्ट हुआ। और तुम्हारा क्या हित कहुँ? मैं तो अतिथि दूत हूँ। अज्ञान से अन्यथा करने पर आपका ही संहार होगा।

तब कदम्ब ने उपहास सहित अवज्ञा से कहा-हमारे द्वारा सुना गया है कि नल तो तृण विशेष की तरह है। तो क्या तिनके को भी कोई नमता या पूजता है? अथवा तृण भी किसी पर प्रसन्न होता है? हे दूत! तुम्हारे जैसे बोलनेवाले बहुत देखे।

दूत ने कहा-आपने गलत सुना है। सम्राट नल तृण नहीं है, बल्कि जो मुँह में तृण दबाकर उनकी शरण में आते हैं, उन तृणधारियों की वे रक्षा करते हैं। अतः हे राजा! आपको भी नल से डरना चाहिए। नल राजा की अर्चना-आराधना करके उन्हें प्रसन्न करना चाहिए, जिससे आपकी भी रक्षा होगी। तब क्रोधित होते हुए कदम्ब राजा ने दूत को कहा-अरे! क्या मैं तुम्हें नाग के फंदे में ले जाकर छोड़ूँ? दूत ने पुनः कहा-हे राजा! अगर तुम मुझे नाग-पड़ में ले भी गये, तो इससे क्या? केवल तुम ही महान् नहीं हो। हमारे यहाँ तो गाय के समान नासिकावाले सापों को बालक भी खेल-खेल में मार डालते हैं।

इस प्रकार कदम्ब ने वक्र उक्ति के द्वारा जीते हुए दूत को कहा-राजा नल के यहाँ आने पर हम उत्तर देंगे। दूत ने अपने नगर लौटकर सभी युक्ति प्रयुक्तियों को कोशलाधिपति को आवेदन किया।

तब राजा ने हस्ति, अश्व, रथ व पैदल सेना के द्वारा सम्पूर्ण भूतल को कम्पित करते हुए संपूर्ण समूह के साथ तक्षशिला की ओर प्रयाण किया। राम ने जिस प्रकार वानर सेना द्वारा लंका को घेरा था, उसी प्रकार विचार करके राजा नल ने तक्षशिला के चारों ओर सैनिक व्यूह की रचना की। दूत के द्वारा कदम्ब को कहलवाया कि अभी भी समय है, मान जाओ। क्यों अकाल में ही अपनी प्रिया को विधवा बनाना चाहते हो?

कदम्ब ने कहा-क्या तुम बच्चे हो? नल तुम उन्मत्त क्यों होते हो? अथवा शत्रुरूपी सर्पों के समूह से विमना होकर अपने आपे में नहीं हो। क्या तुम्हारे मंत्रियों में कोई भी विवेकी नहीं है, जो कि बिना विचारे युद्ध में प्रवृत्त नल को रोक सके। हाँ! ज्ञात होता है कि हे नैषधि! निश्चय ही तुम जीवन से निर्विग्न हो गये हो। हे दूत! शीघ्र ही जाओ। मैं भी ऐसा ही रणलम्पट हूँ।

दूत से कदम्ब के कहे हुए अहंकार से दुर्द्धर वचन सुनकर नल ने युद्ध प्रिय सैनिकों को कवच की तरह बनाया। कदम्ब भी अभ्य-मित्रादि से घिरा हुआ बाहर निकला। गिरिकन्दरा से सिंह की तरह त्रिपृष्ठ द्वार में आया। उन दोनों में युद्ध शुरू हुआ। पहले धनुष बाण से, फिर खड्ग-खड्गी एवं बाद में कुन्ता-कुन्ती का युद्ध हुआ।

तब राजा नल ने कदम्ब से पूछा-इन कीड़ों का कुट्टन करने से क्या फायदा। हम दोनों का वैर है अतः युद्ध भी केवल हम दोनों में ही होना चाहिए।

दोनों ही नरेन्द्र युद्ध-कुशल वीर थे। जयश्री का वरण करने के लिए बाणों से बादलों की तरह आकाश को भर दिया। नल राजा ने तलवार के अग्रभाग से कदम्ब के हाथी को गिराकर शिलीमुख कर दिया। जो-जो भी अस्त्रशस्त्र कदम्ब छोड़ता था, राजा नल उसे उत्सर्ग को अपवाद की तरह काट देता था।

नल मेरे संपूर्ण क्षात्र-तेज को बुझा देगा। तो क्या मैं दर्प से अंधा होकर शलभ की मौत मरुँगा? इस प्रकार मन में विचार करके उस स्थान से भाग करके कदम्ब ने दीक्षा ग्रहण की और कायोत्सर्ग में स्थित हो गया। उसे

देखकर नल ने कहा-हे सुभट! तुम जीत गये। तुमने जो क्षमा धारण की है, वह मैं ग्रहण करने में समर्थ नहीं हूँ। इस प्रकार कदम्ब राजर्षि की स्तुति करके उनके सत्त्व से रंजित होकर उनके पुत्र जयशक्ति को उन्हीं के राज्य पर स्थापित किया।

संपूर्ण समर्थ राजाओं के द्वारा विचार करके अर्ध भरत के साम्राज्य पर नल का अभिषेक किया गया। अग्नि के समान औजवाला नल कोशल में रहता हुआ सर्व धन द्वारा मंगल करके सभी राजाओं द्वारा पूजा गया। जिस प्रकार नल एक पत्नी दमयन्ती महासती का स्वामी था, उसी प्रकार सार्वभौमिक पृथ्वी को भी चिरकाल तक नल रूपी राजा द्वारा भोगा गया।

नल का भाई कूबर कुलाङ्गार था। वह नल के राज्य पर पढ़े हुए शाकिनी मन्त्र की तरह छल भरी नजर रखता था। राजा नल के अत्यन्त गुणी होने पर भी उसमें चन्द्रमा के कलंक की तरह तथा समुद्र के खारेपन की तरह द्यूतव्यसन नामका दुर्गुण था। नल का राज्य पाने की जिज्ञासा से कूबर नल के साथ मायापूर्वक द्यूत क्रीड़ा करने लगा। दोनों के नित्य जुआ खेलने में जीत की स्थिति डमरु की रस्सी की तरह, कौएँ के अक्षि-गोलक की तरह अथवा दोलायमान झूले की तरह हो जाती थी। एक दिन भाग्य के दोष से द्यूत कर्म में प्रवीण होते हुए भी नल कूबर को जीतने में सफल न हो सका। पाशज्ञ होने पर भी नल द्वारा चिन्तित पाशे नहीं गिरते थे। कूबर बार-बार विजित हो रहा था। तब नल जुए में शनै-शनै ग्राम, नगर आदि को हारता हुआ ग्रीष्म काल में जलविहीन सरोवर की तरह हो गया। द्यूत में हार जाने पर नल का अन्धकारमय विनाश हुआ। और क्षण-क्षण में जीतनेवाले कूबर का अभ्युदय हुआ।

नल के अनुरागी लोगों के द्वारा हाहाकार किया जाने लगा। उस हाहाकार को सुनकर दमयन्ती भी आकुल हो गयी। उसने कहा-मैं आपसे कुछ याचना करती हूँ। मुझे प्रार्थित प्रदान करें। हे देव! यह दैव का जाल नहीं, बल्कि पाशों के कारण बना हुआ दुर्भाग्य है। अपने प्रियअनुज कूबर को स्वेच्छा से राज्य दे देना ही श्रेष्ठ है। अन्यथा उसके हटात् राज्य छीन लेने से, अपनी अकीर्ति को न करें। जो राज्य नल ने युद्ध के द्वारा जीता, उसे पाशों से हार दिया व चोरों आदि के द्वारा हरण की गयी वस्तु की तरह यही मेरे दुःख का कारण है। नल ने मत्त हाथी की तरह उसके वचनों को नहीं सुना। तब दमयन्ती द्वारा अमात्यों को नल को जुआ खेलने में रोकने के लिए कहा गया। जुए से हटाने के लिए अत्यधिक बार कहे जाने पर भी उनके वचनों को नल ने नहीं माना। क्योंकि-

औषधं कुरुते कर्म सन्निपातवतः किमु।

कर्मरूपी सन्निपात के रोगी को दवा असर नहीं करती।

जुए में अंधे होकर नल ने अखंडित विक्रम वाला होते हुए भी त्रिखण्ड के आधिपत्य को निगल लिया।

अपनी पत्नी के साथ, शरीर के आभरण आदि उतारकर केवल देह मात्र से ही रह गया। तब कूबर ने नल को कहा-मेरा राज्य जल्दी छोड़ो। पिता के द्वारा प्रदत्त यह राज्य तुमने पासों के द्वारा मुझे दे दिया है।

जीत प्राप्त करने के स्वप्न मत देखो। क्योंकि सत्त्ववान् नर के कर में लक्ष्मी होती है-इस प्रकार कहकर वस्त्र रूपी वैभव से तन को ढककर नल चलने को उद्धत हुआ। नल का अनुसरण करती हुई दमयन्ती को देखकर कूबर ने कहा-तुम जुए में मेरे द्वारा जीत ली गयी हो। अतः मत जाओ। मेरे अन्तःपुर में प्रवेश करो। कूबर के इस तरह कहने पर अमात्यों ने कहा-महासती दमयन्ती कभी भी पर नर की छाया तक का स्पर्श नहीं करती। इसे अंतःपुर मत ले जाओ, क्योंकि यह तुम्हारी माता के समान है। कहा भी गया है-

पितृतुल्यो बृहद्बन्धुः।

बड़ा भाई -पिता तुल्य होता है।

यह संपूर्ण लोक में प्रचलित है। अतः उसकी भार्या माता के समान हुई। यह हठ से आरब्ध होकर तुम्हें भस्मसात् कर देगी। क्योंकि-

सतीनां कुपितानां हि न किञ्चिदपि दुःकरम्।

सतियों के कुपित होने पर कुछ भी दुष्कर नहीं है।

अतः महासती को कुपित करके इस प्रकार अनर्थ के भाजन मत बनो। अपितु उत्साहपूर्वक इसे पति के पीछे-पीछे जाने दो। हे कूबर! पुर, ग्राम, नगर आदि तुम्हें सब कुछ दे दिया है। इतना ही पर्याप्त है। कम से कम सारथी सहित व पाथेय सहित रथ नल को दे दो।

अमात्यों के इस प्रकार कहने पर व्यवहार कुशल नहीं होने पर भी कूबर ने वैसा ही किया। क्योंकि-

स्यात् क्रूरोऽपि ग्रहः किञ्चिच्छुभदः शुभयोगतः।

कदाचित् शुभयोग से क्रूर ग्रह भी कुछ शुभता प्रदान कर देते हैं।

नल ने कहा-भुजबल से अर्जित लक्ष्मी को मैंने क्रीड़ा क्रीड़ा में छोड़ दिया, तो फिर रथ की स्पृहा मैं क्यों करूँ?

नागरिकों ने कहा-स्वामी! हम आपके चरणों की धूलि हैं। हम कूबर द्वारा निषेध किये जाने पर भी आपके साथ आयेंगे। जो कुछ भी आपने इस राज्य के लिए किया, उस राजा को कैसे छोड़ सकते हैं? शायद! यहाँ जो कोई अन्य राजा होगा, वह भी आपकी तरह हमारा पालन करेगा। इसलिए हे देव! हम अभी आपके पास इसलिए नहीं आये हैं। भार्या, भृत्य, मित्र व अमात्य भैमि की तरह सद्गामी होते हैं। पर राज-सुता, जिसने कभी सूर्य को न देखा हो, वह राज-वल्लभा, मृदु अंगी कैसे पथिकी भाव को प्राप्त करेगी? अर्थात् वह कैसे पैदल चल पायगी? ललाट पर तपते हुए सूर्य से कढ़ाई की तरह तपती हुई रेत के अणुओं पर जाते हुए इसके सुकोमल चरण कैसे उस भूमि का उल्लंघन कर पायेंगे? प्रसन्न होकर हे स्वामी! रथ ग्रहणकर हम पर अनुग्रह कीजिए। जिससे देवी दमयन्ती मार्ग को सुखपूर्वक पार कर सके।

तब नल दमयन्ती के साथ उस रथ पर आरूढ होकर महाद्युति के साथ चल पड़े। संपत्ति और विपत्ति में महान् पुरुष ही अचलसत्त्व बलि होते हैं।

एक वस्त्र को धारण किये भैमी दमयन्ती को देखकर पुरीजन नव-मेघों की तरह अश्रुधारा बहाने लगे। तब पीछे-पीछे आते हुए लोगों से संयम-पिपासु की तरह ममतारहित कठोर होकर निषध-अधिपति ने कहा-हमारे अपराधों को आप क्षमा करें। अब हम जाते हैं। आप सभी धैर्य धारण करें। स्वामी के दुःख से आर्त्त बने हुए उन नगरजनों ने कहा-हा! दैव! यह तूने क्या किया? इस प्रकार के दुःख दायक तुम पृथ्वी में क्यों नहीं विलीन हो गये? जगत् में इस नल के प्रति सब कुछ अनुकूल था। तुम इस महान् आत्मा के लिए प्रतिकूल हो गये। ठीक ही कहा है कि दुष्ट में तो दुष्टता ही होती है। हे दुर्दैव! कूबर भी तुम्हारे द्वारा ही अधिष्ठित है, वरना पितृतुल्य भाई के साथ क्या कोई दुश्मनी कर सकता है?

नल ने कहा-भाग्य का शोक मनाना अब बंद करो। हे लोगों! स्नेह को तजकर हृदय को निर्दयी बनाकर अपने दुःख को शिथिल करो। यह अन्य किसी का नहीं, अपितु मेरे कर्मों का ही दोष है। सभी जन अपने शुभाशुभ कर्मों के फल का ही अनुभव करते हैं। महान् आत्माएँ संपत्ति पाने के लिए ही विपत्ति को प्राप्त होते हैं। कहा भी है-

तेजोवृद्धयै न किं हेम्नः पतनं ज्वलितानले।

सोना अग्नि में तपने पर क्या अतिशय तेज को प्राप्त नहीं होता?

नल के इस प्रकार कहने पर सभी नगरजन एक साथ अश्रुधारा को बहाने लगे। भूमि पर उनके अश्रुओं की

धारा से बरसात सी होने लगी।

तब नल ने कहा-आप सज्जनों द्वारा यह पामरों का आचरण क्यों किया जा रहा है? हमारे प्रस्थान में अमंगल बननेवाले इस रुदन को बंद करो। हमारे द्वारा नये-नये देश-दर्शन के उत्साह में सहायक बनो। दुःख मत करो। तभी हम सुखपूर्वक जा पायेंगे। राजा के इस प्रकार समझाने पर वे सभी नगर को लौट गये। पर लौटे सिर्फ काया से ही, उनका मन तो अपने नृप का अनुसरण कर रहा था।

आगे जाते हुए नल ने आकाश में छाये हुए छत्र-दण्ड की तरह ५०० हाथ ऊँचा एक स्तम्भ देखा। राज्य हाथ से निकल जाने के गम को किंचित भी नहीं वेदते हुए अपने ओज के द्वारा राणा ने पद्मनाल की तरह उसे उखाड़कर पुनः वहीं उसे आरोपित कर दिया, मानो कीर्त्ति-स्तम्भ की तरह अपनी आत्मा में महाओज का प्रकाश आरोपित किया हो।

उसे इस प्रकार करते हुए ऊर्जस्वल नल को देखकर पुरजनों ने कहा-अहो! इस अवस्था में भी इस श्रेष्ठ पुरुष की शक्ति अस्त नहीं हुई।

काफी समय पूर्व जब नल व कूबर इस उद्यान में क्रीड़ारत थे, तब विवेक को धारण करनेवाले अतीन्द्रिय ज्ञानी एक मुनि वहाँ आये थे। उन्होंने कहा था कि-पूर्वभव में सुसाधु को खीर का दान करने से नल अर्धभरत का स्वामी होगा। जो इस खड़े हुए महास्तम्भ को चलित कर देगा, वह भी अवश्य ही अर्धभरत का स्वामी बनेगा। जब उन दोनों ने उस स्तम्भ को चलायमान कर दिया, तो मुनि ने कहा-ये दोनों ही अर्धभरत के स्वामी होंगे। यही एक कारण था कि नल के जीवित रहते हुए भी कोशलपुरी में कूबर राजा हुआ। मुनियों की वाणी में विसंवाद को स्थान नहीं होता। नल पुनः कोशल का राजा होगा क्योंकि इसने फिर से स्तम्भ को हिलाया है।

इस प्रकार लोगों की बातचीत को सुनते हुए नल ने कोशल देश को छोड़ दिया। फिर उसने अपनी पत्नी से पूछा कि अब हमें कहाँ जाना चाहिए? क्योंकि-

स्थानं ह्यननुसंधाय न जाल्मोऽपि प्रवर्तते।

स्थान का अनुसंधान किये बिना मूर्ख भी प्रवृत्त नहीं होता।

भीम राजा की अङ्गजा ने विचार करके कहा-हे देव! आपके साथ मैं विश्व की शोभा रूप कुण्डिनपुर जाना चाहती हूँ। तब राजा ने सारथी को तुरन्त ही वेगपूर्वक कुण्डिनपुर पत्तन जाने के लिए आदेश दिया। नल ने महाटवी में प्रवेश किया। युद्ध के लिए सदा तत्पर भील शिकारी आदि से व्याप्त वह महाटवी थी। वह अटवी प्रत्यक्ष राक्षसी के समान अत्यन्त भयप्रदा थी। राक्षसी के श्याम वस्त्रों के समान शेरों की धूत्कार पूत्कार की आवाजें ही उस अटवी के वस्त्र थे। भयंकर लाल-लाल एवं तेजस्वी नेत्रों के समान सर्पों की फणा पर रहे हुए रत्नों की ज्योति ही अटवी की आंखें थी। लम्बे काले एवं ऊंचे केशों के समान घनघोर बादल ही उसके केश थे। राक्षसी की लटकती लाल-लाल लम्बी जीभ से भयंकर मुखाकृति के समान देदीप्यमान दावानल की ज्वालाएँ ही उसकी जीभ और उससे भयंकर वन की मुखाकृति थी। हाथ में रही हुई कैंची के समान सिंह के द्वारा मारे गये सूअरों की दाढ ही कैंची थी। गले और मस्तक पर रही कपाल की मालाओं के समान महाभयंकर हिंस्र पशुओं से मारे हुए मुसाफिरों के कपाल ही उसकी मालाएँ थी। वहाँ कढ़ाई के निचले हिस्से की तरह काले यमदूतों के समान भीलों को धनुष बाण हाथ में लिए हुए देखा। वहाँ सर्प विचरण कर रहे थे। कुछ भील भूत-प्रवेश किये हुए की तरह नृत्य कर रहे थे। कोई श्रृंग को तलवार की तरह श्रृंगी के साथ बजा रहा था। कोई धारा बरसाते हुए मेघ के समान तीरों की वर्षा कर रहा था। कोई भुजा स्फोट के द्वारा तरङ्ग स्फोट का विभ्रम पैदा कर रहा था। बादलों की ओट से सूर्य की तरह नल को उन लोगों ने घेर लिया। नल भी रथ से उतरकर हाथी के समान उल्लसित करनेवाले भिल्लों को तलवार के आक्रमण

से मारने लगा। तभी वैदर्भी ने रथ से उतरकर राजा के हाथ को पकड़कर कहा-नाथ! आपके तूफानी आवेश के सामने ये तो मच्छर के समान हैं। रणभूमि में जो तलवार शत्रुओं के गजाधिराज की मुक्ताओं को मंगल करती है, वह कृपाण भीलों पर गिरती हुई क्या लज्जा को प्राप्त नहीं होगी। भैमी दमयन्ती ने नैषधि-नल को रोककर मन्त्राक्षर रूपी राक्षस के द्वारा भीलों का तिरस्कार करते हुए स्वयं हुंकार की। वे सती द्वारा की गयी हुंकार से गदा से घायल होने के समान दिग्मूढ़ होते हुए विभिन्न दिशाओं में पलायन कर गये। जयवादरूपी रथ पर आरूढ़ दम्पती उनके पीछे पीछे कुछ दूर तक जाने से रथ पीछे छूट गया।

इधर वे भील रथ को भी ले गये। क्योंकि-

प्रतिकूले विधौ कुर्यात् पौरुषं पुरुषस्य किम्?

भाग्य प्रतिकूल होने पर पुरुष का पुरुषत्व क्या कर सकता है?

तब राजा नल ने अपनी भैमी दमयन्ती का हाथ अपने हाथ में लेकर पाणिग्रहण को स्मरण करते हुए जंगल में भ्रमण किया। दर्भ के तीखे नुकीले अग्रभाग से वैदर्भी के पाँव रक्त-रंजित हो गये। लाल पाँवों से वन की भूमि को चिह्नित करती हुई वह चलने लगी। पहले दमयन्ती जब चलती थी, तो उसके सिर पर पट्टबन्ध लेकर दासियाँ साथ में चलती थीं, पर अब वह पाँवों की व्यथा से व्यथित होकर पाद-विहार कर रही थी।

वैदर्भी ने थकान से चकनाचूर होकर पसीने को बहाते हुए एक वृक्ष की छाया में विश्राम लिया। पंखे की तरह स्वयं के वस्त्र से नल ने उसे पंखा झला। तब भैमी ने कहा-स्वामी! मुझे तीव्र प्यास लग रही है। संताप से मानो सूखी हुई अमृत लता की तरह हो रही हूँ। नल ने कहा-अरे! कोई है? पयोगृहवास से सुगंधित, सरस, स्वच्छ, पानी हाथ में लेकर आओ। क्षणभर रुककर उसने आमने-सामने दायें बायें सर्वतः शून्य देखकर लज्जा से अपना मुख झुका लिया। भैमी ने कहा-स्वामी! यह आपने क्या कहा? नैषधि ने कहा-स्वामित्व के पूर्व संस्कारों से ग्रसित मुझ द्वारा यह विप्लव कहा गया है। यह सुनकर दमयन्ती की आँख में आँसू आ गये। तब राजा ने कहा-हे देवी! मत रोओ। मैं इस समय सेनापति हूँ और तुम मेरी सेना हो। अतः स्थिर बनो। मैं कहीं से पानी लेकर आता हूँ। इस प्रकार कहकर खिन्न मानस से घूमते हुए राजा सोचने लगा-कहाँ तो वह साम्राज्य! जहाँ आँख के एक इशारे से राज्य मिल जाता था। कहाँ मृग के समान अनुकारिणी यह दशा। पर यह मन, वचन या दृष्टि का पात्र नहीं है। उसीके लिए तो मनुष्यों का भाग्य घटित होता है। इस प्रकार विचार करते हुए तालाब को देखकर पत्तों के सम्पुट में वह पानी लेकर तृषित देवी को पिलाते हुए उस पर छत्री की तरह अपना अन्तःवस्त्र कर दिया।

पैदल चलते हुए पग-पग पर खिन्न होते हुए एक दूसरे के हाथ का अवलम्बन लेते हुए जैसे-तैसे पथ को दोनों जने पार कर रहे थे। मार्ग-श्रम की थकान से नहाकर उठे हुए के समान पसीने से तरबतर अंगवाली भैमी बार-बार राजा से पूछती कि अब और कितना चलना है? नल ने अश्रु भरे नयनों से कहा-देवी! यह अरण्य सौ योजन लम्बा है। अभी तक तो हमने बीसवें भाग का ही अतिक्रमण किया है। हे मार्तण्ड! ताप को अल्प करो। भैमी की कोमलता को देखो। पथ की दीर्घता का संहार करके कुण्डिनपुर को प्राप्त कराओ। हाय! श्रम से आर्त्त भीमसुता कैसे पीड़ित हो रही है!

क्षते क्षिपथ किं क्षारं दुःस्थिते किमु निंदयाः।

घावों से लहुलुहान हो जाने पर भी इन निर्दयी दुःस्थितियों का नाश क्यों नहीं होता?

हे मेघ! देवी के लिए स्वाजन्यता वश बादलों का क्षात्रपत्र क्यों नहीं धारण करते-इस प्रकार नल ने उपालम्भ दिया।

इस प्रकार बोलते हुए वे दोनों उस अरण्य में आगे बढ़ रहे थे। उनका प्रतिकार करने में अक्षम सूर्य लज्जित

होता हुआ पर्वतों के बीच अन्तर्ध्यान हो गया। तब भैमी के लिए राजा नल ने शय्या-क्रीड़ा के वास्ते वृक्ष के सुकोमल पत्तों द्वारा पलंग की रचना की। फिर दमयन्ती से कहा-हे देवी! यह पर्ण-शय्या अति कोमल है। इस पर निद्राविनोद कर के अपने मार्ग श्रम को दूर करो। देवी ने कहा-नाथ! मुझे पास ही किसी गाँव की संभावना दिखायी देती है। क्योंकि नजदीक से ही गाँयों के रम्भाने का स्वर सुनायी पड़ रहा है। अतः हमें श्मशान के समान इस अरण्य को छोड़कर वहाँ जाना चाहिए। जिससे घर में सोने के समान वहाँ निर्भीकता से सुखपूर्वक सोया जाए। नल ने कहा-इस कातर अरण्य में कोई गाँव नहीं है। किन्तु तापसों के आश्रम के समान मिथ्यादर्शनमय है। क्या दूध का विनाश करने के लिए कालिमा का समूह पर्याप्त नहीं है? अतः ऐसा मत कहो। तुम यहीं सुखपूर्वक सोओ। मैं स्वयं अंतःपुर के रक्षक की तरह तुम्हारा पहरेदार बनूँगा। तब अपने आधे वस्त्र को बिस्तर की तरह बिछाकर उस पर्ण शय्या को अर्धभरत के महीपति ने ढक दिया। पंच नमस्कार का स्मरण करके देव व गुरु को क्रम से नमस्कार करके कमल के उदर में रही हुई भृंगी की तरह वह भीम-सुता सो गयी।

वैदर्भी के निद्राधीन हो जाने पर नल को चिंता हुई-अहो! मेरा कैसा व्यसन! मैंने मन, वचन व दृष्टिपथ की उपेक्षा की। मुझ जुआरी का राज्य भ्रंश अपने ही अनुज द्वारा हुआ। मेरा व्यसन मुझे इतने ऊँचे शिखर पर ले गया कि मुझे श्वसुर गृह का आश्रय लेना पड़ेगा। हो सकता है व्यसन से आर्त्त बने मनुष्यों की ससुराल में ही गति हो। निश्चय ही व्यसनी मनुष्य दुर्गति में गिरनेवाले नर रूपी पशु है। अगर मुझे मुँह उठाकर चलना है, तो इस वल्लभा को छोड़कर मैं अवधूत की तरह अकेला अज्ञात चर्या द्वारा भ्रमण करूँगा। अपने शील के अनुभाव से इसका कुछ भी अनिष्ट नहीं होगा। क्योंकि-

शीलं सतीनां वर्मेव सर्वाङ्गरक्षणक्षमम्।

सतियों का शील कवच की तरह सर्वाङ्ग करने में समर्थ है।

इस समय यह श्रम की थकान से गाढ़ निद्रा में सोयी हुई है। अतः चला जाता हूँ। पर मेरा अर्ध वस्त्र उसके नीचे बिछाया हुआ है। अतः निर्दयतापूर्वक प्रेमबंधन रूपी इस वस्त्र के पल्ले को तलवार द्वारा काट डालूँ। अतः हाथ में तलवार लेकर बोला-अपनी सन्निधि का फल दिखाने में कृपालु की तरह तुम क्यों विलंब कर रही हो? सदयी मेरे हृदय द्वारा प्रेम ग्रन्थि छिन्न की जा रही है, फिर तुम तो निर्दयी हो। वस्त्र छेदन करने में करुणा कैसी? हस्त को सहायक जानकर उसमें तलवार ग्रहण करके दक्षिणहाथ को फैलाकर दया से आर्द्र होकर मानो नल ने अपने हाथ से कहा-हे दक्षिण हाथ! तुम व्यर्थ ही दाक्षिण हो। क्योंकि दक्षिणता रहित होकर तुमने अपने शिरोरत्न से यह अकार्य कराया है। यदि द्यूतकार मुझ द्वारा यह अकृत्य नहीं किया जाता, तो तुम कृपाण को धारण करके इस अंशुक को दो भागों में विभक्त नहीं करते।

तब अपने पट्टांशुक के दो भाग करके भैमी के पट्टांचल पर अपने रक्त से राजा ने संदेश लिखा-इस वृक्ष से दक्षिण की तरफ का मार्ग विदर्भ को जाता है एवं उत्तर का मार्ग कोशल की ओर जाता है। अतः दोनों मार्ग-पिता अथवा श्वसुर गृह में से जहाँ तुम्हें उचित लगे, वहाँ चली जाना। मैं स्वजनों के समीप अब नहीं जाऊँगा। जब तुम्हारा वरण करने आया, तब कितना समृद्धिवान् था। अब इस दशा में वहाँ जाते हुए क्या मुझे लज्जा नहीं आयगी? इस प्रकार के अक्षरों को लिखकर खेदविह्वल निःशब्द रोते हुए भरे हुए नयनों से गद्‌गद् होते हुए नल ने कहा-हे आम्र वृक्ष! हे चातकों! हे अर्जुनों! मेरे द्वारा अकार्य किये जाने के कारण को तुम सब जानते हो। मैं यह सब खुशी से नहीं कर रहा हूँ। कहाँ कूबर और नल की द्यूत खेलने की इच्छा। कहाँ कुबर की पाशों द्वारा जय! कहाँ वैदर्भी का परित्याग! यह सभी विधि द्वारा रचा गया विधान है।

इस प्रकार कहकर देवी के श्रमयुक्त मुखकमल को देखकर विचार किया-कभी भी सूर्य को नहीं देखनेवाली

(सूर्य को देखने की आशंका से रहित) मेरे सामने आज भूख प्यास से मुरझायी हुई, एक वस्त्र से ढकी हुई राजा भीम की सुपुत्री पृथ्वी पर सोयी हुई है। हा! यह सब कर्म्मचण्डाल का ही दोष है। अतः हे देवी! वज्र के समान आत्मा को कठोर बनाकर मैं जाता हूँ। कुछ कदम आगे जाकर नल ने स्वयं को निन्दापूर्वक कहा-हे पापी! चाण्डालों के अधीश नल! स्वकुलपांशन! पति भक्ति में रंजित इस महासती को अकेली इस वन में छोड़कर जाते हो। हाय! हाय! तुम इसके विश्वास की वञ्चना कर रहे हो।

इस प्रकार आत्मा का अपमान करके अंजलि द्वारा करबद्ध होकर, मस्तक पर लगाकर वनदेवता को कहा-हे वनदेवता! मेरी पत्नी की सहायता करना। हे वनदेवी माँ! सुनो! यह भीमराजा की सुपुत्री है। विधाता ने इसके शरीर की रचना करके शिल्पी गणों में अपना अग्रणी स्थान बनाया है। निर्दोष होने पर भी इस सती को इसके कठोर पति द्वारा छोड़ा गया है। अब तुम ही इसकी शरण रूप हो। नल की तरह निष्ठुर मत बनना। निद्रा से जगने पर-मेरे पति कहाँ गये? इस प्रकार विलाप करेगी। आँखों से अश्रुधारा का प्रवाह दशों दिशाओं में प्रवाहमान करेगी। ज्यादा क्या कहूँ? मेरी प्रार्थना के द्वारा तुम इसे किसी भी तरह कुण्डिनपुरी के मार्ग पर आगे बढ़ा देना। इस प्रकार कहकर, कहीं दमयन्ती जाग न जाय-इस प्रकार मन्द मन्द रोते हुए, चोर की तरह सावधान होकर चलना प्रारंभ किया। बार-बार गरदन मोड़कर अपनी सोयी हुई पत्नी के दृष्टिगोचर होने तक देखता रहा। फिर मन में विचार किया-हा! हा! अनाथ होकर सोयी हुई इसे इस गहन वन में कोई सिंह या व्याघ्र खा जाय, तो क्या होगा? अतः सूर्योदय होने तक मैं अपनी प्रिया की रक्षा करूँगा। प्रातःकाल होने पर मैं अकेला अपने मार्ग पर आगे बढ़ जाऊँगा। तभी नल ने पाँव से वस्त्र के लिपट जाने से पतितार्थ की तरह भूमि पर लोटती हुई भैमी को देखकर विचार किया-हाय! एक वस्त्रवाली भैमी एकाकी वन में सो रही है। अहो! नल की पत्नी की असूर्यदर्शिता अद्‌भूत है। हां! हां! मेरे कर्मों के दोष से यह वनचरी की तरह हुई है। जीते हुए भी मैं मृत के समान हताश हूँ। क्या करूँ? नाथ के होते हुए भी अनाथ की तरह उत्मत्त की तरह मदरहित, भूमि पर सोयी हुई यह नल के प्रलय के लिए क्या दृष्ट नहीं है? प्रबुद्ध प्राणि के साथ स्पर्द्धा करता हुआ मैं दुरात्मा इसे इस अरण्य में एकाकी छोड़कर जा रहा हूँ। सुख अथवा दुःख में साथ देनेवाली पत्नी की तरह मैं इस पतिव्रता को छलकर धोखा देकर नहीं जाऊँगा अथवा सैकड़ों विपत्तियों से युक्त इस एक ही अरण्य में स्वकर्म फलवाला जीव, मैं अपने संपूर्ण कर्मों का भोग करूँगा। यह भी आँचल में लिखे हुए मेरे आदेश को देखकर अपने स्वजनों के आवास में जाकर देवी की तरह सुख को प्राप्त करेगी। इस प्रकार विचार करके वहाँ रात्रि व्यतीत करके वैदर्भी के जगने का समय होने पर नैषधि छिपकर वहाँ से निकल गया।

पूर्व दिशा द्वारा प्रिय के आगमन की खुशी में कुङ्कुम रंग धारण करते हुए प्रभाकर की प्रकाश वेला में भैमी ने स्वप्न देखा-कि मैं प्रफुल्लित होकर फल से भरे हुए आम्रवृक्ष पर चढ़ी। भृंगी के गीत की प्रीति के वश होकर मधुर फलों का भक्षण किया। अचानक वनहस्ती के द्वारा आम्रवृक्ष जड़ से उखाड़ दिया गया। तब मैं पके हुए फल की तरह क्षण भर में ही भूमि पर गिर गयी।

इस स्वप्न से जागृत होकर भैमी ने अपने सामने नैषधि को नहीं देखा। समूह से भ्रष्ट हाथिनी की तरह दिशाओं को देखती हुई विचार करने लगी-अहो! मेरे देव ने क्रुध होकर मुझ पर अहित किया है। जो कि अलक्ष्मी की तरह मेरे प्राणेश ने मुझे यहाँ छोड़ दिया है। लेकिन ऐसा कैसे हो सकता है? कदाचित् सागर अपनी मर्यादा छोड़ दे। कदाचित् चन्द्रमा अपनी चाँदनी को छोड़ दे। तो भी नल मुझे नहीं छोड़ सकते हैं। निश्चय ही मेरे लिए मुख शुद्धि हेतु पानी लाने के लिए ही मेरे प्रेम से प्रेरित होकर कहीं अन्यत्र गये हैं अथवा कोई विद्याधरी कहीं से आकर नल को कामदेव के समान जानकर उसके साथ रमण करने के लिए उसे अन्यत्र ले गयी है। इस प्रकार वह वृक्षों की शाखाओं पर तथा ऊँची ऊँची शिलाओं पर चढ़कर देखने लगी, पर वह एक नयनाभिराम नल कहीं भी

दिखायी न दिये। इस प्रकार अनंत विकल्पों के समूह से व्याकुल होकर दिशाओं-विदिशाओं को देखती हुई अपने प्रिय को न पाकर उसे अपना स्वप्न याद आया।

उसने विचार किया कि पत्र, पुष्प, फलों से युक्त आम्रवृक्ष के समान नल नृप है। उनके राज्य, सुख आदि का संभोग मेरे द्वारा फलास्वाद के समान है। वन-हस्ती के द्वारा उस आम्रवृक्ष को उखाड़ने के समान नैषधि का भाग्य से राज्य भ्रंश होकर विप्लव होना है। मैं आम्रवृक्ष से गिरी, जिसके फलितार्थ में मेरा प्रिय से वियोग हुआ है। इस स्वप्न से जान पड़ता है कि मेरे लिए प्रियदर्शन दुर्लभ है। तब वैदर्भी ने मुक्त कण्ठ से रोना शुरु कर दिया।

स्त्रीणां प्रकृतिभीरूणां भवेद्धैर्यं किमापदि।

प्रकृति से भीरु स्वभाववाली स्त्रियों को आपत्ति में धैर्य कैसे हो?

हा! हा! नाथ! आपने मुझे क्यों छोड़ा? क्या मैं आपके लिए भारभूत हो गयी थी। अपना ही शरीर क्या खुद को भारभूत लगता है? मैं दीन होकर तुम्हें प्रार्थना करती हूँ। हे कानन देवता! शीघ्र ही मेरे भर्त्ता को मुझे प्राप्त कराओ अथवा उनका अनुगामी पथ दिखाओ। हे पकी हुई वालुका के समान पृथ्वी! फट जाओ। ताकि तुम्हारे कोटर में प्रवेश करके पाताल को प्राप्तकर मैं परम निर्वृत्ति को प्राप्त करूँ। इस प्रकार वह विलाप करती हुई अश्रु कणों को गिराती हुई, छोटी नदी के समान दृष्टि से जगत् में रहे हुए वृक्षों को सींच रही थी। तपती हुई शिला पर मत्सय की तरह नल के बिना प्रज्वलित विरह की आग कहीं भी निर्वृत्ति को प्राप्त नहीं हो रही थी। इस प्रकार वन में इधर-उधर भटकते हुए उसने अपने पटाञ्चल में लिखे हुए अक्षरों को देखा। मानो उसे अपने प्रिय की प्राप्ति हो गयी हो, इस प्रकार प्रसन्न होकर विकसित नयनों से उन अक्षरों को पढ़ा। विचार किया कि मुझे छोड़कर स्वामी देह सहित अन्यत्र गये हैं। आदेश के कथन के साथ उनका मन तो मुझमें ही समाया हुआ है। गुरु के आदेश की तरह पति के इस आदेश का बिना उल्लंघन किये यथोक्त विधान के द्वारा मेरा इस लोक में कोई भी दोष नहीं होगा। अतः पति की आज्ञा से मुझे अपने पैतृक घर ही निःशंक होकर जाना चाहिए। श्वसुर गृह तो पति के बिना स्त्रियों के लिए परिभव का कारण बनता है। इस प्रकार विचार करके नल की आज्ञा को नलवत् मानकर दमयन्ती वट वृक्ष से दक्षिण दिशा में चल पड़ी। क्षुधा से कराल शार्दुल दृष्टि से घातक, अग्नि से डरने के समान उस सती के करीब नहीं आये। अपनी छाया को ही अपना प्रतिद्वन्द्वी मानकर उसे नहीं सह सकनेवाले हाथी ने भी सिंही के समान उस सती से डरकर दूर से ही रास्ता छोड़ दिया। श्यामलता को धारण करनेवाला धूम से ध्यामल आकाश जैसे वृष्टि के स्पर्शमात्र से उपशान्त हो जाता है वैसे ही जंगल का दावानल सती की दृष्टिमात्र से उपशान्त हो गया। फणो को सिर पर धारण किये हुए धृतछत्र की तरह अवनि को आच्छादित करनेवाले सर्प उस नागदमनी सती को देखकर दूर चले गये। कोई भी उपसर्ग उसके मार्ग में उपद्रव नहीं कर सका। क्योंकि-

पतिव्रतात्वमेवेह योषितां ह्यङ्गरक्षकम्।

पतिव्रत्य धर्म ही स्त्रियों का अंगरक्षक होता है।

बिखरे हुए बालों वाली वह वन में चरवधू की तरह, सर्वांग से बहते हुए पसीने की बूँदों से ओतप्रोत जल देवी की तरह लग रही थी। काँटोंवाले वृक्षों से संघर्षित तन से निकलने वाली रक्त-बूंदों से रति की तरह वह कैसी कश्मीर की विरलछटा सी प्रतीत होती थी। अंधकार से ग्रस्त चन्द्र की कला की तरह, रास्ते की धूल से जिसकी द्युति का हरण हो गया हो, ऐसी सती दमयन्ती दावानल के भय से डरे हुए हाथी की तरह तीव्र वेग से चली जा रही थी।

कुछ दूर जाने के बाद सती ने महासुख के साधनों से युक्त राजा के समान सेनावाले वसन्त सार्थवाह के सार्थ को देखा। उसने सोचा-अपार जंगल से निकलने में महारथ रूप इस सार्थ का साथ पा लूँ, तो निश्चय ही यह मेरा

पुण्यकाल होगा। इस प्रकार सोचती हुई वह आश्वस्त होकर वहाँ खड़ी हुई, तभी चारों ओर से राक्षसों के समूह की तरह कुत्तों व चोरों द्वारा सार्थ को रोक लिया। यमराज के दूतों की तरह उन चोरों को देखकर उन्हें नष्ट करने में अशक्य सार्थिक स्तम्भित रह गये।

तब भैमी ने कहा-हे सार्थिकों! मत डरो। उसके वचनों को मन्त्रवत् सुनकर वे सार्थिक स्तम्भन से उन्मुक्त होकर क्षण भर में ही आश्वत हो गये। सती ने चोरों से भी कहा-रे! रे! जाओ! जाओ! यह सार्थ अब मेरे द्वारा रक्षित है। अतः कुछ भी अनर्थ मत करना। उस सती को भूत के समान, भूतलिये के समान, पिशाच के समान मानते हुए वे चौर वैदर्भी के सामने नहीं टिक पाये। दमयन्ती ने धनुष के टंकार की तरह हुंकार भरी, तो कौवों की तरह वे तस्कर दिशा-विदिशाओं में भाग गये।

सार्थ के लोग परस्पर बातें करने लगे कि निश्चय ही यह हमारी कुलदेवी है। अन्यथा विकराल चोरों के मुख से यह हमें कैसे खींच लाती? सार्थवाह ने भी भक्तिपूर्वक अपनी माता की तरह उसे प्रणाम करके प्रश्न किया-तुम कौन हो, माते? वन में क्यों घूम रही हो? अपने सहोदर भाई की तरह उस सार्थपति को भैमी ने जन्म से लगाकर अपना सारा वृत्तान्त सुना दिया। सार्थवाह ने कहा-देवी! तुम मेरी पूज्या हो, माता के समान हो। धार्मिक सती रूपी नल पत्नी हो। हमारी चोरों से रक्षा करके तुमने हम पर उपकार किया है। अतः हम पवित्र आवास प्रदानरूपी धर्म के द्वारा अपने पापों को हल्का करेंगे। इस प्रकार कहकर उस नल-वल्लभा को अपने आवास में ले जाकर सार्थपति देवता की तरह उसकी पूजा करने लगा।

इसी बीच उत्तम जाति के हाथी की तरह गर्जना करते हुए बादल भीमसुता को पूजाक्षण में ध्वनित वाद्य की आवाज का स्मरण कराने लगे। पृथ्वी व आकाश के इन्द्र का रोधन करने वाले काले-काले बादल सर्वत्र छा गये। भैमी को लगा कि जिनेन्द्र की पूजा में धूप से उठता हुआ धूम सर्वत्र छा गया है। अम्बर में बिजली के ताण्डव को देख देखकर देवी पूरी रात अर्हन्त प्रभु के ध्यान में विचरण करती रही। वृष्टि जल के द्वारा भूमि को रजरहित देखकर भैमी अरिहन्त की अर्चना में अपने चित्त के समान संवेग रस से पूर्ण हो गयी। तीन रात्रि तक वृष्टि की धारा अखण्ड रूप से बहती रही। वह देवी भी धर्मस्थान में स्थित की तरह शुभध्यान में अवस्थित हो गयी। बरस बरसकर थके हुए बादल ठहर गये। भीमसुता ने सार्थ को छोड़कर पुनः अपने गंतव्य की ओर प्रस्थान किया। प्राण-धारण करने के लिए वह निरवद्य फलों का आहार करने लगी। उपवास आदि तप में लीन रहते हुए पति-वियोग के दिन व्यतीत करने लगी।

जलते हुए दावानल से युक्त पर्वत की तरह, बिखरे हुए बालों वाले विकराल तलवार को हाथ में लेकर, बादलों में चमकती हुई विद्युत की तरह, मुखरन्ध्र से निकली हुई द्विजिह्वा के समान जिह्वावाले, भयानक रस के साक्षात् रूप को धारण करनेवाले अतिशय भैरव, अंधकार के समान काले, बाघ के चर्म को ओढ़े हुए, प्रेतों के अधिपति के समान राक्षस को देवी ने देखा। राक्षस ने भी उसे देखकर कहा-हे शुभे! मैं तुम्हारा भक्षण करूँगा। क्षुधा से अशक्त पेटवाला मैं सात दिनों का भूखा हूँ। सुनने में दुःखदायी उसके वचनों को सुनकर तथा कठिनाई से देखने योग्य उसे देखकर डरती हुई भी नल-वल्लभा धैर्य का आलम्बन लेकर बोली-जन्म लेते ही मृत्यु निश्चित हो जाती है अर्थात् जो जन्मा है, उसे एक न एक दिन मरना ही पड़ता है। जो अकृतार्थ होता है, उसे ही मृत्यु का भय होता है। जन्म से ही मैं परमार्हती होने से कृतार्थ हूँ। अतः मुझे मृत्यु से कोई भय नहीं है। मैं तो वैसे भी दुःखों से छूटकारा पाने के लिए दुखार्त्त होकर मृत्यु की प्रार्थना कर रही थी। नल के वियोग रूपी अग्नि से दग्ध अंगवाली मुझे खाकर तुम सुख प्राप्त करोगे। अतः देर मत करो। शीघ्र ही मुझे खा लो। मेरे द्वारा यह शरीर तुम्हें अर्पित है। क्योंकि मरे बिना दुःखों से जलांजलि नहीं हो सकती। लेकिन किसी भी पर नर ने मुझे कभी भी हाथों से स्पर्श नहीं

किया। तुम मुझे खाते हुए स्पर्श करोगे। बस! यही एक कष्ट मेरे लिये मर्मवेधी है। राक्षस उसके वचनों को सुनकर उसके सत्त्व से विस्मित रह गया। उसने कहा-हे कल्याणी! मैं तुझसे प्रसन्न हुआ। बोलो मैं तुम्हारे लिए क्या करूँ?

भैमी ने कहा-यदि मुझ पर प्रसन्न हो और कुछ जानते हो, तो बताओ कि मेरा प्रिय से संगम कब होगा?

राक्षस ने विभङ्गज्ञान से जानकर कहा-प्रवास के दिन से पूरे बारह वर्ष बाद तुम्हें तुम्हारा पति मिलेगा। पिता के घर में रहते हुए बरसते हुए मेघ की तरह वह स्वयं ही तुम्हारे संगम के लिए आयगा। तुम जंगल में क्यों क्लेश को प्राप्त होती हो? मैं तुम्हें अपने हाथों से उठाकर क्षणमात्र में तुम्हारे पिता के घर पहुँचा देता हूँ।

उसने कहा-मैं किसी भी पर-पुरुष के साथ कहीं भी नहीं जाती। तुमने मेरे प्रिय का समागम बताया, इसके लिए मैं तुम्हारी आभारी हूँ। अतः अब कुछ भी नहीं बोलते हुए तुम अन्य कल्याणकारी पथ को प्रयाण करो। वह भी अपने मूल स्वरूप को प्रकट करके उस देवी को नमस्कार करता हुआ मुदित होकर चला गया।

दमयन्ती ने भी यह जानकर कि प्रिय का समागम निश्चित है, शीलरूपी नृप के अंगरक्षकों के समान अभिग्रह धारण किया-आभूषण, अंग-राग, ताम्बूल, तथा रंगे हुए वस्त्र धारण नहीं करूँगी। जब तक प्रिय का समागम नहीं होता, किसी भी प्रकार के विगय को भी ग्रहण नहीं करूँगी।

इस प्रकार अभिग्रह धारण करके पथ पर चलते हुए उसने एक गिरिकन्दरा को देखा। अत्यधिक वर्षा होने के कारण वह सती वहाँ महर्षि की तरह ठहर गयी। फिर उसने मन में निश्चित किया कि मेरे लिए यहाँ रहते हुए अरिहन्त बिम्ब की अर्चना के बिना फल का भोजन तो क्या, जल तक पीना भी श्रेष्ठ नहीं है। तब भैमी ने स्वयं मिट्टी से शांतिनाथ प्रभु का बिम्ब बनाया। त्रिसन्ध्या में झरे हुए फूलों से स्वयं पूजा करने लगी।

वह सार्थवाह भी सती को सार्थ में नहीं देखकर चारों ओर से उसे खोजता हुआ उसी गिरिकन्दरा में आया। वहाँ उसने समाधिपूर्वक, श्री शांति प्रभु के बिम्ब की पूजा करती हुई सकुशल भैमी को देखा। उस क्षण वह द्वार पर ही द्वारपाल की तरह खड़ा हो गया और महासती के धर्मध्यान से ध्याये जानेवाले क्रिया कलापों को कौतुक से विस्तीर्ण हुई आँखों द्वारा देखने लगा। अर्चना के बाद महासती ने सार्थवाह को देखकर सुधासिक्त वाणी के द्वारा शीघ्र ही स्वागत करके उसके साथ बात-चीत की। उसके वार्तालाप को सुनकर कुछ दूरी पर रहे हुए तापस मेघ से बरसनेवाले जल के समान उसे पाने के लिए चातक की तरह आगे आये। मुद्गर के समान तीक्ष्ण धारा से मेघ बरस रहा था। विश्वम्भरा रूप स्त्रियों से अम्बुद रूप पुरुषों का संयोजन हो रहा था। लोखण्डी बाण के समान धारा से ताड़ित होते हुए तपस्वी किस दिशा में जाय इस प्रकार रणभग्न की तरह हो गये। उनको इस अवस्था में देखकर दयापूर्वक भैमी ने कहा-मत डरो। मत डरो। मैं वर्षा से तुम्हारी रक्षा करूँगी।

बरसात के उत्कर्ष को श्रृंखला में आबद्ध करने के लिए सती ने एक रेखा खींची। सतीव्रत के प्रभाव से वह रेखा परिवेष को प्राप्त होने के समान हो गयी। सती ने कहा-यदि मैं मन, वचन, काया से शीलवती हूँ तो बाहर ऋषि मण्डल के कुंड से बरसते हुए मेघ शान्त हो जाय। सती के ऐसा कहते ही सारा वातावरण इस प्रकार हो गया, मानो जल बरसा ही न हो। जल समूह से बहते हुए पत्थर स्थिर हो गये। आकाश की वृष्टि धारा से धुला हुआ गिरिराज चमकने लगा। श्रेणी के समान पृथ्वी स्निग्ध हो गयी। गड्ढे जल से पूर्ण होकर चमकने लगे। माला के फुल जगह-जगह उत्पन्न हो गये।

उसके शील प्रभाव को देखकर सभी कहने लगे-इस प्रकार की गुरुतर शक्ति मनुष्य में संभव नहीं है।

वसन्त सार्थवाह ने पूछा-हे शुभे! तुम किस देव की आराधना करती हो? जिससे जंगल में निर्भीक हो? तब देवी ने सार्थवाह से कहा-मेरे देव अरिहन्त परमेश्वर हैं। मैं नित्य उन्हीं की आराधना करती हूँ। जिसके प्रभाव से मुझे कोई डर नहीं है। अरिहन्त धर्म सम्पूर्ण अहिंसा आदि धर्मों का आधार है। उसने अति प्रौढ़ आचार्य की तरह

शुद्ध मति से कहा। उसने भी उस धर्म को सुनकर लघुकर्म रूप से अर्थात् हलुकर्मी होने से ग्रहण किया। उसके लाभ से उसने अपने मनुष्य जन्म को कृत-कृत्य माना। तापसों ने भी उसके धर्म फल को स्वयं देखा। अतः आर्हत धर्म को स्वीकार किया। कहा भी है-

धर्ममुत्तमे कस्य नादरः।

उत्तम धर्म का आदर कौन नहीं करता?

विवेकियों द्वारा अपने धर्म का त्याग करने में क्या अभिमान? अथवा-

प्राप्तखजूरखाद्यस्य यद्वा किं रोचते खलः।

खर्जूर रूपी खाद्य पदार्थ पाने के बाद तिलों द्वारा तेल निकालने के बाद बढ़ा हुआ तुष रूपी खल किसे भाता है?

सार्थवाह ने वहीं एक श्रेष्ठनगर बनाया। दमयन्ती को गुरु की तरह चाहता हुआ पर्युपासना करने लगा। पाँचसौ तापसों का संघ वहाँ प्रबुद्ध हुआ। अतः वह नगर पृथ्वी पर तापसपुर के नाम से विख्यात हुआ। सार्थपति ने कैलास पर्वत के समान महाकायवाला श्री शांतिनाथ भगवान् का चैत्य वहाँ बनवाया। सार्थवाह, अन्य व्यापारी तथा तापस आदि अर्हत् धर्म में रत होकर यथासुख वहाँ निवास करने लगे।

एक दिन मध्य रात्रि में भैमी ने उसी पर्वत के ऊपर सूर्य कृत प्रकाश रूपी दिव्य उद्योत देखा। नभ से विचरण करने वाले सुरासुर आदि को आते जाते देखा। उन्हें आकाश में पक्षियों की तरह चारों ओर व्याप्त देखा। दुन्दुभिनाद तथा देवों की मधुर ध्वनि से पुरवासी नींद से जागृत हुए और उस प्रकाश को देखकर संभ्रम होते हुए उन्मुखी भूत हुए। तब भैमी सार्थवाह तथा तापसों के साथ जानने की जिज्ञासा लिए पर्वत पर चढ़ी। वहाँ पर उन्होंने सुरासुरों के द्वारा सिंहकेसरी मुनि की केवलोत्पत्ति महिमा को करते हुए देखा। तब उन केवली मुनि को प्रदक्षिणा पूर्वक प्रणाम करके नायक के सामने सेवक की तरह मुनि के सामने बैठ गये। उन मुनि के गुरु यशोभद्रस्वामी वहाँ आये, तो शिष्य होते हुए भी केवली होने से उन्होंने उन्हें वंदना की।

सेव्यः शिष्योऽपि केवली।

केवलज्ञानी शिष्य गुरु के लिए सेवनीय है।

ज्ञानी मुनि ने भव का खण्डन करने में पाण्डव के समान मोक्ष सुख की प्रतिनिधि रूप धर्मकथा आदि के द्वारा देशना दी-हे भव्यों! इस भव अरण्य में घूमते हुए सैकड़ों बार मनुष्य भव को प्राप्त करके धर्म-सामग्री को अब पाया है। गुरु के व्याख्यान के समुद्र में यथाश्रद्धा, यथा-शक्ति अपनी आत्मा प्रवेश कराओ। जिससे स्वकर्म के विवर से निकलकर मूल आत्म स्वरूप की ओर गमन किया जाय।

भैमी ने जो उपदेश दिया, वह वैसा ही है या अन्यथारूप है-इस प्रकार कुलपति मन में विचार कर ही रहा था, तभी साधु महाराज ने उससे कहा-तुम मन में शंका मत लाओ। भैमी परमार्हती है। इसकी वाणी से निकलते हुए श्रुत अथवा श्रुत के रहस्य अन्यथा नहीं हो सकते। रेखा रूपी कवच के द्वारा की गयी रक्षा सुदृष्ट एवं विश्वास का कारण है। उसके द्वारा हुंकार मात्र से ही सार्थपति की चोरों से रक्षा हुई। इसके पातिव्रत्य धर्म तथा धर्मनिष्ठा के प्रभाव से सूनशान अरण्य में भी इसके परिपार्श्व में देव चलते हैं।

इसी बीच कोई देवता सूर्य की तरह नभ को प्रकाशमान् बनाते हुए आकर साधु को नमस्कार करके भैमी को कहा-हे माता! मैं इस तपोवन में कुलपति का कर्पर नाम का शिष्य था जो ज्वाला के समान तेजपुंज से युक्त था। ये वन तपस्वी पंचाग्नि मुख तपस्या से भावित होते हुए भी वाणी द्वारा मुझसे जरा भी खुश नहीं थे। अतः अपमान से क्रोधित होकर सिंह जैसे गुफा से निकलता है, वैसे ही मैं तपोवन से निकल गया। अंधकारमय मार्ग पर आँखों

से न दिखने पर अन्धे की तरह चलता हुआ पर्वत से अलग हुए पत्थर की तरह सहसा मैं किसी गड्ढे में गिर पड़ा। भग्नदन्त वाला मैं उस गड्ढे में सात दिन तक नारकी जीवों के समान घोर यातना सहन करता रहा। अनिष्ट वार्ता की तरह उन्होंने मेरी कोई वार्त्ता नहीं की। मेरे व्याधि रूप की तरह चले जाने से वे विशेष रूप से प्रसन्न रहने लगे। इसलिए उन तापसों के प्रति मेरी काली क्रोध की ज्वाला जलती ही रही। उनकी इस प्रकार की अवगणना मेरे लिए घी में आहुति के समान हुई। अनन्तानुबंधी क्रोध से क्रुद्ध होते हुए दुर्मनवाला मैं मरकर उसी तापसों के अरण्य में उसी गड्ढे में साँप बनकर पैदा हुआ। किसी समय आपको देखकर मैं आपको डंसने के लिए आगे बढ़ा। पर आपके द्वारा पठित नमस्कार मन्त्र से मैं गतिकीलित होकर स्तम्भित हो गया। आहत-शक्ति वाला होकर लौटकर मैं एक बिल में प्रवेश कर गया। प्राणों को धारण करने के लिए नित्य जीवों का भक्षण करने लगा। उसके बाद बरसती हुई जलधारा के बीच तापसों को उपदेश देते हुए आपको मैंने सुना। आपने अद्‌भुत धर्मदेशना दी कि जो जीवों की हिंसा करता है, वह निर्दयी, क्रूर कर्मवाला मार्गभ्रष्ट की तरह संसार में भ्रमण करता है। यह सुनकर मैं विचार में पड़ गया कि नित्य जीव हत्या में रत रहनेवाला मैं शिखा रहित साँप मरकर किस दुर्गति में जाऊँगा? तभी मेरे द्वारा किसी तापस की जटा-किरीट देखी गयी। ऊहा-अपोह करते हुए मुझे जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हुआ। अपने पूर्वभव के समस्त वृत्तान्त को आईने की तरह अपने सामने देखा। तब आत्मा की निंदा करते हुए मुझे वैराग्य उत्पन्न हुआ। शीघ्र ही अनशन धारण करके धैर्यवान् ऋषि की तरह मरण को प्राप्त किया। उसीके प्रभाव से मैं सौधर्म देवलोक में कुसुम समृद्ध विमान में कुसुमप्रभ नाम के उत्तम देव के रूप में पैदा हुआ हूँ। हे माता! अगर मैंने आपके धर्मवचनों को नहीं सुना होता, तो पता नहीं मुझे किन दुर्गतियों में भटकना पड़ता। हे माता! इस समय अवधिज्ञान से तुम्हें यहाँ स्थित जानकर धर्मदात्री को नमस्कार करने के लिए मैं यहाँ आया हूँ। हे माते! कहो, आपके लिए मैं क्या करूँ?

तभी भैमी ने कहा-भाई! तुम आर्हत धर्म का पालन करो। प्रशम भाव से उज्ज्वल उस देव ने सभी तापसों से प्रीतिपूर्वक बात करके पहले किये गये कोप विप्लव की क्षमा याचना की।

कर्मरूपी भुजङ्ग बिल के आलम्बन से भी घसीट कर दुर्गति में ले जाते हैं, अतः किसी को भी थोड़ा भी क्रोध नहीं करना चाहिए। देखो! देखो! यह कोप का ही विपाक है कि तपोनिष्ठ देहवाला कर्पर सर्पता को प्राप्त हुआ।

भैमी द्वारा पहले से ही श्रावक बने हुए कुलपति आदि ने केवली साधु के शिष्य वृत्त को देखकर साधुव्रत की याचना की। केवली ने कहा-तुम्हें मेरे गुरु दीक्षा देंगे। सूरीश्वर श्री यशोभद्रजी ही मेरे गुरु हैं।

पुनः कुलपति ने विस्मय से उत्फुल्ल नयनों द्वारा पूछा-भगवान्! वैराग्य योग से आपने कैसे व्रतों को ग्रहण किया?

तब केवली ने कहा-कोशल में नल का अनुज कूबर राजा राज्य करते हैं। मैं उनका पुत्र हूँ। उधर भङ्गा नामकी नगरी है। उसका राजा केसरी है। उसकी सुता बन्धुमती है। राजा की मुझ पर मेहरबानी थी। तात आज्ञा से राजा के घर जाकर मैं कामदेव रति की तरह उसके साथ चारित्र से चलायमान हुआ। कुछ अन्तराल से मैंने धर्मदेशना देते हुए गुरु भगवन्त को देखा। तारों से घिरे हुए चन्द्रमा की तरह वे बहुत से शिष्यों से आवृत्त थे। तब उनकी कल्याणकारी भक्ति में निमग्न होकर उन्हें वन्दना की। व्याख्यान को सुना। मनरूपी घोड़ा उनके आत्म प्रीति गीतों से सध गया। व्याख्यान के अन्त में मैंने गुरु भगवन्त से पूछा-मेरा कितना आयुष्य बाकी है? श्रुत-उपयोग के द्वारा जानकर उन्हों ने बताया कि मेरा ५ दिन का आयुष्य ही अब बाकी है। तब मैंने विचार किया-हाय! हाय! धिक्कार है मेरे प्रमाद को! मैंने दुर्लभ मनुष्य जन्म को हार दिया। और कुछ भी धर्मकार्य नहीं किया। गुरु ने कहा-शोक मत करो। तुम अभी भी व्रतग्रहण कर सकते हो। एक दिन की दीक्षा भी सभी पापों का क्षय करनेवाली है।

तब मैंने उनके परिपार्श्व में दीक्षा लेकर इस गिरि के ऊपर आकर शुक्लध्यान की अग्नि से घातिकर्मों को दग्ध करके केवलज्ञान प्राप्त किया है। इस प्रकार उनको अपना आख्यानक कहकर मुनि कृतार्थ सिंहकेसरी की तरह योगों का निरोध करके शेष कर्मों का संहार करके परम निर्वाण को प्राप्त हुए। उनके सिद्ध शरीर को देवासुर तथा मानवों ने काष्ठ व अगरु की चिता बनाकर अग्निसात् कर दिया।

सचारित्रवाले की जो गति होती है, उस सिद्धि रूप सौध को जाने के लिये कुलपति ने गुरु मुख से दीक्षा ग्रहण की। तब उन गुरु के पास दमयन्ती ने भी दीक्षा की याचना की-गुरुवर! मुझे भी शाश्वत सौख्य दाता चारित्र मार्ग पर आरूढ कीजिए।

गुरु ने कहा- हे भद्रे! तुम्हारी अभी व्रत योग्यता नहीं है। अभी भी तुम्हारे गाढ़ कर्म भोग फल बाकी हैं।

प्रभात होने पर गिरि से उतरकर गुरु ने तापसपुर नगर को अपने चरण कमलों से सूर्य की तरह पावन किया।

भैमी निष्प्रतिकर्माङ्गी होकर अति मलिन वस्त्रों को धारण करते हुए विजितेन्द्रिय मुनि की तरह वहाँ सात वर्ष तक रही। उसके अगले वर्ष में किसी पथिक ने बताया कि गुफा के पास यहीं कहीं मैंने तुम्हारे पति को देखा है। उसके वचनों को श्रवण करते ही भैमी प्रेम से विकसित चक्षुवाली होकर शरीर के कष्टकाकीर्ण होने पर भी कमल की नाल की तरह शीघ्र ही दौड़ पड़ी। कौन है? कौन है प्रियवार्त्ता को निवेदन करनेवाला महाभाग? इस प्रकार बोलती हुई अखिल दिशाओं में देखती हुई दमयन्ती आगे बढ़ने लगी। उस पथिक के शब्दों का अनुसरण करती हुई भयत्रस्त कुरङ्गी की तरह महावेग के साथ वह वन में दौड़ने लगी। शब्दमात्र को वहाँ डालकर भूत के समान छलना दिखाकर वह पथिक तो अन्तर्ध्यान हो गया। भैमी ने अपना स्थान भी त्याग दिया। प्रेमरथ पर आरूढ होकर अपने आस्थान से वह बहुत दूर चली गयी। पर उसने न तो नल को देखा, न नल की वार्त्ता करनेवाले पथिक को। तब उसने सोचा कि मैं वापस उसी गुफा में चली जाऊँ एवं धर्म करते हुए अपने दिन बिताऊँ। इस प्रकार विचारकर वह वापस लौटने लगी-लेकिन मार्ग को नहीं जानती हुई उस पारावार के समान अपार कान्तार में खो गयी। इस प्रकार दुःख पाती हुई वह मूर्च्छित होती हुई, कभी खड़ी होकर, कभी बैठकर रोती हुई, उच्च स्वर में विलाप करती हुई, विषाद को प्राप्त हो रही थी। इस प्रकार वियोग से पीड़ित उसने अनेक क्रियाओं को धारण किया। अपने दुःख के संविभाग से उसने जंगल में रहनेवाले जानवरों को भी रुला दिया।

तब उसने यमवधू के समान एक राक्षसी को देखा। उसने भैमी से कहा-मैं बहुत भूखी हूँ, इसलिए तुम्हें खाऊँगी। धैर्यपूर्वक भैमी ने कहा-अगर ऐसा ही है, तो तुम तीन कारणों से मुझे नहीं खा पाओगी।

अरिहन्त देव नित्य ही अगर मेरे हृदय में प्रासाद की तरह बिराजमान हैं तो हे राक्षसी! तुम मुझे नहीं खाओगी। तुम्हारे मनोरथ नष्ट हो जायेंगे।

सुगुरु की उपासना अगर मेरे दिल में सुगुरु की तरह है, तो हे राक्षसी! तुम मुझे नहीं खाओगी, तुम्हारे मनोरथ नष्ट हो जायेंगे।

अगर गृहस्थ होते हुए भी मैं सर्वथा सम्यग् दर्शनवती हूँ, तो हे राक्षसी! तुम मुझे नहीं खाओगी। तुम्हारे मनोरथ सर्वथा भ्रष्ट हो जायेंगे।

सती के इन वचनों को सुनकर राक्षसी वापस लौट गयी। क्योंकि-

यतः सतीनां वाक्यानि मन्त्रानप्यतिशेरते।

सतियों के वाक्य मन्त्र से भी अतिशय शक्तिवाले होते हैं।

जैसे तीव्र ताप दोष से युक्त होने पर ग्रीष्म श्री अत्यन्त दुःसह होती है, वैसे ही राक्षसी इन्द्रजाल की तरह सती के वचनों को सुनकर अदृश्यभूत हो गयी।

आगे जाते हुए सती ने जलती हुई बालुका से युक्त, अंगारों के समान पत्थरों से युक्त अग्निगंगा की तरह एक नदी को देखा। मरुभूमि के सखी के समान उसे निर्जला देखकर अति वेदना से आक्रान्त एवं ताप से क्लान्त होकर सती ने कहा-अगर मैं पवित्र अर्हत् धर्म की आराधिका हूँ एवं सत्यवादिनी हूँ तो यहाँ अमृतधारा का अनुकरण करनेवाली वारिधारा बहे। इस प्रकार की प्रतिज्ञा करके उसने जैसे ही भूमि पर पग से प्रहार किया, वैसे ही कुएँ से निकलने वाले जल की तरह वहाँ से जल की धारा उछलने लगी। उस जगह पर अद्‌भुत अमृत कुण्ड के समान जलकुण्ड हो गया। देवलोक के अमृत की तरह उसका नीर अतृप्तिवाले को तृप्ति प्रदान करने लगा।

पुनः वह भीमसुता, वनलक्ष्मी के समान अंगोंवाली आगे बढ़ते हुए थककर एक न्यग्रोध वृक्ष के मूल में बैठ गयी। तब वहाँ किसी सार्थ-नरों ने भ्रमित होकर उसको देखा और कहा-हे भद्रे! रम्भा के समान रूप वाली तुम कौन हो? उसने कहा-अपने सार्थ से च्युत होकर मैं मानवी इस कानन में भ्रमण कर रही हूँ। हे पथिकों! मुझे तापसपुर का मार्ग दिखाओ। उन्होंने कहा प्रातःकाल उठकर तुम सूर्य के साथ-साथ चलती हुई पश्चिम दिशा की ओर चली जाना। तुम्हें तुम्हारा मार्ग मिल जायगा।

हम तो पानी लेकर अभी ही चले जायेंगे। अगर तुम्हारी सार्थ में आने की इच्छा हो तो हमारे पीछे पीछे चली आओ। तब उन सार्थ नरों के साथ उसको आया हुआ देखकर सार्थपति ने पूछा-क्या तुम वनदेवी हो? उसने कहा-नहीं। तब सार्थपति ने कहा-हे भद्रे! तो फिर वन में क्या कर रही हो? भैमी ने कहा-मैं वणिक् पुत्री हूँ। पिता के घर की ओर प्रस्थान करते हुए रात्रि में निद्रा में पति के द्वारा कानन में छोड़ दी गयी हूँ। आपके आदमियों को भाई के समान समझकर उनके साथ यहाँ आयी हूँ। सार्थपति ने कहा-पुत्री! मत डरो। अब आश्वस्त हो जाओ। मैं विमल मन से करण्ड में रहे हुए पुष्पों की तरह तुम्हें बड़े यत्न से सुखपूर्वक अचलपुर ले जाऊँगा। अतः स्नेहपूर्वक उसको पुत्री की तरह रथ पर बिठाकर मध्याह्न वेला में कुंज में निर्झरिणी की तरह उस सार्थ ने प्रस्थान किया।

उस सार्थ में सुखपूर्वक रहकर रात्रि में विधिवत् सोयी। किसीके द्वारा परमेष्ठि महामन्त्र को पढ़ते हुए उसने सुना। उसने सार्थेश के पास जाकर पूछा कि इस प्रकार नमस्कार मन्त्र बोलनेवाला मेरा साधर्मी है। अतः उस धार्मिक को मुझे बताओ। श्रद्धालु धनदेव भी उसके वचन का बहुमान करता हुआ, गुरु वाक्य के समान उसके वचन को अलंघ्य मानते हुए उसके साथ उस धार्मिक के वहाँ आया। उन दोनों ने देखा कि पाट पर स्थित जिन बिम्ब की प्रमोदपूर्वक चैत्यवंदना के द्वारा वह सार्थवाह वन्दना कर रहा है। उसके पुण्य में अंतराय न पड़े इस प्रकार आशीष देते हुए सती तथा सार्थपति दोनों ने अनुमोदना के द्वारा अद्‌भुत पुण्य उपार्जन किया।

इन्द्रनील के समान नीलपट पर स्थित अर्हत् बिम्ब को देखकर भक्तिपूर्वक पूजा की तथा वन्दना की। देवेन्द्र को वन्दन करके उचित क्रियाओं को करने के बाद भैमी ने उससे पूछा-हे सदासत्त्व! आपके द्वारा कौन से तीर्थेश की अर्चना की जाती है?

उसने कहा-ये भावी तीर्थंकर हैं, उन्नीसवें होनेवाले श्री मल्लिनाथ स्वामी हैं। हे कल्याणी! इनकी पूजा में मेरी जो विशेषता है उसे सुनो।

कांची नामकी नगरी का मैं ख्यात वणिक हूँ। वहाँ पर एक बार धर्मगुप्त नाम के ज्ञानी महामुनि आये। रतिवल्लभ नाम के उद्यान में उनका पधारना हुआ। मैंने भक्तिपूर्वक उनकी सेवा, वन्दना आदि की। एक दिन मैंने उनसे पूछा कि मुझे सिद्धि कब मिलेगी? तब उन्होंने अपने ज्ञान के उपयोग से बताया कि देवलोक से च्युत होकर तुम मिथिला नगरी के प्रसन्नचन्द्र राजा बनोगे। फिर उन्नीसवें तीर्थंकर मल्लिनाथ प्रभु की वाणी से प्रबुद्ध होकर व्रत प्राप्तकर केवली होकर सिद्धि को प्राप्त करोगे। बस! तभी से मैं मल्लिनाथ प्रभु का परम भक्त हूँ। पाट पर रही हुई उनकी प्रतिमा की मैं नित्य आराधना करता हूँ।

इस प्रकार उन साधर्मिकों को अपना वृत बताकर उसने उनसे कहा कि आप भी अपना वृत्तान्त बताकर मुझे अनुगृहित करें।

धनदेव ने जो भैमी के मुख से सुना था, वही वृत्तान्त उसने अश्रुपूरित नयनों के द्वारा उस साधर्मी को कह सुनाया। भैमी तो केवल अश्रुकणों को दुष्कर्म वाली होकर आँखों से गिराती रही। कुलीन पति की तरह उसके कर्म उसका साथ ही नहीं छोड़ रहे थे। कहा भी गया है-

कर्म परं लुम्पति नाऽवधिम्।

अर्थात् पलभर की अवधि के लिए भी कर्म लुप्त नहीं होता।

उस साधर्मी ने भी उसकी इस दुःखी दशा से आक्रान्त होकर भैमी को कहा-दुःख मत करो। भोगे बिना कर्म का छुटकारा नहीं है।

सार्थ के अचलपुर पहुँचने पर धनदेव विदर्भ-सुता से पूछकर इप्सित स्थान को चला गया। वैदर्भी पुर के समीप वापी में प्यास से पीड़ित होकर बैठ गयी। पुर की नारियों ने उसे विस्मित होकर जलदेवी की तरह देखा। तभी मुँह से आग उगलते हुए सर्प के समान मगरमच्छ ने उसके बायें पैर को मुँह में जकड़ लिया। अबला तथा निःसहाय किसी के द्वारा अभिभूत नहीं होते। सती ने उसी क्षण तीन बार परमेष्ठि मन्त्र का स्मरण किया। क्षण मात्र में ही चन्दन घो के मुख से छुटे हुए सर्प की तरह उसका पैर पृथ्वी तल पर आ गया।

सती पानी पीकर हंसिनी के समान वापी से निकली तथा वापी के बरामदे में विषाद सहित बैठ गयी। गरुड़ के बैरी की तरह ऋतुपर्ण वहाँ का राजा था। उसकी पत्नी नाम से तथा अर्थ से चन्द्रयशा थी। उसकी दासियों ने उस सती को उस अवस्था में देवी के समान देखा।

रजोर्भिगुण्डिता यद्वा मणिरेव मणिर्न किम् ?

रज से युक्त मणि क्या मणि नहीं है? अर्थात् मणि ही है।

उन दासियों ने विस्मित होकर सारा वृत्तान्त अपनी स्वामिनी को निवेदन किया। नगर के बाहर नगर देवता की तरह एक नारी देवी बैठी हुई है। तब रानी ने उसे लाने के लिए आदेश दिया। इन्द्राणी की छोटी बहन की तरह वे दासियाँ उसे शीघ्र ही ले आयीं।

वह चन्द्रयशा देवी पुष्पदंती देवी की सहोदरा थीं। पर भैमी नहीं जानती थी कि ये मेरी मौसी है। चन्द्रयशा देवी जानती थी कि मेरी एक भानजी है, पर बालपन में सिर्फ एक बार देखा था, अतः उसे पहचानने में समर्थ नहीं हो सकी। देवी ने जब उस सती को देखा तो अपनी सुता की तरह लगी। क्यों न हो। पूर्वभव के सम्बन्ध भी अनजाने नहीं रहते, तो इस जन्म के संबंध अभिज्ञ कैसे न हो?

उन चन्द्रयशा देवी को देखकर दमयन्ती को भी अपनी माता की तरह के स्नेह से परम प्रीति प्राप्त हुई। समान स्वजनों से उत्पन्न भी राजपत्नी व नलप्रिया अलग अलग भी अभेद को चाहती हुई मन से तथा देह से एक ही थीं। स्नेहपूर्वक भैमी ने साश्रु नयनों से देवी के चरणों में वन्दन किया। क्यों न हो।

किमुच्यते कुलीनानां विनयव्रतपालने ?

कुलीनों का विनयव्रत पालन में क्या कहना?

देवी ने पूछा-तुम कौन हो? तब भैमी ने कहा-मैं वणिक् सुता हूँ। महावन में पति द्वारा त्यक्ता मैं अपुण्यशालिनी हूँ। चन्द्रयशा ने आर्द्रनयना नलवल्लभा को कहा-वत्से! तुम मेरी पहली पुत्री हो और उसके बाद चन्द्रवती है।

अगले दिन चन्द्रयशा ने विचार किया कि इस पुत्री के सभी गुण दमयन्ती की तरह ही प्रतीत होते हैं। पर उसकी यह दशा कैसे हो सकती है? वह इस तरह यहाँ पर कैसे आ सकती है? वह तो अर्धभरत के राजा नल की

वल्लभा है। उनका राज्य यहाँ से ४०० योजन से भी अधिक दूर है। अपने राज्य से इस राज्य की स्पर्धा करके आना भी असंभव है।

महादेवी की नगर के बाहर एक बड़ी दानशाला थी। जहाँ दुःस्थितिवालों को उस स्थिति का निवारण करने के लिए दान दिया जाता था। भैमी ने एक दिन देवी से कहा-देवी! आपकी आज्ञा हो, तो वहाँ दान देने का काम मैं संभाल लूँ। कदाचित् भोजन के लिए मेरे पति वहाँ आ जायें। देवी के आदेश से तब से प्रतिदिन भीमसुता वहाँ दान देने लगी। पति को देखने की स्पृहा अनिर्विघ्न रूप से दिन रात करने लगी। स्वच्छ भाव से प्रतिदिन प्रतियाचक को दान देते हुए पूछती कि आपने कोई भी, कहीं भी क्या इस प्रकार का, उस प्रकार का पुरुष देखा है?

उसने एक दिन दानशाला में बैठे-बैठे देखा कि बेड़ियों से बाँधा हुआ, मलिन मुखवाला व्यक्ति तलारक्षकों द्वारा डुगडुगी पीटते हुए ले जाया जा रहा है। भैमी ने पूछा-भद्रों! इसके द्वारा क्या विनाश किया गया है, जिससे कि इस प्रकार की कठिन वध प्रक्रिया इसकी की जा रही है। उन्होंने कहा-इसने चन्द्रवती के रत्नकरण्डक को चुराया है। जीवित होकर भी मरे हुए के समान इसको मारा जा रहा है। वह दीन चोर भैमी को प्रणाम करके बोला-देवी! मेरी रक्षा करो। हे शरणागत वत्सल! मैंने तुम्हारी शरण स्वीकार कर ली है। यमदूत की तरह ये मेरे जीवन को ग्रहण करने के लिए उद्यत हैं। हवा से आहत ध्वजा की तरह मेरा हृदय कम्पित होता है।

भैमी ने कहा-भद्र! अकृत्य करके भी अब मत डरो! क्योंकि-

न जीवयति किं वैद्यो महारोगेऽपि रोगिणम् ।

महारोग से ग्रसित रोगियों को क्या वैद्य जीवित नहीं करता?

इस प्रकार बोलकर अपने शील के प्रभाव से उस चोर के बन्धन छूरी से काटने के समान तोड़ डाले। तब सघन बन्धनों को लता की तरह तोड़ते हुए उद्धारक को देखकर तलारक्षक शीघ्र ही बिखरकर घर को लौट गये। उस आश्चर्य से राजा भी वहाँ बुलाये हुए की तरह पहुँच गया। विस्मय से दीर्घ हुए नेत्र कमलों के साथ उस धार्मिका को राजा ने कहा-सरल भाव से की गयी चोर की रक्षा युक्त नहीं लगती। क्योंकि-

राजधर्मो ह्यसौ शिष्टपालनं दुष्टनिग्रहः ।

राजधर्म ही शिष्ट के पालन व दुष्ट के निग्रह में सक्षम होता है।

आत्मरक्षार्थी लोग राजा को कर देते हैं। उसी धन से तस्कारादि के विनिग्रह पूर्वक लोगों की रक्षा की जाती है। अगर कृत कृपा द्वारा राजा चोरों का निग्रह न करे, तो आकाश व भूमि पर बरसने वाले के समान स्थिति वाले जल की तरह स्वेच्छापूर्ण स्थिति राजा की भी हो जायगी।

भैमी ने कहा-हे तात! अन्यायी ही शरणार्थी होता है, और वह यहाँ अपने ही न्याय से पुनः उस शरणार्थी की रक्षा करता है। मैंने दया से प्रेरित होकर ही यह कार्य किया है। अतः इस अपराध को तात द्वारा क्षमा प्रदान की जाय। तब इस उपरोध से राजा ने चोर को छोड़ दिया। चतुरता पर आरूढ व्यक्ति के लिए कुछ भी दुष्कर नहीं है।

तस्कर भी वैदर्भी के प्राणदान से, विमुक्त होकर, उसे माता के समान प्रतिदिन वन्दन करने लगा। एक दिन भैमी ने उस चोर से पूछा-हे भद्र! तुम कौन हो? किसके पुत्र हो? कहाँ से आये हो? उसने कहा-तापस प्रतिबोध से बने हुए तापसपुर नगर में वसन्त नामक सार्थवाह है। मैं उसका पिङ्गल नामक दास हूँ। जुए आदि व्यसनों में आसक्त होकर मैंने जिस थाली में खाया, उसी में छेद कर दिया। उसी स्वामी के घर में से घर का सर्वस्व चुरा लिया। पर वह चुराया हुआ धन दूसरे चोरों द्वारा मुझसे छीन लिया गया। स्वामी के साथ द्रोह करके अर्जित किया हुआ द्रव्य भोगा भी कैसे जा सकता था! अतः हे माता! मैं यहाँ आकर राजा की सेवा करने लगा। दरिद्रता इन्सान को सब ओर से घिसती है। एक बार चन्द्रवती के आभरणों की करण्डिका देखकर मेरा चित्त चलित हो गया।

क्योंकि-

स्वभावो बलवान् खलु ।

स्वभाव निश्चय ही बलवान् होता है।

जैसे बंदर ने श्रेणिक के हार को चुराया था, उस प्रकार अपहरण करके मैं अपने सर्वांग को छिपाता हुआ अनुत्सुक होता हुआ बाहर निकलने लगा। मेरे इङ्गित आकार को देखकर राजा ने सब कुछ जान लिया। कहा भी है-

चतुराः किं न जानन्ति यद्वा चातुर्यचर्यया ।

चतुर मनुष्य अपनी चतुरता की चर्या से क्या नहीं जान लेते? अर्थात् सब कुछ जान लेते हैं।

राजा के द्वारा आदेश दिये गये मनुष्यों द्वारा शीघ्र ही मैं बन्धक बनाकर वध्य भूमि की ओर ले जाया जाने लगा। तब मैंने आपको देखा। प्रत्याभिज्ञान से मैंने आपकी शरण स्वीकार की। आपने मुझ मरे हुए जीवातुर को जीवन रूप औषधि प्रदान की। आपके तापसपुर से चले जाने पर वसंत सार्थवाह देह से विरक्त हुए की तरह कुछ भी खाता-पीता नहीं था। तब वहाँ के लोगों द्वारा और कुछ गुरु के द्वारा प्रबुद्ध किये जाने पर सात दिन बाद आठवें दिन उसने आहार ग्रहण किया। अन्य किसी दिन बहुत से लोगों को लेकर वह सार्थवाह कोशलाधीश नल के अनुज कूबर के पास जाकर उसकी अर्चना की। उसने भी सार्थवाह को उस-उस प्रकार के दिव्य उपहार देकर उसी तापसपुर का भूपति नियुक्त किया एवं उसे वसन्त श्री शेखर नाम दिया। कहा भी जाता है-

उपर्युपरि लभ्यन्तेऽनुकूले हिं विधौ श्रियः ।

भाग्यश्री के अनुकूल होने पर सब कुछ उपरा-उपरी प्राप्त होता है।

कूबर से विदा लेकर वह अपने नगर को आ गया। आपकी तरह निर्मल धर्मरूपी बुद्धि से राज्य को धारण किया।

दमयन्ती ने यह सब सुनकर कहा-हे वत्स! पिङ्गल! प्रव्रज्या पथ पर आरूढ होकर दुष्कृत संसार समुद्र से तिरा जा सकता है। उसने कहा-देवी! क्या मेरा ऐसा भाग्य है कि मैं सिद्धि का संगम करानेवाली दूतिका रूपी अरिहन्त दीक्षा को ग्रहण कर पाऊँ?

तभी वहाँ साधुओं का सिंघाड़ा आया। शुद्ध भावों द्वारा शुद्ध भिक्षा से भैमी ने उनको प्रतिलाभित किया। फिर उन दोनों साधुओं को उसने कहा-अगर यह पिङ्गल योग्य है, तो इस भवारण्य को यह व्रत रूपी रथ के द्वारा उल्लंघन कर जाये। उन दोनों मुनियों ने कहा-जिसके सिर पर तुम जैसी कल्याणी का हाथ है, वह अवश्य ही योग्य है। तब उसे चैत्य में ले जाकर उनके द्वारा दीक्षा दे दी गयी।

एक बार विदर्भ राजा ने सुना कि जुए में नल को जीतकर कूबर ने राज्य ग्रहण कर लिया। नल ने दमयन्ती के साथ जंगल में प्रवेश कर गया। पर यह ज्ञात नहीं है कि वे कहीं हैं या नहीं? पुष्पदन्ती रानी ने यह सुनते ही पुत्री-जामाता की दुःखाग्नि को शमित करने के लिए रोते हुए अश्रुओं की बाढ कर दी। तब राजा भीम ने अपने स्वामी के संपूर्ण कार्यों को सफल बनाने में पटु हरिमित्र बटु को उन दोनों की खोज के लिए भेजा। वह बटु सर्वत्र ग्राम, नगर, उद्यान आदि में नल-दमयन्ती को खोजता हुआ अचलपुर नगर में ऋतुपर्ण राजा के पास आया। चन्द्रयशा देवी ने उससे पूछा-मेरी बहन महारानी पुष्पदंती तथा उनका परिवार क्षेम-कुशल तो हैं। बटु ने कहा-हे देवी! उनकी कुशल क्षेम तो केवल नल-दमयन्ती की कुशल क्षेम देखने में है। रानी ने कहा-हे बटु! कर्णकटु शब्दों को क्यों बोल रहे हो? तब बटु ने नल-दमयन्ती का सारा वृत्तान्त उन्हें सुनाया। उस वृत्तान्त को सुनकर देवी व सभी जन आँखों से नदी की धारा के समान विशाल अश्रुजल गिराने लगे। सभी लोग शोक रूपी समुद्र में निमग्न हो

गये।

उधर बटुक क्षुधापीड़ित होकर भोजन ग्रहण करने के लिए दानशाला में गया। प्रविष्ट होते ही अपने सामने दमयन्ती को देखकर प्रफुल्लित आँखों से उसे प्रणाम करते हुए परम प्रमोद को प्राप्त हुआ। दोनों हाथों को मुकुट की तरह मस्तक पर धारण करके कहा-हे देवी! आपकी यह दुर्दशा कैसे हुई? आप तुषारापात से मुरझायी हुई नाग-वल्लरी के समान क्यों दिखायी दे रही हैं? पर मेरे भाग्य से मैंने जीवित दमयन्ती देवी को देख लिया। इस प्रकार आनन्द रस के द्वारा तृप्त होता हुआ, अपनी भूख प्यास को भूलकर वह चन्द्रयशा देवी के पास जाकर बोला-देवी! बधाई हो! दमयन्ती यहाँ है जिसे दानशाला में मैंने देखा है। यह सुनकर शीघ्र ही देवी चन्द्रयशा वहाँ आयी और आकाश में रही हुई पताका की तरह दमयन्ती को गले से लगा लिया। फिर कहा-हा! हा! धिक्कार है मुझे! हे वत्से! असाधारण लक्षणों से लक्षित भी तुम्हें मैंने नहीं पहचाना। भाग्य से हुई इस दुर्दशा में मेरी बुद्धि कैसी गोपित हो गयी।

व्यसनं स्यान्न किं चन्द्रसूर्ययोर्देवयोरपि ।

क्या चन्द्रसूर्य देवों को ग्रहण नहीं लगता?

लेकिन हे पुत्री! नल ने तुम्हें त्यागा या तुमने नल को त्याग दिया? निश्चय ही नल ने तुमको त्यागा होगा। क्योंकि-

पुरुषः परुषः खलु ।

पुरुष निश्चय ही कठोर होता है।

अगर तुम्हारी जैसी पतिव्रता पत्नी के सामने भी पति व्यसन को प्राप्त हो जाय, तो भूमि रसातल में चली जायगी। इसमें कोई संशय नहीं है। हाय! नल इस गुणवती का त्याग करते हुए जरा भी लज्जित नहीं हुआ। अगर यह उसके लिये भार स्वरूप थी, तो इसे मेरे पास क्यों नहीं छोड़ा। तब तुम्हारी इस प्रकार की दुर्दशा तो न होती। अगर वह मुझे दिखायी दिया, तो मैं कभी उसे क्षमा नहीं करूँगी। सतत सहज उद्योत करनेवाला वह तुम्हारा भाल-तिलक कहाँ है? तब उसने अपने थूक से उसके भाल को रगड़ा। चमकते हुए आदर्श के समान, कसौटी से उतरे हुए स्वर्ण की तरह कांतिमान तिलक ने क्षण भर में ही अपनी कान्ति के कल्लोल से विश्व को आप्लावित कर दिया।

तब उसे वल्कलचीरी की तरह सुगंधित जल से स्नान कराकर उसकी उलझी हुई जटाओं को सुलझाया। देवदूष्य के समान अदूषित वस्त्रों से संपूर्ण चर्म सहित शरीर को निर्मल बनाने के लिए भीम सुता ने स्नेहपूर्वक अपने शरीर को आवृत्त किया। उत्साह, हर्ष से निवृत्त परिरक्षिकाओं से संवृत्त दमयन्ती के साथ देवी ने नृप के आस्थान मण्डप को सुशोभित किया। तभी गगन के आँगन का दीपक सूर्य अस्त दशा को प्राप्त हुआ। अन्धकार भूखे राक्षस की तरह संपूर्ण आकाश को खाने लगा। लेकिन राजा की परिषद में अंधकार का लेश भी प्रविष्ट नहीं हुआ। द्वार में स्थित वैदर्भी के तिलकांशुओं द्वारा वह निवारित हो गया। इस करामात को देखकर राजा ने कहा-सूर्य अस्त हो चुका है, फिर भी बिना दीपक, बिना अग्नि के सूर्य से भी अतिशय यह तेज कहाँ से आ रहा है? तब रानी ने राजा को दमयन्ती के ललाट रूपी सूर्य से तेजोरत्न महोदधि के समान तिलक को दिखाया। उसके प्रभाव को जानने के लिए राजा ने रानी को उसके ललाट पर हाथ रखने के लिए कहा। क्योंकि दमयन्ती किसी भी पर पुरुष का स्पर्श नहीं करती थी। रानी की हथेली द्वारा तिलक आवृत्त हो जाने से राजा का वह आस्थान अंधकार की खान के समान हो गया। तब रानी का हाथ हटवाकर राजा ने भैमी से उसका वृत्तान्त पूछा। भैमी ने रोते हुए नत-मुख द्वारा राज्य भ्रंशादि संपूर्ण वृत्तान्त कहा। अपने उत्तरीय वस्त्र से उसकी आँखों को पोंछते हुए रानी ने कहा-हे पुत्री! मत

रोओ। अब कोई दैव अपना प्रभाव नहीं दिखायगा।

इसी बीच कोई देव स्वर्ग से आकर के मुकुटीकृत हाथों द्वारा दमयन्ती को प्रणाम करके बोला-हे माते! मैं पिङ्गल चोर हूँ, जिसे आपने दीक्षा दिलवायी थी। मैं विहार करता हुआ तापसपुर पत्तन की ओर गया। वहाँ बाहरी प्रदेश में रात्रि को मैं प्रतिमा में आसीन था, तभी चित्ता से उठती हुई अग्नि मानो मेरा सेवन करने के लिए मेरे समीप आ गयी। उस अग्नि से जलता हुआ भी मैं धर्मध्यान रूपी अमृत को पीते हुए उस ताप को नहीं जानता हुआ शान्त चित्त से समाधिस्थ रहा। पंचनमस्कार का स्मरण करते हुए, आराधना की सम्यग् विधि करके देह का त्याग करके स्वर्ग में असुरकुमार देव के रूप में उत्पन्न हुआ। तब अवधिज्ञान के उपयोग से पूर्व भव में प्रव्रज्या प्रदान कराने में तथा प्राण दान में उपकारिणी जानकर मैं आपको वंदन करने के लिए आया हूँ। हे देवी! मेरी यह सारी दिव्य ऋद्धियाँ आपके ही प्रसाद से हैं। हे करुणानिधे! अगर आपने मुझे बोध नहीं दिया होता, तो पता नहीं मैं किन कुयोनियों में भटक रहा होता। इस प्रकार कहकर उस पुर में सात करोड़ सोनैयों की बरसात करने से गुरुपूजा की तरह करके वह पिङ्गल देव स्वर्ग को चला गया।

तब उस प्रकार के धर्मफल को प्रत्यक्ष देखकर विस्मित होते हुए ऋतुपर्ण नरेन्द्र ने भी जिनधर्म को ग्रहण किया। तब हरिमित्र ने कहा-महाराज! भैमी को अभी पितृ ग्रह जाने की इजाजत दीजिए। रानी ने भी कहा-देव! यही युक्त है। इस प्रकार राजा के द्वारा विशाल सेना सहित भैमी को पितृ-नगर की ओर भेजा गया।

पुत्री को आयी हुई जानकर पुष्पदंती रानी के साथ राजा भी तूफानी नाव की तरह तुरन्त प्रेम में अनुरागी होकर वहाँ आये। माता-पिता को देखकर भैमी शीघ्र ही वाहन से उतरी। प्रेमपूर्वक भक्ति से गुरु व देव की तरह उनके चरणों में झुक गयी। एक दूसरे में मिली हुई नदियों की तरह मां-बेटी परस्पर आलिंगन बद्ध होकर नयनों की अश्रुधारा के पूर से संपूर्ण भूतल को प्लावित बनाने लगीं। भैमी को देखकर पुरजन भी अश्रु की धाराओं से पृथ्वी को वर्षाऋतु की तरह पंकिल बनाने लगे।

फिर अश्रुओं द्वारा धुले हुए मुख से उन दोनों ने निधान की तरह संचित सुख दुःख को परस्पर कहा। अपनी गोद में आरोपित करके पुष्पदन्ती ने सुता से कहा-अभी भी मेरा पुण्य जागृत है कि मैंने तुम्हें जीवित ही पा लिया। हे पुत्री! तुम यहाँ सुखपूर्वक रहो। वहीं अपने प्रिय को देखोगी। क्योंकि चिरकाल तक जीवित रहकर मनुष्य अपने सुख का उपभोग कर सकता है। कहा भी है-

जीवन् भद्राणि पश्यति ।

जीते हुए व्यक्ति कल्याणों को देखता है।

राजा ने पुत्री को पाने की तुष्टि से बटु को ५०० ग्राम दिये। कल्पवृक्ष के समान संतोष का फल दान ही है। राजा ने बटु को कहा-अगर तुम नल को भी इसी तरह ले आओगे, तो मैं तुम्हे अपना आधा राज्य दे दूँगा। फिर राजा ने अपने नगर में सर्वत्र पुत्री के आगमन की खुशी में उत्सव आयोजित किये। विशेष रूप से देवअर्चनादि अष्ट दिन का महोत्सव करवाया। पुत्री से भी कहा-तुम उदास मत होओ। नल को पाने के लिए भी वे-वे उपाय किये जायेंगे।

इधर भैमी को अरण्य में छोड़कर नल आगे बढ़ा। घूमते हुए उसने वन निकुंज से, धुएं का समूह ऊपर की ओर उठते हुए देखा। बढ़ती हुई वह धूम्रपटल यमुना की तरह लग रही थी। मानो अपने पिता सूर्य से मिलने यमुना उपसर्पित हो रही हो। पुनः क्षणभर में ही उसके अन्दर कराल ज्वाला धधक उठी, देखने में बालों के समान काली जलती हुई ज्वाला प्रेत की तरह काँप रही थी। जलते हुए बांसों के समूह के बीच से किसी जंगली जानवर का प्रस्फूट स्वर सुनायी दिया। बिना आवाज वाले दावानल की तरह नल ने उन शब्दों को सुना-हे इक्ष्वाकु वंश के शिरोभूषण! विश्व को अभय देने में समर्थ विश्वसनीय नल! मेरी रक्षा करो। मेरी रक्षा करो। इस प्रकार मनुष्य स्वर

सुना।

अगर तुम निरपेक्ष होकर प्राणियों का उपकार करोगे, तो तुम्हारा किया हुआ उपकार व्यर्थ नहीं जायगा। व्यञ्जन के समान उस स्वर का पीछा करते हुए नल कुञ्ज के मध्य में गया। रक्षा करो-रक्षा करो बोलते हुए दन्दशूक सर्प को देखा। उसने सोचा यह सर्प मेरा कुल अथवा मेरा नाम कैसे जानता है? सर्प होते हुए भी यह मनुष्य की भाषा बोलता है-यही आश्चर्य है। नल के पूछने पर उसने कहा-अवधिज्ञान से मैं तुम्हारा कुलादि जानता हूँ। पूर्वभव में मनुष्य होने से मुझे उस भाषा का अभ्यास है।

तब अनुकम्पा से उसे खींचने के लिए लता गुल्म के अर्धभाग को नल ने श्रृंखला की तरह उसके चारों और बांधा। जैसे काँच की चूड़ियाँ स्त्रियों के हाथों में शोभित होती हैं वैसे ही राजा के द्वारा वेष्टित वह नाग अपने फण से शोभित हो रहा था। तब कृपालु नल ने खींचकर उसे तृणरहित साफ भूमि में ले गया। उसे श्रृंखला से मुक्त करने के लिए उसने जैसे ही हाथ बढ़ाया, नाग ने उसे डस लिया। उसी क्षण अनिष्ट वस्तु की तरह साँप को भूमि पर फेंककर राजा ने उसे उपालम्भ दिया-कितनी अच्छी है तुम्हारी कृतज्ञता! मुझ उपकारी का बदला तुमने अच्छे उपकार से चुकाया। क्योंकि-

होतुरप्यग्निः किं न दाहाय जायते ।

हवन की पवित्र अग्नि भी क्या दाहक नहीं होती?

दवा की तरह विष संपूर्ण शरीर में फैल गया। उसका शरीर टेढ़ा हो गया। नैषधि खण्डित चन्द्रमा की तरह हो गया। वह दावानल से युक्त पर्वत की तरह पीला पड़ गया। हाथी की तरह उसके दाँत बाहर निकल आये। जलोदर के रोगी की तरह उसके हाथ-पाँव पतले तथा पेट मोटा हो गया। वह अंधकार की तरह काला हो गया। ज्यादा क्या कहा जाय? सर्वात्मना रूप से नैषधि फूटे हुए घड़े की तरह नजर आने लगा।

उसने विचार किया कि इस प्रकार के शरीर के साथ मेरा जीना निष्फल है। अतः इसे सफल बनाने के लिए मुनिचर्या को धारण करूँ। इस प्रकार नल के चिंताग्रस्त हो जाने पर तत्क्षण वह नाग सर्पवेश को छोड़कर देवरूप में प्रकट हुआ। उसने नल से कहा-दुःखी होना बन्द करो। मैं तुम्हारा पिता निषध हूँ। जिसने तुम्हें राज्य देकर दीक्षा ली एवं मरकर ब्रह्मलोक में सुर रूप में उत्पन्न हुआ। तुम्हारी दुर्दशा जानकर माया से भुजंग का रूप धारण करके तुम्हारे अंगों को विद्रुप बनाया है। हे वत्स! यह विरूपता निश्चय ही तुम्हारे उपकार के लिए है। कहा भी है-

अग्नियोगः सुवर्णस्य वर्णिकावृद्धये न किम् ।

अग्नि के संपर्क से क्या सोने की चमक में वृद्धि नहीं होती?

तुमने सभी राजाओं को जीतकर अपने किंकर बनाकर अंगरक्षक बनाया है, वैसे ही यह विद्रुप भी तुम्हारा अंगरक्षक बनेगा। अभी प्रव्रज्या का विचार मन में मत लाना। क्योंकि तुम फिर से अर्धभरत का राज्य चिरकाल तक भोगोगे। व्रत योग्य काल तुम्हे अपने आप प्रज्ञापित होगा। क्योंकि-

कालकृता कृषिरपि भवेत् फलवती यतः ।

काल में की गयी खेती ही फलवती होती है।

हे वत्स! इस बिल्व तथा रत्नकरण्डक को ग्रहण करो। पवित्र जैन धर्म की तरह इनकी रक्षा करना। अगर तुम अपने स्वरूप को प्राप्त करना चाहो तो बिल्व को फोड़ना। तब तुम वस्त्रों को देखकर देवदूष्य वस्त्रों को पाकर विस्मित रह जाओगे। रत्नकरण्डक को खोलोगे तो इसमें हार आदि दिव्य अलंकार देखोगे। देवदूष्य वस्त्रों को पहनकर तथा मुक्ताहार आदि से विभूषित होकर तत्क्षण ही तुम्हें अपना स्व-स्वरूप प्राप्त हो जायगा।

तब नल ने पूछा-तात! मेरे द्वारा त्यक्त भैमी अब कैसी है? पिता देव ने कहा कुण्डिनपुर पहुँचने तक का पूरा

आख्यान बता दिया। फिर देव ने कहा-हे वत्स! तुम वन्य जीवों की तरह वन में घूम रहे हो। अगर कहीं जाने की इच्छा हो तो कहो। मैं शीघ्र ही तुम्हें वहाँ ले जाऊँगा। उसने कहा-तात! मुझे संसुमारपुर ले चलो। उसे वहाँ पहुँचाकर देव अपने कल्प को चला गया। नल उस पुर के पास नन्दनवन में गया। वहाँ उसने पुण्य को मूर्तरूप बनाने वाले चैत्य को देखा। उस चैत्य में नेमिनाथ भगवान् की प्रतिमा को नल ने नमस्कार करके, स्तुति करके चिरकाल तक ध्यान किया। फिर वह पुर में प्रविष्ट हुआ।

उस समय उस नगर में जंगम अंजनादि के समान मत्त हाथी हस्तिशाला से बाहर आकर स्तम्भों को कमल नाल की तरह उखाड़ने लगा। मद के अवलेप से वायु को भी सहन नहीं करता हुआ वह दुर्द्धर अपने पर किसी सवार की आशंका से मस्तक हिलाता हुआ अश्रान्त मन से दौड़ता जा रहा था। प्राणी भंजन कल्पान्त पवन की तरह वह महावृक्षों को अपनी सूंड से उखाड़-उखाड़कर आकाश में उछालता हुआ इधर-उधर रखड़ रहा था।

तब पुर के प्राकार पर चढ़कर दधिपर्णनृप ने कहा-जो इस हाथी को वश में करेगा, मैं उसकी इच्छा पूरी करूँगा। राजा के वचनों को सुनकर नलकुब्ज ने कहा-वह हाथी कहाँ है? वह हाथी कहाँ है? मैं उसे अवश्य ही क्षणभर में वश में कर लूँगा। कुब्ज के बोलते ही वह हाथी गर्जना करता हुआ वहाँ आ गया। कुब्ज ने मल्ल के समान मल्लयुद्ध करने के लिए उस गन्धसिंधुर को आह्वान किया। तब पुरजनों ने कहा-हे कुब्ज! तुम दृष्टि विष सर्प की भाँति इस हाथी के सामने मत जाओ। लेकिन गज-वशीकरण में प्रवीण होने से कुब्ज ने पीछे से, अगल से, बगल से चलकर के उस हाथी को खूब छकाया। तब अश्व को वश में करनेवाले अश्वदम की तरह, दन्दशूक को वश में करने वाले नरेन्द्र की तरह, महामात्य की तरह उसने उस गजेन्द्र को खेदित किया। बन्द आँखों से सोये हुए की तरह हाथी शान्त हो गया। जैसे बन्दर फुदककर वृक्ष पर चढ़ता है वैसे ही वह कुब्ज उछलकर हाथी पर बैठ गया। इस प्रकार गज को वश में करके, हाथ में अंकुश लेकर, उस हाथी को अपने आदेश को आज्ञा की तरह देकर उसे चलाया। लोगों ने स्मित मुख द्वारा जय-जयकार की माला पहनायी और राजा ने उसके कण्ठ में स्वर्ण श्रृंखला आरोपित की। तब वह कुब्ज उस हाथी को लेकर हस्तिसाला में आया और ब्रह्माण्ड की हस्तिशाला में अपना यश फैलाया।

समान ऐश्वर्य के पात्र की तरह प्रणिपात करके बिना किसी आशंका के वह कुब्ज राजा के पास आया। तब राजा ने कहा-हे कुब्ज! तुम्हारी हस्तिशिक्षा से तो हम बहुत प्रभावित हुए। क्या तुममें अन्य भी कोई अद्‌भुत विज्ञान है? कुब्ज ने राजा से कहा-शिष्ट व्यक्ति अपनी प्रशंसा आप नहीं करते। मैं इसी प्रकार आपको सूर्यपाक रसवती कला दिखाऊँगा।

तब कौतूहल से कहे हुए की तरह जाकर नृप ने घर से कुब्ज को सूर्यपाक के लिए चावल आदि अर्पित किये। सूर्य के आतप में थाली को रखकर सूर्यपाक विद्या जपते हुए नल ने स्वर्गलोक से आयी हुई भोज्य सामग्री के समान दिव्य रसवती को बनाया। उस प्रकार की रसवती को परिवार सहित भोग करके दधिपर्ण राजा ने प्रशंसा में अपना शिर हिलाया। अहो! इसकी सुस्वादता नयी ही है। कितनी सरसता है? अहो! अमृत भी इसके समान सर्व-इन्द्रियों को आह्लादकारी नहीं होगा।

तब नृप ने सोचा यह विद्या तो केवल नल जानता है, अतः क्या इसने नल के सौहार्द से विद्या सीखी है? अथवा क्या यह नल है? अथवा नल की हूबहू नकल है? उसका कामदेव जैसा रूप मैंने पहले देखा है। पर २०० योजन की दूरी पर नल यहाँ कहाँ से आयगा? कहां वह अर्द्ध भरत का राजा और कहाँ यह कुब्ज? नल सा अन्य कोई हो ही नहीं सकता।

राजा ने कुब्ज को खुश करने के लिए वस्त्रालंकार आदि दिये। एक लाख सुवर्णमुद्रा तथा पाँचसौ ग्राम दिये।

कुब्ज ने वस्त्रादि तथा ग्रामादि एक भी स्वीकार नहीं किया। राजा ने कहा-तुम्हारी अन्य कोई इच्छा है तो कहो। तब उसने कहा-आपके राज्य में मृग के शिकार को वर्जित कर दें। राजा ने उसके वचनों का बहुमान करते हुए वैसा ही किया।

अन्य किसी दिन एकान्त में राजा ने कुब्ज से कहा-हे भद्र! तुम कौन हो? तुम्हारी वास्तविकता क्या है? तुम कहाँ से आये हो? उसने कहा-मैं कोशलपुरी का रसोइया हुण्डिक हूँ। नल का अतिप्रिय होने से नल ने मुझे अपनी सारी कला दे दी। कूबर ने छल से नल का अखिल राज्य जीत लिया। भैमी रूपी परिवार-मात्र के साथ नल ने वनवास का आश्रय लिया। नल की विपन्न दशा को देखकर निराशा को प्राप्त होते हुए मैंने भी उस शठ अल्पज्ञानी कूबर का त्याग कर दिया।

दधिपर्ण राजा नल की दुर्दशा को सुनकर बहुत समय तक शोकमग्न रहा। वह सोचने लगा-

को वा न दूयते महदापदा ।

इस जग में कौन है, जो महान् विपत्ति से दुःखित नहीं होता।

किसी दिन दधिपर्ण राजा ने किसी कार्यवश अपना दूत वैदर्भी के पिता के पास भेजा। राजा के सौहार्द्रवश वह दूत काफी दिनों तक वहाँ रहा। किसी प्रसंग पर उसने बताया कि देव! मेरे स्वामी के पास राजा नल का रसोया आया हुआ है। नल के उपदेश से वह सूर्यपाक क्रिया को जानता है। दमयन्ती ने जब यह सुना तो वह तात के चरणों में अर्ज करती हुई बोली-देव! किसी भी प्रकार से उस सूपकार का पता लगवाइये। क्योंकि नल के सिवाय सूर्यपाक रसवती को अन्य कोई नहीं जानता। अतः छद्मवेश में कदाचित् वह नल ही होवे।

तब राजा ने कुशल नाम के कुशल विप्र को दधिपर्ण राजा के पास सूपकार की परीक्षा करने के लिए भेजा। उसका क्या रूप है। वह नल के रूप में ही है या अन्य रूप में है, कोई देव अथवा दानव नल का रूप धारण करके आया है या छद्मवेश में वह नल ही है। इस प्रकार सभी बातों का पता लगाने के लिए विप्र को भेजा।

शुभ शकुनों को प्राप्त करके उत्साहित होता हुआ वह सुंसुमारपुर पहुँचा। उसने कुब्ज को देखा और विचार किया-कहाँ नल और कहाँ यह कूबड़ा। कहाँ हंस, कहाँ कौआ? निश्चय ही विरह के संभ्रम से भैमी को इसमें नल की भ्रान्ति दिखायी दी है। फिर भी सम्यक् प्रकार से निश्चित करने के लिये राजसन्निधि में जाकर नाट्य अवसर की अभ्यर्थना करके नाटक प्रारंभ किया।

दधिपर्ण राजा अपने संपूर्ण सभासदों, परिवार, मन्त्रीश्वर जीवल, प्रतीहार और हुण्डिक सूपकार के साथ नाटक देखने आया। भैमी आदि की भूमिका में कुशल सूत्रधार नट नियुक्त किये गये। बहुत देर बैठे रहने के बाद भी जब नाटक शुरु नहीं हुआ, तो राजा ने कहा-अब क्यों देर कर रहे हो? द्वार पर स्थित है रंगजीवियों! शीघ्र ही नाटक प्रस्तुत करो। सूत्रधार ने प्रविष्ट होकर कहा-यह नलान्वेषण नाटक है, जो अभिनीत किया जा रहा है। इसे देखने के लिए सभी सावधान हो जाएँ।

नल ने अपने मन में ही विचार किया कि क्या यह नल मैं ही हूँ या अन्य कोई? हो सकता है, अन्य ही हो। क्योंकि-

यद्वाऽपारे जगत्यस्मिन्नामसाम्यं न दुर्लभम्।

इस अपार संसार में एक ही नाम की साम्यता दुर्लभ नहीं है।

राजा ने कहा-मैं सावधान हूँ। तुम शीघ्र ही इसे प्रस्तुत करो।

नेपथ्य से आवाज आती है-हे आर्यपुत्र! मेरी रक्षा करो। रक्षा करो। आकाश से गिरी हुई पृथ्वी के द्वारा धारण की हुई के समान जंगली हिंसक पशुओं से व्याप्त कान्तार में वह अकेली भयभीत हो रही है।

कुब्ज नल ने स्वयं से कहा-मुझ दुरात्मा के द्वारा अपनी प्रेयसी को कैसे गहन वन में एकाकी छोड़ दिया गया।

राजा ने कहा-महामात्य! अभी तो नाटक का उपक्रम ही है। शुरूआत में ही यह महान् कष्टवाला एवं करुणा रस से युक्त है।

नेपथ्य से गान्धार की आवाज आती है-पिंगल! इस तपस्विनी को अनुकूल करो, जिससे शीघ्र ही इसे सार्थ पति के पास ले जाया जाय।

यह सुनकर योजना बनानेवाले सूत्रधार ने सोचा-ये रंगजीवी हैं। गान्धार, भैमी व पिंगल के वेष में आचरण कर रहे हैं। यह नाटक कब कार्यान्तर में प्रवृत्त हो जावे। अतः मैं उचित काल तक यहीं रहूँगा।

यह विचार कर वह बैठ गया। तब भैमी, पिंगल तथा गान्धार प्रवेश करते हैं। गान्धारक कहता है-आर्ये! अब रोना बन्द करो। हमारा सार्थपति धनदेव है। अगर अचलपुर जाना चाहती हो, तो उसकी सन्निधिरूपी सार्थ में आ जाओ।

भैमी ने कहा-हे आर्य! मैं अपने पति की खोज करूँगी। उसने पूछा-तुम्हारा पति कौन है? भैमी ने कहा-नैषधि नल ही मेरे पति हैं।

कुब्ज नल ने अपने आप से पूछा-हे पापी नल! तुम विलीन क्यों नहीं हो जाते? अगर देवी निश्चय ही नहीं है, तो उसकी नाटक में प्रतिकृति कैसे है?

पिंगल ने क्रोधित होकर कहा-नल जैसे आर्य के द्वारा यह अनार्य कर्म क्यों किया गया? जानवरों के साथ भी ऐसा नहीं किया जाता।

अतः हे देवी! सार्थेश के पास आओ।

राजा ने हर्षित होकर कहा-साधु! साधु! हे कुशील सेवी! स्वप्न में भी कोई ऐसे नहीं छोड़ता है, जैसे तुमने इसे एकाकी छोड़ा है।

नल यह सुनकर क्रोधित होकर अस्पृश्य, अश्रव्य, अग्राह्य के समान हो गया।

गन्धार ने कहा-हे मुग्धे! तुम अपने पति की खोज कहाँ करोगी?

भैमी ने कहा-मेरे पति जल में होंगे वा आकाश में चले गये होंगे। अतः यहीं उनकी खोज करूँगी।

तब गान्धार ने कहा-हे अज्ञानी बाला! तूं मूढ़ है। जो तुम्हें नींद में सोया हुआ छोड़कर चला गया है, हे माता! उसकी इच्छा क्यों करती हो?

भैमी ने कहा-ऐसा मत बोलो। मैं आर्यपुत्र की प्राणों से भी प्यारी वल्लभा हूँ।

राजा ने कहा-उसके त्याग करने से पति का प्रेम उसने बता ही दिया है।

भैमी परिक्रमा करती हुई कहने लगी-हे सर! क्या मेरा प्रिय यहाँ नहीं है? मेरा पति यहाँ होना ही चाहिए-इस प्रकार उसने चक्रवाकी को पूछा। हे सखी! चक्रप्रिये! मुझे अपने प्रिय का आख्यान सुनाओ। वे भी प्रिय वियोग में प्रत्यक्ष ही दुःखी होंगे।

भैमी ने क्षणभर रूककर कहा-प्रिय प्रणय से गर्वित यह चक्रवाकी भी उत्तर नहीं देती। अतः सरोष उसे फेंक दी। हे दासियों! हे रथांगिका! क्या तुम भी प्रिय प्रणय में निमग्न हो? तो सुनो! मेरे भी वाणी से अगोचर प्रणयप्रिय पति था।

गांधार ने साश्रु कहा-हे आर्ये! यह यक्षिणी बेचारी क्या जाने?

तब भैमी ने कहा-ठीक है। अन्य जगह देखती हूँ। दूसरी जगह देखकर उसने पुनः कहा-भाइयों! बहनों! पिताओं! माताओं! हे कुंजर वल्लभे! शीघ्र ही मुझे प्रसन्न करो। बोलो कि यह वही है।

इस वन में नल को ढूंढती हुई भैमी को कौन देखे? वह आँखों से बहते हुए अश्रुकणों से संपूर्ण पृथ्वी पर कीचड़ की रचना करने लगी।

पिंगल ने कहा-हे आर्ये! उसने तुम्हें क्यों छोड़ा? अश्रुसहित दमयन्ती ने कहा-मैं अपना दोष नहीं जानती हूँ। शुरु से ही उनके प्रति अर्पित मैं उन्हीं के साथ वन को गयी। स्वप्न में भी मैंने पति को छोड़कर किसी अन्य की याचना नहीं की। फिर भी उनके द्वारा त्यक्ता बनी। अथवा अकल्याण को दूर करने के लिए ही आर्यपुत्र ने मेरा त्याग किया है। अथवा मुझसे विनोद करने के लिए मेरे साथ यह परिहास किया है। फिर आकाश को लक्ष्य करके भैमी ने कहा-हे नाथ! यह वन मनुष्य रहित है। मैं अकेली भयभीत हूँ। अतः खेल खेलना बंद करो। शीघ्र आओ नाथ! शीघ्र आओ।

आकाश में प्रतिध्वनि सुनकर-मुझे क्या बोलते हो? अहो! मैंने इन्हें पा लिया-इस प्रकार वेग से भैमी दौड़ी।

गान्धार ने कहा-हे वैदर्भी! यह सुनी जानेवाली तुम्हारी आवाज की प्रतिध्वनि है। तुम्हारे उच्चारण के आवेग से उत्पन्न हुई ध्वनि है। तुम्हारे द्वारा स्वयं नल शब्द नहीं सुना गया है।

दमयन्ती ने पूछा-आर्य! तो यह क्षण भर के विलंब से कैसे सुना जाता है?

जब दमयन्ती ने गान्धार के प्रति आर्य शब्द का प्रयोग किया, तो गान्धार ने कहा-अभी-अभी तुमने क्या कहा? अर्थात् तुम्हें प्रज्ञप्ति करने की मेरी शक्ति नहीं है। इस प्रकार दमयन्ती के द्वारा ज्ञापित किया गया।

तभी अपनी छाया को देखकर भैमी ने सहसा उच्च स्वर से कहा-भाग्य से मैंने आपको देख लिया। हे नाथ! इस समय कहाँ जाते हो? दौड़ती हुई शीघ्रता से वह एक क्षण के लिए सीत्कार करके रुक गयी। पाँव दर्भांकुश से विद्ध हो जाने के कारण उसने साश्रु नयनों से गान्धार से कहा-मेरे पाँव का काँटा निकाल दो।

उसी क्षण वापस कहा-रूक जाओ। रूक जाओ। मैं स्वयं ही निकाल लूंगी, क्योंकि मैं पर नर का स्पर्श नहीं करती।

राजा ने शीघ्रता से उठकर उस सती को नमस्कार किया। जीवल ने कहा-देव! यह क्या है? आप अपने सिंहासन पर बैठिये। यह तो नटों की नाट्यकला है। राजा लज्जित होता हुआ वापस बैठ गया।

नल दुःखपूर्वक साश्रुनयनों से अपने मन में ही विचार करने लगा-मैं बधिरता को धारण कर लूँ। दृष्टि की बन्ध्यता को पा लूँ। क्योंकि उसे रोते हुए न सुना जाता है, न ही उसकी दुर्दशा को देखा जाता है।

गन्धार ने अश्रुपूर्वक कहा - हे पृथ्वी देवी! दैव वश से यह राजकन्या आज पादचारी हो गयी है। तो क्या इसे दर्भसूचियों के द्वारा बींधा जाना चाहिए? स्त्रियों की आपदा में अन्य स्त्रियों का सहायता करना ही उचित है। निर्बाध क्षितिपति ने जो किया, वह तो पुरुष की कठोरता है।

मन्त्री ने रोष सहित खड़े होकर कहा-हे कुशील पांसन! जिसने पतिव्रता का त्याग किया, उसे भी क्षितिपति बोलता है?

राजा ने कहा-हे अमात्य! स्वस्थ होओ। यह तो नाटक है।

तब अमात्य नल को क्षितिपति कहने के प्रति लज्जित होकर बैठ गया।

नल ने कहा-वन में इस स्त्री को एकाकी छोड़ने में हे राजन्! नल का दोष नहीं है।

राजा ने कहा-तो फिर किसका दोष है? जो इसकी दुर्दशा देख रहे हैं, क्या उनका दोष है?

नल ने कहा-नहीं। उनका भी दोष नहीं है, अपितु यह तो दिशापालों का न्याय है। कर्मचण्डाल ने तो उसी समय भस्मसात कर दिया।

राजा ने रोषपूर्वक कहा-हे दण्डिक! तुम वृथा ही लोकपालों को उपालम्भ देते हो, लेकिन उस पापी को नहीं

देखते हो।

पिंगल ने कहा-हे आर्ये! तुमने अपने पति को नहीं पाया है, बल्कि यह तुम्हारी ही प्रतिछाया है।

तब दमयन्ती ने कहा-आर्य-छाया की तरह क्या ये मेरे आर्यपुत्र नहीं हैं। सत्य ही उनके द्वारा त्यक्त मैंने अपनी छाया को देखकर ही कहा होगा।

हे हार! मेरे गले से विहार कर जाओ। मुझे फूल नहीं चाहिए। इनका स्पर्श मुझे पीड़ा प्रदान करता है। नल के बिना सभी श्रृंगार मुझे अंगार के समान लगते हैं।

राजा ने सहसा ही उठकर कहा-धन्य है पतिव्रता! धन्य है।

प्रायेण विशारूणि प्रेमाणीह शरीरिणाम्।

इसके शरीर के अणु-अणु में पति-प्रेम भरा हुआ है।

विशेष रूप से तुम पति को खोजना बन्द करो। यहाँ आओ। तुम हमारी सुता, माता अथवा देवता हो।

सपर्ण ने कहा-हे देव! यह बार-बार व्यामोह क्यों हो रहा है? यह तो देव को बताने के लिए नट की विभीषिका है। अतः हे देव! अपने आसन को अलंकृत कीजिए। राजा सलज्ज होकर बैठ गया।

नल विषाद से ग्रस्त हो गया। हे पृथ्वी! प्रसन्न हो। पाताल जाने के लिए मुझे विवर दिखा। फणीन्द्र के विष से मूर्च्छित के समान मुझे कुछ भी होश नहीं है।

भैमी कुछ देर भ्रमण करती रही। पर ललाट पर तपते हुए सूर्य के आतप के कारण आगे जाने में समर्थ नहीं हुई। तब सूर्य को देखकर उसने कहा-हा! देह को जलानेवाली किरणों के द्वारा हे सूर्य! मुझे क्यों जलाते हो? अगर नैषधि करुणारहित हो गये हैं, तो क्या तुम भी उसी तरह हो गये हो?

राजा ने शीघ्र ही कहा-हे भैमी! तूं पतिव्रता स्त्रीरत्न है। उस पापी पति का नाम बार-बार मत ले। उसके नाम के श्रवण मात्र से हम सभी परिषद कुशीलवाले हो जायेंगे।

नल ने क्रोधित होकर कहा-राजा! यह आपने अज्ञात रूप से क्या कह दिया। वह महाक्रूर नल मैं ही हूँ जिसने देवी को छोड़ा है।

राजा ने संभ्रम होकर कहा-तुम कौन हो? कहो।

नल ने अपने आप से कहा-अहो! विषाद से ग्रस्त होकर मैंने कैसे अपने आपको प्रकट कर दिया। प्रकट में कहा-मैं सूपकार दण्डिक हूँ।

राजा ने कहा-फिर तुमने ऐसा क्यों कहा कि मैं नल हूँ।

नल ने कहा-मेरे द्वारा इस प्रकार कहा गया या नहीं-इस प्रकार नाट्यरस के आवेश से सुनने में कुछ संशय है।

राजा ने कहा-निश्चय ही भ्रान्ति हुई है। अन्यथा कहाँ तो वह कामदेव के मूर्त्त रूप के समान नरेन्द्र नल और कहाँ यह सर्वांग से विकृत आकृति!

तब नल ने विचार किया कि दृष्टि सूर्य, युगान्त सूर्य या भवसूर्य से मैं अपने पापों को भस्म कर डालूं अन्यथा मैं खुद भस्म हो जाऊँ।

तब पिंगल ने कहा-हे भद्रे! अगर सूर्य की किरणें बाधित कर रही हैं, तो पास में ही सहकार निकुंज है, वह शीतल है, अतः वहाँ प्रविष्ट हो जायें।

गन्धार ने आगे आकर कहा-देवी! इधर से आयें। इस प्रकार सभी चलने लगे। गन्धार वहाँ देखकर भय से लौट गया।

उसने आर्या से कहा-जल्दी लौटो। जल्दी लौटो। क्षुधा प्यास से व्याकुल उत्ताल कुक्षि वाला कराल केसरी सामने बैठा है।

भैमी ने कहा-हे आर्य! भाग्यवशात् सिंह ही मुझे मेरे दुःख से मुक्त करायगा। अतः हे पिंगल मेरे दुःख को नष्ट होते हुए देखो।

भैमी को सिंह के पास जाते हुए देखकर नल संभ्रमित होता हुआ सोचने लगा कि सिंह देवी को मारने के लिए कैसे समर्थ होगा। हा! यह वीरांगना मारी जायगी। अतः उसका निषेध करने के लिए उठकर के ऊँची आवाज में नल बोला-यह एकाकिनी, मार्ग श्रम से थकित, वियोगिनी अबला है। इसका घात करने में तुम्हारा क्या शौर्य है? अथवा इस अबला के भक्षण से क्या तुम्हारी भूख शान्त होगी। यह सिंह मेरी आवाज सुनकर भी क्यों नहीं लौटता है? तब उसने अपने मद के योग से देवी की रक्षा के लिए कहा-हे सिंह! तुम्हें क्या तीव्र भूख से कुछ भी भान नहीं है? अगर है, तो उसे छोड़ दो एवं मेरा भक्षण करो। मैं पतित हूँ तथा तुम्हारे सामने हूँ।

इस प्रकार कहकर नल रंगभूमि में जाने को उद्यत हुआ।

तभी राजा ने कहा-हे हुण्डिक! भ्रम में मत पड़ो। यह तो केवल नाटक मात्र है।

नल ने लज्जापूर्वक विचार किया-शोक से मेरे द्वारा यह क्या किया गया? अपने आपको प्रकाशित कर दिया। पर कोई बात नहीं। राजा पूछेगा-तो कह दूँगा कि करुणा के अतिशय स्वरूप ही मैंने ऐसा कथन किया।

सिंह के पास जाकर भैमी ने कहा-हो री! मेरे प्रिय सुविख्यात हैं। पर वह कहीं भी दिखायी नहीं दे रहे हैं। अतः मेरा भक्षणकर तुम अपना प्रिय करो।

वैदर्भी के इस प्रकार कहने पर भी वह सिंह शीघ्र ही पश्चात्ताप पूर्वक पराङ्मुख हो गया।

राजा ने कहा-हे हुण्डिक! दीप के जलने से अन्धकार की तरह इस सती के पतिव्रत रूपी व्रत के प्रभाव से यह सिंह स्वयं ही चला गया।

नल ने विचार किया कि अच्छा हुआ, जो अनिष्ट स्वयं ही टल गया। देवी का शौर्य व्यर्थ नहीं गया। इस प्रकार सोचकर उसने उठकर कहा-हे नटों! इसकी प्राण रक्षा के लिए इसका सत्त्व कितनी बार स्फुरित होगा? स्फुरित होता हुआ भी कितनी बार सफल होगा? अतः यह न तो आस्था के योग्य है, न ही उचित है। जिस नाटक में राजा स्त्री वध देखने के लिए समर्थ नहीं है, वह नाटक ही नहीं है।

मन्त्री ने कहा-हुण्डिक! तुम बार-बार क्यों अपने आपको भूल जाते हो? यह साक्षात् नहीं है, नाटक है। इस प्रकार मन को दृढ़ बनाकर स्व स्थान पर बैठ जाओ।

भैमी ने कहा-इसने भी मुझे दुःखमुल क्यों नहीं किया? मेरा सहकार होने पर वह स्वयं ही पालतु की तरह लौट गया। हे दिशाओं! देखो! हे आर्यपुत्र! इस कृपालु ने भी मुझे शरण नहीं दी। बिना दोष के आप द्वारा छोड़ी गयी मैं अशरण हूँ। हे वनदेवी! मेरी यह दशा आर्यपुत्र को कह देना। हे तात! हे मात! जान लेना कि अपनी सुता अब नहीं है।

इस प्रकार कहकर अश्रुओं को बहाते हुए लतापाश को गले से बाँधकर लटक गयी।

राजा ने उठकर संरम्भपूर्वक हाथ मस्तक पर रखते हुए कहा-हे महासती! रूक जाओ! आत्महत्या मत करो।

सपर्ण ने भी कहा-यह क्या है? शुभे! यह क्या है?

जीवल ने भी कहा-हे आर्ये! प्राणों को व्यर्थ ही मत त्यागो।

नल ने भी शीघ्र ही उठकर कहा-बस करो, देवी! बस करो। अति साहस मत करो। मुझ पापी के पाप संभार को अपने आत्म-वध से मत बढ़ाओ। मुझ मर्यादारहित पापी ने पतित्व के विपरीत कार्य किया है। हे सती-भूषण!

तुम वृथा ही क्यों मर रही हो?

गन्धार ने सती को देखकर भय से संभ्रमित होते हुए शीघ्र ही कहा-अभी तक इसका श्वास चल रहा है। हे पिंगल! पिंगल! लता पाश को काटो। शीघ्र काटो। पिंगल ने वेगपूर्वक दौड़कर पाश को काट दिया, तभी वैदर्भी मूर्च्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़ी।

गन्धार ने कहा-हे पिंगल! यह उस सार्थपति को नहीं देखती हुई (प्रियात्मा रूपी) विपत्ति में पड़ जायगी। अतः इसे सार्थपति के पास ले चलते हैं, जिससे क्रमपूर्वक यह अपने इच्छित को प्राप्त करेगी।

इस प्रकार कहकर वे दोनों उस प्रकार करके रंगभूमि से निकल गये।

तब राजा ने ऊपर देखकर कहा-रवि अस्त कैसे हो गया? रसातिरेकता से हमारे द्वारा सान्ध्य विधि भी लंघित हो गयी। सामने देखकर कहा-नाट्य कर्म अति कुशल है। सपर्ण व अमात्य को आदेश दिया-हे! तुम इन्हें कृतार्थ करो। हम इस समय युगादिदेव की सायंकालीन पूजा करेंगे। इस प्रकार कहकर सभी निकल गये।

नाट्य के बीच हुण्डिक ने जिस प्रकार से आर्द्र होकर कहा था कि मैं नल हूँ-यह देखकर कुशल विप्र समझ गया कि इस वेश में छिपा हुआ यह नल ही है। अतः उसने उस नल से स्फुट कहा-क्या तुमने भीम भूपति को बताया कि तुम सूर्यपाक विद्या को जानते हो? दधिपर्ण राजा ने तो विशिष्ट रूप से कह दिया कि तुम ही छिपे हुए नल हो। भैमी ने भी प्रार्थना की, जिसके कारण तुम्हें देखने के लिए मुझे भेजा गया है। भाग्य में हुए अनुकूल शकुनों ने तुम्हें नल के रूप में प्रकट कर दिया है। हे कुब्ज! केवल तुम्हारा रूप ही विसंवाद रूप है। नल की सारी अतिशायिनी कलाएं तुझ में हैं।

कुब्ज ने कहा-कहाँ वह नल और कहाँ मैं। बताओ, क्या नाटक में रस से युक्त होकर कोई भी क्या उस प्रकार नहीं बोल सकता?

इस प्रकार बोलकर उसे घर ले जाकर पुनः भैमी की कथा पूछी। देवी के स्नेह से उसे वस्त्रालंकार आदि देकर संतुष्ट किया। जहाँ प्रियजन रहते हैं, वहाँ से अगर कौआ भी आता है, तो हर्ष होता है। फिर यह तो भैमी द्वारा प्रेषित नर था।

कुशल ने कुण्डिनपुर जाकर कुशलतापूर्वक कुब्ज के स्वरूप को सम्पूर्ण रूप से भीमराजा के सामने निरूपित किया। स्वर्ण श्रृंखला, एक लाख स्वर्णमुद्रा, आभरण आदि को कुब्ज ने दिये थे तथा नाट्य लीला से जो स्वर्णाभूषण प्राप्त हुए थे, वे सभी बताये।

दमयन्ती ने कहा-तात! उनकी उस प्रकार की देह, कर्म के वश अथवा किसी प्रकार के आहार ग्रहण करने से भी तो हो सकती है। सूर्यपाक की सामर्थ्य, हस्ती-शिक्षा में निपुणता, अद्‌भुत दानशीलता-ये सभी बातें नल के सिवाय अन्य किसी में नहीं हो सकती। किसी भी प्रकार से, कैसे भी आप उस कुब्ज को यहाँ बुलायें, जिससे मैं उसकी भावपूर्वक परीक्षा कर पाऊँ।

भीमराजा ने कहा-हे पुत्री! तुम्हारे झूठे स्वयंवर का आमंत्रण देकर सुंसुमार पुर के राजा को यहाँ बुलाता हूँ। लक्ष्मी में विष्णु की तरह तुम में वह पहले भी अनुरक्त था, अब भी शीघ्र ही तुम्हारे स्वयंवर को सुनकर जरूर आयगा। उसके साथ ही वह कूबड़ा भी निश्चय ही आयगा। क्योंकि अगर वह नल है, तो तुम्हारे पुनः स्वयंवर को सहन नहीं कर पायगा। नल अश्व-हृदय का ज्ञाता है। उसकी प्रेरणा से घोड़े अपने स्वामी के मनोनुकूल रथ के साथ स्पर्द्धापूर्वक दौड़ते हैं। प्रातः स्वयंवर है-ऐसा कहलवाने पर अगर वह प्रातः ही यहाँ आ जाता है, तो निश्चित रूप से वह नल ही है।

तब भीम नरेन्द्र के द्वारा भेजा हुआ दूत चैत्र के शुभ चतुर्थी के दिन सुंसुमारपुर गया। दधिपर्ण के आस्थान

मण्डप में जाकर बोला-हे देव! देवी दमयन्ती का स्वयंवर कल प्रातः पुनः आयोजित किया जा रहा है।

राजा ने यह सुनकर विचार किया कि भैमी मुझे पहले भी इच्छित थी। लेकिन मैं पक्षी की तरह उड़कर वहाँ कैसे पहुँचुं?

कुब्ज ने विचार किया-वैदर्भी अपने शील का लोप कभी नहीं करेगी। युगान्त होने पर सागर अपनी मर्यादा छोड़ सकता है, पर भैमी ऐसा नहीं कर सकती। फिर भी असंभव होने पर भी भैमी का मन कदाचित् चलित हो जाय! पर मेरे जीते जी कोई अन्य उसको ग्रहण करने में कैसे सक्षम हो सकता है? मैं छह प्रहर में ही दधिपर्ण को वहाँ ले जा सकता हूँ। उसके साथ इस प्रकार मेरा भी वहाँ जाने का प्रसंग प्राप्त होगा।

तब उसने कहा-हे राजन्! दुःख न करें। इसका निदान कहिए कि अब क्या करना चाहिए?

राजा ने कहा-एक बार दमयन्ती मेरे हाथ से निकल गयी थी। अब फिर प्राप्त होने वाली है। पर करोड़ों मुक्ताओं का मूल्य भी उस कार्य को सफल बनाने में सक्षम नहीं है। स्वर्ग प्रवेश करने के समान मंगल क्षण उपस्थित हुआ है कि दमयन्ती का पुनः स्वयंवर है। पर कल ही है। यह खेद का विषय है। काल बहुत कम है और मार्ग बहुत ज्यादा है। दूत भी यह संदेश लेकर अभी आया है। तो वहाँ कैसे जाया जायगा? यह सोचकर भैमी के लिए मन खिन्न होता है।

कुब्ज ने कहा-हे महीपति! दुःख मनाना बन्द करो। शीघ्र ही मुझे अश्वसहित रथ दो। जिससे मैं आपको प्रातः ही कुण्डिनपुर पहुँचा दूँगा।

राजा ने सोचा-यह सामान्य मनुष्य नहीं है। जरूर कोई देव या विद्याधर है। इस प्रकार विचार करते हुए उसने जैसा कहा वैसा ही रथ अर्पित किया।

कुब्ज ने उच्च जाति वाले अश्वों से रथ को व्यवस्थित करके नृप से कहा-यहाँ आकर बैठिये, कल का सूरज आप कुण्डिनपुर में देखेंगे

राजा के छत्र को धारण करनेवाले दो पुरुष, दो चामरधारी, राजा तथा छठवाँ कुब्ज-ये छः लोग रथ पर आरूढ़ हुए। रथ के मध्य भाग में वस्त्र द्वारा बिल्व फल तथा करण्डिका को बाँध करके कुब्ज ने देव गुरु को स्मरण करके, रथ को रवाना किया। नल के द्वारा प्रेरित अश्व देव-अश्वों की तरह पृथ्वी को स्पर्श न करते हुए चलने में आकर्षित हुए। रथ के तीव्रतापूर्वक गमन से दधिपर्ण राजा का उत्तरीय हवा के द्वारा चोट की तरह उड़ा लिया गया। दधिपर्ण ने कहा-हे कुब्ज! हवा ने मेरे वस्त्र को उड़ा लिया है। मैं जब तक वस्त्र को मंगवाऊँ तब तक रथ को रोको।

उसने कहा-आपने जब तक मुझे वस्त्र की वार्त्ता कही, तब तक यह रथ पच्चीस योजन आगे आ गया है। मैं जब तक इन उत्तम अश्वों को मध्यम गति में लाऊँगा तब तक उतने काल में ये उससे भी दुगुना रास्ता पार कर लेंगे।

फलित वृक्ष को दूर से ही देखकर राजा ने कुब्ज से कहा-इस वृक्ष की फल संख्या को मैं तुम्हें बिना गिने बताऊँगा। लौटने पर तुम लोग इसका कौतुक देखोगे। इस समय स्वयंवर है। अतः समय बिताना योग्य नहीं है।

कुब्ज ने कहा-राजन्! समय की देरी के लिए मत डरो। मुझ जैसे सारथी के रहते हुए कुण्डिनपुर अब दूर नहीं है। मैं मुष्टि के प्रहार मात्र से, विश्वभूति ने जैसे कपित्थ के फलों को गिराया था वैसे ही इन सभी फलों को आपके सामने गिरा दूँगा।

दधिपर्ण ने कहा-तो फिर देर किस बात की? ये फल अट्ठारह हजार की संख्या में हैं। इसमें कोई संशय नहीं है।

कुब्ज ने आकाश से बरसते हुए ओलों की तरह उन फलों को गिराया और गिना। राजा द्वारा कही हुई बात

सच निकली। राजा के याचना करने पर कुब्ज ने राजा को अश्व विद्या दी और स्वयं फल संख्यान विद्या ग्रहण की।

सूर्योदय के साथ ही रथ कुण्डिनपुर के समीप पहुँच गया। दधिपर्ण नगर को देखकर मानो भैमी को प्राप्त कर लिया-इस प्रकार खुश हुआ।

उधर भैमी ने सोते हुए अंतिम रात्रि में स्वप्न देखा। तब उसने स्वप्नपाठक की तरह अपने पिता को रात्रि में देखा हुआ स्वप्न निवेदन किया-हे तात! मैंने आज साक्षात् शांतिनाथ प्रभु के शासन की अधिष्ठात्री यक्षिणी निर्वृत्ति देवी को देखा। उसके द्वारा कोशल उद्यान यहाँ लाया गया। आकाश से दिव्य जल की वर्षा हुई। मैं वृक्ष पर चढ़ी। उस देवी द्वारा लक्ष्मी के निवास करने योग्य कमल मुझे दिये गये। पूर्व में आरूढ़ हुए पक्षी पके हुए पत्तों की तरह गिर गये।

उसके स्वप्न को सुनकर भीमराजा ने कहा-हे पुत्री तुम्हारा स्वप्न सत्फलदायक है। तुमने जो निवृत्ति देवी देखी, वह अद्‌भुत पुण्यराशि है। कौशल के ऐश्वर्य के लाभ के समान कोशल उद्यान का दर्शन है। आकाश से दिव्य जल की वर्षा राज्य की प्राप्ति की सूचना देता है। वृक्ष पर चढ़ने के समान तुम्हारा नल से संगम होगा। पक्षियों के गिरने के समान कूबर का राज्य से पतन होगा। इस प्रकार इस स्वप्न के दर्शन से तुम्हें नल शीघ्र ही प्राप्त होगा।

तब दधिपर्ण का रथ नगर द्वार के समीप आया। मंगल नामके पुरुष ने भीमराजा को उसका आगमन बताया। राजा भीम ने भी सामने जाकर मित्र की तरह उसको गले से लगाया। उसको आवास आदि उपलब्धकर अतिथि की तरह आतिथ्य किया।

भीम ने कहा-तुम्हारा कूबड़ा सूपकार सूर्यपाक विधि को जाननेवाला है। यह वार्त्ता अति आश्चर्यकारी है। सो मैं अभी इस कुब्ज के द्वारा सूर्यपाक रसवती बनवाना चाहता हूँ।

दधिपर्ण ने मुख से हाँ का शब्द निकलते ही कुब्ज ने भी तत्क्षण अमृत रस के समान सूर्यपाक रसवती तैयार कर दी।

दधिपर्ण तथा भीमराजा ने सपरिवार देवों को भी दुर्लभ ऐसे भोजन को ग्रहण किया। भैमी ने भी वह भोजन मंगाकर ग्रहण किया। पूर्व में खाये हुए भोजन के समान स्वाद पहचानकर उसने पहचान लिया कि वह कूबड़ा नल ही है। उसने कहा-यह नल ही है। पहले ज्ञानी ने कहा था कि नल के सिवाय सूर्यपाक विधि इस भरत क्षेत्र में कोई नहीं जानता। क्रीड़ा के द्वारा, लज्जा के द्वारा, मन्त्र अथवा तन्त्र से इसकी अंग विकृति होने पर भी वह नल ही है, इसमें कोई संशय नहीं है। नल की अंगुलि के स्पृष्ट मात्र से ही मैं रोमांचित हो जाती हूँ। नल के हाथ की बनी हुई सूर्यपाक रसवती खाकर भी मुझे वैसा ही प्रतीत हो रहा है। अतः वह नल ही है।

जब उससे पूछा गया तो उसने हंसकर कहा-राजा को भी भ्रम हो गया था। पर कहाँ तो साक्षात् इन्द्र के समान वह नल और कहाँ नारक की आकृतिवाला मैं। फिर भी बहुत रोकने पर भी जब मन नहीं माना, तो आँख में रहे हुए तिनके की तरह उसने अपनी अंगुली से हल्के से उसको स्पर्श किया। उसके उतने मात्र स्पर्श से ही भैमी का शरीर वर्षा के जल के संपर्क से उत्पन्न हुए नवांकुर की तरह हो गया।

उस समय तो मुझे नींद में सोता छोड़कर चले गये। चिरकाल के बाद आज दर्शन हुए हैं। हे प्राणप्रिय! अब कहाँ जायेंगे? इस प्रकार कहकर उनको पकड़कर महल के भीतर ले गयी।

वैदर्भी के अत्यधिक आग्रह करने पर कुब्ज नल बिल्व व करण्डक से वस्त्र-आभरण आदि लेकर उन्हें धारण करके अपने रूप में अवस्थित हुआ। उनको उस स्थिति में देखकर भैमी प्रेम के पूर की तरह आतुर होती हुई पादप से लिपटी हुई लता की तरह गाढ़ रूप से नल से लिपट गयी। भवन के मध्य से क्षणभर बाद नल को बाहर आया हुआ जानकर भीम ने अपने सिंहासन पर अर्धभरत के अधिपति को बैठाया। फिर सार्वभौम राजा ने कहा-हम

तुम्हारें अधीन हैं। अतः हे नैषधि! हमें उन-उन कृत्यों के लिए आदेश दीजिए।

दधिपर्ण ने भी उसको प्रणाम करके कहा-मैंने अज्ञानतावश स्वामी को नहीं पहचाना। अतः मुझे क्षमा कीजिए।

पूर्व में वर्णित घटनाक्रम में धनदेव का उल्लेख आया था, वह धनदेव राजा के पास आया। यह मेरा पूर्व-उपकारी है-ऐसा सोचकर भैमी ने उसका अति सम्मान किया। ऋतुपर्ण राजा भी चन्द्रयशा देवी तथा चन्द्रवती पुत्री के साथ वहाँ आया। उस तापसपुर में रहनेवाला वसन्त नाम का सार्थपति भी वहाँ आया। अपने पिता के पास से दूतों को भेजकर भैमी ने इन सभी को बुलाया था। भीमराजा ने सभी का उस-उस प्रकार से सम्मान करके उन-उन उपकारियों को कृतज्ञ भाव दर्शाया। जिस-जिसने भी भैमी के लिए कुछ भी किया था, उन सभी को भीमराजा ने अपनी पुत्री के वात्सल्य के वश होकर नित्य सम्मानित किया। जिनेश्वर की कृपा से प्रिय का संगम होने से भैमी का अभिग्रह पूर्ण हुआ। स्नान करके अंगों का श्रृंगार करके लाल वस्त्र धारण करके पुष्प के आभरण रूप वस्त्रों को धारण किया। जो विगय आदि पूर्व में छोड़े थे एवं पत्र-फलादि ग्रहण किये थे, वे सभी स्वीकार किये, जो आर्हती होते हैं उनकी यह स्थिति होती है।

एक दिन वे सभी भीमराजा के आस्थान मण्डप में बैठे हुए थे। प्रातःकाल की बेला में दूज के चन्द्र के समान चमकता हुआ कोई प्रभावान् देव आया। उसने अंजलिपूर्वक भैमी को नमस्कार करते हुए कहा-आपके द्वारा पर्वत की गुफा में जिसे प्रबोधित करके आर्हती धर्म ग्रहण करवाया, वह तापस कुलपति मैं हूँ। मैं जिनधर्म के प्रभाव से सौधर्म देवलोक में उत्पन्न होकर श्रीकेशर विमान का स्वामी केसराह्व सुर हुआ हूँ। इस प्रकार कहकर उसके पाँवों में सात करोड़ स्वर्ण मोहरों के द्वारा अभ्यर्चना करके कृतज्ञता प्रकाशित करके वह देव अन्तर्ध्यान हो गया।

तब राजा भीमदेव ने दधिपर्ण आदि अनेक राजाओं से समन्वित होकर नल का राज्याभिषेक किया। फिर नल के आदेश से उन महाराजाओं द्वारा विपक्ष में क्षोभ उत्पन्न करनेवाली भूतल को रौंदनेवाली सेना भेजी। नल उन सभी राजाओं व उनकी सेनाओं के साथ कूबर के द्वारा शठपूर्वक हरण की हुई अपनी राज्यलक्ष्मी को पुनः प्राप्त करने के लिए कोशला की ओर चला। कितने ही दिन के प्रयाण से सैनिकों द्वारा पृथ्वी को आच्छादित करते हुए नल कोशला के रतिवल्लभ उद्यान में रुका।

सेना से महीतल को आक्रान्त करते हुए आये हुए नल के समाचार सुनकर कूबर मृत्युदन्त रूपी चक्र में आये हुए के समान काँपने लगा।

जब दूत ने कहा कि राजा द्वारा युद्ध किया जाना चाहिए, तब नल ने कहा कि हम सहोदर हैं, अतः शस्त्रों के द्वारा युद्ध करना उचित नहीं है।

कूबर ने नल को जीवित मानकर युद्ध के अभाव में पुनः द्युत द्वारा शीघ्र ही नल को ईप्सित श्री देना आरंभ कर दिया। नल का छिन्न-भिन्न हुआ भाग्य स्वतः ही सौभाग्य को प्राप्त हुआ। उसने द्युत के द्वारा उस राज्य को पुनः प्राप्त किया। भाग्यरूपी हेतु की विजय होने से सर्वत्र जीत ही होती है। शक्र के द्वारा भी दुर्जय ऐसे अपने राज्य को नल ने चक्रवर्ती के स्त्रीरत्न की तरह भैमी के साथ अलंकृत किया। सभी राजाओं के बीच उपेन्द्र की तरह भुजा बल स्फुरित हो रहा था। अर्द्धभरत में रहे हुए राजाओं द्वारा नल को उपहार भेजे गये। दान, मान तथा संभाषण द्वारा आश्रितों को नल ने आश्वस्त किया। उसके सौजन्य की अतिशयता से द्वेषी भी तुष्ट हो गये। उसकी उदारता तथा सौजन्य का तो कहना ही क्या, कूबर को भी पूर्व की तरह युवराज बना दिया।

"धर्म से ही सभी विभूतियाँ हैं।" इस प्रकार धर्म के प्रति कृतज्ञता भाव को वर्द्धित करते हुए नल भैमी के साथ वहाँ प्रीतिपूर्वक चैत्यों को वन्दन करता उस पवित्रात्मा ने आर्हत-रथयात्रा करवायी। गुरु व गुणियों की नित्य

सेवा, भक्ति, पूजा की। श्रावकों के बीच प्रतिदिन अतुल वात्सल्य भाव को धारण किया। सभी जगह उसने स्वयं अरिहन्त का शासन मान्य किया।

भैमी के पुष्कल नामका पुत्र हुआ। उसने संपूर्ण कलाएँ पढीं। राज्यश्री को वरण करने की उचित यौवनावस्था को प्राप्त हुआ। इस प्रकार नल ने एक हजार वर्ष तक साम्राज्य भोगा। एक दिन उसके पिता देव ने उसे प्रतिबोधित किया-वत्स! क्या तुम वही राजा हो, जिसमें विवेकरूपी महान धन है। यही एक वह विषय है जिससे तुम देखते ही देखते मोहित नहीं होते। मैंने स्वीकार किया था कि तुम्हारे व्रत का अवसर आने पर आवेदन करूँगा। यह वही अवसर है, अब तुम्हें चारित्र लेना चाहिए। इस प्रकार कहकर अवधिज्ञानी वह देव चला गया।

उसी समय अवधिज्ञानी, जिनसेन नाम के गुरु आये। तब नल ने भैमी के साथ जाकर भक्तिपूर्वक गुरु को प्रणाम किया। देशना सुनी और प्रसंगोपात राजा ने उनको पूछा-भगवन्! मैंने पूर्वजन्म में ऐसा कौन सा कर्म किया, जिससे कि इस प्रकार राज्य पाकर भी हार दिया और पुनः पा लिया?

गुरु ने कहा-सुनो! अष्टापद पर्वतराज रूपी महातीर्थ की सन्निधि में जम्बूद्वीप में भरत क्षेत्र है। वहाँ अनिष्ट को नहीं देखनेवाला संगर नगर है। वहाँ मम्मण नाम का राजा था। उसकी देवी का नाम वीरमती था। एक दिन उस पार्द्धि राजा ने अपनी पत्नी के साथ पुर से बाहर जाते हुए सार्थ के मध्य में रहे हुए एक साधु को देखा। उस क्षुद्र आशयवाले राजा ने यूथ से कपि की तरह उस सार्थ से मुनि को ले लिया, तथा खेल खेलने के लिए प्रवृत्त हुआ। अपनी पत्नी सहित राजा ने उन क्षमाश्रमण पुंगव को दुरात्मना रूप से बारह घड़ी तक खेदित किया। बाद में उनकी करुणा जागी, तो दम्पती ने उनसे पूछा-आप यहाँ किस स्थान से आये और कहाँ जाना चाहते थे। उन मुनि ने कहा-हम रोहीतक नाम के स्थान से प्रस्थित हुए। अष्टापद गिरि तीर्थ के वन्दन की इच्छा से जाना चाहते थे। पर तुम दोनों ने मुझे सार्थ से अलग कर दिया। इसलिए मेरी यात्रा नहीं हुई। क्योंकि-

श्रेयो हि बहुविघ्नकम्।

श्रेय कार्य विघ्नों से भरा होता है।

साधु के शब्द-शब्द को मन्त्र के समान सुनते हुए उन दोनों का विष से युक्त क्रोध विगलित हुआ। तब उनकी आर्द्र दृष्टि को देखकर उन दोनों की योग्यता जानकर दया की प्रधानतावाला विचक्षण आर्य धर्म कहा। उस दम्पति ने कभी नहीं सुने हुए उस श्रेष्ठ धर्म को सुनकर शुभाशय पूर्वक उस धर्म में रंजित हो गये। अपूर्व वस्तु में कौन रंजित नहीं होता! उन मुनि को निर्दोष अशन आदि के द्वारा कितने ही काल बाद प्रतिलाभित करके उन्हें उपाश्रय में आस्थापित किया। धर्म ज्ञान के अंजन से अज्ञान तिमिर छिन्न हुआ। उनकी दृष्टि को निर्मल बनाकर मुनि अष्टापद तीर्थ पर चले गये। जिस प्रकार साधु संगम से उन्हें श्रावक धर्म प्राप्त हुआ, उसी को अभीष्ट पुत्री की तरह अन्त तक पालते रहे।

उन्हें धर्म में दृढ़ करने के लिए एक दिन शासन देवता रानी वीरमती को अष्टापद महापर्वत पर ले गयी। उन-उनके वर्ण अरिहन्तों की मूर्तियों का दर्शन करके जो आनन्द उसे हुआ, वह वाणी का विषय हो ही नहीं सकता। चौबीस ही अरिहन्तों को श्रद्धापूर्वक वन्दन करके रानी ने उड़कर उसी प्रकार अपने पुर को प्राप्त किया। मेरे द्वारा महातीर्थ को वन्दन किया गया-इस प्रकार विचार करके श्रद्धा के अतिरेक से वीरमति ने प्रत्येक जिनेश्वर देव के नाम से बीस-बीस आयम्बिल तप की आराधना की। हिरण्यमय तिलकों के ऊपर माणिक्य को आसीन करके, उच्छलती हुई कांति के कल्लोल के समान उन तिलकों को अरिहन्तों के लिए बनवाया।

अन्य किसी दिन रानी ने राजा के साथ अष्टापद तीर्थ पर जाकर जल से अभिषेक करके स्वयं समस्त अरिहन्त बिम्बों की पूजा की। उस काल में उत्पन्न पुण्य वृक्ष के प्रफुल्लित कुसुमों के उपमान स्वरूप तिलकों को

उन जिन बिम्बों के भाल पर रखा। तीर्थयात्रा के लिए आये हुए साधुओं को प्रतिलाभित किया और उन्हींकी तपस्या के उद्यापन का महोत्सव किया। हे देवी! तुम धन्य हो! पुण्यशालिनी हो। इस प्रकार राजा तथा प्रजा द्वारा बार-बार स्तुति की जाती हुई रानी वीरमति अपने पुर को आ गयी। वे दोनों राजा-रानी दो शरीर एक प्राण के समान थे। धर्म-कार्य में लीन रहते हुए उन्होंने कितना ही काल व्यतीत किया। काल धर्म प्राप्त करके समान समाधि द्वारा देवलोक में भी वे दम्पति के रूप में उत्पन्न हुए।

भारत में आद्य द्वीप के बहुत से विषयों में प्रधान, श्रेष्ठ पोतन-पत्तन में धम्मिल नामक ग्वाला रहता था। उसकी पत्नी का नाम रेणुका था। उन दोनों के वहाँ मम्मण राजा की आत्मा धन्य नाम से उत्पन्न हुई। वह पुत्र विनय से अति उज्ज्वल था। वीरमती का जीव पुनः प्राग्भव के प्रतिबन्ध से देवलोक से च्युत होकर धन्य की पत्नी धूसरी के रूप में उत्पन्न हुआ। धन्य रोज जंगल में अपनी भैंसों को चराने के लिए ले जाता था। क्योंकि ग्वालों की जीवनभर यही आजीविका होती है।

मानो, नीले उत्तरीय से प्रावृत की तरह दिशा को दुर्दिशा बनाती हुई, गर्जना के बहाने से चिरकाल से आते हुए लोकों से संभाषण करती हुई, दूध से उज्ज्वल जल-धारा के द्वारा अपने यश को फैलाती हुई, पृथ्वी को नवांकुरों के द्वारा अपने संग से पुलकित करते हुए, चारण की तरह मोरो की आवाज द्वारा याचित, विद्युत की ज्वलन क्रिया के बहाने से स्वर्ण की तरह चमकती हुई, धनुषधारी शक्र के विश्व तेजाबी मण्डल को लुप्त करती हुई, चारों और से वर्षारात्रि अवतीर्ण हुई।

घड़े की चारों ओर लिपटी हुई मिट्टी की तरह घुटनों तक के कीचड़ में पाँवों को धँसाते हुए घनघोर मेघ के बरसते हुए भी धन्य ग्वाला भैंसों को चराने जंगल में गया। गिरती हुई वर्षा की धारा को रोकने के लिए सिर पर छतरी धारण करके चारों ओर घूमते हुए वह भैंसों को चराने लगा। वन में घूमते हुए तप को तपते हुए, उसके संताप से सम्पूर्ण इन्द्रियों को शोषित करते हुए, झंझावात से संगपित, पद्नाभ के समान अंगों को संकुचित किये हुए पर्वतराज के समान निष्कम्प, एक पाँव पर खड़े हुए एक मुनि को धन्य ने देखा। परीषह से आक्रान्त उन मुनि को देखकर अद्भुत भक्ति से उत्पन्न श्रद्धापूर्वक छत्र धारक की तरह वह उन मुनि के शिर पर छतरी तानकर खड़ा हो गया। जैसे-अति त्यागी पुरुष देते-देते भी उससे निवृत्त नहीं होता, वैसे बादल भी वृष्टि करने से पीछे नहीं हटे और धन्य के परिणाम भी मुनि के प्रति श्रद्धा में वर्द्धित होते गये। आखिर निर्विग्न होकर मेघ क्रम से वृष्टि करते हुए लौट गये। वृष्टि बन्द होने से मुनि का कायोत्सर्ग भी पूर्ण हुआ। धन्य ने भी अपने आपको धन्य मानते हुए कर्त्तव्यपरायण होकर उन मुनि को नमस्कार किया। पुनः उनके पाँवों को रगड़-रगड़कर पोंछने लगा। तब वत्सलभाव युक्त मुनि ने कहा-तुमने मेरे सिर पर छतरी क्यों की? तो उसने कहा-वर्षा जल से बचाने के लिए। हे मुने! देखिये! अभी भी इस भूमि पर चलना समर्थ नहीं है। अतः हे महर्षि आप क्या यहाँ उड़कर आये हैं? अथवा तप, तन्त्र, मन्त्र आदि की शक्ति से व्योमचारी होकर यहाँ आये हैं? मुनि ने कहा-मैं पाण्डुदेश से यहाँ आया हूँ। लंकापुरी में आये हुए मेरे गुरु को नमन करने के लिए वहाँ जा रहा हूँ। यहाँ आते हुए मार्ग में चोरों की तरह बादलों ने घेर लिया।

वृष्टौ सत्यां च साधूनां गमनं हि न कल्पते।

वृष्टि होने पर साधु को चलना कल्पनीय नहीं है।

अतः वृष्टि बन्द होने तक अभिग्रह धारण करके मैं सप्ताह भर यहीं स्थित रहा। अब अभिग्रह पूर्ण हुआ, अतः किसी उपाश्रय में जाऊँगा। तब धन्य ने साधु से कहा-पृथ्वी अभी भी कीचड़ युक्त होने के कारण चलना बहुत कठिन है। अतः आप इस भैंस पर आरूढ़ होकर नगर में प्रवेश करें। उन साधु ने कहा-साधुओं को सवारी पर चढ़ना अयुक्त है। जिस कार्य से किसी भी प्राणी को पीड़ा पहुँचती है, वे सभी कार्य साधु त्याग देते हैं। महर्षियों

को तो पाद-विहारी ही होना चाहिए। इस प्रकार उसके साथ-साथ मुनि भी नगर में गये। अपने घर का द्वार आते ही वह मुनि-श्रेष्ठ को अपने घर के आँगन में ले गया, और प्रतिलाभित करने के लिए हर्षित होते हुए अभ्यर्थना की। जिस प्रकार श्रेयांसकुमार ने इक्षुरस के घड़ों से श्री आदिनाथ प्रभु का पारणा कराया था, उसी प्रकार धन्य ने दूध के घड़े से मुनि को पारणा कराया। उस वर्षाकाल को उसी पत्तन में बिताकर मुनि साधुचर्या के द्वारा अपने गुरु की सन्निधि में पहुँचे।

धन्य व धूसरी ने मुनि के पास गृहस्थ के व्रत धारण किये। उज्ज्वल सम्यक्त्व पालते हुए उसके द्रव्य स्तवना की। समय आने पर दोनों ने साधु धर्म अंगीकारकर सात वर्ष संयम पालकर समाधिपूर्वक मरण को प्राप्त हुए। सत्यात्र को भावपूर्वक दुग्ध-दान करने से वे दोनों हैमवत क्षेत्र में युगलिक के रूप में पैदा हुए। वहाँ से मरकर वे दोनों सौधर्म देवलोक में उत्तम जाति के डिण्डीर नाम के देव-देवी युगल के रूप में पैदा हुए। वहाँ से धन्य का जीव च्युत होकर नैषधि नल बना तथा धूसरी का जीव तुम्हारी प्रिया दमयन्ती के रूप में पैदा हुआ। तुम दोनों ने पूर्वभव में साधुओं के तप का उद्यापन महोत्सव किया, अष्टापद तीर्थ पर तीर्थंकरों की विधिपूर्वक कुसुम आदि के द्वारा पूजा की, उससे अर्जित पुण्य तुम्हारे इस भव में उदय में आया। उसीके प्रभाव से तुमने अद्‌भुत राज्य प्राप्त किया। अरिहन्तों की मूर्तियों पर हिरण्य रत्नजटित तिलक चढ़ाने से इसके भाल पर जन्म-जात तेजस्वी तिलक है। बारह घड़ी तक तुम दोनों ने साधु की कदर्थना की। अतः राज्य भ्रंश के साथ बारह वर्ष तक तुम दोनों का वियोग रहा।

यह सुनकर नल राजा ने धर्म रंग से तरंगित होकर भैमी की कुक्षि रूपी सरोवर के हंस रूपी पुष्कलकुमार को राज्य की गद्दी पर आसीन किया। फिर भैमी के साथ नल ने गुरु की सन्निधि में प्रव्रज्या ग्रहण की। श्रुतों को ग्रहण करते हुए, परीषहों को सहते हुए विचरण करने लगे।

एक दिन कर्म की विचित्रता से तथा काम के दुर्जय होने से नल राजर्षि के मन में किसी प्रकार भैमी के साथ रमण करने का मन हुआ। गुरु ने राजर्षि को मधुर शीतल वाणी के द्वारा भविष्य में होनेवाले श्री स्थूलभद्र स्वामी के दृष्टान्त द्वारा बहुत प्रतिबोधित किया। पर वे प्रतिबोधित नहीं हुए तो गुरु ने उन्हें त्याग दिया। तब पिता देव ने आकर बोध दिया। शीघ्र ही लज्जित होते हुए नल ने अनशन ग्रहण किया। नल के अनुराग से दमयन्ती ने भी वही तप ग्रहण किया। नल मरकर कूबेर हुआ और दमयन्ती उसकी प्रिया हुई। धर्म की आराधना करते हुए भी व्रत की तनिक सी विराधना से भी उसका फल प्राप्त हुआ और कुछ नीचे पदवाले देव रूप को प्राप्त किया। वहाँ से च्युत होकर पुनः मनुष्यत्व को प्राप्त कर उज्ज्वल चारित्र की आराधना कर सम्पूर्ण कर्मों को धोकर दोनों ने सिद्धि का वरण किया।

पूर्व जन्म से जिनेश्वर की दिव्य पूजा के निमित्त से अर्द्धभरत का उत्तम राज्य प्राप्त हुआ। राजा नल के साथ भीमराजा की सुपुत्री ने जन्मान्तर में भी पुनः अनंतसुख रूप मोक्ष को प्राप्त किया। अतः हमें भी सदैव तीर्थेश्वर के पूजन में तैयार रहना चाहिए, जिससे हमारी मुट्ठी में भी इस लोक व परलोक का सुख प्राप्त हो जावे।

इस प्रकार पूर्व में कृत देव पूजा के फल को बतानेवाली नलदमयन्ती कथा पूर्ण हुई।।२४।।

अब कौन-कौन किस प्रकार प्रतिमा की पूजा करते हैं, उनके मतों को बताया जाता है-

गुरुकारियाइ केइ अन्ने सइ कारियाइ तं बिंति ।
विहिकारियाइ अन्ने पडिमाए पूयणविहाणं ।।२५।।

कोई माता-पिता-दादा आदि रूपी गुरुओं के द्वारा बनायी प्रतिमा की पूजा करने का कहते हैं, कोई स्वयं ही प्रतिमा भरवाकर पूजा करने का कहते हैं। कोई विधिविधान द्वारा प्रतिमा का पूजाविधान करने का कहते हैं। ये तो मत हैं। कार्यपक्ष तो एक ही है कि अर्हत् प्रतिमा को देखकर उसकी पूजा करे अन्यथा अवज्ञा होती है।।२५।।

अब पूजा में रही हुई विधि विशेष को कहते हैं -

सुत्त भणिएण विहिणा गिहिणा निव्वाणमिच्छमाणेण ।
लोगुत्तमाण पूया निच्चं वि य होइ कायव्वा ॥२६॥

निर्वाण को चाहनेवाले गृहस्थ द्वारा सूत्र में कथित विधि के द्वारा नित्य लोकोत्तम अरिहंत देव की पूजा करनी चाहिए। इसका तात्पर्य यह है कि अपनी मति कल्पना से नहीं अपितु सूत्र में कही हुई विधि से पूजा करनी चाहिए। क्योंकि-

समिइपवित्ति सच्चा [सव्वा] आणाबज्झत्ति भवफला चेव ।
तित्थयरूद्देसेण वि ण तत्तओ सा तदुद्देसा ॥१॥ (अष्टमपञ्चा० १३)

स्वमति से की गयी सत्य भी (सर्व भी) प्रवृत्ति आज्ञा रहित होने से संसार फल प्रापक है। तीर्थंकर के उद्देश से होने पर भी आज्ञा रहित होने से वास्तविकता से वह धर्माराधना तीर्थंकर के उद्देश से नहीं है।

और विधि इस प्रकार है–

काले सूइभूएणं विसिट्ठपुप्फाइएहिं विहिणा ।
सारथुइथोत्तगरूई जिणपूया होइ विन्नेया ॥१॥ (चतुर्थ पञ्चाशके ३ गाथा)

अर्थात् काल से शुचिभूत होकर विशिष्ट पुष्प आदि के द्वारा विधिपूर्वक, स्तुतियुक्त रूचिपूर्वक जिनपूजा होती है। यह जानना चाहिए।।२६।।

'विधिना' इस प्रकार जो कहा गया है उसे ही आगे करते हुए कहते हैं–

आसन्नसिद्धियाणं विहिपरिणामो उ होइ सयकालं ।
विहिचाउ अविहिभत्ती अभव्वजियदूरभव्वाणं ॥२७॥

आसन्न सिद्धि प्राप्त करनेवालों के विधि परिणाम सदाकाल होते हैं। विधि त्याग तथा अविधि से भक्ति तो अभवी जीवों या दूर भवी जीवों में होती है। यहाँ विधि का अर्थ आगम में कहे हुए क्रिया कल्प है।।२७।। तथा-

धन्नाणं विहिजोगो विहिपक्खाराहगा सया धन्ना ।
विहिबहुमाणी धनाविहिपक्ख अदूसगा धन्ना ॥२८॥

विधियोग को करनेवाले धन्य हैं। सदा विधिपक्ष की आराधना करनेवाले धन्य हैं। विधि का बहुमान करनेवाले धन्य हैं। विधिपक्ष में दोष नहीं लगानेवाले धन्य हैं।।२८।।

अब विधिपक्ष की प्रतिज्ञा करके पूजा के अनन्तर वन्दन करना चाहिए। उसके उपदेश को कहते हैं–

इय आगमविहिपुव्वं भत्तिभरुल्लसिय बहलरोमंच ।
तं भुवणवंदणिज्जं वंदह परमाइ भत्तीए ॥२९॥

अर्थात् आगमविधि पूर्वक भक्ति से ओतप्रोत, आंतरिक प्रीति के अतिशय से उद्गत अत्यधिक पुलकित रोमवाले होकर उन भुवन वन्दनीय तीर्थंकर के बिम्ब को परम भक्ति से वंदन करें। परम भक्ति का अर्थ है-प्रकृष्ट रूप से प्रदक्षिणा आदि देते हुए काया की प्रतिपति करें।।२९।।

अब आगम में कही हुई वंदन विधि को कहते हैं–

पंचविहाभिगमेणं पयाहिणतिगेण पूयपुव्वं च ।
पणिहाणमुद्दसहिया विहिजुत्ता वंदणा होइ ॥३०॥

पाँच अभिगमपूर्वक तीन प्रदक्षिणा देकर, पहले पूजा करके प्रणिधान मुद्रा सहित विधियुक्त वंदना होती है। यहाँ दशत्रिक के अन्तर्गत होने पर भी पूजा प्रणिधान मुद्रा का पृथग् रूप से आदान किया गया है। इसका मतलब

यह है कि सर्वत्रिक के असंभव होने पर संभवित्रिक अवश्य ही करना चाहिए।।३०।।

अब पाँच प्रकार का अभिगम बताते हैं—

दव्वाण सचित्ताणं विउसरणमचित्तदव्वपरिभोगो ।
मणएगत्ति करणं अंजलिबंधो य दिट्ठी पहे ।।३१।।
तह एगसाडएणं उत्तरसंगेण जिणहर पवेसो ।
पंचविहोऽभिगमो इय अहवा वियऽन्नहा एस ।।३२।।

(१) पूजा के उपकरण को छोड़कर विभूषा रूप में धारण किये हुए पुष्प, ताम्बूल आदि का परित्याग। (२) आभूषण आदि का अत्याग। (३) मन की एकाग्रता। एकमात्र धर्म की आलम्बनता में करण। (४) जब स्वामी दृष्टिपथ पर गोचर हो तब सम्पुट अंजलिबद्ध करके सिर पर रखना। (५) एक वस्त्र रूप अर्थात् एक उत्तरीय वस्त्र धारणकर जिनघर में प्रवेश करना।।३१-३२।।

इस प्रकार उक्त प्रकार के ये ५ अभिगम है। अथवा इससे अन्यथा भी पाँच अभिगम हैं। उसको बताते हैं-

अवहट्टुरायककुहरुव्वाइं पंचवररायककुहरुव्वाइं ।
खग्गं छत्तोवाणह मउडं तह चामराउ य ।।३३।।

राजचिह्नो को छोड़कर पाँच प्रकार के प्रबल राग-शोभा को छोड़कर। वे राजचिह्न या राज-शोभा इस प्रकार है-खड्ग, छत्र, जूते, मुकुट तथा चामर।।३३।।

अब पूर्व में वर्णित त्रिक को कहते हैं—

तिन्नि निसीहि य तिन्नि य पयाहिणा तिन्नि चेव य पणामा ।
तिविहा पूया य तहा अवत्थतिय भावणं चेव ।।३४।।
तिदिसि निरिक्खण विरई तिविहं भूमीपमज्जणं चेव ।
वन्नाइतियं मुद्दातियं च तिविहं च पणिहाणं ।।३५।।

सावद्य व्यापार के निषेध से तीन प्रकार की नैषधिकी है-द्वार पर, मध्य में और गर्भगृह में।

तीन प्रकार की प्रदक्षिणा है - दाहिने हाथ से प्रारम्भ करके जाते हुए जो क्रिया होती है, वह तीन प्रदक्षिणा है।

तीन प्रकार के प्रणाम हैं - अंजली मस्तक पर लगाना, अर्द्धावनत और पंचांग भूमि पर लगाकर करना।

तीन प्रकार की पूजा है - अंगपूजा, अग्रपूजा और भाव पूजा। तीन प्रकार की अवस्था है - छद्मस्थ, केवली और सिद्धत्व अवस्था।

तीन दिशाएँ हैं - ऊर्ध्व, अधः, तिर्यक्। उन तीनों दिशाओं के निरीक्षण से निवृत्ति-विरतिपूर्वक केवल जिनबिम्ब के सम्मुख ही देखना। अतः तीन प्रकार की निवृत्ति भी है।

तीन प्रकार का भूमि प्रमार्जन - चरण का, अधो तथा अन्तराल।

तीन वर्णादि, तीन मुद्रा तथा तीन प्रकार का प्रणिधान - ये दस प्रकार के त्रिक हैं। इसी क्रम से पूजा करनी चाहिए।।३४-३५।।

वन्दना की विधि का उपसंहार करते हुए उसके फल को कहते हैं—

इह दहतियसंजुत्तं वंदणयं जो जिणाण तिक्कालं ।
कुणइ नरो उवउत्तो सो पावइ सासयं ठाणं ।।३६।।

इस प्रकार दस त्रिक से युक्त होकर त्रिकाल में उपयोग पूर्वक जो मनुष्य जिनेश्वरों को वंदन करता है, वह

शाश्वत स्थान को पाता है। यहाँ उपयोगपूर्वक का अर्थ एकाग्र भाव वन्दना है। क्योंकि कहा भी गया है–

वंदंतो संमं चेइयाइं सुहज्झाण पगरिसं लहइ ।
तत्तो य कम्मनासं पणट्ठकम्मो य निव्वाणं ॥१॥

सम्यक्पूर्वक चैत्यों को वन्दन करते हुए शुक्ल ध्यान की प्रकर्षता को प्राप्त करता है, जिससे कर्मनाश होता है और प्रनष्ट कर्मवाले को निर्वाण प्राप्त होता है।।३६।।

अब पूजा, अवस्था, वर्णादि, मुद्रा, प्रणिधान त्रिकों का वर्णन अगली गाथाओं में कहते हैं–

पुप्फाऽऽमिसथुइभेया तिविहा पूआ अवत्थतियगं च ।
होइ छउमत्थ केवलिसिद्धत्तं भुवणनाहस्स ॥३७॥
वन्नाइतियं तु पुणो वन्नत्थालंबणस्सरूवं तु ।
मणवयणकायजणियं तिविहं पणिहाणमवि होइ ॥३८॥
मुद्दातियं तु इत्थं विन्नेय होई जोगमुद्दाइ ।
हरिभद्दसूरिविरइयगंथम्मि इमं जउ भणियं ॥३९॥

पुष्प आमिष स्तुति भेद से तीन प्रकार की पूजा है। यहाँ पुष्प का ग्रहण होने से गन्ध, धूप, न्हवण, विलेपन, वस्त्र-आभरण आदि इसी में उपलक्षित हो जाते हैं। आमिष का अर्थ है नैवेद्य। नैवेद्य में भी अखण्ड अक्षत, फल, जल, घृत, दीपक आदि का अन्तर्भाव हो जाता है। स्तुति का अर्थ है-श्लोक, वृति आदि कहना। अवस्थात्रिक का अर्थ है-छद्मस्थ, केवली तथा सिद्धत्व। ये तीनों अवस्था भुवननाथ की है।

वर्णादित्रिक - वर्ण अर्थ के आलम्बन स्वरूप है। वर्ण-शब्द व्यक्त ही है। इनका शुद्ध उच्चारण करना। अर्थ-वर्ण के अर्थ का चिंतन करना। आलम्बन-जिन बिम्ब का। मन-वचन-काया से जनित प्रणिधान तीन प्रकार का होता है। संवेग रस से युक्त मन की स्थिरता मन प्रणिधान है। आलाप संपत् सत्यापन युक्त सूत्र का उच्चारण करना वचन प्रणिधान है। अंगोपांग से युक्त काय प्रणिधान है।

मुद्रात्रिक का वर्णन तो चैत्यवन्दना में किया गया है। योगमुद्रा, जिनमुद्रा, मुक्ताशुक्ति आदि। यहाँ-इस आशंका के निवारण के लिए वृद्ध संमति को दिखाते हुए कहते हैं कि हरिभद्र सूरि के द्वारा रचित ग्रन्थ पञ्चाशक नाम के शास्त्र में यह कहा गया है।।३७-३८-३९।।

उनके द्वारा कही हुई गाथा पञ्चक को कहते हैं–

पंचंगो पणिवाउ थयपाठो होइ जोगमुद्दाए ।
वंदण जिणमुद्दाए पणिहाणं मुत्तसुत्तीए ॥४०॥
दो जाणू दुन्नि करा पंचमंगं होइ उत्तमंगं तु ।
संमं संपणिवाओ नेओ पंचंगपणिवाओ ॥४१॥
अनुन्नंतरियंगुलि-कोसागारेहिं दोहिं हत्थेहिं ।
पिट्ठुवरि कोप्पर संठिएहिं तह जोगमुद्दत्ति ॥४२॥
चत्तारि अंगुलाइं पुरओ उणाइं जत्थ पच्छिमओ ।
पायाणं उस्सग्गो एसा पुण होइ जिणमुद्दा ॥४३॥
मुत्तासुत्ती मुद्दा समा जहिं दोवि गब्भिया हत्था।
ते पुण निलाडदेसे लग्गा अन्ने अलग्गत्ति ॥४४॥

भू-स्पर्श करते हुए पाँच अंग पंचांग हैं। प्रणिपात का अर्थ प्रणाम है। शक्रस्तव का आदि से अन्त तक का

पाठ स्तवपाठ कहलाता है। उस स्तवपाठ की मुद्रा योगमुद्रा है। वन्दन-अरिहंत-चैत्यादि को करना। जिनमुद्रा के द्वारा-यह पाँवों पर आश्रित है और योगमुद्रा हाथों को आश्रित करके होती है। यहाँ दोनों ही मुद्राओं का प्रयोग है-यह जानना चाहिए। "जय वीयराय" आदि पाठात्मक मुक्ताशुक्ति मुद्रा के द्वारा होता है।

दो पाँव, दो हाथ तथा सिर - इनके द्वारा सम्यक् प्रकार से किया हुआ प्रणिपात सम्यक् प्रणिपात होता है-यह पंचांग प्रणिपात जानना चाहिए।

अब योगमुद्रा को बताते हैं--

दोनों हाथों से अंगुलियों में अंगुलियाँ डालकर कमल की कली की तरह बनाकर, पेट के ऊपर कुहनी रखकर उससे प्रणिपात करना। योग अर्थात् दोनों हाथों का योजन विशेष अथवा योग यानि समाधि। अंगों के न्यास से विशिष्ट वह प्रधान मुद्रा योगमुद्रा विघ्न निवारण में समर्थ होती है।

अब जिनमुद्रा के आकार को कहते हैं--

चार अंगुल सामने से कम, पश्चिम अर्थात् पीछे के भाग से कुछ कम तथा पाँवों का उत्सर्ग अर्थात् परस्पर परित्याग अर्थात् संसर्ग का अभाव। एक पाँव का दूसरे पाँव से अन्तर। इस प्रकार जिनमुद्रा होती है। अथवा अरिहन्त जिनेश्वर की कायोत्सर्ग में की गयी मुद्रा जिनमुद्रा कहलाती है अथवा जिनेश्वरों की विघ्न को जय करनेवाली मुद्रा जिनमुद्रा होती है।

जैसे गर्भस्थ शिशु के दोनों हाथ ललाट से लगे होते हैं व शरीर संकुचित होता है, उस मुद्रा को मुक्ताशुक्ति मुद्रा कहते हैं। कोई-कोई इस मुद्रा में ललाट से हाथ अलग मानते हैं। इस गाथा में समा का मतलब अन्योन्य रूप से मिली हुई अंगुलियाँ नहीं होती। गर्भित का मतलब गर्भ में रहा हुआ उन्नत मध्यम आदि है।।४० से ४४।।

अब पूर्व में व्याख्यात शेष त्रिक के स्वरूप को निरूपित करके उसके आचरण फल को कहते हैं--

पयडो सेसतियत्थो तत्तो नाउण एय तिय दसगं ।
संमं समायरंतो विहिचेइयवंदगो होइ ॥४५॥

शेष त्रिक के अर्थ में प्रवृत्त इस त्रिक दशक को जानकर सम्यग् आचरण करता हुआ विधिपूर्वक चैत्य-वंदन होता है।।४५।।

इस प्रकार चैत्यवंदना विधि समाप्त हुई। अब वही किसकी व कितनी बार करनी चाहिए-इसको कहते हैं--

साहूण सत्तवारा होइ अहोरत्तमज्झयारंमि ।
गिहिणो पुण चियवंदण तिय पंच य सत्त वा वारा ॥४६॥

साधु के लिए चैत्यवंदन सुबह, शाम तथा मध्याह्न में सात बार होता है। गृहस्थ के लिए चैत्यवंदन पुनः तीन, पाँच या सात बार होता है।।४६।।

अब सात बार कैसे होता है-वह कहते हैं--

पडिकमणे चेइहरे भोयणसमयंमि तह य संवरणे।
पडिकमण सूवण पडिबोहकालियं सत्तहा जइणो ॥४७॥

सुबह का प्रतिक्रमण, चैत्यघर, भोजन के समय, संवरण में, शाम का प्रतिक्रमण, सोने के समय तथा प्रतिबोध काल अर्थात् सुबह उठने के समय चैत्यवंदन होता है।

गृहस्थों के तीन, पाँच या सात बार होता है, वह इस गाथा से जानना चाहिए--

पडिक्कमओ गिहिणो वि हु सत्तविहं पंचहा उ इयरस्स ।
होइ जहन्नेण पुणो तीसु वि संझासु इय तिविहं ॥ (प्रवचन सारोद्धार गाथा ९१)

चैत्यवंदन प्रतिकर्म रूप से गृहस्थ का भी सात प्रकार का, पाँच प्रकार का तथा जघन्य से पुनः तीन संध्याओं में तीन प्रकार का होता है।।४७।।

चैत्यवंदन की संख्या विधि कह दी गयी। वह चैत्यवंदन प्रायः जिनघर में ही किया जाता है। इस सम्बन्ध से उसमें रही हुई विधि-विशेष का उपदेश बताते हैं–

जिणमंदिर भूमिए दसगं आसायणाण वज्जेह ।
जिणदव्वभक्खणे रक्खणे य दोसे गुणे मुणह ॥४८॥

जिनमंदिर की भूमि में दस आशातना का वर्जन करना चाहिए। जिन द्रव्य के भक्षण व रक्षण में दोष व गुण को जानना चाहिए।।४८।।

आशातना दशक क्या है-यह आगे की गाथा में बताया जा रहा है–

तंबोलपाणभोयणपाणहथीभोगसूयणनिट्ठुवणं ।
मुत्तुच्चारं जूयं वज्जे जिणमंदिरस्संतो ॥४९॥

तम्बोल खाना, पानी पीना, भोजन करना, पेय पदार्थ पीना, स्त्री-भोग करना, सोना, बैठना, लघुनीति/बड़ीनीति करनी, जूआँ खेलना इन दश बातों का जिनमंदिर के अन्दर त्याग करना चाहिए। उपलक्षण से मंदिर में बिखरे हुए केश से जाना, क्रीड़ा-खेल आदि, इधर-उधर घूमना, पाँव फैलाना, सहारा लेना, अट्टहास करना, लिङ्ग चेष्टा आदि भी वर्जनीय है।।४९।।

निष्कारण अयतनापूर्वक अवग्रह परिभोग भी आशातना का कारण है। इसकी विवक्षा करने के लिए अवग्रह स्वरूप को बताते हैं।

सत्थावग्गहु तिविहो उक्कोसजहन्नमज्झिमो चेय ।
उक्कोस सट्ठिहत्थो जहन्न नव सेस विच्चालो ॥५०॥

शास्तावग्रह अर्थात् तत्त्व का उपदेश देनेवाले शास्ता तीर्थंकर के अवग्रहवाला भूप्रदेश 'सत्थावग्गहु' कहलाता है। वह तीन प्रकार का है-उत्कृष्ट, जघन्य तथा मध्यम। उत्कृष्ट ६० हाथ, जघन्य नौ हाथ तथा मध्यम इन दोनों के मध्य का अवग्रह होता है।।५०।।

तथा और भी–

गुरुदेवुग्गहभूमीइ जत्तउ चेय होइ परिभोगो ।
इट्ठफलसाहगो सय अणिट्ठफलसाहगो इहरा ॥५१॥

गुरु व देव की अवग्रह की भूमि में आशातना के डर से अंगोपांग को संकुचित करके प्रयत्नपूर्वक वैयावृत्त्य, पूजा आदि के लिए बैठना, उठना, चलना आदि रूप परिभोग होता है। यह इष्टफल का साधक होने से सदा निर्वृत्ति प्राप्त करानेवाला है। इतरथा अर्थात् अन्यथा तो अनिष्ट फल साधक होने से दुर्गतिजनक होता है।

यहाँ शंका होती है कि देव व तत्त्व की विचारणा के बीच गुरु का प्रसंग कहाँ से आया? इसका समाधान यह है कि अवग्रह की साम्यता होने पर ही उनका उल्लेख आया है। उनका अवग्रहप्रमाण इस प्रकार है–

अयप्पमाणमित्तो चउदिसिं होइ अवग्गहो गुरुणो ।
अणणुन्नायस्स सया न कप्पई तव्थ पविसेउं ॥१॥ (प्रवचन सारोद्धार गाथा १२६)

अर्थात् गुरुओं का चारों दिशाओं में आत्म-प्रमाण-मात्र अवग्रह [साढे तीन हाथ भूमि] होता है। जिसे यह ज्ञात नहीं है, उसे सदा वहाँ प्रवेश करना नहीं कल्पता है।।५१।।

अब कुछ विशेषता बतलाते हैं–

निट्ठीवणादकरणं असक्कहाऽणुचिय आसणाई य ।
आययणंमि अभोगो इत्थ य देवा उदाहरणं ॥५२॥

निष्ठीवन नहीं करना चाहिए। अर्थात् दन्त-शोधन, चरण-प्रक्षालन, शरीर का मैल उतारना आदि, स्त्री कथा आदि असत्कथा को भी नहीं करना योग्य है। अनुचित आसन आदि नहीं करना चाहिए। यहाँ अनुचित आसन से तात्पर्य गुरुदेव से ज्यादा बड़ा या ज्यादा मुलायम आसन से है। आदि शब्द से चन्दन, कुसुम, कुंकुम, कस्तूरि आदि का भोग-अनासेवन है। आयतन अर्थात् जिनघर में ये नहीं करना चाहिए। यहाँ देवों का उदाहरण अर्थात् दृष्टान्त है।५२॥

इसी को आगे कहते हैं-

देवहरयंमि देवा विसयविसमोहिया वि न कया वि ।
अच्छरसाहिं पि समं हासखिड्डाइ वि कुणंति ॥५३॥

जिनगृह में देव भी कदापि विषय विष से मोहित होकर नहीं ठहरते हैं। जरा मात्र भी हास्य क्रीड़ा आदि को नहीं करते हैं। अर्थात् अत्यन्त विषयी, सतत अविरत देव भी असत् चेष्टाओं का परिहार करके संवृतात्मा के रूप में जिनभवनादि में रहते हैं, तो विरताविरति गृहस्थों द्वारा तो भली प्रकार से परिहार करके ही रहना चाहिए।५३॥

इस प्रकार आशातना दशक की वर्जना की व्याख्या की गयी। अब जिन द्रव्य भक्षण इत्यादि की व्याख्या करने के लिए रूपक चतुष्टय कहते हैं–

भक्खेइ जो उवेक्खेइ जिणदव्वं सावओ ।
पन्नाहीणो भवे जो उ लिप्पइ पावकम्मणा ॥५४॥
आयाणं तो भंजइ पडियन्नधणं न देइ देवस्स ।
तस्संतं समुवेक्खइ सो वि हु परिभमइ संसारे ॥५५॥
चेइयदव्वं साहारणं च जो दुहइ मोहियमइओ ।
धम्मं व सो न याणइ अहवा बद्धाउओ नरए ॥५६॥
चेइयदव्वविणासे तद्दव्वविणासणे दुविहभेए ।
साहू उविक्खमाणो अणंतसंसारिओ भणिओ ॥५७॥

जो स्वयं जिन द्रव्य का भक्षण करता है अथवा अन्यों के द्वारा भक्ष्यमाण जिन द्रव्य को देखता है, वह प्रज्ञाहीन थोड़े अथवा बहुत रूप में कार्य सिद्धि को नहीं जानता हुआ मन्दमति रूप से यथा कथंचित् जिनद्रव्य को बेचने व लेखा रखने वाले के साथ नित्य संबंध रखने से वह पापकर्म से लिप्त होता है।

जो आज्ञा का भंग करता है, देव के प्रतिपन्न धन को नहीं देता है, वह सामर्थ्य होने पर भी नाश को देखता है वह भी संसार में परिभ्रमण करता है।

सात क्षेत्र में उपयोगी साधारण चैत्य-द्रव्य को जो मोहित मति, पापकर्मा कालान्तर में भोग आदि के द्वारा भक्षण करता है, द्वेष करता है अथवा दुषित है वह सर्वज्ञ प्रणीत धर्म को नहीं जानता। अर्थात् धर्म को नहीं जानता हुआ भक्षण करता है अथवा भक्षण काल से पहले उसने नरकायुष्य का बंध कीया हुआ है।

चैत्यद्रव्य सुवर्णादि का विनाश तथा उस द्रव्य के विनाशन में उस चैत्य द्रव्य का उपकारक लकड़ी ईंट पत्थर आदि का विनाश होने में दो प्रकार का भेद है। एक तो नवीन तथा दूसरा लगे हुए को उखाड़कर विनाश करना। मूल उत्तर भेद से भी दो प्रकार का है। इसमें मूल तो स्तम्भ कुम्भिका आदि तथा उत्तर रूप छादन आदि। अथवा स्वपक्ष परपक्ष जनित भी विनाशन के दो भेद हैं। स्वपक्ष में श्रावक आदि तथा परपक्ष में मिथ्यादृष्टि

आदि। श्रावक के साथ-साथ सर्व सावद्य से विरत यति भी उपेक्षा करता हुआ, उदासीनता रखता हुआ अनंत संसारी होता है-ऐसा तीर्थंकर व गणधरों ने कहा है। और इस प्रकार यति के यतित्व की हानि नहीं होती, बल्कि उसके नव्य वस्तुओं के आदन की अति इच्छा रखने से हानि होवे। क्योंकि आगे तो गायब होती हुई वस्तुओं की विशेष रूप से रक्षा करने से उसकी पुष्टि ही होती है। जिससे आगम में भी इसी प्रकार कहा है--

चोएइ चेइयाणं खित्तहिरन्ने य गामगेहाई ।
लग्गे तस्स उ जइणो तिगरणसोही कहं नु भवे ॥१॥
भन्नइ इत्थ विभासा जो एयाइं सयं विमग्गिज्जा ।
तस्स न होइ सोही अह कोई हरिज्ज एयाइं ॥२॥
तत्थ करंतुव्वेहं सा जा भणिया उ तिगरणविसोही ।
सा य न होइ अभत्ती य तस्स तम्हा निवारिज्जा ॥३॥
सव्वत्थामेण तहिं संघेण य होइ लग्गियव्वं तु ।
सचरित्तऽचरित्तीण य सव्वेसिं होइ कज्जं तु ॥४॥ (पञ्चकल्पभाष्य गाथा १५६९-१५७२)

जो यति चैत्यों के लिए ग्राम, घर आदि में क्षेत्र-हिरण्य आदि की प्रेरणा करता है, उस कार्य में लग्न उस यति की त्रिकरण-विशुद्धि कैसे नहीं होगी?

जो स्वयं कुमार्ग में पड़कर इन सभी कार्यों की विभाषा से प्रेरणा करता है, अथवा कोई इन वस्तुओं का हरणकर लेता है, तो उस यति की शुद्धि नहीं होती।

'वहाँ ऐसा करवाना चाहिए' इस प्रकार त्रिकरण की विशुद्धिपूर्वक गृहस्थों को असद् से निवारण करके सद्कार्य में लगाता है, तो वह यति की अभक्ति नहीं है।

सर्वत्र साधारण रूप से इन कार्यों में संघ को लगाना चाहिए। सचारित्री हो या अचारित्री-सभी का यह कर्त्तव्य होता है।।५४ से ५७।।

अब जिनद्रव्य के प्रभाव को प्रकट करने के लिए भक्षण, रक्षण, वर्धन और फल को बताने के लिए तीन गाथाओं को कहते हैं--

जिणपवयणवुड्ढिकरं पभावगं नाण-दंसण-गुणाणं ।
भक्खंतो जिणदव्वं अणंतसंसारिओ होई ॥५८॥
जिणपवयणवुड्ढिकरं पभावगं नाणदंसणगुणाणं ।
रक्खंतो जिणदव्वं परित्तसंसारिओ होइ ॥५९॥
जिणपवयणवुड्ढिकरं पभावगं नाणदंसणगुणाणं ।
वड्ढंतो जिणदव्वं तित्थयरत्तं लहइ जीवो ॥६०॥

जिनशासन की एवं ज्ञान-दर्शन रूपी गुणों की वृद्धि करनेवाले जिनद्रव्य-देवद्रव्य का भक्षक अनंत संसारी होता है। ।।५८।।

जिनप्रवचन के वृद्धिकारक ज्ञान-दर्शन एवं उपलक्षण से चारित्र आदि गुणों के प्रभावक होते हैं। क्योंकि जिनशासन की वृद्धि चैत्यालय के बिना नहीं होती और चैत्यालय के प्रति प्रत्येक को जागृत बनाने के लिए उस जीर्ण-शीर्ण चैत्यालय का पुनरुद्धार करने के लिए द्रव्य की आवश्यकता होती है। अतः श्रावकों के द्वारा द्रव्य पूजा किये जाने पर ज्ञान-दर्शन-चारित्र गुण दीप्त होता है। जिससे अज्ञानी भी 'अहो! तत्त्वानुगामी इनकी बुद्धि है' इस प्रकार वृद्धि को प्राप्त होते हुए क्रम से ज्ञानादि-गुण-लाभ के पात्र होते हैं। जिनद्रव्य की रक्षा करता हुआ

परित्तसंसारी होता है। दाताओं द्वारा दान के लिए धन देने से संसार को परिमित बनाये जाने से वे परीत्त संसारी होते हैं। अथवा जिनद्रव्य के रक्षक रूप से दिये हुए प्रवचन से ज्ञान-गुणादि के आराधक होने से परीत्त संसारी होते हैं। अपने धन के प्रक्षेप से बढ़ते हुए प्रवचन वात्सल्य से प्रवचन प्रभावक होने से जीव तीर्थंकरत्व को प्राप्त करने में भी समर्थ होते हैं।

आगम में भी कहा है–

अरिहंत सिद्ध पवयण गुरु थेर बहुस्सुए तवस्सीसु ।
वच्छलया य एसिं अभिक्खनाणोवओगे य ॥१॥
दंसणविणए आवस्सए य सीलव्वए निरइयारो ।
खणलव तवच्चियाए वेयावच्चे समाही य ॥२॥
अपुव्वनाणगहणे सुयभत्ती पवयणे पभावणया ।
एएहिं कारणेहिं तित्थयरत्तं लहइ जीवो ॥३॥ (आ.नि. १७९-१८१, प्रव. सा. गाथा ३१०-३१२)

अरिहंत, सिद्ध, प्रवचन, गुरु, स्थविर, बहुश्रुत तथा तपस्वी-इन पर वात्सल्य भाव से, निरंतर ज्ञान उपयोग में रहने से दर्शन, विनय, आवश्यक, निरतिचार शीलव्रत पालन से, अतिअल्प भी तप से, चैत्य भक्ति से, वैयावृत्य से, समाधि, अपूर्व ज्ञान, गहन सूत्र भक्ति से प्रवचन की प्रभावना से इन कारणों से जीव तीर्थंकरत्व को प्राप्त करता है।

पूर्वार्द्ध की तीन गाथाओं में एक ही कथन रूप से जिन द्रव्य की अतिशयता बतलायी गयी है। इसी संदर्भ में संकास श्रावक के दृष्टांत को कहते हैं–

।। संकास की कथा ।।

परिपूर्ण चन्द्रमा के समान गोल जम्बूद्वीप नाम के द्वीप में धनुष की दोरी चढ़ाये हुए धनुष की आकृतिवाला भरत क्षेत्र है। लोगों के पुण्योदय से सुवर्ण से बने हुए आवासवाली साक्षात् अलकापुरी के समान गन्धिलावती नगरी थी। वहाँ सम्यग् दर्शन शुद्ध आत्मवान्, बारह व्रतधारी, सर्वज्ञ द्वारा कही हुई क्रियाओं में आसक्त, जीव-अजीव आदि तत्त्व को जाननेवाला, दोनों संध्या में प्रतिक्रमण करनेवाला, तीनों संध्या में अरिहन्त की पूजा करनेवाला, विधिपूर्वक दान देते हुए, पर्व-तिथि में तप करते हुए अजातशत्रु, संतोषी, विश्वास का आधार स्तम्भ, विलासभू श्रावक का पुत्र संकास नाम का श्रावक था।

त्रैलोक्य की सारभूत सम्पूर्ण सामग्रियों से निर्मित, देवलोक से अवतीर्ण के समान एक सिद्धायतन था। हैमशैल की तरह ऊँचा, हिमशैल की तरह उज्ज्वल भुवन पर अद्भुत शक्रावत नाम का चैत्य था। वहाँ बहुत से श्रावक जन अक्षत आदि के द्वारा नित्य पूजा करने के लिए आया करते थे। अतः अतिशय धन उत्पन्न होता था। उस धन को देवद्रव्य के रूप में सभी श्रावक संकास के पास रख देते थे। ब्याज सहित वह धन लगातार बढ़ता जा रहा था। सारे दस्तावेज भी वह स्वयं ही बनाता था। उस पर विश्वास होने से कोई भी उसका विरोध नहीं करता था। इस प्रकार समय बीतता जा रहा था।

एक दिन कुछ अशुभ कर्मों के उदय से उसने चैत्य द्रव्य का भक्षण कर लिया। कहा भी है–

धिक्कर्मणां गतिः ।

कर्मों की गति को धिक्कार है।

अतः वह उसमें गृद्ध होते हुए, लुब्ध होते हुए, पश्चात्ताप नहीं करते हुए, आत्म निंदा-आत्मगर्हा नहीं करते

हुए, मन में दुःख भी नहीं लाते हुए, उस कर्म का तिरस्कार नहीं करने से उस कर्म-प्रत्यय को गाढ़ उपचय के द्वारा चित्त के संक्लेश से गाढ़ रूप में बद्ध किया। आयु क्षय होने पर उस कर्म विपाक के गले पड़कर चतुर्गति रूपी संसार में असंख्य भवों में भ्रमण किया। नारकी के भवों में कभी आरे के द्वारा लकड़ी की तरह चीरा गया। कभी धोबी द्वारा कपड़े की तरह शिला पर पछाड़ा गया। जैसे सती स्त्री पति के पीछे जीवित चितारोहण कर लेती है, वैसे ही उसे जीवित चिता में जलाया गया। कभी तीक्ष्ण तलवार द्वारा पक्षी रहित लताओं की तरह काटा गया। कभी भट्ठी में चने की तरह वज्राग्नि में प्रचण्ड रूप से पकाया गया। निर्दयी क्रूर देवों द्वारा महायन्त्र के द्वारा इक्षु की तरह पिला गया। ज्वलित ज्वाला की जटाओं से युक्त लोहरथ में जोड़कर चिनगारियाँ निकलती हुई वालुका से व्याप्त पथ में बैल की तरह चलाया गया। कामिनियों से घिरे हुए की तरह अग्नि की लपटों से घेरा गया। गृद्धि भाव से भक्षण करने के कारण गरम-गरम पिघलता सीसा पिलाया गया। रक्त-माँस व अस्थियाँ के कीचड़ से युक्त गर्भावास के समान मार्ग में कपि कच्छू के स्पर्श से खाज के समान कष्ट से ग्रसित नारक में विलाप करते हुए संपूर्ण सुखों से रहित और दुःखों से निर्मित ऐसी नारक में कर्मों के विपाक से वह असंख्यकाल तक रहा। कर्ण-छेदन, भारवहन, रस्सीबंधन, चाबुक प्रहार की सजा द्वारा शरीर में निशान पड़ गये। भूख-तृषा, शीत, वात, ताप आदि स्थितियों को सहन करते हुए तिर्यंच योनि में भी अनेक बार जन्म लिया। वहाँ शिर, हाथ, पाँव, नाक, होंठ, जीभ, कान आदि छेदे गये। कारावास के समान प्रवास मिला और दासत्व के समान बंधन से बाँधा गया। मनुष्यत्व को प्राप्त करके भी आतंक, शोक, दरिद्रता, अपमान आदि दुःखों को अनेक बार अनुभूत किया। आभियोगिक आदि देव योनियों में उत्पन्न होकर भी अर्हद् द्रव्य के भक्षण से, देवत्व अवस्था में भी उन्हीं-उन्हीं दुःखों का अनुभव किया। दुःख के अनुभव से उन कर्मों की निर्जरा करते हुए संकास के आत्मा ने प्रथम द्वीप में तगर नाम की नगरी में इभ्य सेठ के पुत्र के रूप में जन्म लिया। पर उस कर्मांश के उदय से उसका पिता भी दरिद्र हो गया। तब वह लोगों द्वारा निन्दा का पात्र बना। लोगों ने कहा कि-अहो! कैसा अभागा पुत्र जन्मा है कि इसने, अपने पिता को भी गरीबी का शिरोमणि बना दिया। शैशव में भी जिसके अभाग्य की ऐसी प्रगल्भता है, बड़ा होने पर वह कैसा होगा? इस प्रकार वह पिता की राजहंसिनी लक्ष्मी को दारिद्र्य आकृष्ट करने वाले मान्त्रिक की तरह गरीबी के घनघोर घटा से आच्छादित करनेवाले की तरह ख्यात हुआ।

एक दिन अचानक उसकी पत्नी का देहावसान हो गया। उस अपनी वल्लभा लक्ष्मी के वियोग को सहन नहीं कर सकने के कारण उसके पिता ने अपने प्राण त्याग दिये। वह इभ्यपुत्र नीच कार्य करता हुआ भी कदापि अपने उदर की पूर्ति नहीं कर पाता था। याचना करने पर भी पूर्व भव के कर्मों के कारण कूट चिह्नागत की तरह कोई भी उसे कुछ भी नहीं देता था। तब वह विचार करता कि धिक्कार है मुझे! कि मैं अपना पेट भी नहीं भर पाता हूँ! धन्य हैं वे पुरुषोत्तम जो जगत् की कुक्षि भरते हैं।

तब लगातार खेदित होते हुए अपनी निन्दा करते हुए महारोग से पीड़ित की तरह जीवन का त्याग करने को उद्यत हुआ। तभी वहाँ त्रैलोक्य में एकमात्र दिवाकर की तरह अपने चरणों से पृथ्वी को पुनित बनाते हुए कोई केवलज्ञानी महामुनि पधारें। देवों ने हजार पंखुड़ियों वाले हिरण्यमय कमल की रचना की। भगवान् उसमें निर्मल राजहंस की तरह विराजे। प्रमुख धर्म उपदेशों रूपी पुण्यो के समूह से परिपूरित केवलज्ञानी को महापोत के समान आया हुआ जानकर उनके पुण्य को सद्भक्ति विनयादि से ग्रहण करने के लिए नगरी के समस्त लोक क्षणभर में वहाँ इकट्ठे हो गये। परस्पर वार्त्तालाप से उस नगर में यह ख्यात हो गया कि भूत-भविष्य-वर्तमान के ज्ञाता कोई महामुनि इस नगरी में पधारे हैं। यह सुनकर इभ्य के पुत्र रूप में उत्पन्न संकाश का जीव भी उन्हें वंदन करने के लिए तथा अपना दृष्कृत जानने के लिए उनके समीप गया। लोगों की भव-ताप रूपी आर्त्ति को दूर करने के लिए

केवली ने सद्धर्म देशना रूपी वृष्टि का नव्य जल बरसाया।

अनन्त भव रूपी संसार में घूमते हुए भव्य जीवों द्वारा जो-जो भी कर्म अर्जित किये जाते हैं, उसको कोई भी कदापि हरण नहीं कर सकता। मनुष्यों का जो भी शुभ या अशुभ होता है, वह सभी पूर्व में किये गये कर्मों का अद्‌भुत फल है ऐसा जानना चाहिए। तब इसी बीच अवसर को जानकर इभ्य-पुत्र ने कर-कमलों को कोशी कृत करके मुनि को कहा-हे स्वामिन्! मेरे द्वारा पूर्व भव में ऐसा कौनसा कलुषित कर्म किया गया, जिससे जन्म से लगाकर आज तक मैंने स्वप्न में भी सुख का दर्शन नहीं किया। तब भगवान ने सम्पूर्ण जनमेदिनी के सामने संकास के जन्म से लेकर सारे पूर्व भवों के वृतान्तों को विस्तारपूर्वक कहना शुरु किया। अंत में कहा-हे महाभाग! इस भव में ओर पहले के सारे भवों में देवद्रव्य के भक्षण से ही यह सर्व दुर्विपाक प्राप्त हुआ है। यह सुनकर संवेग से रंजित नयन वाला होकर उसने अपने आप को पापी मानते हुए गर्हा करना प्रारंभ कर दिया। हा! हा! मैं पापात्मा, पापकर्मी, अधैर्यशाली, निर्लज्ज, मर्यादारहित, नपुंषक के समान अपने कुल का दूषक हूँ। मनुष्य जन्म पाकर, अर्हत् धर्म को जानकर, सिद्धांत-सार को सुनकर सुसाधुओ की सेवा पूजा करके भी लोभ से अभिभूत होकर मूढ़चित्त से मुझ नराधम ने इस प्रकार के दुःख विपाकवाले चैत्यद्रव्य का भक्षण किया। अतः हे स्वामी! मुझ पर प्रसन्न होकर मुझे कोई उपाय बतायें, जिससे मैं अपने रौद्रातिरौद्र दुःकर्मो का क्षय कर सकूं।

तब मुनि ने कहा-हे भद्र! अगर इन कर्मों से निस्तार चाहते हो, तो जब तुम्हारे पास संपत्ति हो, तब तुम उसे स्वयं चैत्यों में लगाना। तब उसने उसी समय उन्हीं मुनि के पास वैराग्योचित मनोवृत्ति से अभिग्रह धारण किया कि अगर में भोजन व वस्त्राच्छादन के अतिरिक्त धन प्राप्त करुँगा,तो वह सारा द्रव्य चैत्यों में नियोजित करुँगा। जैसे ही उसने शुद्ध मन से अभिग्रह धारण किया, वैसे ही उसने धन को अपने अभिमुख देखा। तब धन सम्पत्ति को सामने देखकर विस्मित होते हुए उसने विचार किया-अहो! धर्म की महत्ता से मेरे कर्म विलीन हो गये। जो मैंने जन्म से आज तक नाक से सूँधा तक नहीं, वह आज मैं साक्षात् देख रहा हूँ। यह धन उसका फल नहीं है, तो फिर किसका फल है? अतः विशेष श्रद्धावान होकर, रोमांचित कंचुक वाला होकर, जिन-चैत्यों में आनन्दित होकर स्नात्र पूजा आदि की। अष्टाह्निका महोत्सव किये। जीर्णोद्धार करवाया। प्रत्येक चैत्य में कलशादि रखा। इस प्रकार इभ्य सेठ के पुत्र रूप में उत्पन्न संकाश के जीव ने जैसे-जैसे अपने वित्त को मंदिरादि कार्य में व्यय किया, वैसे-वैसे वह अधिकाधिक बढ़ने लगा। अतः धन की अत्यधिक प्रचुरता हो जाने पर उसने नया चैत्य बनवाया। वह चैत्य ऊँचाई में कैलाश पर्वत का अनुकरण करता था। उस चैत्य में यथोक्तविधि के द्वारा सर्वसंपूर्ण लक्षणवाली आर्हती प्रतिमा स्थापित की गयी। क्योंकि-

नाऽविधिः श्रेयसे यतः ।

अर्थात् श्रेयस् कार्य में अविधि नहीं होती।

चैत्य द्रव्य के उपभोग से हुई दुर्विपाक की अनुभूति से डरते हुए उसने कहीं भी लेशमात्र भी द्रव्य को व्यर्थ नहीं जाने दिया। उस शुद्धमति संकाश के जीव ने अपने अभिग्रह का सम्यक् प्रकार से पालन किया। पूरे जीवन में कभी भी अपने अभिग्रह से विश्राम नहीं लिया। उस मतिमान ने संपूर्ण चैत्यों के धन की रक्षा करते हुए उन पर ऊँचा व्याज देकर उस धन को और बढ़ाया। उस धर्म क्रिया से उद्‌भूत सत्संवेग रस की किरणों से उसके पूर्व के सारे कर्म प्रक्षालित हो गये।

संकास के रूप में जन्म धारण करके उस भव में जो प्रबल उग्र कर्म जनित किये, वे इस जन्म में प्रक्षालन से विमलता को प्राप्त हो गये। वह इभ्य सेठ का लड़का सम्यग्विधि से अन्तकृत्य करके प्राण त्याग पूर्वक देव की संपदा को प्राप्त हुआ।

इस प्रकार इस आख्यान को सुनकर चैत्यद्रव्य तथा चैत्यवित्त के उपभोग का त्याग करना चाहिए। भगवान के धर्मतत्त्व को जाननेवाले सभी सुसत्त्ववालों द्वारा यत्नपूर्वक जिनगृह की रक्षा करनी चाहिए, चैत्य-धन बढ़ाना चाहिए। उस प्रकार से उच्च स्वर्गसुख प्रथम पाकर बाद में वे मोक्ष रूपी लक्ष्मी को प्राप्त करेगा।

इस प्रकार चैत्य द्रव्य के भक्षण, रक्षण, प्रवर्धन व फल को बतानेवाली संकास की कथा समाप्त हुई।।५८ से ६०।।

इसी के साथ पूज्य श्री चक्रेश्वर सूरि के द्वारा प्रारंभ, उनके प्रशिष्य श्री तिलकाचार्य द्वारा निर्वाहित सादिम सम्यक्त्व वृत्ति समर्थित हुई। देवतत्त्व की व्याख्या पूर्ण हुई।

।।२।। धर्मतत्त्व ।।

उस देव तत्त्व को भव्य द्वारा जानने के लिए धर्म का उपदेश करते हैं। इस सम्बन्ध से आयी हुई मूल द्वार गाथा तथा क्रमप्राप्त धर्मतत्त्व का अब वर्णन किया जाता है-

जीवदयसच्चवयणं परधणपरिवज्जणं सुसीलं च ।
खंती पंचिंदियनिग्गहो य धम्मस्स मूलाइं ।।१।। (६१)

जीव दया, सत्य वचन, परधन का त्याग, सुशील, 'च' शब्द से परिग्रह की विरति, क्रोधनिग्रह रूप क्षान्ति, इसमें शेषकषायों का भी निग्रह तथा अपनी पाँचों इन्द्रियों का निग्रह करना-ये सभी धर्म का मूल हैं।।६१।।

धर्म भी दो प्रकार का है-गृहस्थ धर्म तथा यति धर्म (साधु धर्म)।

गृहस्थ धर्म के अभ्यस्त जन प्रायः यतिधर्म के योग्य होते हैं। अतः पहले गृहस्थ धर्म को कहते हैं-

सम्मत्तमूलमणुवयपणगं तिन्नि उ गुणव्वयाइं च ।
सिक्खावयाइं चउरो बारसहा होई गिहिधम्मो ।।२।। (६२)

सम्यक्त्वमूल पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत ये बारह प्रकार के व्रत गृहस्थ के होते हैं।।६२।।

अब बारह व्रतों का नाम बताते हैं-

पाणिवह मुसावाए अदत्त मेहुण परिग्गहे चेव ।
दिसिभोग दंड समइय दसे तह पोसहविभागे ।।३।। (६३)

सूत्र के सूचक होने से प्राणातिपात विरति, मृषावाद विरति, अदत्तादान विरति, मैथुन विरति, परिग्रह विरति, दिशाविरति, भोगोपभोग विरति, अनर्थदण्डविरति, सामायिक व्रत, देशावकाशिक व्रत, पौषध व्रत तथा अतिथिसंविभाग व्रत-ये बारह व्रतों के नाम है।

प्रत्येक व्रत के परिपालन के फल की सूचक कथा कही जाती है। सबसे पहले प्रथम व्रत परिपालन में मेतार्यमहर्षि की कथा है। वह इस प्रकार है-

।। मेतार्यमहर्षि कथा (प्राणातिपात-विरति) ।।

यहाँ श्री अर्थात् लक्ष्मी के संकेत के निकेतन रूप साकेतपुर नाम का नगर था। वह लक्ष्मी से पराभूत की तरह अमरावती को भी तिरोभूत करता था। वहाँ का राजा चन्द्रावतंसक धर्म में एकान्तरूप से तत्पर था। उसका जिस प्रकार गुरुओं के प्रति सुमनोभाव था, वेसा ही वैरियों के प्रति भी था। अन्तःपुर के विशाल होने पर भी उसके

मुख्य प्राण-वल्लभा दो रानियाँ थीं। पहली का नाम सुदर्शना तथा दूसरी का नाम प्रियदर्शना था। पहली रानी के पुष्पदन्त की तरह आकाश में सिरमोर दो पुत्र थे। ज्येष्ठ पुत्र सागरचन्द्र कुमार ने युवराज पद को प्राप्त किया। कनिष्ठ पुत्र मुनिचन्द्र चन्द्र से भी उज्ज्वल गुणों का पुंज था। उसने अपने पिता के सन्निधि में उज्जयिनी का राज्य प्राप्त किया।

दूसरी रानी के भी दो पुत्र हुए। बड़े का नाम बालचन्द्र तथा छोटे का नाम गुणचन्द्र रखा गया। धूप धूम्र से पवित्र हुए अंशुक के समान राजा का समस्त कुटुम्ब जिनधर्म से वासित था।

एक दिन राजा चन्द्रावतंसक अपने निवास स्थान पर रात्रि के समय माघ महीने में ठण्ड होते हुए भी कायोत्सर्ग में स्थित हो गये। उन्होंने अभिग्रह धारणकर लिया कि परदे की आड़ में रहा हुआ यह दीपक जब तक जलता रहेगा, तब तक मैं अपना ध्यान नहीं खोलुँगा। रात्रि का प्रथम प्रहर बीतने को था, दीप भी बुझने ही वाला था। तभी दीपक प्रज्ज्वलित करने वाली दासी ने दीपक में और तेल डाल दिया, ताकि प्रभु को अंधेरे में कोई अरति न हो। जैसे-जैसे दीपक की ज्योति बढ़ती गयी, वैसे-वैसे राजा रूपी महात्मा का धर्मध्यान भी बढ़ता गया। इस प्रकार प्रत्येक प्रहर के अन्तिम क्षणों तक दीपकारिका दासी दीप में तेल डालती रही। उधर राजा भी प्रतिक्षण संसारविषयक स्नेह को निज मन से संपूर्ण रूप से निकालता रहा। दीप की ज्योति स्नेह रूपी तेल से बढ़ती रहीं ओर राजा की ध्यानज्योति चित्त के स्नेह-क्षय से बढ़ती गयी। राजा का शरीर सुकुमारता के कारण मनोहर था। अनुरक्त स्त्री के आलिंगन के समान वेदना ने उनका आलिङ्गन कर लिया। शरीर के असहिष्णु होने पर भी चित्त की दृढ़ता के कारण उन्होंने गृहस्थ होते हुए भी महर्षि की तरह उस वेदना को सहन किया। वेदना से आर्त्त होने पर भी सात्विक-पुरुष अपने नियम को नहीं तोड़ता। कहा भी गया है-

व्यसनेऽपि महात्मानः प्रतिपन्नं त्यजन्ति किम् ?

क्या दुःख आने पर भी महात्मा अपनी कृत प्रतिज्ञा को छोड़ते हैं?

कदापि नहीं।

इस प्रकार रात्रि के अवसान और प्रभात के प्रादुर्भाव के साथ ही चन्द्रावतंसक राजा ने अपनी आयु पूर्ण करके शुभ ध्यान के साथ देवलोक को प्राप्त किया।

सामन्त, सचिव आदि सभी वरिष्ठ नागरिकों ने सागरचन्द्र का राज्याभिषेक करना प्रारम्भ किया। क्योंकि-

न्याय्यं को नाऽनुतिष्ठति ?

उचित का अनुकरण कौन नहीं करता?

पर सागरचन्द्र ने साम्राज्य से निस्पृह होते हुए विमाता से कहा कि उदय होते हुए बाल चन्द्रमा की तरह मेरा भाई बालचन्द्र ही राजा बनेगा।

विमाता ने कहा- राज्य श्री प्रौढ़ ऊँटनी की तरह है और बालचन्द्र तो बलद रूपी बालक के समान है। अतः उसे राज्य देना युक्त नहीं है। सभी पुत्रों में तुम वय से ज्येष्ठ हो। अतः इस उपस्थित राजलक्ष्मी का समुद्वहन करो।

उसकी इच्छा न होते हुए भी सभी ने उसे साम्राज्य का अधिपति बना दिया। वह अपने प्रताप से ग्रीष्म ऋतु के सूर्य की तरह दुःसह हुआ।

अन्य किसी दिन विमाता ने जब सागरचन्द्र राजा को राज्य-ऋद्धि से युक्त दीव्यमान महेन्द्र की तरह आते-जाते देखा, तो विचार करने लगी-हा! हा! मैंने अपने पुत्र के सुख के प्रति वैर-भावना दर्शायी। उसे मिलती हुई राज्य लक्ष्मी का मैंने निषेध कर दिया। इस समय तो सागरचन्द्र राजा है। बाद में इसका पुत्र राजा बनेगा। अतः इसके राज्य की संभावना क्रमशः इसके बेटे पोतों को प्राप्त होगी। अतः किसी भी तरह से इसका अभी ही संहार कर दूँ,

ताकि मेरा पुत्र राज्य श्री का भोग कर सके।

अतः तब से वह विमाता शाकिनी की तरह उसके छिद्रान्वेषण में रत रहने लगी। सागरचन्द्र भी जनता के अनुरोध से शासन कर रहा था। एक बार वह उद्यान संपदा को देखने की इच्छा से सुबह-सुबह उद्यान में गया। सुबह का नाश्ता वहीं करने के लिए उसने दासी को रसोइये के पास भेजा। राजा को दीर्घ काल तक भूख न लगे- इस प्रकार विचार कर रसोइये ने शीघ्र ही कल्पवृक्ष के फल की तरह अद्‌भूत मेवायुक्त मोदक राजा के नास्ते के लिए दासी के हाथों में समर्पित किया। दासी के हाथ में उस मोदक को देखकर प्रियदर्शना रानी ने पूर्व में बनाये हुए विषाक्त हाथों से उस मोदक को स्पर्श करने के लिए क्षण भर हाथ में लिया। फिर सूँघकर उसकी खूशबू की प्रशंसा करते हुए रानी ने तत्काल दासी को दे दिया। दासी ने भी जलदी से जाकर वह मोदक राजा को समर्पित कर दिया। उस मोदक को लेकर राजा ने विचार किया कि मैं इसे अकेले कैसे खाउँ? मेरे दोनों छोटे भाई (विमाता के दोनों पुत्र) भूखे हैं। अतः शीघ्र ही उस मोदक के दो टुकड़े करके उन दोनों को दे दिये। अमृत से भी अधिक सुस्वादूं मोदक को उन दोनों ने प्रसन्न होकर खा लिया। उस विष के प्रभाव से वे दोनों उसी समय मूर्च्छित हो गये। राजा ने संभ्रान्त होकर तुरन्त वैद्य को बुलवाया। वैद्य ने नाड़ी का परीक्षण करके उन दोनों को चौवीस वर्णिक सुवर्ण पिलाया गया, जिससे तन्त्र से आक्रान्त शाकिनी की तरह वह विषमूर्च्छा चली गयी।

फिर राजा ने दासी को बुलाकर पृच्छा कि यह चेष्टा किसने की? मुझे साफ-साफ बताओ। उसने कहा-देव! मैं शपथ खाती हूँ कि मैंने कुछ भी नहीं किया। हाँ! प्रियदर्शना रानी ने मेरे हाथ से मोदक लेकर, देखकर, सूँघकर व प्रशंसा करके पुनः मुझे मोदक समर्पित किया था। तब राजा ने विचार किया कि विमाता के मन की कुलीला आज प्रकट हुई। राजा ने विमाता से पूछा-यह कृत्य क्यों किया? अगर राज्य के लिए किया तो वह तो मैं पहले भी अपने भाई को देने के लिए इच्छुक था। अभी भी मैंने निवेदन किया था कि मेरी राज्यस्पृहा किंचित भी नहीं है। मैं आसक्ति से नहीं, अपितु प्रजा के अनुरोध पर राज्य कर रहा हूँ। अगर मैं सद्धर्म रूपी शरण से रहित, कुछ भी धर्म-पाथेय उपार्जित किये बिना पापी की मौत मर जाता, तो नमस्कार मंत्र को प्राप्त किये बिना ही क्षणभर में दुर्गति को प्राप्त करके अनंत संसार में पर्यटन करता।

इस प्रकार विमाता को उपालम्भ देकर उनके पुत्र को स्वयं राज्य प्रदान किया एवं अद्‌भूत वैराग्य से उत्थित होकर खूब द्रव्यस्तव करके संपूर्ण लोगों से क्षमा-याचना करके सागरचन्द्र नृप ने सुगुरु के समीप में मोक्ष की अभिलाषा से व्रत गहण किया। सिद्धांतों का अध्ययन करके, साध्वाचार का पालन करते हुए, तीव्र तपस्या से तपित होते हुए गुरु के साथ विहार किया। अन्य किसी दिन उज्जयिनी नगरी से दो साधु आये। उनसे पूछा कि वहाँ साधुओं का सूखपूर्वक विहार होता होगा। उन दो साधुओं ने कहा-साधुओं को तो सर्वत्र ही सुख होता है, असुख नहीं। साधुओं के प्रयोग में आनेवाली वस्तुएँ सर्वत्र सुलभ होती हैं। केवल राजा का पुत्र तथा कुलगुरु का पुत्र-ये दोनों प्रत्यनीक की तरह मुनियों को उपसर्ग करते हैं। अतः उनके उपसर्ग से भयभीत होते हुए कोई भी साधु अथवा अन्य कोई भी कदाचित भी उनके घर नहीं जाते। यह सुनकर राजर्षि ने क्रोधित होते हुए गुरु की आज्ञा से उन दोनों दुर्विनीतों को अनुशासित करने के लिए उज्जयिनी की ओर विहार किया। वहाँ जाकर एक साधुओं के गच्छ में वे उतरे। बहुत समय विश्राम करके उन साधुओं ने पूछा-आपके लिए आहार आदि ला देवें। उन्होंने कहा-आप अपने लिए ले आवें। मैं अपनी लब्धि से लाउँगा। केवल मुझे आप कोई भी स्थापना घर दिखा देवें। तब एक क्षुल्लक मुनि ने हाथ से इशारा करते हुए स्थापनाघर दिखाया और कहा-राजकुल तथा पुरोहित के घर आप न पधारें। क्षुल्लक के लोटते ही राजर्षि ने राजकुल में जाकर उच्च स्वर से कहा-धर्मलाभ! अन्तपुर की स्त्रियों ने हड़बड़ाकर बाहर आते हुए कहा-हा! हा! मुनि! मुनि! मौन हो जायें। उच्च स्वर में न बोलें। कुमारों को बताने के लिए राजर्षि पुनः

उच्च स्वर में बोले-श्राविके! तुमने क्या कहा? मुझे कुछ सुनाई नहीं दिया। राजर्षि के वचन सुनकर कुमार शीघ्र ही वहाँ आ गये। उन्होंने राजर्षि को बाँह से पकड़कर ऊपर ले जाकर कहा-मुनि! नाच करो। राजर्षि ने कहा-तो तुम दोनों को बजाना होगा। अतः आतोद्य लेकर तुम दोनों शीघ्र ही बजाना शुरु करो। मुनि ने पात्रों को एक तरफ रखकर वस्त्रों को हड़रूप से बांधकर रंगमंच में नाचने वाले नर्तक कोविद की तरह मुनि ने नृत्य किया। आतोद्य वादन में अज्ञ होने से वे अपनी मर्यादा से चूक गये। यह जानकर महर्षि ने कहा-अरे! वाद्य नहीं बजाओगे तो मैं नृत्य कैसे करुँगा। अतः रोष के साथ साधु ने उन्हें एक ही तमाचे से आहत कर दिया। अंगों से चटका-चटकाकर उन्हें विह्वलीभूत बना दिया, ताकि वे अन्य किसी को पीड़ा न उपजा सकें। इस प्रकार करके वे राजर्षि पुर से बाहर उद्यान में जाकर शुद्ध स्थण्डिल में बैठकर ध्यान में लीन हो गये।

राजा जब भोजन करने आये, तो अपने पुत्र को बुलाया। तब किसी प्रत्यक्षदर्शी ने कुमार का वृतान्त राजा को बताया। वहाँ से उठकर राजा ने शरीर की मालिश करने वालों को बुलाया। उन्होंने कहा-यह कार्य हमारे लिये असाध्य है। जिन्होंने यह किया है, वे ही इनको स्वस्थ कर सकते हैं। तब उन दोनों कुमारों की पीड़ा के प्रति विशेष सावधान हुआ। और राजा ने श्रमण-उपाश्रयों में उस साधु को खोजा। उन्होंने कहा-हममें से कोई भी ऋषि आपके घर नहीं जाता पर अगर एक प्राघुर्णक साधु गया हो, तो हम नहीं जानते, क्योंकि वह अभी तक वापस नहीं आया है। अतः उसे खोजकर पृच्छा करें। राज पुरुषों द्वारा उसे चारों ओर खोजा गया। जंगल के स्थण्डिल भूमि में उस साधु को देखकर किसी ने राजा को बताया। तब राजा स्वयं वहाँ आया। राजर्षि को देखकर शीघ्र ही पहचान गया कि यह मेरे सहोदर हैं। तब राजा ने लज्जायुक्त होकर विनम्र भक्तिपूर्वक प्रणाम किया।

तब ध्यान का संहरण करके राजर्षि ने राजा को उपालम्भ दिया-राजन्! तुम महाकुलीन हो। तुमने कुल को उजाला है। तुम्हारें पुत्र द्वारा सुसाधुओं की कृत पूजा से जो कीर्ति जगत में व्याप्त हुई है, वैसी कीर्ति किसी की नहीं है। राजा ने कहा- मुझसे अपराध हुआ है। मोह वश मुझ में कुबुद्धि घर कर गयी। हे भ्राता! इन सभी अपराधों को सिर्फ एक बार क्षमा कर दों। प्रसन्न होकर कृपा करके इन दोनों कुमारों को जीवन दान दो। राजर्षि ने कहा-इनको तभी जीवनदान दूँगा, जब ये व्रत ग्रहण करेंगे। हे राजा! तुमने अपने पुत्रों की जैसे उपेक्षा की है वैसे तुम्हारे पुत्र की उपेक्षा मैं कैसे करुँ? मैं चन्द्रावतंसक कुल में कलंक सहन करने में अक्षम हूँ। राजा ने कहा-हे भ्रात! आप वहों आकर के, उन्हें जीवनदान देकर स्वेच्छा से दीक्षा देवें, क्योंकि चन्द्रावतंसक के स्थान पर आप ही हमारे प्रभु है। तब मुनि ने राजा के साथ वहाँ आकर दोनों कुमारों को पूछा-जीवनदान चाहते हो तो व्रत को स्वीकर करो। उन दोनों ने हामी भरी। तब राजर्षि ने उन दोनों के अंगो को स्वस्थान में व्यवस्थित किया। और तत्काल ही उन दोनों को प्रव्रजित कर दिया।

भाई के पुत्र ने तो शुद्ध मति से प्रव्रज्या का पालन किया। मन में अपने आपको धन्य मानते हुए विचार करने लगा कि यदि चाचा ने मुझे प्रतिबोधित न किया होता, तो धर्म का प्रत्यनीक होकर मैं भवसागर में गोते लगा रहा होता। पुरोहित पुत्र भी व्रत का निर्वहन तो कर रहा था, लेकिन ब्राह्मण होने से मुनि की क्रियाओं में कुछ जुगुप्सा भी थी। वह कपट-नाटक करके अध्यात्म को धारण करता था। क्यों इस राजर्षि ने मुझे बलात् दीक्षा दी?

क्रम से मरकर दोनों स्वर्ग में देव रूप से उत्पन्न हुए। वहाँ ब्राह्मण जन्म वाला देव भी अर्हत् धर्म में दृढ़ हो गया। उन दोनों देवो ने परस्पर संकेत किया कि जो पहले यहाँ से च्यवकर जायगा, उसे दूसरा देव प्रतिबोधित करेगा।

द्विज देव सर्वप्रथम वहाँ से च्युत होकर जुगुप्सा कर्म के कारण राजगृह नगर में मेती [हरिजन] की कुक्षि से गर्भ धारण किया। मेती एक सेठ के घर में नित्य सफायी (कचरा निकालने) करने के लिए जाती थी। बहुत समय

तक वहाँ जाने के कारण सेठानी धनश्री उसकी सहेली हो गयी। एकदिन सेठानी ने व्यथित होकर मेती को कहा-सखि! तुम धन्य हो कि तुम्हारी गोद में हंस के समान पुत्र खेल रहा है। मेती ने कहा-दुःखी होना बन्द करो। तुम्हारी गोद में (कुक्षी में) भी तो बच्चा खेल रहा है। सेठानी ने खेदपूर्वक कहा-मेरा यह गर्भ तो सिर्फ निन्दा का पात्र है। हमेशा की तरह इस बार भी मरा हुआ बच्चा पैदा होगा। तब मेती ने कहा-अगर ऐसा हुआ, तो मैं अपना बच्चा तुम्हें दे दूँगी, पर तुम दुःख मत करो। तब सेठानी मेती का पहले से भी ज्यादा ध्यान रखने लगी।

भाग्य योग से दोनों का एक साथ प्रसव हुआ। सेठानी के पुनः मृत लड़की हुई। मेती ने छिपाकर अपना पुत्र सेठानी को दे दिया। स्वयं उसकी मृत पुत्री रख ली। फिर पति को निवेदन किया कि मुझे मृत पुत्री पैदा हुई है। उसके पति ने भी अश्रु भरी आँखों से उस पुत्री को त्याग दिया।

सेठ के घर में पुत्र जन्म का महा-महोत्सव हुआ। उस पुत्र का नाम मेतार्य रखा गया। तब वर्द्धित होते हुए मेतार्य ने संपूर्ण कलाएँ ग्रहण की। पूर्व भव के कृत संकेतानुसार देव ने स्वप्नादि से उसे बोधित किया, पर वह बोधित नही हुआ।

देव की संनिधि के पात्र की तरह संपूर्ण इच्छाओं को जीवन्त पाकर मित्रों के साथ देवकुमार की तरह नित्य क्रीड़ा करने लगा। पृथ्वी तल पर आयी हुई मूर्त्तिमन्ता अप्सराओं के समान आठ श्रेष्ठि कन्याओं के साथ उसकी सगाई हुई। शुभ दिन में उत्सवपूर्वक नागरिकों व स्वजनों से युक्त होकर शिबिका पर आरुढ होकर मेतार्य विवाह करने के लिए निकला। देव से अधिष्ठित मेती के पति ने शोकापन्न होकर अश्रु बरसाते हुए कहा-प्रिये! अगर आज हमारी बेटी जिन्दा होती, तो इतनी ही बड़ी हो गयी होती। हम भी आज उसका विवाह करवा रहे होते। तब मेती ने उसके दुःख को शान्त करने के लिए पुत्र-पुत्री के परस्पर बदलने का वृतान्त बता दिया। मेती का पति देव के अनुभाव के वश में होकर क्रोधित होता हुआ अपने पुत्र की तरफ दौड़ा। किसी प्रकार से अस्खलित उसके पास जाकर कहा-यह मेरा पुत्र है। शीघ्र ही मेतार्य को शिबिका से उतारकर अपने घर ले आया। उसे गर्त्त में गिराकर बोला-हम अपनी ही जाति की वैसी ही स्त्री के साथ मूल्य देकर विवाह करेंगे।

सेठ ने सेठानी से पूछा-यह सब क्या है? उसने मुख फेर लिया। तभी सभी लोग मुख नीचा करके अपने-अपने घर आ गये।

देव ने भी मेतार्य को कहा-क्या अब भी व्रत ग्रहण करने की इच्छा नहीं हुई। उसने कहा-क्या करुँ! तुमने तो मेरी खूब रक्षा की। जगत की प्रतिष्ठा से मैं प्रत्यक्ष ही पतित हुआ हूँ। अब उस प्रतिष्ठा का दर्शन तक नहीं कर सकता हूँ। अतः मुझे पहले के समान स्थान पर स्थापित करो तथा मेरा विवाह राजा श्रेणिक की पुत्री के साथ करवाओ। तब बारह वर्ष बाद मैं सर्वसंयम को ग्रहण करुँगा। संपूर्ण सावद्य क्रियाओं का त्याग करके सिद्धि वधू को प्राप्त करुँगा।

तब उस देव ने उसे रत्न-देनेवाला बकरा दिया एवं कहा कि इन रत्नों के द्वारा तुम स्वयं नृप से उसकी पुत्री के लिए याचना करना। तब प्रातःकाल होते ही उस पशु द्वारा उत्सृष्ट रत्नों से थाल भरकर अपने पिता को बोला-आप जाकर मेरे लिए राजसुता की याचना कीजिए। मेत ने राजा के समीप जाकर रत्नों से भरा थाल रखा। राजा ने कहा-मेत! किस लिए यह महा-भेंट लेकर आये हो? उसने कहा-देव! मेरे पुत्र के लिए आपकी पुत्री का हाथ माँगने आया हूँ। क्रोधान्ध मनवाले राजा ने मेत को चोटी पकड़कर बाहर निकाल दिया। लेकिन पुत्र के वचनों से वह नित्य जाकर भूपति को रत्नों का उपहार देकर राजपुत्री की याचना करता। एक दिन अभयकुमार ने कहा-तुम इतने रत्न रोज कहाँ से लेकर आते हो? क्या चोरी से प्राप्त करते हो या तुम्हारे पास कोई खजाना है? मेत ने कहा-हमारे पास रत्नों का उत्सृजन करनेवाली वस्तु है। राजा ने कहा-तुम वह वस्तु हमें अर्पित करो। उसने कहा-ले लिजिए। तब

राजा ने उस रत्नोत्सर्गी बकरे को लेकर अपने वास-घर के अन्दर बाँधा। धन कहाँ मान्य नहीं है? उस नीच पशु ने नरक के नमूने की तरह मरे हुए घोडे से भी अत्यधिक दुर्गन्धकारिणी विष्टा का उत्सर्जन किया। उस पशु को देवानुभाव जानकर राजा ने उसे वापस मेत को लोटा दिया। तब अभय ने मेत की पुनःपरीक्षा करने के लिए कहा- राजा वैभारपर्वत पर प्रभु को वन्दन करने के लिए कष्टपूर्वक जाते हैं। अतःसुखपूर्वक जानेवाला रथमार्ग वहाँ बनवा दो। इस राजगृह नगर में स्वर्ण कोट करवाओ अपने पुत्र की शुद्धि के लिए देव द्वारा समुद्र यहाँ बुलवाओ। तब नहाकर शुद्ध हुए उसको राजा अपनी पुत्री देगा।

मेत ने जाकर मेतार्य से यह सब कुछ कहा। मेतार्य ने भी देव द्वारा यह सारा कार्य करवा दिया। समुद्र की लहरों में उसने स्नान किया। तब राजा ने अपनी पुत्री तथा उन आठों वणिक सुताओं के साथ शीघ्र ही मेतार्य का विवाह करवाकर उसी श्रेष्ठि को अर्पित किया। तब देव के सान्निध्य से अत्यन्त विश्रुत उन-उन सुखों को इन्द्र की तरह मेतार्य ने बारह वर्षों तक अनुभव किया। देव फिर मेतार्य को प्रतिबोधित करने के लिए उसके पास आया। पर मेतार्य की स्त्रियों की प्रार्थना से उसे पुनःबारह वर्ष का समय दिया। अपनी पत्नियों के साथ चौवीस वर्ष बिताकर मेतार्य ने दीक्षा ग्रहण की तथा नौ पूर्वों का ज्ञान प्राप्त किया। एकलविहारी प्रतिमा को स्वीकार करके पृथ्वीमण्डल पर विचरते हुए तप के द्वारा कर्मों को खपाते हुए पुनःराजगृह नगरी में आया। वे मेतार्य ऋषि भिक्षा के लिए पर्यटन करते हुए मानो अशाता-वेदनीय कर्म से आकर्षित होने के समान स्वर्णकार के घर आये। वह स्वर्णकार श्रेणिक राजा के लिए जिन अर्चना में स्वस्तिक बनाने के लिए नित्य १०८ स्वर्णयव बनाया करता था। काल द्वारा घटित योजना के वशीभूत उन स्वर्णयवों को वैसे ही बाहर छोड़कर आहार लाने आदि कारणवश वह घर के भीतर गया। तभी वहाँ क्रौंच पक्षी आया। उसने उन स्वर्णयवों को धान्य यव मानकर भूख से पीड़ित होने से उन्हें खा लिया। इतने में सुनार बाहर आया। यवों को नहीं देखकर व्याकुल हो गया, क्योंकि राजा की माध्याह्निकी पूजा का समय हो गया था। अगर समय पर स्वर्ण यवों को लेकर राजा के पास नहीं जाऊँगा, तो राजा मेरे टुकड़े-टुकड़े करवा देगा। उस समय वहाँ मेतार्य के अलावा अन्य कोई नहीं था। अतः सुनार ने उनसे पूछा कि यहाँ से स्वर्णयव कहाँ गये? सत्त्व व करुणा युक्त महामुनि ने विचार किया कि यदि मैं कहूँगा कि मैंने यव नहीं लिये, इस पक्षी ने चुग लिये हैं, तो यह अधम, निर्धर्मी, दयारहित सुनार यवों के लिए इस क्रौंच को मार डालेगा। अतः मुझे इस बिचारे का जीवन बचाना चाहिए। इस प्रकार मन में विचार करके मुनि ने मौन धारण कर लिया। मुनि के प्रत्युत्तर नहीं देने पर सुनार अत्यन्त कुपित हुआ। उस दुर्बुद्धि ने गीले चमड़े के पट्टे को उनके सिर पर संकिलष्ट भावों के साथ गाढ़ बंधन से बाँध दिया। उन साधु ने अपने आपको कहा-हे मुनि! तुम किसी पर क्रोध मत करना। ये तो मोह राजा को जीतने में सहायक है। निर्वृत्ति रूपी लक्ष्मी का वरण करने के लिए चलने वाले जीव! यह चमड़े का पट्टा तो मोतियों की माला रूप कलंगी है। हे बन्धु! तुमने पूर्व में जरुर ऐसे ही किन्हीं कर्मों का बंध किया होगा। जो दुःख को स्वयं ग्रहण करता है, वही दुख से मुक्त करता है। और भी, जीव किसके द्वारा उपकारी है? तुम यह नहीं कहोगे कि पक्षी ने चुग लिये हैं। क्रौंच के प्राणों के परित्राण के लिए अपने प्राणों को त्याग देना। नरक मार्ग की ओर ले जानेवाले आर्त्त व रौद्र नामक अपध्यानों को अथवा विक्रियाओं को मानस में जरा भी धारण मत करना। धर्म ध्यान व शुक्ल ध्यान रूपी शुभ ध्यान में आगे बढ़कर कर्मों के इस महा उदय को जीतकर कर्मों की दासता को जीतना है।

इस प्रकार मुनि के ध्यान में स्थित रहते हुए भी उस दुरात्मा ने कहा-बताओ! यव किसने लिए? अगर नहीं बताओगे, तो अभी मारे जाओगे। ध्यान में लीन मुनि ने सुनते हुए भी नहीं सुना। धर्म ध्यान से आगे बढ़ते हुए शुक्ल ध्यान में आरुढ़ हो गये। मुनि के नहीं बोलते पर परम अधार्मिक रूप से मुनि के सिर पर वेष्टित आद्र पट्टा

धूप की गर्मी से सूखते हुए सिकुड़ने लगा। उसका खिंचाव सिर पर बढ़ने लगा। मानो आँखें ही निकल जायगी। फिर भी महासत्त्वशाली मुनि चलाचल न होकर निश्चल रहे। ऐसा लगता था, मानो प्रशम भावों से ही वे प्रकृष्ट मतिमान मुनि निर्मित थे। तब शिर पर पट्टे के आवेष्टन का कसाव न सह सकने के कारण अक्षिगोलक बाहर निकल आये, उसी के साथ कर्मगोलक भी निकलने लगे। निष्कर्म होकर मुनि अन्तकृत केवली बन गये। डरपोक के समान शीघ्र ही सब कर्म छोड़कर लोकाग्र पर चढ़कर बैठ गये।

उधर किसी कर्मकार द्वारा काष्ठ भार वहाँ रखा गया। उसके आघात से कोई शलाका क्रौंच पक्षी के गले में लगी। तब भय से आतुर क्रौंच पक्षी ने यवों का वमन कर दिया। भय से अंदर रहे हुए यव मुख से बाहर आ गये। अन्य क्या कहा जाय! उन यवों को देखकर उस सुनार को लोगों ने कहा-हा! हा! निरपराधी मुनि के प्राणों का तुमने हनन किया है। अन्य भी बहुत से लोग वहाँ आये। उन मुनि को विपन्न देखकर राजा को निवेदन किया। यह सब जानकर राजा अत्यन्त कुपित हुआ। उस सुनार का कुटुम्ब सहित वध करने का आदेश राजा ने दिया ताकि ऋषि की हत्या करने वाले इस पापी का कोई मुख न देखे। उस समय उसने अपने घर के द्वार बंधकर समग्र परिवार के साथ जीने के लिए उसने साधु वेष पहन लिया। तब राजपुरुषों ने उसका वह स्वरूप राजा को निवेदन किया। राजा ने भी उसको बुलाकर कहा-अरे! व्रत का सम्यक् पालन करना। अगर इसका त्यागकर पुनःवापस आ गये, तो लौह की कढ़ायी में क्वाथ की तरह पकाऊँगा। इस प्रकार कहकर उसे छोड़ दिया। और सुनार ने परिवार सहित चारित्र का पूर्ण पालन किया।

जिस प्रकार मेतार्य मुनि ने अपने जीवन का बलिदान देकर क्रौंच पक्षी के जीवन की रक्षा की, उसी प्रकार सिद्धि रूपी लक्ष्मी का संगम चाहनेवालों के द्वारा जीव दया करनी चाहिए।

इस प्रकार प्राणातिपात विरति व्रत में मेतार्य मुनि की कथा संपन्न हुई।

।। द्वितीय कालकाचार्य की कथा ।।

जम्बूद्वीप के दक्षिण भरतक्षेत्र में गंगा-सिन्धु नदी के मध्य भाग के मध्य खण्ड में सुविस्तार वाली अति सुन्दर तुरमणी नगरी थी। जिसमें रहते हुए लोगों का सुख स्वर्ग के सुख को भी नकारता था। संपूर्ण शत्रुओं को जीतनेवाला जितशत्रु नामक राजा वहाँ का अधिपति था। उसके प्रताप का सूर्य सदेव उदित होते हुए नभोसूर्य का तिरस्कार करता था।

उस नगर में ब्राह्मण क्रियाओं की मूर्त्तरूपा भद्रा नामकी ब्राह्मणी थी। उसके दत्त नामका एक पुत्र हुआ। शराबी जुआरी, दम्भचर्यारूप कर्म में कुशल, शूर, क्रूर, वंश दूषक, कृतघ्नी स्वामीवंचक, वाचाल, ईर्ष्यालु, चतुर, दूसरों के मन की बात जाननेवाला, सभी विपरीत प्रक्रियाओं से भ्रष्ट वह ब्राह्मणीपुत्र दत्त नित्य राजा की सेवा करता था। वश में करनेवाले उन-उन वचनों द्वारा वश में हुए राजा ने उसे सेनापति बना दिया। महामात्य, महाध्यक्ष आदि को सभी को नीचा करके वह राज्य में राजा के समान कर्त्ता-हर्त्ता तथा वाहक बन गया। सम्पूर्ण व्यापारियों के स्थापन कर, उत्थापन-कर [क्रय-विक्रय के कर] आदि में भेद डालकर राज्य को ग्रस लिया। जितशत्रु राजा को शुक की तरह काष्ठ के पिंजरे में डाल दिया। फिर दिन-दिन बढ़ते हुए तेज को प्राप्तकर प्रतापवान होता हुआ उस राज्य में वह स्वयं राजा बन गया। उसने मांडलिक राजाओं तथा सीमान्त राजाओं को अंकित दासों की तरह अपने पाँवों के नीचे रखा। किसी के भी द्वारा अपराभूत तथा स्वयं दूसरों को पराभूत करते हुए वन के बीच सिंह की तरह वह अकेला ही राज्य करता था। बहुत अधिक महायज्ञ तथा पशुमेध-यज्ञ आदि करते हुए सम्पूर्ण पृथ्वी को उसने बलि के पशुओं को बाँधने की तरह रोमांचित कर दिया। परशुराम के समान जमदग्नि ऋषि की तरह केवल ब्राह्मणो

को उसने खुश किया, बाकी अन्य सम्पूर्ण उच्च जनों को हटाकर उनका तिरस्कार किया।

उस दत्त राजा का एक मामा ब्रह्मचर्य में निष्ठ कालिकाचार्य नामवाले श्वेताम्बर गणाधिपति थे। विशिष्ट अतीन्द्रिय ज्ञान से वे तीनों काल की बात जानते थे। वे एक-बार धरतीतल को पावन करते हुए वहाँ पधारे। अपने मामा को वहाँ आया हुआ जानकर दत्त वहाँ आकर उनको नमस्कार करके उनके सामने बैठा। क्षीर-समुद्र की लहरों के समान देशना उन्होंने दी। देशना सुनने के अवसर पर दत्त ने उनसे पूछा-यज्ञों का क्या फल है? गुरु ने कहा-हे महाभाग! क्या धर्म पूछते हो? राजन्! धर्म हिंसा के परित्याग से निर्मल होता है। राजा ने पूनः पूछा-यज्ञ का फल कहो। गुरु ने कहा-हे राजन्! अधर्म से दुर्गति होती है। दत्त ने क्रोधपूर्वक कहा-क्या तुम बहरे हो कि मैं पूछता कुछ हूँ और तुम जवाब अन्य कुछ देते हो। गुरु ने कहा-हे राजन्! मुझ में बधिरता नहीं है। राजा ने कहा-तो फिर यज्ञ का फल क्यों नहीं कहते हो? गुरु ने विचार किया-यह दुरात्मा दत्त अभिनिवेश पूर्वक शठता के कारण प्रत्यनीकता से अधम पाप का फल पूछता है। अगर मैं यथार्थ का कथन करुँगा तो इस कुमति को वह नहीं रुचेगा। लेकिन मैं इसके भय से कुछ भी असत्य नहीं कहूँगा। इस प्रकार विचार करके गुरु ने राजा को यथार्थ स्वरूप बताते हुए कहा-हे राजन्! हिंसा आदि हेतुओं से यज्ञ का फल नरक है। क्रोधाग्नि से जलने के समान उस मिथ्यादृष्टि ने गुरु को कहा-हे वाचाल! तुम्हारे वचनों पर हम कैसे विश्वास करें? गुरु ने अपने ज्ञान से जानकर कहा-यह विश्वास होगा क्योंकि राजन्! आज से सातवें दिन तुम कुत्तों द्वारा खाये जाते हुए कुम्भीपाक में पकाये जाओगे। उसने द्वेष से जलते हुए कहा-हे आचार्य! क्या यह बात विश्वासपूर्वक कहते हो या ऐसे ही? गुरु ने कहा-हे राजन्! मैं बिना विश्वास के कोई बात नहीं कहता। इस अर्थ में तुम भी यह विश्वास जान लोगे। सातवें दिन प्रभात में ही राजमार्ग पर तुम्हारे मुख में घोड़े के खुर से खोदी गयी विष्टा प्रवेश करेगी। यह सुनकर रुष्ट होता हुआ दत्त भुजाओं को फडफड़ाता हुआ आधी आँखों को बंदकर, होठों को दंशता हुआ, कम्पमान अंगवाला मूर्त्त क्रोध की तरह हो गया। उसने आचार्य को कहा-तुम ज्ञानवान की तरह यहीं बैठो तथा बताओ कि कहाँ व कैसे तुम्हारी मृत्यु होगी। गुरु ने कहा-चिरकाल तक निजव्रत का पालन करके अन्त में समाधिपूर्वक मरण प्राप्त करके मैं देवलोक में जाऊँगा। तब आचार्य को बन्दी बनाने के लिए सैनिकों को वहाँ छोड़कर वह दुराशयी दत्त बोला-आठवें दिन मैं तुम्हारी समाधि करवाऊँगा।

वहाँ से उठकर अपने महल में जाकर उसने दुःखपूर्वक हृदय में सोचा-मैं सात दिन तक यहीं छिपे हुए की तरह जीवन-निर्वाह करुँगा। आठवें दिन उसी आचार्य द्वारा उच्चारणपूर्वक लगातार अत्यन्त उत्साहपूर्वक नरमेध महा-यज्ञ करवाऊँगा। इस प्रकार विचारकर अपने भवन के भीतर अन्तर्ध्यान हो गया, जिससे मृत्युरूपी भय कहीं से भी दिखायी न पड़े। इधर उस राजा के सभी माण्डलिक आदि उससे विरक्त होकर विचार करके उसे पकड़ने के लिए उचित अवसर की प्रतीक्षा करने लगे।

आर्त्त-ध्यान करते हुए दत्त ने पाँच दिन व्यतीत किये। भाग्य का मारा वह छठ्वे दिन को सातवाँ दिन मान बैठा। संपूर्ण घर के आँगनों की तरह राजमार्गों को साफ करवाकर रात्रि में अंगरक्षकों द्वारा अपने शरीर के समान उन मार्गों की सुरक्षा करवायी।

सातवें दिन प्रभात होने के समय कोई माली अपने उद्यान से पुष्पों की टोकरी भरकर राजमार्ग पर जा रहा था। मल के आवेग को न रोक सकने से वह राजपथ में ही अपने कार्य से निपटकर अर्थात् मलोत्सर्ग करके शीघ्र ही पुष्पों द्वारा उसे ढककर चला गया। उधर सामन्तों, मंत्रीमण्डल आदि के साथ सर्वसामग्री व राजपाट से युक्त राजा दत्त चला। आज जाकर उस असंबद्ध प्रलापी आचार्य को शिरोच्छेद आदि प्रायश्चित दूँगा। इस प्रकार बोलते हुए राजमार्ग से जाते हुए वह पुष्पों से ढका हुआ मल घोड़े के खुरों के पड़ने से उछलकर राजा के मुख में प्रविष्ट

हो गया। गुरु वचनों पर विश्वास के साथ ही उसकी मुखाकृति रंगहीन हो गयी। अपनी भावी नारकीय मृत्यु दुःसह रूप से मन को भयभीत बनाने लगी। उसने विचार किया-निश्चय ही आज सातवाँ दिन है, आठवाँ नहीं। मुझसे भूल हो गयी है। अतः लौटकर वापस घर चला जाऊँ। इस प्रकार मन में विचार करते हुए राजा दत्त ने बिना किसी को बताये शीघ्र ही घोड़े का मुख फेर लिया। तब उसके सामन्तों आदि के मन में शंका उत्पन्न हुई कि इस दत्त के मन्त्र-तन्त्र शुद्ध नहीं है, जिससे कि यह वापस मुड़ गया है। अतः महल में प्रवेश करने से पहले ही अभी ही इसे पकड़ ले। इस प्रकार विचार करके देखते ही देखते सभी ने दत्त को पकड़ लिया। पूर्व राजा जितशत्रु को पिंजरे से मुक्त करवाकर राज्य पर आसीन किया। फिर उपहार की तरह बाँधे हुए दत्त को राजा जितशत्रु को भेंट किया। राजा ने भी उसके पाप रूपी वृक्ष के पुष्प को बताने के लिए कुत्तों के साथ बाँधकर उसे कुम्भी में डालकर द्वार के नीचे अग्नि जला दी। धातु की तरह जलने से उसकी धमनियाँ तपने लगी। ताप से दुखित भूखे कुत्तों द्वारा उसके टुकड़े-टुकड़े कर दिये गये। आर्त्त-रौद्रध्यान रूपी भूजाओं का आलम्बी वह दत्त नरक को प्राप्त हुआ।

उधर कालिकाचार्य ने चिरकाल तक संयम पाला। शुभ ध्यान रूपी अमृत का पान करते हुए वे देवलोक में गये। अपने जीवन को तृण के समान जानकर जैसे कालिकाचार्य ने दत्त के डर से असत्य नहीं कहा, वैसे ही सभी के द्वारा असत्य-भाषण नहीं करना चाहिए।

इस प्रकार मृषावाद विरति व्रत में विप्र कालिकाचार्य का कथानक संपन्न हुआ।

अब तृतीयव्रत पर रौहिणेय की कथा कहते हैं-

।। रौहिणेय की कथा ।।

इस भरत क्षेत्र में जम्बूद्वीप के एक बाजु में सर्व देश-गुणों से युक्त मगध नाम का देश था। उसमें राजगृह नाम का पुर था। वह राजगृह नगर जगत के सम्पूर्ण नगरों के बीच अपनी मनोरमता को प्राप्त करता हुआ सकल-श्री से युक्त उत्तम पुर के रूप में स्थित था। प्रजा रूपी चन्द्रकान्त मणियों के बीच चन्द्रमा के समान राजा श्रेणिक नित्य बढ़ते हुए प्रताप रूपी कौतुक से अखण्डित था। उस राजा के रानियों में दो अतीव प्रिय रानियाँ थीं-सुनन्दा और चेलणा। जिस प्रकार काम देव को रति में तथा शिवजी को पार्वती में प्रीति थी, उसी प्रकार राजा की प्रीति उन दोनों रानियों में थी। सुनन्दा रानी के अभयकुमार नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। वह अर्हत्धर्म से युक्त पवित्रात्मा था तथा बुद्धि रत्न के पर्वतों का समूह था। राजगृह के समीप ही वैभार नामका महापर्वत था। सूर्य के उदय व अस्त के लिए वह ज्योतिष चक्र विश्रामस्थल की तरह था। उसी पर्वत में एक गुप्त गुफा गर्भ था, जो किसी को भी ज्ञात नहीं था। उसमें कुविख्यात लोहखुर नामका चोर रहता था। राजगृह में पौरजनों को ठगता हुआ वह चोर सम्राट राजा की तरह अपनी आज्ञा में रहे हुए दास-दासियों के पुत्रों को अपना ही मानता था अथवा परस्त्री तथा परधन पराये होते हुए भी आत्मा को प्रिय लगते हैं। इस प्रकार राजगृह में सब कुछ आत्मीय रूप से भोगता था। उसका पुत्र रौहिणेय उसकी पत्नी रोहिणी की कुक्षि से उत्पन्न हुआ। दीप से जलाये हुए दीप की तरह वह साक्षात् उसी के अनुरूप था। अपना मृत्युकाल समीप जानकर लोहखुर ने अपने पुत्र से कहा-मैं तुम्हें एक सीख देना चाहता हूँ। हो सके तो उसका पालन करना। उसने कहा-हे तात! आपके वचन मेरे लिये गुरु आज्ञा के समान हैं। अतः आदेश दीजिए। पुत्र के विनय से खुश होकर लोहखुर ने कहा-वत्स! देवों द्वारा निर्मित समवसरण में श्रीवीर की धर्मव्याख्या होती है, पर तुम उनके वचनों को कभी मत सुनना। अपने कुल के अनुरूप कार्य करना। शेष अपनी बुद्धि के अनुसार कार्य करना। इस प्रकार कहकर स्वकर्म के फलस्वरूप पंचत्व को प्राप्तकर नरक में निवास किया।

पिता के मृत्युकार्य को करके रौहिणेय ने भी क्रम से उनके आदेश को अपने शरीर की तरह रक्षा करते हुए

पिता के समान ही चौर-कर्म शुरु किया। एक दिन राजगृह में श्री वीर जिनेश्वर का समवसरण लगा। योजनगामी वाणी को धारण करती हुई उनकी देशना हुई। रौहिणेय उस समय राजगृह नगर की ओर जा रहा था। बीच में ही समवसरण देखकर उसने विचार किया-अगर इस पथ से जाता हूँ तो अर्हत् वचन सुनने पर पिता के आदेश का लोपन होगा और दूसरा पथ नहीं है। इधर बाघ और उधर नदी के समान स्थिती होने से वह विचार करके कानों में अंगुली डालकर शीघ्र ही राजगृही को गया। अपना कार्य करके पुनः वैसे ही घर आ गया। इस प्रकार समुद्र की लहर की तरह वह आता-जाता रहा। समवसरण के पास से शीघ्रता से निकलते हुए एक दिन उसके पाँव में काँटा गड़ गया, मानो शिकारी के शरीर में भाला घुस गया हो। पाँव से उस काँटे को निकाले बिना वह एक कदम भी जाने में समर्थ नहीं हुआ। अतः हाथ से काँटे को निकालने के लिए उसने एक कान से अंगुली निकाली। और तभी भगवान की वाणी उसके कान में प्रवेश कर गयी कि देवों की पुष्पमाला कभी मुरझाती नहीं। मन इच्छित कार्य पूर्ण होते हैं। उनके पाँव भूमि का स्पर्श नहीं करते। उनको पसीना नहीं आता तथा उनकी दृष्टि निर्निमेष होती है अर्थात् वे पलके नहीं झपलाते। हाय! मैंने बहुत सारी वाणी सुनली-इस प्रकार कहकर शीघ्र ही काँटे को निकालकर पुनः अंगुली को कान में डालकर वह उसी तरह चला गया। सुनी हुई बातों को भूलने का प्रयत्न किया वैसे-वैसे वे बातें दृढ़ हो गयीं।

इस प्रकार प्रतिदिन पुर में चोरी होते देखकर महाजनों ने नृप के पास जाकर उपहार भेंटकर अर्ज किया कि देव! आप जैसे राजा के रहते हुए हमें अन्य किंचित भी भय नहीं है, किन्तु निर्नाथ की तरह उस चोर ने सभी घरों को श्री-विहीन कर छलनी बना दिया है। चोर ने सब कुछ लूटकर लोगों को मुनिजन की तरह निःस्व बना दिया है। यह सब सुनकर क्रोधपूर्वक राजा ने भृकुटि टेढ़ी करते हुए सोंठ, मध व मिर्च के मिश्रण रूप त्रिकटु के समान कटु वचनों द्वारा आरक्षकों को कहा-अरे! मेरे ऋणदाताओं के अंश का हरण करनेवालें से तुम उनकी रक्षा नहीं करते। केवल रक्षा करने के लिए आजीविका ही ग्रहण करते हो, रक्षा तो नहीं करते। उसने कहा-देव! क्या करुँ? वह तस्कर सामान्य नहीं है। उसको पकड़ना शक्य नहीं है, क्योंकि वह वेग से उड़ने के समान गायब हो जाता है। हम तो उस आकाश चारी के सामने भूमिचारी हैं। अतः कैसे समर्थ हो सकते हैं। अतः हे देव! उसके लिए और कुछ ही कीजिए। मृगों के बीच केसरी की तरह यह असाध्य चोर है।

तब श्रेणिक ने अभयकुमार का मुख देखा। अभय ने भी कहा-देव! आखिर यह मनीषि चोर कब तक चोरी करेगा। अगर मैं सात दिन के अन्दर-अन्दर चोर को पकड़कर नहीं हाजिर करुँगा तो खुद को आपके हवाले कर दूँगा। यह सुनकर सभा के मध्य किसी के साथ आये हुए चोर ने अभय को कहा-तुम्हारी यह प्रतिज्ञा युक्त नहीं है। इस प्रकार की जल्दबाजी अल्पबुद्धि वाले को ही शोभती है। पर अब सोचने से क्या फायदा? अपने वचन का निर्वाह करो। इस प्रकार कहकर रौहिणेय ने भी मन में विचार किया कि अगर इन सात दिनों में मैं चोरी नहीं करुँगा, तो मैं लोहखुर का बेटा नहीं। इस प्रकार सोचकर खात्री देकर ऋषभ कूट पर पद्मादि आकृति करके उस पर स्वयं रौहिणेय लिखा।

अभय भी शून्य देवकुल आदि सभी चोरों के छिपने के स्थान पर घूम-घूमकर चारों ओर देखता हुआ उद्यत हुआ। खात्री को नहीं देखता हुआ चोर को नहीं प्राप्त करता हुआ गुलाम की तरह अभय छ दिन तक न सुख से सोया, न बैठा। सातवें दिन ईंट द्वारा प्राकार करवाकर उसके बाहर पादचारी सेनिकों द्वारा मानव-प्राकार बनवाकर सर्वत्र अपने संपूर्ण आरक्षकों को अनुशासित करके बैठा दिया। ईंटो के प्राकार के बाहरी तरफ अभय स्वयं अन्य वेष बनाकर बाहर देखता हुआ चिन्तापूर्वक विचार करने लगा। राजा के आगे बिना सोचे समझे मैंने दुष्प्रतिज्ञा कर ली। ताप के सामने हिम की तरह मेरा व्रत-मनोरथ विलीन हो गया। अगर तस्कर नहीं मिला तो या तो मुझे प्राण

त्याग करना पड़ेगा। या फिर जीने को इच्छा होने से पिता को छोड़कर अन्यत्र जाकर रहना होगा। पर-

यद्वा सन्धात्यागो न किं मृतिः ।

प्रतिज्ञा तोड़ने की अपेक्षा मेरा मरना ही श्रेष्ठ है।

तभी कहीं से आया हुआ एक पुरुष अपने सामने देखा। सामुद्रिक शास्त्र में वर्णित चोर के सभी लक्षणों से वह लक्षित था। उसने अभय से कहा-क्यों चिंतित दिखायी दे रहे हो? अभय ने कहा-मेरी प्रेमिका गरीब की पुत्री है। अन्य सभी दिन मैं खाने-खिलाने यहाँ आता हूँ। वह भी आती है। पर आज नहीं आयी। अतः चिन्तातुर हूँ। उसने कहा-चिन्ता मत करो। आओ! भोजन करने चलते है। अभय ने मन ही मन कहा-तुम्हें देखने से मेरी चिन्ता तो दूर हो गयी है। तब अभय उसके साथ नगर के मध्य में आ गया। अपने कंदोई की दूकान में गया। उसने भी भोजन दे दिया। अपने कृत्य के लिए गये हुए उसके पीछे छिपकर जाने के लिए अभय ने भी यह कहा कि मैं कुछ ही क्षणों के अनन्तर भोजन करुँगा-इस प्रकार कहकर उसके पीछे-पीछे चला गया।

आधीरात को उसने किसी ऊँचे घर में सेंध लगायी। खात्री खोदकर चोरी का माल लेकर अभय के डर से निर्भय वह वहाँ से निकला। "चोर-चोर! देखो! आगे चोर जा रहा है।" अभय के इस प्रकार कहने पर चोर ने अभय को पहचान लिया। उसके डर से भयभीत होकर भी जल्दी से उसने कहा-कहाँ है? कहाँ है? घर में खोदी हुई खात्री में माल वापस डालकर शीघ्रता से हवा की तरह वेग से वह दुष्ट बुद्धि चोर भाग गया। अभय ने भी रक्षक-सिपाहियों से कहा-दौड़ो! दौड़ो! पकड़ो! पकड़ो! चोर यह जा रहा है। यह जा रहा है। जब तक वे सभी दौड़ते, तब तक वह भूमि को छोड़कर बन्दर की तरह उछलकर घरों को लाँघता हुआ कोट के बाहरी प्राकार की तरफ गया और मृग की तरह पकड़ा गया। रक्षकों द्वारा दबोच लिया गया। रक्षकों द्वारा अभय को अर्पित चोर अभय द्वारा राजा को अर्पित किया गया। राजा ने उससे पूछा क्या तुम रौहिणेय हो? अपनी बुद्धि का सहारा लेकर उसने भी राजा से कहा-चोर नहीं होते हुए भी मैं चोर हूँ। देव! मेरा निग्रह कीजिए। अभय की प्रतिज्ञा मेरी मृत्यु से ही पूर्ण होगी, मेरे जीने से नहीं। राजा ने कहा-तो तुम चोर नहीं हो? उसने कहा-मैं चोर कैसे हो सकता हूँ? मेरा नाम दुर्गचण्ड है। मेरा परिवार शालिग्राम में है। मैं तो भोजन करने के लिए अपने घर जा रहा था। राक्षस के समान आरक्षों द्वारा अक्षिप्त भूमि देखते-देखते बहुत रात बीत गयी। भय से प्रकाश पड़ते ही मैं बाहरी आरक्षगृह में गिर गया। मारी हुई मछली को पकड़कर लाये हुए मछुआरों की तरह मैं लाया गया। अतः हे देव! उनके द्वारा बिना अपराध के मैं चोर की तरह बाँधा गया। और अब यहाँ लाया गया हूँ। हे नीतिज्ञ! जो करना हे, सो करिए।

तब राजा ने उसे जेल में डालकर अपना गुप्तचर उसके गाम में भेजा। उस दीर्घदर्शी चोर द्वारा गाँववालों को पहले ही संकेत कर दिया गया था। राजपुरुषों ने जो भी पूछा, वह सब उन्होंने बता दिया। दुर्गचण्ड यहाँ रहता है, पर अभी कहीं गया हुआ है।

यह सब उन्होंने लौटकर राजा को बताया। अभय विचार करने लगा-मेरे द्वारा जो चोर देखा गया, वह निश्चय ही यही है। लेकिन यह शठता की निधि रूप है। उसकी परीक्षा करने के लिए अभय ने एक सप्तखण्ड वाले महल में स्वर्ण, रत्न, मुक्तामणियों द्वारा रचित देवलोक के विमान के समान एक हॉल सुसज्जित करवाया। तुम्ब रूप गाँन्धर्व नारियो तथा अप्सराओं, देवों के समान दास-दासियों का समूह वहाँ स्थापित करने से देवलोक से भी अधिक आभावान वह महल लग रहा था।

तब अभयकुमार ने उसको खूब मदिरापान करवाकर मूर्छित बना दिया। उसी अवाचा में उसे देवदूष्य वस्त्र पहनवाकर रत्नजटित पलंग पर उस सप्तखण्डी महल में सुला दिया। नशा खत्म होने पर वह उठा, तो उसने उस अदृष्ट, असंभाव्य, दिव्य, अद्‌भूत देव ऋद्धि को देखा। तब अभय द्वारा सिखाये गये नर-नारी गणों द्वारा जय-जय

कार के मंगल-उच्चारणपूर्वक कहा गया-हे देव! आप इस विमान में देवरूप से उत्पन्न हुए है। आप हम सभी के स्वामी हैं। हम सभी जन आपके दास हैं। अपनी अप्सराओं के साथ आप शक्र की तरह क्रीड़ा कीजिए। यह सुनकर उसने विचार किया-क्या मैं सचमुच देव रूप में उत्पन्न हुआ हूँ? उसी समय गान्धर्वों ने नृत्य लीला आदि शुरु कर दी। उत्सव शुरु हो गया। वह विचार करने लगा कि मानो उसे गाँव से उठाकर शहर में फेंक दिया गया है।

इसी बीच प्रतीहार ने आँख का इशारा किया और सहसा उठकर संगीत आदि आडम्बर को रोककर नये जन्मे हुए देव से कहा-हे देव! इस विमान का कल्प है कि पूर्व में कृत जो भी शुभाशुभ है, उसे प्रकट करके फिर यहाँ की श्री सम्पदा का भोग किया जाता है। तब उसने विचार किया कि मुझ पाप करने वाले को स्वर्ग कैसे मिल सकता है? मेरा पता लगाने के लिए यह अभय का ही कोई प्रपंच है। अतः पाँव से काँटा निकालते वक्त वीर जिनेन्द्र के जो शब्द मैंने सुने थे, उन्हीं देवलक्षणों से मैं यथार्थ का पता लगाऊँगा। इस प्रकार विचार करके चोर ने उन्हें देखा, तो उनके पाँव पृथ्वीतल का स्पर्श कर रहे थे। उनकी पलकें झपक रही थी। पुष्पमालाएँ भी म्लान हो रही थीं। शरीर पर पसीने की बूँदे भी चमक रही थीं। और भी, सुना है कि देव मन से कार्य साधक होते हैं। अगर मैं देव हूँ, तो अभी यहाँ रत्नवृष्टि होवे। लेकिन रत्नवृष्टि नहीं हुई। तब उसे सारा कपट नाटक ज्ञात हुआ। रौहिणेय ने भी अपनी शठता से अभय के प्रपञ्च पर करारा प्रहार करते हुए कहा-हे गान्धर्वों! सावधान होकर सुनो! पूर्व जन्म में मैंने सुपात्र दान दिया। जिनालय बनवाये। उसमें बिम्बों की स्थापना की। अष्ट-प्रकार की अर्चना की। गुरु की पर्युपासना करते हुए श्रुत-पुस्तिका लिखी। उस प्रकार उस ज्ञाता चोर द्वारा अपने एकमात्र शुभकर्मों की ही प्रशंसा की गयी।

गान्धर्व देवों ने कहा-अपने अशुभ कर्म चौर्य कर्म, परदारा सेवन आदि को भी बतायें। उसने कहा-साधु-सेवियों के द्वारा कुछ भी अशुभ नहीं किया जाता। अगर किया जाता, तो इस प्रकार का स्वर्ग सुख प्राप्त नहीं होता।

अभयकुमार वहाँ परदे की ओट से ये सारी बातें सुन रहा था। उसने विचार किया कि निश्चय ही इसने देवस्वरूप बतानेवाले जिनेश्वर के वचन सुने हैं। अन्यथा मेरे इस बुद्धि पाश से निकलना शक्य नहीं था। तब अभय ने वहाँ आकर उसका आलिंगन करके कहा-मैं किसी के भी द्वारा अविजित था, आज तुम से हार गया। पर देव का स्वरूप तुमने अपनी बुद्धि से पहचाना या कहीं अर्हन्त् वचन सुनें। आज से तुम मेरे सहोदर जैसे हो। अतः यथावस्थित सब कुछ बताओ। अभय के सद्भाव के कारण उसने भी अपनी मूल कथा कही। वह यशस्वी रौहिणेय तस्कर मैं ही हूँ। हे मंत्रिन्! आप तो बुद्धि में बृहस्पति के समान अजेय हैं। मेरे जैसा कीड़ा आप पर विजय कैसे प्राप्त कर सकता है? किन्तु अरिहन्त वचन के द्वारा मैंने उस दुर्लंघ्य को भी लांघ लिया। महानदी के पोत के समान आपकी प्रज्ञा है। हे बन्धु! अगर मैंने जिन वचनों को न सुना होता, तो किस-किस दुर्मार से राजा द्वारा नहीं मारा जाता।

तब अभय उसको लेकर राजा श्रेणिक के पास गया। उसने कहा-देव! आपके पुर का चोर यह रौहिणेय है। क्रोधित होते हुए राजा ने शीघ्र ही उसका वध करने के लिए तलवार खींची। अभय ने कहा-देव! यह इस कर्म से अब लौट चुका है। मैं चोर हूँ-यह कथन इसने न बल से किया, न बुद्धि से। बल्कि मेरे द्वारा इसे भाई कहे जाने पर ही इसने स्वयं की स्व कथा कही है। फिर अभय ने अपने देवलोक की रचना की कथा राजा को बतायी। राजा ने प्रसन्न होते हुए उसे अभय का अनुज मान लिया।

तब रौहिणेय ने कहा-मेरे द्वारा लुटा हुआ सारा माल ग्रहण कीजिए। अर्हत् वचन में तृष्णावान होकर अब मैं व्रत ग्रहण करुँगा। राजा के आदेश से अभय वह सारा धन ले आया एवं जिसका-जिसका जो-जो धन था, उसे उसी वक्त वापस लौटा दिया।

रौहिणेय ने अपना वृत्त बताकर अपने सहयोगियों को प्रतिबोधित करके अभय व श्रेणिक राजा के साथ वीर जिनेश्वर के पास पहुँचा। रौहिणेय ने प्रणाम करके कहा-हे स्वामी! कठिनाई से तैरने योग्य भव सागर में आपकी योजन गामी वाणी मनुष्यों को तिराती है। मूढ़ातिमूढ़ अभिमानी मेरे पिता द्वारा मेरे लिये आपके वचन सुनने का निषेध किया गया। मेरे पिता ने मेरी इतनी हानि की और मूर्ख-शिरोमणि मैंने आपकी वाणी नहीं सुनी। हाय! आप को छोड़कर नीम को चाहनेवाले काग की तरह मैंने आपके वचनों को छोड़कर एक चोर के वचनों में प्रीति धारण की। हे स्वामी! आपके उपदेश का एक देश भी निवृतिप्रद है। क्यों न हो-

न स्यान्माधुर्यभाक् किं वा शर्कराया लवोऽपि हि ।

शक्कर का एक दाना भी क्या मधुरता का पात्र नहीं होता?

हे प्रभो! आपके उपदेश रूपी अमृत के कणों को जो नित्य श्रद्धापूर्वक यहाँ पीते हैं उन का क्या-क्या नहीं होगा। हाय! मुझे सोचकर भी कष्ट होता है कि मैं कैसे आपके वचन श्रवण के त्रास से अपने कानों को ढककर इस स्थान से निकलता था। आपके एक ही वचन को बिना इच्छा के सुनने से मेरे द्वारा अभय के बुद्धिबाण की स्खलना की गयी। अगर आपका एक वचन मुझे मरण से रक्षा दिला सकता हैं, तो हे जगन्नाथ! मुझे सदा के लिए अमर कर दो। तब प्रभु ने कहा-सात्त्विक साधु धर्म ही उस प्रकार की अमरता को संपादन करने वाला रसायन है। उन वचनों को सुनकर रौहिणेय की भावना द्विगुणित हो गयी। राजा श्रेणिक तथा महामंत्री अभय द्वारा निष्क्रमण महोत्सव किया गया। श्री महावीर के पास प्रव्रज्या अंगीकार करके उनके वचनामृत का पान करते हुए महावीर स्वामी के साथ विहार किया। शरीर से निरपेक्ष रहते हुए उपवास से लगाकर छ मासी तक दुष्कर व उज्जवल तप से तप्त हुए। एकासणे के समान लीलामात्र से एकावली प्रमुख अनेक तपों को तपते हुए रौहिणेय साधु ने महाधैर्य को धारण किया। ग्रीष्म काल में सूर्य की आतापना लेते तथा शीत काल में हिमागम सहन करते। अस्थि चर्म से अवशेष अंगवाले वे मुनि तप श्री से दीप्तिमान बने।

एकबार वीर प्रभु पुनः राजगृही पधारे। श्रेणिक महाराज प्रभु को वन्दना करने आये। श्रेयसी भक्ति से प्रभु को नमस्कार करते हुए पूछा-हे प्रभों! इन मुनियों में कौन से मुनि विशेष रूप से महासत्त्वशाली है। श्रीमद्वीर जिनेन्द्र ने कहा-राजन्! वैसे तो सभी मुनि महासत्त्व वाले है, पर रौहिणेय मुनि विशेष रूप से महासत्त्व वाले हैं। तब श्रेणिक राजा ने अतिभक्तिपूर्वक उन्हें प्रणाम किया। कहा भी है-

पाषाणोऽपि गुणैः किं वा देवबुद्ध्या न पूज्यते ।

गुणों का आरोपणकर देव बुद्धि से क्या पाषाणों को नहीं पूजा जाता?

अत्यन्त उग्र तप रूपी अग्नि से अपने दुष्कृतों को भस्म सात करते हुए अन्त समय प्राप्तकर वीर जिनेश्वर को पूछकर आलोचना प्रतिक्रमण करके सम्पूर्ण प्राणियों से क्षमायाचना करके पुनः व्रत उच्चारण करके समता सुधारस का पान किया। आराधना विधिपूर्ण करके अनशन धारण करके पर्वत पर जाकर शुद्ध शिलातल पर पादपोपगमन संथारा ग्रहण किया। ध्यान संपूर्ण करके वे तेजस्वी, भाग्यशाली मुनि परमेष्ठिमन्त्र का लगातार स्मरण करते हुए देह का त्याग कर देवत्व को प्राप्त हुए वहाँ से क्रमपूर्वक रौहिणेय मुनि सिद्धि का वरण करेंगे।

इस प्रकार अदत्तादान विरतिव्रत में रौहिणेय की कथा पूर्ण हुई।

अब चतुर्थव्रत पर सुदर्शन शेठ की कथा कहते है-

।। सुदर्शन शेठ की कथा ।।

इसी जम्बूद्वीप के अन्दर मध्यखण्ड में भारत में निष्प्रकंप चंपा नामकी नगरी थी। वहाँ दधिवाहन राजा राज्य

करता था। देवलोक से आयी हुई देवी के समान उसके अभया नामकी महारानी थी। केवल नेत्र विलास के कारण ही वह मनुष्यनी प्रतीत होती थी। उसका रूप यौवन सब कुछ देवी के समान था। रूप से वह इन्द्राणी को, सौभाग्य से वह पार्वती को, वचन-लब्धि के द्वारा सरस्वती देवी को पराभूत करती थी।

उसी नगरी में महाजनों में श्रेष्ठ नगर सेठ ऋषभदास नामका श्रेष्ठी था। अर्हत् प्रवचन रूपी उद्यान में वह विलास करने को उस वाणी रूपी रस को ग्रहण करने के लिए सदैव लालायित रहता था। उसकी पत्नी अपने नाम के अनुरूप अर्हद्दासी थी। जय श्री के समान धर्म में स्थित, राज्य श्री के समान बहुत समर्थ थी।

उस श्रेष्ठि की भैंसो को चराने वाला सुभग नामका महिषीपालक था। धर्म को बिना देखे, बिना सुने भी स्वभाव से भद्र था। एक दिन सायंकाल भैंसो को चराकर वापस आ रहा था, तो उसने नगर के समीप प्रतिमा की तरह स्थित एक मुनि को देखा। उसने विचार किया कि ये मुनि इतनी भयंकर शीत में बिना कुछ ओढ़े तपस्या में कैसे स्थिर खड़े रह पायेंगे। इस प्रकार विचार करता-करता वह जंगल से घर चला गया। पास में ही मुनि को वैसी ही स्थिती में देखा। रात्रि में पुनः शीत से पीड़ित उन साधु को याद करके वह चिन्तातुर हो गया। प्रभात न होने पर भी रात्रि में ही वह भैंसो को लेकर जंगल चला गया। पास में ही मुनि को वैसी ही स्थिती में देखा। भक्ति से प्रेरित होकर नमस्कार करते हुए वह वहाँ बैठकर तब तक पर्युपासना करता रहा, जब तक सूर्योदय से तिमिर के समूह का नाश नहीं हो गया। फिर वह साधु णमो अरिहंताणं कहकर उस महिषीपाल के देखते ही देखते आकाश में उड़ गये। सुभग ने उन शब्दों को सुनकर विचार किया कि यह आकाश में गमन करने की विद्या है, अतः दिन रात उस नवकार मन्त्र के आदि पद का रटन करने लगा।

उन शब्दों को सुनकर सेठ ने पूछा-तुमने यह पद कहाँ से सीखा? यह तो भव कूप में गिरते हुए प्राणियों के हाथों का अवलम्बन है। उसने सारा वृतान्त सेठ को बताया। तब सेठ ने कहा-यह केवल आकाशगामी विद्या ही नहीं है, बल्कि सर्व-ऋद्धि को देनेवाली है। नर, सुर, नरेन्द्र, खेचर आदि लब्धियाँ, तीर्थंकरत्व रूपी श्री सभी इसी के प्रभाव से है। इस पंच परमेष्ठि की क्या स्तुति करुँ? केवलज्ञानी को छोड़कर कोई भी इसका सर्वातिशय वर्णन करने में समर्थ नहीं है। हे भद्र! तुम धन्य हो कि तुमने यह कल्याणकारी पद प्राप्त कर लिया है। अपवित्र मनुष्य तो इसको बोलना भी नहीं जानते। उसने भी कहा-हे श्रेष्ठि! मैं इसका जाप क्षण भर के लिए भी छोड़ने मे समर्थ नहीं हूँ। श्रेष्ठी ने कहा-इसको पूरा पढ़कर याद कर लो। उसने प्रसन्न होकर पूरा पढ़ लिया, याद करके उसका परावर्तन करने लगा। इसी तरह उसका मन्त्र जाप चलता रहा। इधर वर्षाऋतु आ गयी।

जैसे जीव स्वरूप पर मिथ्यात्व पटल छा जाता है, वैसे ही आकाश काले-काले पानी से भरे बादलों से आच्छादित हो गया। आकाश रूपी उपवन में जल रूपी भृत्य की गोद में बिजली रूपी लताएँ, वर्षा रूपी नाट्य लीलाएँ व वाद्य रूपी गर्जना की ध्वनि प्रवृत्त हो गयी। दुर्दुर नामक आतोध के वादन की तरह मेंढ़को की आवाज शोभित होने लगी। बाणधारा की सहोदरा की तरह जलधारा पड़ने लगी। नवांकुरों से आकीर्ण तथा इन्द्रगोपक कीटकों द्वारा आकीर्ण पृथ्वी मानों माणक रत्नों से बंधी हुई पृथ्वी के समान हो गयी।

इस प्रकार से बरसती हुई वर्षा धारा के बीच एक दिन सुभग भैंसो को चराकर सायंकाल अपने घर की ओर लौट रहा था। बीच में नदी में पूर आ जाने से उसे तैराना दुष्वार हो गया। भैंसें तो वैसे ही पानी में बैठने के लिए आतुर होती है। वे जलयोगप्रिया होती हैं। वे पानी के पूर के साथ जाने लगीं। सुभग ने सोचा कि कहीं ये दूसरे किनारे से दूसरे क्षेत्र में प्रवेश न कर जायें अतः नमस्कार का जाप करते-करते उसने पूर के पानी में छलांग लगा दी। अशुभ कर्मों के उदय से छलांग लगाते ही, पानी में नहीं दिखने योग्य खेर की लकड़ी में गडी हुई कील पर गिरा और वह कील उसके पेट में घुस गयी। पंचपरमेष्ठि के ध्यान में मग्न वह मरकर शुभ कर्मों के उदय से उसी

स्वामी सेठ की पत्नी के गर्भ में पुत्र रूप से उत्पन्न हुआ। दो मास बीतने पर सेठानी के मन में अर्हत्-साधु का संगम तथा पूजा आदि करने का मनोरथ उत्पन्न हुआ। सेठ ने उसके आनन्ददायी मनोरथ पूर्ण करवाये। दिन पूर्ण होने पर सेठानी ने पुत्र को जन्म दिया। दास-दासियों ने सेठ को पुत्र जन्म की बधाई दी। सेठ ने भी बड़प्पन के साथ पुत्र-जन्म का उत्सव मनाया। विशाल जन समूह के समक्ष प्रीतिपूर्वक उसका नाम सुदर्शन रखा। क्रम से वृद्धि को प्राप्त होते हुए उसने संपूर्ण कलाओं का ज्ञान प्राप्त किया। नाम व अर्थ की एकरूपता वाली कन्या मनोरमा के साथ उसका विवाह किया गया। सुदर्शन उसके साथ तीन लोकों का सुख भोगने लगा। वह भी श्रीकृष्ण के समान सुदर्शन के प्यार को पाकर आनन्दित थी।

एक दिन सुदर्शन के पिता को वैराग्य सम्पदा के वशीभूत होकर भव पास को छोडकर संयम साम्राज्य पाने की इच्छा हुई। वरिष्ठ नागरिकों नगर-अध्यक्षों को अपने घर बुलाकर वस्त्र, भोजन, ताम्बूल आदि के द्वारा उनका यथोचित सन्मान किया। अपने अभिप्राय को बताकर राजा आदि गणमान्य व्यक्तियों को विदित कराकर उन्होंने अपने पुत्र सुदर्शन को अपने पद पर स्थापित किया। श्रेय कार्यों की निधि रूपी श्वेत वस्त्रधारी आचार्य की सन्निधि में स्वयं श्रेष्ठि ने संयम ऐश्वर्य को यथोक्त विधि द्वारा ग्रहण किया।

अब सुदर्शन विशेष रूप से राजमान्य हो गया। पिता के गुणों की साम्यता होने से नगरी में भी वह सभी लोगों द्वारा माना जाने लगा। उसी नगरी में राजमान्य पुरोहित का पुत्र कपिल था। जन्म से ही कपिल और सुदर्शन साथ-साथ बड़े हुए, साथ-साथ पढ़े। उनकी परस्पर सोहार्द्रता जन्मजात थी।

किसी दिन कपिल को उसकी पत्नी कपिला ने कहा-स्वामी! आप काम के समय मूढ़मति वाले होकर कहाँ बैठ जाते हैं? उसने कहा-सुदर्शन के पास बैठता हूँ। कपिला ने पुनः पूछा-यह सुदर्शन कौन है? कपिल ने कहा-क्या तुम सुदर्शन को नहीं जानती? हे प्रिये! सुदर्शन किसे कहते हैं-यह सावधान होकर सुनो। उसके गुणों के श्रवण-मात्र से तुम्हारा जीवन कृतार्थ हो जायगा। वह तेज में सूर्य के समान, सौम्यता में शशि के समान, रूप में कामदेव के समान है। पुष्कल वैभव की शोभा से युक्त उसके जैसा सौभाग्य अन्य किसी का नहीं है। समग्र गुणों के राजा-स्वरूप एक मात्र शील गुण को तीन जगत में कोई जीत नहीं सकता, तो अन्य-अन्य गुणों का तो क्या-क्या वर्णन करुँ ? ब्रह्मा ने उसको समग्र गुणमय किया है, तो हमारे जैसे धृष्ट जड़ प्रज्ञावालों द्वारा उसका वर्णन कैसे किया जाय?

कपिला सुदर्शन के गुणों का श्रवण करती हुई उस में अनुरक्त हो गयी। उसके संगम के किसी भी उपाय को सोचते हुए वह नित्य व्यग्र रहने लगी। एक बार कपिल किसी राज्य-कार्य से नगर से बाहर गया। तब कपिला ने सुदर्शन के पास जाकर मायापूर्वक कहा-किसी शारीरिक कारण से आपके मित्र आपके पास नहीं आ सके और आपके बिना उनका मन भी नहीं लगता। अतः मुझे आपको बुलाने के लिए भेजा है। सुदर्शन ने कहा-हे भद्रे! मुझे ज्ञात नहीं था। मैं बिना देर किये आपके ही साथ आपके घर चलता हूँ। वहाँ जाकर पूछा-कपिल कहाँ है? उसने कहा-मध्य से मध्य खण्ड में है। सुदर्शन बिना किसी कल्पना के मध्यखण्ड में चला गया। कपिला भी बाहरी द्वार बन्दकर वहाँ आयी और सुदर्शन को कहा-आपका मित्र गाँव के बाहर गया है। मैं कामबाण से पीड़ित हूँ। जब से कपिल ने आपके सौभाग्य आदि गुणों का बखान किया है, तभी से आज तक मैं एकमात्र आपका ही देवता की तरह ध्यान करती हूँ। मैंने आज आपको छलपूर्वक प्राप्त किया है। अब कृपा मेघ बरसाओ। अपने संगम रूपी औषधि से मेरे कामज्वर को शांत करो।

सुदर्शन ने अपने शील की रक्षा करने के लिए औत्पत्तिकी बुद्धि से विचारकर कपिला को कहा-हे भद्रे! तुम किसको अच्छी नहीं लगती? तुम्हारे जैसी स्त्री की कौन इच्छा नहीं करता? लेकिन दैव वशात मुझमें नपूंसकता है,

अतः मैं क्या करुँ? लेकिन आपको मेरी कसम है, आप मेरा यह गुप्त भेद प्रकाशित न करें। अन्यथा लोक में मेरा परिहास होगा। तब विरक्त होकर कपिला ने भी कहा-आप मेरी भी यह बात लोगों में प्रकाशित मत करना । हे भद्र! अब शीघ्र जाओ! सुखी होओ।

इस प्रकार सुदर्शन भी यम के घर की तरह उसके घर से निकला। अगर जीवन को दाँव पर भी लगाना पड़े तो भी शील की ही रक्षा करनी चाहिए। सुदर्शन ने मन में विचार किया कि यह अकार्य में उद्यत नारी कपट की जननी तथा अविवेक की निधान है। आज मैं इस पिशाचिनी द्वारा एकान्त का लाभ उठाकर छला गया हूँ। अतः आज के बाद मैं किसी के भी घर में एकाकी नहीं जाऊँगा। इस प्रकार वह पिशाचिनी व शाकिनी आदि से दूर रहने की तरह पर स्त्रियों से दूर रहता हुआ, उनसे काँपता हुआ अपने शील का शुद्ध मति से पालन करने लगा।

एक बार बसन्त का समय आने पर राजा अपने अंतःपुर के साथ उद्यान सम्पदा का लुफ्त (आनंद) उठाने के लिए महान ऐश्वर्य के साथ निकला।

सर्व रानियों में शिरोमणि अभया महारानी भी कपिला के साथ शिबिका में आरूढ होकर निकली। मनोरमा सेठानी भी अपने छः पुत्रों के साथ इन्द्राणी की तरह शिबिका रूपी विमान में आरूढ होकर उद्यान की ओर प्रस्थान किया। श्रेष्ठी सुदर्शन भी चले और कपिल भी चला। ज्यादा क्या कहा जाय? केवल स्थावर ही वहाँ नहीं गये। मनोरमा को देखकर कपिला ने अभया से कहा-देवी! वृक्षसमूहों के बीच कल्पलता की तरह यह स्त्री कौन है? रानी ने कहा-सुदर्शन की प्रिया महासती मनोरमा को तू नहीं जानती? कपिला ने कहा-अगर यह महासती है? तो इसके ये पुत्र कैसे? रानी ने कहा-तूं यह क्या बोल रही है? तब उसने कहा-देवी! इसका भी कारण है। मेरे द्वारा परीक्षा की गयी है कि सुदर्शन नपुंसक है। अभया ने कहा-हे अभिज्ञा! तपस्विनी तुम ठगी गयी हो। सुदर्शन तुम्हारे जैसी परस्त्रियों के लिए ही नपुंसक है। कपिला ने विलक्षणतापूर्वक हंसकर असूया से कहा-अगर आप भी उसके साथ रमण करेंगी, तो ज्ञात हो जायगा। अभया ने भी कहा-सखी! अगर मैंने इसके साथ रमण नहीं किया, तो मैं भी अभया नहीं। फिर मैं अग्नि में प्रवेश करुँगी। इस प्रकार बातें करती हुई वे दोनों उद्यान में जाकर यथा सुख चिर काल तक क्रीड़ा करके स्व-स्व स्थान को चली गयी। महल में जाकर रानी ने अपनी धाय-माँ को अपनी प्रतिज्ञा बतायी। धात्री ने कहा-पुत्री! तुम्हारी प्रतिज्ञा ठीक नहीं है। चाहे पृथ्वी उल्टी हो जाय, सागर का पानी सूख जाय, ज्योतिषगण अपने स्थान से च्युत हो जायँ। पर सुदर्शन अपने शील का त्याग नहीं करेगा। वह परनारी के लिए सहोदर के समान है तथा महात्मा है। अशोक वृक्ष की तरह तुम्हारी यह प्रतिज्ञा फलित नहीं होगी। अभया ने कहा-हे माते! अगर ऐसा भी है, तो भी एक बार तुम उसको यहाँ बुलालो। आगे मैं सब कुछ संभाल लूँगी। उसके आग्रह करने पर पण्डिता ने कहा-हे वत्से! वह पर्वदिनों में कायोत्सर्ग करके किसी भी शून्य आगार आदि में स्थित रहता है। अतः इसको बच्चे की तरह पीठपर उठाकर किसी तरह ले आऊँगी। किसी भी बहाने से यहाँ प्रवेश करवा लूँगी।

फिर वह धात्री उस दिन से लेकर रोज सुदर्शन के समान वर्ण रूप वाली प्रतिमा को कपड़े से ढ़ककर पीठ पर उठा कर लाने लगी। उसे देखते ही संभ्रम होते हुए दासियों ने पूछा कि यह क्या है? तो उसने कहा कि देवी के पूजने के लिए कपड़े से ढकी हुई यह यक्ष प्रतिमा है। रोज प्रतिमा ले जाते देखकर उन दासियों को विश्वास हो गया। इस प्रकार धात्री ने अपनी चतुराई से कुब्जिकियों का विश्वास जीत लिया।

कुछ ही दिनों के अनन्तर कौमुदी महोत्सव आया। नाट्य भूमि पर नर्त्तकियों की क्रीड़ा से जगज्जन प्रमुदित हुए। अगले दिन राजा ने पटह बजवाया कि राजा उद्यान में क्रीड़ा करने के लिए अन्तःपुर सहित जायेंगे। राजा की आज्ञा से सम्पूर्ण नागरिकों को उच्चश्रृंगार व आडम्बर के साथ सारभूत विभूतियों से युक्त होकर वहाँ आना है।

सुदर्शन उस पटह को सुनकर खिन्न मन से विचार करने लगा-कल कार्त्तिक चौमासी पक्खी होगी। राजा

की इस प्रकार की आज्ञा धर्म में विघ्न करनेवाली है। अतः दूसरों से राजा को निवेदन करवाने की अपेक्षा मैं स्वयं ही जाकर राजा को पूछता हूँ। इस प्रकार विचारकर राजा के समीप जाकर उन्हें प्रणाम किया। बहुमूल्य रत्नों से भरा हुआ थाल उन्हें भेंटकर उनके सामने बैठ गया। चन्द्रमा की चाँदनी की तरह अपनी कृपा-दृष्टि से सुख बरसाते हुए राजा ने उसके आगमन का कारण पूछा। उसने भी कहा-क्षमापति! कल चातुर्मासिकी पर्व पक्खी का दिन है। मुझे धर्मकृत्य, चैत्य अर्चना आदि करनी है। लेकिन आपकी आज्ञा के कारण उसमें विघ्न होगा। अतः मैं क्या करुँ? आप आदेश दीजिए। राजा ने भी कहा-स्व-रूचि के अनुरूप निर्विघ्न श्रेय कार्य करो। तुम्हारे जैसे धर्मार्थी विरले ही होते हैं। फिर तुम जैसों के लिए मैं अन्तराय का कारण क्यों बनूँ?

तब सुदर्शन श्रेष्ठि राजा की आज्ञा लेकर हर्षित होता हुआ आनंद युक्त होकर शीघ्र ही अपने आवास को आया। दूसरे दिन प्रातः काल स्नान करके अर्हत्-अर्चनादि चैत्यालय में करके कर्म रोग की महा-औषधि रूप पौषधव्रत को किया। रात्रि में आत्मा रूपी उद्यान में योगीन्द्र की तरह निश्चल होकर बाहर कहीं कायोत्सर्ग में स्थिर हो गया। सुदर्शन का आलिंगन करने में अत्यधिक आकुल अभया महारानी भी शिरो-वेदना के बहाने से महल में ही रुक गयी।

तब अवसर देखकर पण्डिता भी उस सुदर्शन को देखकर यक्ष प्रतिमा की तरह उसे पीठ पर उठाकर अंतःपुर में ले गयी। देवी के आगे रखकर कहा-देवी! यह सुदर्शन है। कामदेव के समान उसके मूर्तिमान रूप को देखकर अभया भी अत्यन्त प्रसन्न हुई। शीघ्र ही अति कामातुर होते हुए उन-उन कामसूत्र में वर्णित कारणों के द्वारा उसके मन को क्षोभित करना प्रारम्भ कर दिया। श्री वीर तीर्थंकर के मोक्ष रूपी अमर नारी के संगम की तरह सुदर्शन को वह अपने विकारों के उत्कर्ष द्वारा भी क्षुभित नहीं कर सकी। फिर उसने अपने मद के बल से सुदर्शन को क्षोभित करना प्रारंभ किया, पर कुछ भी नहीं हुआ। उसके इन कार्यों से लज्जित होते हुए रात्रि भी विलीन हो गयी। सम्पूर्ण रात्रि महादुःख सागर से उबरने में मेरी कलाएँ इस पुरुषोतम का पार न पा सकी। अतः मेरी ये सारी कलायें पाषाणवत् है। अब क्या किया जाये?

कलावानपि याति स्म किल द्वीपान्तरं तदा ।

कलावान् चन्द्रमा भी दूसरे द्वीप को चला जाता है।

पूरी रात्रि खेदित होने पर भी यह ध्यान से विचलित नहीं हुआ। अतः इसको देखने की इच्छा से सूर्य पूर्व दिशा पर आरुढ़ हो गया है।

निर्विघ्न होकर वह भी चाटु वचनों के द्वारा प्रयत्न करते हुए बोली-निष्ठुर होते हुए भी कम से कम मेरे वचनों से तो डरो। हे सुदर्शन! मेरी सर्वथा अवहेलना मत करो। तुम विशारद हो, फिर भी क्या तुम कुछ नहीं समझे? लोकोत्तर स्त्रियों में राग हो या द्वेष। चाहे कुछ भी हो। वे रागिणी बनकर प्राण दे देती हैं और द्वेषिणी बनकर प्राण हर भी लेती है। फिर भी कायोत्सर्ग में लीन सुदर्शन ने कुछ भी नहीं कहा। अखण्ड शील रूपी साम्राज्य का स्वामी मृत्यु से नहीं डरता।

अभया ने सोचा-कोमल अथवा कठोर वाक्यों द्वारा भी यह मेरा नहीं हुआ। इस कारण से अब यह अपनी कर्कशता का फल पायगा।

इस प्रकार विचार करके अभया ने स्वयं सूर्पणखा की तरह नखों से खरोंच-खरोंचकर अपनी देह को दुष्ट बुद्धि द्वारा रक्त से सड़ा लिया। हे उपपतियों! यहाँ कोई किसी भी तरह प्रविष्ट हो गया है। मेरे शील रत्न का हरण करना चाहता है। अतः दौड़ो! दौड़ो! यह सुनते ही सभी पहरेदार क्रोध से दुर्द्धर होकर दौड़े। कहाँ है-कहाँ है-इस प्रकार बोलते हुए ऊपर से नीचे के मध्यम खण्ड में आये। वहाँ सुदर्शन को देखकर उनके मुख विषाद से मलिन

हो गये। उससे पूछा-यह क्या है? लेकिन वह कुछ नहीं बोला।

उधर राजा महा उद्यान में वसुधा तल को सुरभित करने वाले कौमुदी महोत्सव के आनन्द का अनुभव करके उसी समय महल में आये। उन पहरेदारों द्वारा सुदर्शन को उठाकर राजा के पास ले जाया गया। राजा उसे देखकर संभ्रमित होते हुए बोले-चन्द्रमा से कदाचित् अग्नि की वर्षा हो सकती है। अग्नि की ज्वाला कदाचित् हिम के समान शीतल हो सकती है। अमृत पीने से मृत्यु तथा जहर पीने से कदाचित् जीवन मिल सकता है। पर्वत भी गतिमान हो सकता है और वायु भी निश्चल हो सकती है। लेकिन सम्यग्दर्शन से शुद्धात्मा वाला, अपनी इन्द्रियों का निग्रही यह सुदर्शन निश्चय ही अपने शील को कलंकित नहीं कर सकता।

इस प्रकार अपने पहरेदारों को कहकर राजा ने स्वयं ही उसको पूछा-हे महाभाग! हे भाग्यनिधे तुम बोलो। तुम्हें यहाँ कौन लेकर आया या फिर तुम स्वयं ही यहाँ आये हो? हे श्रेष्ठि! जो कुछ भी हुआ, वह सभी यथावत् कहो। मेरे द्वारा तुम्हें सर्वथा अभय है।

सुदर्शन ने मन में विचार किया-अगर सत्य बोलता हूँ तो निश्चित ही भययुक्त धात्री, अभया तथा अंतःपुर के रक्षकों की मृत्यु होगी। अतः जीवदया धर्म को जाननेवाला मैं उज्ज्वल आत्मा अपने एक जीवन के लिए इन अनेक आत्माओं का संहार कैसे करुँ? इस प्रकार विचार करके सूर्योदय के साथ ही कायोत्सर्ग के पूर्ण हो जाने पर भी अपने देह के नाश से निर्भय होकर मौन धारणकर स्थित हो गया। इस उपसर्ग से निवृत्त होकर ही मैं कुछ बोलूंगा। अगर उपसर्ग से निवृत्त नहीं हुआ, तो मेरे सर्वथा मौन है-इस प्रकार उसने प्रतिज्ञा कर ली। उसके पास में रहे हुए अन्य लोगों ने कहा कि क्यों नहीं बोलते? अगर अपराध किया भी है, तो राजा ने तुम्हें अभय दान दे दिया है। फिर भी वह नहीं बोला, तो राजा ने उसका निग्रह करने का आदेश दिया। आरक्षक उसका निग्रह करने के लिए उसे बाहर ले गये। वह महामति अपने आपको भावनाओं से भावित करने लगा।

अर्जितं यद्यदा येन तत्तदा लभते हि सः ।

जिसने जैसा अर्जित किया है, उसे वैसा ही लब्ध होता है।

मृत्यु के उपस्थित होने पर जीव को कायर नहीं बनना चाहिए। आर्त्त-रौद्र ध्यान छोड़कर जीव को शुभ ध्यान से युक्त होना चाहिए।

इधर सुदर्शन की पत्नी मनोरमा ने कहीं से भी पति के दुःख व उपसर्ग को जानकर दुःख से आर्त्त होते हुए भी उस सात्त्विका ने अरिहन्त अर्चना करके कायोत्सर्ग धारण कर लिया। पति को उपसर्ग-विमुक्त बनाने के लिए शासन देवता का स्मरण करने लगी। शीघ्र ही शासन देवता का आसन चलायमान हुआ। उपयोग से जानकर मनोरमा के पास आकर शासन देवता ने पूछा-कहो! मैं क्या करुँ?

उसने कहा-अगर मेरे पति निष्कलंक है, तो उनको पार लगाओ। उपसर्ग हटाकर शासन की शोभा बढ़ाओ। शासन देवता ने कहा-स्वर्ण कदाचित् पैदा हुआ मलिन हो सकता है पर सद्-दर्शन से पवित्र सुदर्शन में ऐसी कोई बात नहीं है।

इस प्रकार कहकर देव ने शीघ्र ही वहाँ जाकर शूली के स्थान पर रत्नज्योति से युक्त सूर्य के समान तेजस्वी सिंहासन की रचना की। आरक्षकों द्वारा तलवार आदि से जो घाव उसके शरीर पर किये गये थे, वे सभी घाव हार, केयूर आदि अलंकारों में बदल गये। तब इन्द्र की तरह उसको देखकर लोगों ने विशिष्ट अलंकृति की।

धर्मो जयति नाऽधर्म ।

धर्म की जय होती है, अधर्म की नहीं-

इस प्रकार कहते हुए लोगों ने उसे वन्दना की। सुदर्शन के प्रभाव को सुनकर राजा भी, जैसे हाथी के आगे

हाथिनी सन्मुख आती है, वैसे ही हाथी पर चढ़कर सुदर्शन की ओर दौड़ा। उसके पास जाकर शीघ्र ही सुदर्शन को नमस्कार करके अपने अकृत्य का पश्चात्ताप करते हुए विषादग्रस्त हुआ। जिस प्रकार तेजस्वी पिच्छ-गुच्छ द्वारा अरिहन्त के चरणों को प्रमार्जित किया जाता है, वैसे ही अपनी चोटी खोलकर केशपाश के द्वारा राजा ने सुदर्शन के पैर प्रमार्जित किये। श्रेष्ठ विनय के साथ उसे हाथी पर बैठाकर स्वयं छत्रधारक बनकर अपने नगर में प्रवेश किया। अहो! जिनेन्द्र धर्म का प्रभाव कैसा है!सभी जगह जैन शासन की प्रभावना करते हुए अपने महल में ले जाकर सिंहासन पर बैठाकर अपराध की क्षमा माँगकर राजा ने स्वयं रात्रि की घटना पुनः पूछी। श्रेष्ठि ने कहा-जो बीत गया, सो हो गया। लेकिन उस घटना को सुनने की जिज्ञासा से राजा ने अत्याग्रह किया। तब सुदर्शन ने कहा-अगर आप महारानी अभया व धात्री को अभयदान देंगे, तो मैं निर्भय होकर सारी वार्त्ता आपको बताऊँगा। राजा ने कहा-आपके बोलते ही मैंने उनको अभयदान दे दिया। हे श्रेष्ठि! आपके वचन मेरे लिए गुरुवचन के तुल्य है। अतः अब आप निःसंकोच कहिये। श्रेष्ठि ने सारी घटना राजा को सुना दी। तब राजा ने विचार किया-

चरित्रं नारीणामगम्यं वाक्पतेरपि ।

धिक्कार है। धिक्कार है। नारियों का चरित्र बृहस्पति द्वारा भी अगम्य है।

श्रेष्ठि के ऐसे सत्त्व से राजा खूब तुष्ट हुआ। सहोदर की तरह राजा ने उसे अपना आधा राज्य दे दिया। श्रेष्ठि ने निषेध करते हुए कहा-राजन्! मुझे राज्य से क्या लेना देना! मैं तो अब संयम साम्राज्य को ग्रहण करुँगा।

इस प्रकार राजा को अवगत कराकर अपना सर्वस्व दान में देकर, सकल चैत्यों में पूजा करवाकर, वैराग्य रंग से रंजित होकर अपनी प्रिया मनोरमा के साथ श्री धर्मघोष आचार्य के पास संयम ग्रहण किया।

सुदर्शन का देवता कृत उद्यम देखकर, राजा के द्वारा किया गया सत्कार सुनकर अभया के दिल पर गहरी चोट पहुँची। उसने भय से चमककर फांसी लगाकर मृत्यु का वरण कर लिया। उस अज्ञान कष्ट रूपी मृत्यु से मरकर वह पाटलिपुत्र नगर के श्मशान में व्यन्तरी रूप से उत्पन्न हुई। अपने अपराध के भय से धात्री पण्डिता तो उसी समय अपने प्राणों को लेकर वहाँ से गायब होती हुई पाटलीपुत्र नगर में आ गयी। वेश्या देवदत्ता की सेवा में रहने लगी। वहाँ वह दिन रात सुदर्शन के उन-उन गुणों का वर्णन करने लगी। पुण्यात्मा सुदर्शन ने भी व्रत को उज्ज्वल रूप से पालकर बिना थके चिर-दीक्षित साधु की तरह श्रुत को पढ़ा। क्रमपूर्वक गीतार्थ होकर तप संयम में सुस्थिल रहते हुए गुरु आज्ञा से एकाकी विहारी हुए। गाँव में एक रात्रि तथा पत्तन में पाँच रात रहते हुए मुनि विहार करके क्रम से पाटलीपुत्र गये। उच्च-नीच घरों में भिक्षा के लिए विचरते हुए कहीं दैवयोग से उस पण्डिता धात्री ने देख लिया। तब वातायन में खड़ी अपनी स्वामिनी को उस पण्डिता धात्री ने अंगुली का इशारा करके सुदर्शन को दिखाया। उसने भी मुनि को आख्यात गुणों से भी अधिक गुणी देखा। शोभा श्रृंगार से रहित मुनि का शरीर वस्त्र से ढके दीप की तरह था। उन मुनि के गुणों में आसक्त चित्तवाली ने भिक्षादान देने के छल से मुनि को अपने पास बुलाया। मुनि के घर में प्रवेश करते ही उसने दरवाजा बन्द कर दिया। और अनेक प्रकार के अपने हाव-भाव से उन्हें उपसर्ग देने लगी। कतक फल से साफ किये हुए पानी की तरह निर्मल चित्तवाले मुनि अत्यधिक तूफानी हवा के द्वारा भी अचलित सुमेरु पर्वत की चोटी के समान चलित नहीं हुए। उसका प्रयत्न सगोत्र पर चक्र की तरह सुदर्शन पर तुच्छ धूल के समान ही साबित हुआ। तब संध्या समय उन निर्दोष मुनि को उस खिन्न वेश्या ने छोड़ दिया। मुनि भी श्मशान में जाकर उठी हुई डालीवाली शाखा की तरह अथवा शिला स्तम्भ की तरह प्रतिमा में स्थित हो गये। भाग्य से वहाँ व्यन्तरी बनी हुई अभया ने उन्हें देख लिया। देखकर क्रुद्ध होते हुए विचार किया कि-यही मेरी मृत्यु का कारण है। उस पापीनी वैरिन ने निर्दयिनी यमपत्नी की तरह उन्हें यातना देने के लिए कठिन से कठिन उपसर्ग दिये। पर वहाँ भी सुदर्शन मुनि क्षुभित नहीं हुए। उसके द्वारा शाता-अशाता आदि किये जाने पर

भी नहीं जानते हुए की तरह अपने ध्यान में लीन रहे। सातवें दिन समता-भाव में निमग्न चित्त द्वारा निर्वृति के आह्वान रूप केवल ज्ञान हुआ। पास के व्यन्तर देवों ने उनकी महिमा की। स्वर्णमय कमल के मध्य आसीन होकर उन्होंने देशना दी। संपूर्ण नगर के लोग भी वहाँ कौतुक से आ गये। वह वेश्या भी धात्री पंडिता के साथ वहाँ आयी। उन सुदर्शन केवली ने राग आदि के अत्यन्त दारुण विपाक को बताया। उस धात्री, व्यन्तरी तथा गणिका को प्रतिबोधित किया। अन्य भी बहुत सारे जन प्रबुद्ध हुए। सभी ने सम्यक्त्व, अभिग्रह आदि यथाशक्ति ग्रहण किया। फिर विहार करते हुए भव्यों के समूह को प्रतिबोधित करते हुए शेष कर्मों का क्षय करके परम निर्वृति को प्राप्त किया।

इस प्रकार जो पुरुष चतुर्थ व्रत का अखण्ड-पालन करता है, वह विशुद्ध मानस वाला सुदर्शन सेठ की तरह उज्ज्वलात्मक सिद्धि को प्राप्त करता है।

इस प्रकार चतुर्थ व्रत में सुदर्शन की कथा पूर्ण हुई।

अब परिग्रह व्रत पर कपिल का दृष्टान्त कहते हैं-

।। कपिल की कथा ।।

कौशाम्बी नामकी नगरी थी। यहाँ के लोगों की निश्चल श्रद्धा अलोक के समान दूसरे देवों आदि के द्वारा भी भेदित नहीं थी। शत्रुओं के गण को जीतनेवाला जितशत्रु राजा वहाँ का अधिपति था। आश्चर्य है कि उसके प्रताप रूपी सूर्य की किरणें बादलों द्वारा भी आच्छादित नहीं होती थी। उस राजा के काश्यप नामक पुरोहित था। सर्वशास्त्र-सागर में पारंगत वह निश्चय ही साक्षात् ब्रह्मा था। अपने वंश के अनुरूप ही उसकी प्राणप्रिया यशा थी। उसका पुत्र कपिल उस की कुल लक्ष्मी का भवन रूप था। अल्प वय में ही कपिल के पिता का देहावसान हो गया। अतः राजा ने उसका पद अन्य किसी ब्राह्मण को दे दिया, काश्यप का पुत्र होने पर भी योग्यता न होने से उसे पिता के पद पर नहीं बिठाया गया। कहा भी है-

नान्वयं ह्यनुरुध्यन्ते राजानः स्वार्थतत्पराः ।

स्वार्थ तत्पर राजा वंश-परम्परा का निर्वाह नहीं करते।

वह विप्र पद को प्राप्त करता हुआ छत्र-सम्पदा रूपी लक्ष्मी सहित भव्य भवन प्राप्त करके हाथी पर घूमता था। उसे देखकर कपिल की मां अपने पति के वैभव को याद करके रोती थी। प्रायः स्त्रियाँ पूर्व के दुःखों के कारण ही रोती हुई मिलती है। भूमि को अश्रुधारा से प्लावित करती हुई रोती हुई मां को देखकर कपिल भी आँखों में आँसू भरकर माँ से बोला-हे मात! इतना क्यों रोती हो? उसने कहा-वह ब्राह्मण पुरोहित वृद्धि-समृद्धि के साथ यहाँ से जा रहा था। तुम्हारे पिता भी इसी प्रकार जाया करते थे। यह यादकर के रोना आ गया। तुम्हारे पिता ने सभी विद्याओं को पढ़कर यह पद प्राप्त किया। तुम तो छोटे होने से पद नहीं पाये, अतः यह पद तुम्हारे हाथ से निकल गया। उसने कहा-मां! यदि ऐसा है, तो तूँ खेद मत कर। मैं अब भी पढ़ लिखकर अपने खोये हुए पद को पुनः प्राप्त करुँगा। कपिल की माँ ने कहा-वत्स! तुम पुरोहित पद पर आसीन ब्राह्मण के प्रतिद्वन्द्वी हो, यह जानकर कोई भी उपाध्याय तुम्हें यहाँ नहीं पढ़ायगा-यह मैं जानती हूँ। अगर सचमुच पढ़ने की इच्छा है, तो तुम श्रावस्ती चले जाओ। वहाँ तुम्हारे पिता के मित्र इन्द्रदत्त नामके सज्जन है। संपूर्ण विद्याओं को जानने वाले वे तुम्हें विद्यार्थी जानकर अपने पुत्र की ही तरह वत्सल भाव से सम्पूर्ण विद्याएँ पढ़ायेंगे। कपिल ने उस इन्द्रदत्त के पास जाकर अपने आपको विद्यार्थी बताया। इन्द्रदत्त ने भी उसे मित्र-का पुत्र जानकर प्रमुदित होते हुए कहा-हे वत्स! तुमने अच्छा किया जो पढ़ने के लिए यहाँ आ गये। मेरे पास जो कुछ भी विद्या है, वह सभी मैं तुम्हें ग्रहण करवा दूँगा। पर मेरे पास केवल भोजन

नहीं हैं, क्योंकि मैं निष्परिग्रही हूँ। अतिथि को भोजन देने जितनी संपत्ति भी नहीं है। फिर नित्य भोजन कराने की तो बात ही कहाँ आती है। भोजन के बिना पढ़ना शक्य नहीं है। क्योंकि हे वत्स! मृदङ्ग भी भोजन के बिना ध्वनि नहीं करता। कपिल ने कहा-तात! आप मेरे भोजन की चिन्ता मत करिये। मैं भिक्षा द्वारा भोजन प्राप्त करके आपके पास पढ़ूँगा। हाथी पर आरुढ ब्राह्मण ही केवल भिक्षा से नहीं जीता, बल्कि ब्राह्मण को, जनेऊ बंधा होने से भिक्षा मिलती है। इन्द्रदत्त ने कहा-हे पुत्र! कदाचित् ऐसा हो सकता है। पर भिक्षावृति तो तपस्वियों की है। भिक्षा मिलने पर खा लेते हैं और नहीं मिलने पर तप करते हैं। तब अगर एक समय की भी भिक्षा अलाभ को प्राप्त होगी, तो पाठ में विघ्न पड़ेगा। और देर तक भिक्षा के लिए भ्रमण करने पर क्या तुम्हारे पाठ में अन्तराय नहीं पड़ेगी?

इस प्रकार कहकर उसे साथ लेकर उस बालक के भोजन की चिन्ता से महा इभ्य शालिभद्र नाम के श्रेष्ठिप्रमुख के पास गये। ॐ भुर्भुवः आदि गायन्त्री मन्त्र के शब्दों का उच्चारण करते हुए ब्राह्मण की तरह आकर द्वार पर स्थित होकर आवेदन किया। श्रेष्ठि ने उन्हें बुलाकर पूछा-क्या कार्य है? उसने कहा-इस विद्यार्थी के लिए आपके घर नित्य भोजन की याचना करता हूँ। उसके प्रार्थना रूपी कल्पवृक्ष को श्रेष्ठि ने स्वीकार कर लिया। मनोवांछित सिद्ध हो जाने से उपाध्याय भी प्रसन्न हुए। सेठ ने उसी के सामने एक दासी को आदेश दिया, 'हे भद्रे! इस विद्यार्थी के आने पर तुम सदा इसे भोजन करा देना।' कपिल अब प्रतिदिन उसके घर भोजन करने लगा और प्रतिदिन उपाध्याय के समीप पढ़ने भी लगा।

कपिल का हंसमुख स्वभाव, कामदेव सा रूप, यौवन विकारी होने से मनोजयी के लिए भी दुर्जेय था। अपनी जाति, गुण, गोत्र, कुल व कलाओं का तिरस्कार करके वह उस युवा दासी काश्यपी में अनुरक्त हो गया। उसके व यौवन से आकर्षित वह भी उसमें रंजित हो गयी। एक ही आत्मा के समान वे दोनों रमण करने लगे। एक दिन कपिल को दासी ने कहा-प्रिय! तुम ही मेरे प्रेमी हो। लेकिन तुम साधु की तरह द्रव्य रहित हो। अन्यों की तरह तुम भी कभी मेरे लिए पत्र-पुष्प आदि लाते, तो मुझे खुशी होती। कपिल ने भी स्वीकर किया और अपनी गरीबी को माना।

अन्य किसी दिन नगर में दासी महोत्सव था। पत्र-पुष्प आदि नहीं मिलने से वह दासी भी उदास बैठी थी। उसको इस प्रकार देखकर कपिल ने पूछा-हे प्रिये! हिम से क्लान्त पद्मिनी की तरह क्यों दिखायी देती हो? उसने कहा-नाथ! सुबह दासियों का महोत्सव होने वाला है। अतः पुष्पादि सम्पदा से रहित होने के कारण यहाँ छिपकर बैठी हूँ। कपिल भी शाकिनी से ग्रस्त की तरह उसके दुःख से दुखित होकर धन के उपाय की चिन्ता में मौन मुद्रा में बैठ गया। तब उस दासी ने उससे कहा-खेदित मत होओ। यह तो स्त्रियों व कायर पुरुषों की कमजोरी है। यहाँ पर एक धन नाम के श्रेष्ठि है। उन्हें जो सूर्योदय से पहले जगाता है, वे उसे दो मासा सोना देते हैं। अतः प्रभात होने से पहले शीघ्र ही उसके घर जाकर उस सोये हुए श्रेष्ठि को मंगलकारी चतुर वचनों को पढ़ते हुए जागृत करो। कोई दूसरा इनसे पहले न आ जाय-इस प्रकार उत्सुक होते हुए दासी ने उसे अर्धरात्रि में ही भेज दिया। ठीक ही कहा गया है-

नार्थी दोषान् यदीक्ष्यते ।

अर्थी दोषों को नही देखता।

वह भी लोलुपतावश रात्रि में ही मार्ग पर जल्दी-जल्दी जाता हुआ चोर समझकर आरक्षकों द्वारा पकड़ लिया गया और बाहर ही बन्धन से बाँध दिया गया। प्रातः काल होने पर उसे प्रसेनजित राजा के पास ले जाया गया। राजा के पूछने पर उसने अपना वृतान्त सुना दिया। उसके सद्भावों द्वारा कहे गये कथन को सुनकर राजा भी उस पर प्रसन्न हुआ। उन्होंने कहा-हे भद्र! माँगो। मैं तुम्हारी इच्छा पूरी करूंगा। उसने कहा-हे देव! मैं थोड़ी देर

विचार करने के बाद फिर माँगूगा। राजा ने भी कहा-जैसी तुम्हारी इच्छा हो, वैसा करो।

कपिल अशोक-वन में बैठ गया। ब्रह्मा में तत्पर योगी की तरह विचार करने लगा। दो मासा सोने से तो वस्त्र भी खरीदे नहीं जायेंगे। अतः नृप से अपने मन वांछित सो मासा सोना माँग लूँ। पर उतने मात्र से तो वाहन आदि सामग्री भी नहीं खरीदी जायगी। अतः स्वार्थ साधन के लिए हजार मासा स्वर्ण की प्रार्थना करुँ। पर इतने मात्र से तो मेरी संतानों का विवाह भी नहीं होगा। अतः एक ही याचना में एक लाख मासा स्वर्ण माँग लूँ। पर लाख मासा सोने से तो मेरे स्वजनों का ही उद्धार पूरा नहीं होगा। तो फिर क्या करोड़, सो करोड़ या हजार करोड़ मासा स्वर्ण की याचना करुँ?

इस प्रकार विचार करते हुए शुभ कर्म के विपाक से परम संवेग को प्राप्त होता हुआ वह भावना भाने लगा-अहो! लोभ का माहात्म्य! दो मासा सोने का अर्थी मेरा मनोरथ लाभ को देखकर करोड़ों तक भी नहीं ठहरा। क्या मैं यहाँ पढ़ने आया था या दुर्व्यसनों में लीन होने? मैं दुर्मति सुधा की पिपासा वाला था और अब जहर को पी रहा हूँ। अहो! विषयों की शक्ति को जानते हुए भी मैं दासों के दास की तरह कैसे इसके द्वारा विडम्बित हो गया। धिक्कार है मुझे! मैंने सब अकुलोचित किया है। मैं अकार्य का आचरण करनेवाला मूढ़ हूँ। मुझ जैसा मूर्ख कोई दूसरा नहीं हो सकता। धन की लम्पटता के कारणभूत विषयों से अब बस करुँ। द्रव्य लाभ से मूर्च्छा और मूर्च्छा से परिग्रह होता है। परिग्रह के आग्रह से ग्रस्त मनुष्य अपनी आत्मा के वश में नहीं रहता। असंभव को भी प्राप्त करने के लिए वह मनोरथों को धारण करता है। मुझे प्रचुर विभूति प्राप्त हो, विशाल राज्य प्राप्त हो। इसको प्राप्त करके मेरे द्वारा यह किया गया इससे पिछले वर्ष यह किया। अगले वर्ष यह हो। उससे अगले वर्ष वह हो। जीवात्मा इन आशाओं रूपी मकड़ी जालों से अपने आप को आवेष्टित करता रहता है। नित्य ही वह प्रलाप करता है-यह धन मेरा है। यह घर मेरा है। स्वजन मेरे हैं। कुटुम्ब मेरा है। यह सब विचार ममता से युक्त है। अतः हे मन! सुवर्णादि की याचना करना बन्द कर। सन्तोष ही मेरे लिए परम धन है। जिससे सभी इच्छाओं से उपरत होकर निश्चित होकर मैं सुखी हो जाऊँ। इस प्रकार भावना भाते हुए संतोषामृत का पान करते हुए जातिस्मरण ज्ञान प्राप्त करके कपिल स्वयंबुद्ध बन गया। फिर मन में वांछित परिग्रह का त्याग करके पंचमुष्टि लोच करके व्रत को ग्रहण किया। देवताओं द्वारा अर्पित संपूर्ण साधुवेष को स्वीकार किया। फिर राजा के पास गया, तो राजा ने पूछा-क्या विचार किया? निस्पृहों में शिरोमणि कपिल ने राजा को अपने मनोरथ विस्तारपूर्वक बताकर कहा-

यथा लाभस्तथा लोभो लाभाल्लोभः प्रवर्द्धते ।
माषद्वयं कृतं कार्यं कोट्याऽपि हि न निष्ठितम् ॥

जैसे-जैसे लाभ होता है, वैसे-वैसे लोभ होता है। लाभ से लोभ बढ़ता है। दो मासा सोने के लिए किया गया लोभ करोड़ो मासों से भी निवृत्त नहीं हुआ।

यह सुनकर विस्मित हुए राजा ने सत्यप्रतिज्ञ कपिल को कहा-मैं तुम्हें करोड़ों स्वर्ण मुद्राएँ दूँगा, तुम व्रत का त्याग कर भोग भोगो। उसने भी कहा-हे भूपति! द्रव्ययोगों द्वारा बहुत भोग भोग लिया। अब मैं यति बन गया हूँ। मेरा आपको धर्मलाभ है। हे राजन्! यह परिग्रह किसी के साथ नहीं गया। अतः तुम भी इस में निरात्म भावी होकर कभी मूर्च्छा मत करना। यह सुनकर महासत्त्वशाली कपिल वहाँ से निकलकर निर्ममत्वी, निरहंकारी होकर भूमण्डल पर विचरने लगा। छः मास तक तपस्या से तप्त होते हुए कपिल ऋषि को लोकालोक-प्रकाशक केवलज्ञान उत्पन्न हुआ।

इधर राजगृही तथा श्रावस्ती के बीच में अट्ठारह योजन प्रमाण महारौद्र जंगल था। उसमें इक्कड़दास, बलभद्र आदि नामके पाँचसौ चोर थे। उनको अपने ज्ञान से बोध के योग्य जानकर उन्हें बोध देने के लिए कपिल

ऋषि वहाँ गये। पक्षी की तरह वृक्ष पर रहे हुए एक चोर ने उन्हें आते हुए देखा। उसने सोचा यह श्रमण हमको पराभूत कर देगा अतः क्रोधपूर्वक उनको पकड़कर अपने सेनानी के पास ले गया। सेनानी ने भी क्रीड़ा-बुद्धि द्वारा उन्हें ज्ञानी पुंगव जानकर भी कहा-हे! हो! नट की तरह नाट्य लीला द्वारा हमें खुश कर। कपिल ने भी कहा-वाद्य के अभाव में नाट्य लीला कैसे हो सकती है? क्या अग्नि के बिना धुआँ कहीं भी दिखायी देता है? तब सभी चोरों ने ताली बजाना शुरु किया। कपिल भी जोर-जोर से पद्य गा गाकर नाचने लगा। इस अशाश्वत संसार में दुःख की प्रचुरता के अलावा और क्या है? अतः कुछ ऐसा कर्म करना चाहिए, जिससे हमें दुर्गति में न जाना पड़े। इस प्रकार के उसके मनोहर स्वर को सुनकर वे पाँचसौ चोर निश्चल होते हुए अन्दर से जागृत बनें। यह सब सुनकर वे चोर कोई कैसे तो कोई कैसे प्रतिबुद्ध हुए। कपिल ऋषि ने उन सभी को प्रव्रज्या ग्रहण करवायी। चिर काल तक विहार करके आयु पूर्ण होने पर सिद्धि को प्राप्त हुए।

इस प्रकार जो परिग्रह का सर्व रूप से त्याग करता है, वह कपिल के समान लोभ विमुक्त होता हुआ सिद्धि को प्राप्त करता है। जो त्याग बुद्धि द्वारा जो भी लब्ध है, उसको परिमित करता है, वह भी क्रमशः परम विमुक्ति को प्राप्त होता है।

इस प्रकार परिग्रह परिमाण की विरति के व्रत में **कपिल की कथा** संपन्न हुई।

अब **दिशाव्रतसंविधानक व्रत पर चण्डकौशिक की कथा** को कहते है-

।। चण्डकौशिक की कथा ।।

इसी प्रथम द्वीप में भरत क्षेत्र के मध्य स्वयं लक्ष्मी की तरह स्थापित **कौशेय** नामका सन्निवेश था। वहाँ पर संपूर्ण देश की भाषाओं को जाननेवाला कोविद, ब्राह्मणों का धोरी **गोभद्र** नामका ब्राह्मण रहता था। उसकी अद्भूत वाग्लब्धि तथा अति प्रगल्भित बुद्धि होने पर भी एकमात्र लक्ष्मी के बिना लोग उसमें अनुराग नहीं रखते थे। ऐसा कोई गुण नहीं था, जो कि उसमें न हो। बस, नहीं थी तो वह वस्तु, जिसे खाकर वह घर से निकल सके। इतना गरीब होते हुए भी अदीन मन वाला होकर अपनी निष्परिग्रहता को ही धन मानता हुआ संतुष्ट होकर सदैव चिन्तन किया करता था कि अहो! इस लक्ष्मी ने जिन-जिन पुरुषों को स्वीकार किया है, वे इस स्त्री के स्वामी होकर किस-किस से पराजित नहीं हुए। अपने ही समान गोत्रवालों द्वारा पकड़े जाते हैं, भिखारियों द्वारा खोजे जाते हैं। भय से उद्भ्रान्त वे कहीं भी स्वच्छन्द विचरण नहीं कर सकते। पथ्य-भोजन करने के बाद भी आधियों से विहित व्याधियों द्वारा वे पीड़ित होते हैं। मैं तो अत्यन्त गरीबी का सिरमौर नरेन्द्र हूँ। मैं किसी के भी द्वारा अभिभूत हुए बिना, बिना किसी भय के संचरण कर सकता हूँ। गोभद्र इस प्रकार विचार करते हुए वर्ष दर वर्ष व्यतीत कर रहा था।

एक दिन उसकी पत्नी शिवभद्रा ने उसको कहा-हे कान्त! मैं गर्भवती हूँ। लेकिन आप तो निश्चिन्त है। क्या आप नहीं जानते कि गर्भवती स्त्री को भविष्य में घी आदि की जरूरत पड़ेगी। अतः उसके लिए आप थोड़ा अर्थोपाजन क्यों नहीं करते? **अनागत का चिन्तन करने वाला ही पुरुष सुख को प्राप्त करता है।**

इस प्रकार अपनी पत्नी के कहने पर उसके शरीर में शीत-लहरें व्याप्त हो गयी। शीघ्र ही उसके मन में चिन्ता का महासागर कल्लोलें करने लगा। तब सन्तोष को भूलकर वह अपनी पत्नी के निमित्त अर्थ लिप्सा से सैकड़ो उपाय पत्नी के सामने कहे। उसकी पत्नी ने कहा-क्यों पागल सी बातें करते हो? तुम्हारे द्वारा याचना करने पर एक ही धनी तुम्हें इतना धन देगा कि हमारी पूर्ति हो जायगी, क्योंकि तुम्हारे जैसा अर्थी ही दुर्लभ है। गोभद्र ने कहा-**कानों को भी दुःख पहुँचाने वाली ऐसी भाषा मत बोलो। क्योंकि मैं मर जाऊँगा, पर याचना नहीं करुँगा।** अगर कोई दूसरा उपाय हो ओर कठिनता से साध्य भी हो, तो बोलो। पति के महासत्त्व से खुश होती हुई वह बोली-हे प्रिय!

पवित्र गंगा नदी के तट पर स्थित वाराणसी नगरी चले जाओ। वहाँ लोग देशान्तर से तीर्थयात्रा करते हुए आते है। वे तुम्हारे जैसे उघाड़ी हुई जंघा वाले मजाकी विप्र को बिना माँगे भी स्वर्ण-दक्षिणा देंगे। तब उसमें लिप्सावाला होकर शिवभद्रा द्वारा प्रेरित गोभद्र पाथेय साथ में लेकर काशी नगरी रवाना हुआ।

मार्ग में चलते हुए अपने सामने पादुका पर आरुढ, समाधि में बैठने योग्य आसन धारण किये हुए साक्षात् कामदेव के समान एक विद्यासिद्ध पुरुष को देखा। गोभद्र संभ्रमित होकर जब तक उससे बात करता, उससे पहले ही उस विद्यासिद्ध ने बातचीत शुरु करते हुए कहा-हे गोभद्र! कौशेय से वाराणसी जाने के लिए निकले हो। मेरे साथ आओ, जिससे मार्ग सरलता से तय हो जावे। गोभद्र ने उसके वचनों को सुनकर विचार किया कि यह कोई साधारण पुरुष नहीं है। इसने मेरा नाम, गाँव व जाने का स्थान कैसे जाना? अतः मैं इसकी देवता, के समान भक्तिपूर्वक सेवा करुँगा। कदाचित् मेरे कार्य की सिद्धि हो जाय। इस प्रकार विचार करके विनयपूर्वक अंजलि बद्ध होकर कहा-अहो! हे अतिन्द्रियज्ञानी! आपकी सन्निधि कौन नहीं चाहेगा? इस प्रकार साथ-साथ जाते हुए वे दोनों परस्पर वार्त्ता करने लगे। सहोदर भाइयों के समान दोनों में स्नेह-सार बहने लगा। प्रहर दिन बीत जाने पर एक गाँव प्राप्त किया। गोभद्र ने कहा कि हे भद्र! यहाँ रुककर भोजन कर लिया जाय। उसने कहा-बन्धु! अभी तो सूर्य की किरणें कोमल है, अर्थात् धूप नहीं चढ़ी है। अतः आओ! आगे चले! आगे भी भोजन दुर्लभ नहीं है। आगे जाते हुए एक नगर समीप आया। नगर के बाहर क्षीरोदधि के समान सरोवर था। तट पर बैठे हुए धनिकों की कतारों के समान सरोवर के दोनों ओर वृक्षों की कतारें लगी हुई थीं। वहाँ सरोवर में उतरकर स्नान करके शुद्ध होकर वह ब्राह्मण तो मध्य-संध्या की अर्चना में लग गया और दूसरा अपनी समाधि में लीन हो गया। जैसे देवों के द्वारा मन में संकल्प करते ही वस्तुएँ प्रकट हो जाती हैं, वैसे ही विद्यासिद्ध ने विद्या प्रयोग से अद्भूत रसवती(रसोई) सामने मँगवायी। विद्यासिद्ध ने पहले गोभद्र को भोजन करवाया, फिर स्वयं खाया। सच ही है, ज्ञानी उचित कार्यों से युक्त होते हैं। फिर हुंकार-मात्र करने से इन्द्रजालिक के इन्द्रजाल की तरह सब कुछ गायब हो गया। वृक्षों की छायादार कतार के नीचे उन्होंने थोड़ी देर विश्राम किया। फिर पुनः प्रस्थान करके जाते-जाते सूर्य अस्त हो गया। फेंके जानेवाले शस्त्र-भालो आदि की तरह अंधकार ने अंधकार को दृष्टि पर फेंक दिया अर्थात् रात हो गयी। योगियों के समान अंधकार ने पथ को अदृश्य के समान बना दिया। पाँवों से चलते-चलते थक जाने पर भी वह विनीत की तरह कुछ नहीं बोला। जब गाँव नजदीक आया, तभी विश्राम करने के लिए द्विज ने विद्यासिद्ध से कहा। सिद्ध ने कहा-हमारा क्या गाँव में रुकने का इरादा है? नहीं। हम तो नगर में रहेंगे। इस प्रकार मार्ग को छोड़कर अंतराल में जाकर स्थित हो गया। समाधि में स्थित होकर विद्यासिद्ध ने अपनी विद्या द्वारा देवों के विमान जैसा एक दिव्य सौन्दर्य युक्त विमान की रचना की। तुरन्त उस विमान से एक दिव्य सुन्दरी बाहर आयी और विद्यासिद्ध की अभ्यर्चना करके उसे आदरपूर्वक अन्दर ले आयी। उसमें आसक्त होता हुआ वह उस वास स्थान में चला गया। उसके ही जैसी उसकी अनुजा को गोभद्र को लाने का आदेश दिया। वह भी गोभद्र को बुलाकर अपने वास-स्थान में ले गयी। परस्त्री से विरत उस ब्राह्मण ने कहा-हे भद्रे! तूँ मेरी बहन है। इन विषयों का क्या! ये तो पाले हुए चोरों की तरह है जो चिर संचित धर्म-धन को लूटकर चले जाते हैं। **अपनी पत्नी में भी अत्यधिक आसक्ति विवेकियों के लिए योग्य नहीं है। तो फिर परनारियों में आसक्ति तो दुरन्त अपाय का हेतु है। जो कायर पुरुष अपनी इन्द्रियों को जीतने में समर्थ नहीं होता, वह न लक्ष्मी प्राप्त करता है, न गुणों को प्राप्त करता है और नही मोगरे के पुष्प के समान उज्जवल यश सुरभि को प्राप्त करता है।** इस प्रकार ब्राह्मण ने उस स्त्री को वैराग्य-सार वचन कहे। अपने भाई की तरह संबंध बनाकर उसने भी कहा-हे भ्रात! तुम कृत्य-कृत्य हो। तुम सज्जनों के मध्य चमकती हुई रेखा के समान हो। तुम भविष्य में इसलोक और परलोक में श्रेयों को प्राप्त करोगे। परदारा-परिहार का इस प्रकार का परिणाम दृढ़सत्त्व वाले देवों को

भी दुष्कर है। अतः मैं तुम्हें सर्वकामित सिद्धि दूँगी। गोभद्र ने कहा-वह कैसे? तो उसने कहा-

यहाँ जालन्धर नाम का योगीनी पीढ़ का पुर है। अणिमादि सिद्धियों से युक्त वहाँ योगिनियाँ रहती हैं। वशीकरण, आकृष्टीकरण, अदृश्यीकरण, खेचरीकरण, दूरदर्शिकरण आदि विद्याओं द्वारा वे क्रीड़ा करती रहती हैं। निरन्तर छलना के भय से यम भी जिन से शंकित होता है, विश्व पर आक्रमण करने में समर्थ बुढ़ापा भी उनके समीप नहीं आत। सर्वदा वे नित्य-युवा रहती हैं। पत्थर पर उत्कीर्ण पुरातन रूप की लालित्य, मनोरमत्व आदि प्रशस्ति के समान वे अपने रूप को प्रकाशित करती हैं। उसी पीढ़ में रहनेवाली मैं चन्द्रलेखा योगिनी हूँ। जो दूसरी चन्द्रकान्ता है, वह मेरी बड़ी बहन है। यह योगिनियों के मध्य में चतुर्थ स्थान पर पूजनीय है। रूप संपदा युक्त यह देवी अनेक महाविद्याओं में सिद्ध हैं।

गोभद्र विस्मित होता हुआ बोला-यदि ऐसा है, तो कैसे इस प्रकार आराधना होती है। उसने कहा-मैं आगे बताती हूँ। सुनो।

यह कामरूप अधिवासी डमरसिंह का पुत्र ईशानचन्द्र है, जो साहस की महानिधि है। अनेक विद्याओं को सिद्ध कर लेने पर भी सर्वकामित विद्या की सिद्धि के लिए कालायिनी देवी के सामने एक लाख बिल्व की आहूति दी। फिर भी देवी के प्रसन्न न होने पर उसके संतोष के लिए, अति साहसपूर्वक अपना शिर छेदन करने का उपक्रम किया। तब सर्वकामित दायक देवी स्वयं प्रसन्न हो गयी और उसके हाथ में रक्षाङ्गद बाँधकर अदृश्य हो गयी। विश्व का साम्राज्य मिलने के समान अतिगर्वित होता हुआ सभी जगह अस्खलित अहंकारी यह इन्द्र की तरह निरन्तर घूमता है। दर्प से राजाओं को ग्वालों की तरह मानता है। अपने चित्त के अन्तर्बल के कारण यमराज पर भी हंसता है। अंतःपुरों में भी अपने घर की तरह स्वाधीनतापूर्वक क्रीड़ा करता है। श्रृंखला से बंधे हुए के समान यह दूर से ही वस्तुओं को खींच लेता है। रक्षाङ्गद के प्रभाव से यह किसी के द्वारा जीता नहीं जाता, पर चक्रधारी चक्रवर्त्ती की तरह सभी पर विजय प्राप्त करता है। किसी दिन घूमते हुए यह जालन्धरपुर में आ गया। इसने दिव्यरूप धारिणी मेरी बहन चन्द्रकान्ता को देखा। तब धर्म-कर्म से पराङ्मुख इसने कितने ही दिनों तक स्वेच्छाचारी होकर जबरदस्ती रमण किया, फिर कहीं चला गया।

तब बहुत काल तक हमने ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हुए सर्वकामित विद्या की साधना के लिए आज श्री पर्वत पर जाने के लिए दिव्य विमान पर आरुढ़ होते हुए हमें खींचकर यहाँ ले आया। हम भय के कारण वही करते हैं, जो यह कहता है। यह सब सुनकर ब्राह्मण के मन में अत्यन्त कुतूहल पैदा हुआ कि इस प्रकार की योगिनियाँ भी कैसे इस विद्यासिद्ध के वश में रहती है। अथवा क्या आश्चर्य है! बहुरत्ना वसुन्धरा! इस जगत में गुरु के भी गुरु होते ही हैं।

चन्द्रलेखा ने पुनः कहा-अगर यह मेरी बहन का शील खण्डित न करे, तो अभी भी वह विद्या स्वयं सिद्ध हो जायगी। हे भाई! तुम तो अक्षत शील वाले हो, तुम्हें सात रात्रि में ही यह विद्या सिद्ध हो जायगी। फिर तुम्हें यह विद्या क्यों नहीं दूँ? तब भ्राता से अभ्यर्थना की कि फिर कभी कदाचित् हमें अपना आतिथ्य देकर अनुग्रहित करना। इस प्रकार सगे भाई-बहिनों की तरह बातें करते हुए उन दोनों के बीच तीसरा कोई था, तो वह रात्रि थी, जो बीत गयी।

विद्यासिद्ध ने पुकारा-हे मित्र! चलो, अब जाया जाय। उसने कहा-अच्छा! इस प्रकार कहता हुआ विद्यासिद्ध के पास गया। विद्यासिद्ध ने स्त्री सहित उस विमान को छोड़कर आगे जाने के लिए चलते हुए द्विज को पूछा-रात्रि में जिस दिव्य स्त्री को मैंने तुम्हारे पास भेजा, तुमने उसके साथ भार्या-भाव से भोग भोगा या नहीं? गोभद्र ने कहा-हे मित्र! राजा के आदेश की तरह तुम्हारे आदेश का कौन प्राणी उल्लंघन कर सकता है। पर मैं परस्त्री से विरत हूँ।

अतः मैंने उसे नहीं भोगा। मनुष्यों के लिए परस्त्रीगमन दोनों लोक में अनर्थकारी हे।

विद्यासिद्ध ने कहा-मित्र! यह सभी विमान आकर्षण आदि कार्य तुम्हारे लिए मेरे द्वारा किया गया उपक्रम था। अन्यथा इस तीर्थ तक तो मैं भी पैदल चलकर आ सकता था, ब्रह्मचर्य का पालन कर सकता था, अगर तुम्हारे मनोभाव मुझे पहले पता चल जाते। इस प्रकार बातें करते हुए, पूर्ववत् भोजन करते हुए चलते हुए मठादि में सोते हुए वे दोनों वाराणसी को प्राप्त हुए। तीर्थ को देखकर गंगा में स्नान करने के लिए जाते हुए विद्यासिद्ध ने अपने हाथ में बाँधा हुआ रक्षाङ्गद खोलकर गोभद्र को दिया। फिर गंगा में प्रवेश करते हुए क्षण भर के लिए तो वह दिखा। बाद में मंत्र से गायब हुए की तरह वह चिरकाल तक नहीं दिखा। गोभद्र ने संभ्रम होते हुए अपने उस उद्धारक को गंगा के चारों ओर खोजा, लेकिन वह कहीं नहीं मिला। तब अत्यन्त दुःखी होकर चिरकाल तक मित्र के लिए शोक करता हुआ प्रार्थनाओं का स्मरण करते हुए वह जालन्धरपुर की ओर चला। अद्भूत द्रव्य लाभ तथा मित्र प्राप्ति के शकुन जानकर पूछता-पूछता वह चन्द्रलेखा के सदन तक पहुँचा। द्वार खुलवाने के लिए बाहर से आवाज दी। विद्यासिद्ध भी अन्दर से उसकी आवाज सुनकर अत्यधिक प्रसन्न हुआ। अन्दर से ही बोला-आओं! आओं! भाई! तुमने यहाँ आकर मेरे लिए बड़ा अच्छा किया। विद्यासिद्ध के शब्दों को सुनकर गोभद्र भी अत्यन्त विस्मित हुआ। कहाँ हो मित्र! मैं यहाँ हूँ- इस प्रकार चकित होते हुए उसने प्रवेश किया। कठिन श्रृंखलाओं से गाढ़ रूप से बाँधे हुए विद्यासिद्ध को देखा। देखते ही उसकी आँखें आँसूओं से पूर्ण हो गयी। उसने विद्यासिद्ध को पूछा-तीनों जगत् पर विजय प्राप्त करने वाले मेरे मित्र की इस प्रकार की दुर्दशा कैसे हुई? विद्यासिद्ध ने कहा-तुम शोक मनाना बन्द करो। सबसे पहले मेरा रक्षांगद मेरी भूजा पर बाँधो। उसके रक्षांगद को बाँधने के साथ ही गरुड़ अस्त्र से नाग-पाश टूटने के समान उसके बंधन तड़ा-तड़ टूट गये। उसको अपने स्वरूप में स्थित देखकर द्विज ने विद्यासिद्ध को विस्मित होकर कहा-मित्र! विचित्र लीला है, कहाँ तो तुम गंगा में डूबे, और कहाँ से यहाँ आ गये। कैसे इन साँकलों से मुक्त हुए। मुझे यह सारा कौतुक बताओ। विद्यासिद्ध ने कहा-भद्र! विमान में रही हुई चन्द्रकान्ता योगिनी को मैंने जबरदस्ती आकर्षित करके उसके साथ भोग भोगा। उसके वैर से क्रोधित हुई उसकी भगिनी चन्द्रलेखा ने मुझे रक्षांगद से रहित गंगाजल में प्राणायाम में स्थित देखा। अतः वहाँ से उठाकर यहाँ लाकर मुझे निबिड़ बन्धनों में बाँध दिया। ये देवियाँ अपने सभी वैरियों पर छल से ही प्रहार करती हैं। इस समय तुम्हारे द्वारा लाया हुआ यह रक्षाङ्गद मुझे यम के मुँह से खींच लाया। मानो! मेरा पुनर्जन्म हुआ है। तुम भी अपनी आत्मकथा कहो और वांछित वरदान का वरण करो। उसके इस प्रकार कहने पर गोभद्र ने कहा-मैं समय का वरदान माँगता हूँ।

तभी वे योगिनियाँ अपनी विद्या सिद्ध करके श्री पर्वत से विमान द्वारा आकाश मार्ग से अपने भवन में ऊपर आयी। उन्हें देखकर गोभद्र ने उसको पूछा-ये दोनों एक साथ कैसे? उसने भी कहा-जैसा दुश्मनों के साथ किया जाता हे, वैसा ही व्यवहार करुँगा। जैसे-अंधकार को नष्ट किये बिना सूर्य प्रकट नही होता। जल को प्राप्त किये बिना धूलि कीचड़ का रूप धारण नहीं करती।

गोभद्र ने कहा-यही व्यवहार है। फिर भी क्रोध मत करो। यह तो वैर को बढ़ाने वाला रसायन है। इस प्रकार कहकर उसको नियन्त्रित करके वह भवन के ऊपरी खण्ड में गया। चन्द्रलेखा ने उसको देखकर आश्चर्यपूर्वक स्वागत किया। फिर कहा-भाई! तुमने मेरा शील खण्डित नहीं किया। अतः आज शुभाशय से मेरी विद्या सिद्ध हो गयी। गंगाजल से मछली की तरह रक्षांगद से विहीन वह दुर्दम विद्यासिद्ध भी यहाँ बाँधकर लाया गया है। मेरी बहन कृष्ण चतुर्दशी को वर्धापनपूर्वक इसकी बलि चण्डिका देवी को चढ़ायगी। इसी अवसर पर तुम भी आ गये। तुम्हारे आ जाने से आज महा-उत्साह की तरह उत्सव होगा।

भ्रातरिष्टयोगो हि तोषकृत्।

भाई का इष्ट संयोग ही संतोष प्रद होगा।

गोभद्र ने कहा-तुम्हारी बहन द्वारा यह प्राणिघात का कार्य योग्य नहीं है। क्योंकि उससे वैर पैदा होता है और वैराद् भवपरम्परा ।

वैर से भव परम्परा बढ़ती है। उसने कहा-हे भाई! यही मार्ग तुम अपने मित्र को भी क्यों नहीं दिखाते?

गोभद्र ने कहा-उसे भी समझाकर मित्रता निभानी है। तब चन्द्रकान्ता व चन्द्रलेखा गोभद्र के साथ उस प्रकार से बाँधे हुए विद्यासिद्ध को दिखाने के लिए आयी। तब मुमुक्षु की तरह उसके समस्त बंधनो को टूटा हुआ देखकर विस्मित होते हुए भयभीत हो गयी।

विद्यासिद्ध ने भी गोभद्र को देखकर मानो अभी ही देखा हो इस प्रकार पूछा-हे मित्र! क्या तुम भी मेरी तरह इन दोनों द्वारा छल से लाये गये हो?

तब गोभद्र ने उसे रोककर एक जगह बैठाकर प्रौढ़ आचार्य की तरह उसे कषाय-फल की देशना देनी शुरु कर दी। अहो! अद्वैत योद्धा की तरह क्रोध समस्त कषायों में मुख्य है। जिसे क्रोध आता है, उसका सब कुछ जड़ से उखड़ जाता है। क्रोध के फल को जाननेवाला उस पाप की निन्दा करता है। वह समुद्र की भांति वर्षाजल गिरनेपर भी बहुत शांत रहता है। नीच लोगों का यही व्यवहार है कि वे अपकार करनेवाले पर पुनः अपकार ही करते हैं, पर सज्जन व्यक्ति अपकारी पर भी उपकार करनेवाले होते हैं। तभी तो नीच व उत्तम रूप से मनुष्यों की भिन्नता है। अन्यथा तो समस्त वस्तुओं के एक रूप होने से उसकी अनेक नाम्यता नहीं होती। ज्यादा क्या कहूँ! अगर आत्मा का वास्तविक कल्याण चाहते हो, तो मिथ्या दुष्कृत देकर परस्पर दुराशय का त्याग करो। गुरु-आदेश की तरह उसके वचनों पर श्रद्धा करके उन दोनों ने वास्तविक रूप से भाई-बहन के समान प्रीति कर ली। विद्यासिद्ध ने गोभद्र को वरदान माँगने के लिए कहा तो उसने कहा-बस यही चाहता हूँ कि तुम परस्त्रीगमन का त्याग करके इससे विरत हो जाओ। क्योंकि-

परस्त्रीसङ्गमो ह्यत्र परमं वैरकारणम् ।
आवासोऽनर्थसार्थानां राजमार्गश्च दुर्गतेः ॥

परस्त्री का संगम यहाँ परम वैर का कारण है। यह अनर्थों के भण्डार का घर है, और दुर्गति का राजमार्ग है।

हे बन्धु! यह दुर्विनय पराभूति का परम स्थान है। यह जन्मभूमि में अकीर्त्ति करनेवाला तथा पापपंक की खाई है। जिसने परस्त्रीगमन का त्याग किया, वे सुदर्शन आदि मुक्ति को प्राप्त कर गये तथा जिसने इसे नहीं छोड़ा, वे लंकेश्वर आदि की तरह अनर्थ को प्राप्त हुए। अग्नि से घृत-कुम्भ की तरह, बिल्ली से चूहे की तरह, दीपक से पंतगे की तरह, सिंह से हरिण की तरह, सूर्य से अन्धकार की तरह, साँप से मेढ़क की तरह सुखार्थी को परस्त्रियों से दूर रहना चाहिए। तब वैराग्य से ओतप्रोत होकर विद्यासिद्ध ने शीघ्र ही अपने मित्र के पास परदारा परिहार व्रत अंगीकार किया। गोभद्र ने भी उससे कहा-मुझे मेरा वांछित प्राप्त हो गया। तुम्हारा भी मनुष्य जन्म सफल हो गया। अब इसे कभी मत भूलना। विद्यासिद्ध, योगिनियों के घर खाना खाकर प्रमोद भाव से योगिनियों तथा मित्र को पूछकर स्वस्थान जाने लगा।

गोभद्र ने उससे कहा-भद्र! मेरे घर होते हुए चले जाना। जाकर कहना कि मैं थोड़े ही दिनों में आ जाऊँगा। वहाँ मैं तुम्हारी भाभी को गर्भवती छोड़कर आया था। पता नहीं, वह इस समय कैसी होगी?

उन दोनों योगिनियों ने कुछ दिन तक उसे आदर के साथ रखा। उसे प्रभूत द्रव्य रत्नादि दिये। फिर वह अपने घर के लिए रवाना हुआ। प्रसन्न होते हुए घर की ओर जाते हुए उसने गाँव के लोगों से सुना कि उसकी पत्नी पञ्चत्व

को प्राप्त हो गयी। उस पर दुःसह वज्रपात हुआ। दुःखित होते हुए उसने विचार किया-जिस के लिए कष्टपूर्वक परदेश गया, इतना धन अर्जित किया, वही प्राणप्रिया मुझे छोड़कर चली गयी। मनुष्य प्रमुदित होता हुआ। कुछ अन्य सोचता है और दुर्द्धर वैरी की तरह दैव क्षण भर में ही अनिष्ट कर देता है। अतः मनुष्य का ऐश्वर्य सुख दुःखादि उसके वश में नहीं है। हे प्रभु! दैव ही अपनी इच्छा से सब कुछ करता है। चंचल बन्दर की तरह मनुष्य निरर्थक ही कूदता है और अनर्थों में पड़ता हुआ किंकर देव की योनियों को प्राप्त करता है। इस प्रकार चिन्ता युक्त, अन्तःकरण की शरण लेता हुआ अपने शून्य घर में वह द्विज शून्यमना होकर बैठ गया।

तभी वहाँ उसके भावी सुकृत्यों से प्रेरित की तरह धर्मघोष नाम के मुनि का पदार्पण हुआ। सभी लोग उनके पास वन्दना करने के लिए आये। वह गोभद्र भी वहाँ जाकर वन्दना करके उनके सामने बैठ गया। उनके पास धर्म सुनकर प्रतिबद्ध होते हुए गोभद्र ने सात क्षेत्रो में संपूर्ण धन व्यय करके व्रत ग्रहण कर लिया। वे क्रम से अध्ययन करते हुए गीतार्थ मुनिपुंगव बन गये। कर्म वन का नाश करने की इच्छा से उग्र तपस्या करने लगे।

एक बार विहार करते हुए मासखमण का पारणा करने के लिए जाते हुए उनके पाँवों के नीचे एक मेंढकी आ गयी। तब उनके अनुगामी क्षुल्लक साधु-ने उन्हें दिखाते हुए कहा-हे क्षपक! आप द्वारा यह क्षुद्र मेंढकी मर गयी है। उन्होंने क्रोधपूर्वक कहा-हे दुष्ट! दूसरों द्वारा मारी गयी मेंढकी मुझे दिखाकर कहता है कि मैंने मारी है। क्षुल्लक मुनि ने उनको देखकर सोचा कि अभी भूख से पीड़ित है, अतः क्रोध में है। समय आने पर इन्हें याद दिलाऊँगा-इस प्रकार विचारकर वह मौन हो गया। आवश्यक में भी वे बिना आलोचना किये बैठ गये। तब क्षुल्लक ने याद दिलाया-हे क्षपक! आपने मेंढकी की आलोचना नहीं की। क्रोध ने उनके विवेक नयनों को आच्छादित कर दिया। पाटे को उठाकर क्षुल्लक को मारुँगा-इस प्रकार वेग से दौड़े। दौड़ते हुए स्तम्भ से टकरा गये और कपाल फूट जाने से उनकी मृत्यु हो गयी। चारित्र की विराधना करने से ज्योतिष्क में देव रूप से उत्पन्न हुए। वहाँ से च्यवकर कनकखल में ५०० शिष्यों के कुलपति के कौशिक नाम के पुत्र के रूप में उत्पन्न हुए। कौशिक कुल में उत्पन्न तथा चण्ड स्वभाव के कारण वह चण्डकौशिक नाम से प्रख्यात हुआ। उस कुलपति के परलोक चले जाने पर वह चण्डकौशिक कुलपति बना। क्योंकि-

सूनोर्न्याय्यं खलु पितुः पदम् ।

पिता के पद पर पुत्र को स्थापित करना निश्चित ही न्यायोचित है।

अपने वन खण्ड में अत्यधिक मूर्च्छित होते हुए वह अपने ही तापस जनो को वहाँ के पुष्प, फल कन्द आदि नहीं लेने देता था। अगर कोई कदाचित् पत्ते आदि भी ग्रहण कर लेता, तो वह क्रुद्ध होकर उसे लाठी, पत्थर व कुठार आदि के द्वारा ताड़ित करता था। तब फलादि की प्राप्ति नहीं होने से तापस अन्यत्र चले गये। कहा भी है-

स्वार्थसिद्धिं बिना यन्न कोऽपि कस्यापि वल्लभः ।

स्वार्थ सिद्धि के बिना कोई भी किसी को भी प्रिय नहीं होता।

गुरु के समान ही गुरुपुत्र को भी मानना चाहिए-इस प्रकार माननेवाले तापसों ने वचन से भी उसकी प्रतिकूलता के लिए कुछ नही कहा। वह अकेला ही असहिष्णु शेर की तरह चारों ओर घूमता हुआ सर्वदा उस वनखण्ड की रक्षा के लिए वहाँ रह गया। एक दिन उसने वृत्ति के लिए तापसों के आने जाने के मार्ग को भी रोकने के लिए वनखण्ड की आसक्ति से काँटों की बाड़ से बन्द कर दिया। जब राजपुत्रों ने वहाँ आकर यह जाना तो वे आग बबूला हो गये। पहले भी फल आदि लेने की मनाही से वे क्रोधित थे। अतः वनखण्ड में जाकर उस वन को झंझावात से उखड़े हुए की तरह उखाड़कर उस शून्य वन से स्वेच्छापूर्वक चोर की तरह सारे फल ले लिये। कुछ ग्वालों ने यह देखा तो जाकर बोले-चण्डकौशिक! देखो! देखो! तुम्हारे वनखण्ड को अनाथ की तरह जानकर कोई

उसे नष्ट-भ्रष्ट कर रहा है। तब वह भी क्रोध से जलता हुआ परशुराम की तरह हाथ में फरसा लेकर उन क्षत्रियों के वध के लिए उद्यमवान होता हुआ दौड़ा। जैसे बाघ को देखकर सियार भाग जाते हैं, वैसे ही संहार में उद्यत रुद्र की तरह उसको देखकर वे सभी राजपुत्र भाग गये। उनके पीछे-पीछे दौड़ते हुए स्खलित होकर गड्ढे में गिर जाने से अपने ही फरसे से सिर दो भागों में कट गया और मृत्यु को प्राप्त हुआ। वनखण्ड की मूर्च्छा के पूर्वाभ्यास के कारण अत्यन्त क्रोधित भाव में मरकर वह वहीं दृष्टिविष सर्प के रूप में उत्पन्न हुआ।

तापस चण्डकौशिक को मरा हुआ जानकर पुनः अपने आश्रम में आ गये। क्योंकि-

स्थानमोहो न कस्य वा ।

स्थान का मोह किसको नहीं होता।

उस नाग ने घूमते हुए वहाँ पक्षी आदि को देखा। सभी को कोप भरी दृष्टि से देखकर भस्मसात कर दिया। तापसों में भी जो उसके सामने आ गये, उन्हें दृष्टि से भस्मीभूत कर दिया। दूसरे तापस तो अपना जीवन बचाते हुए अन्यत्र पलायन कर गये। उस नाग ने बारह योजन तक के वनखण्ड को खाली करवाकर अर्थात् सर्वप्राणियों से रहित करके उसको तीन बार परिक्रमा करके फिर अपने बिल में चला गया। छमस्थ भगवान महावीर उसे बोध योग्य जानकर लोगों द्वारा मना किये जाने पर भी उस आश्रम में आयें। उस चण्डकौशिक पर उपकार करने की भावना से अपनी पीड़ा की अवहेलनाकर उसके बिल के समीप के मण्डप में प्रतिमा में स्थित हो गये। भगवान के शरीर की गन्ध से प्रभावित होकर दुर्द्धर क्रोध से फुंफकारते हुए यमराज जैसी काली त्वचावाला, कालरात्रि के समान जीभवाला, पृथ्वी पर चोटी की तरह एवं यमुना के प्रवाह की तरह लहराता हुआ वह दृष्टिविष सर्प दर्प से भरा हुआ बिल से बाहर निकला। श्री महावीर को देखकर क्रोधोद्धत सर्प ने विचार किया-ओह! क्या यह मुझे नहीं जानता था अपने घमण्ड के कारण मेरी अवज्ञा कर रहा है। तो फिर इस दुष्ट बुद्धिवाले को अभी भस्म करता हूँ। फिर उसने फन उठाकर फुत्कारपूर्वक प्रभु को देखा और देखता ही रह गया। लेकिन उसके दृष्टि विष का तेज भगवान पर कुछ भी प्रभाव नहीं डाल सका।

वार्द्धिशोषक्षमः किं स्यात् प्रौढोऽपि वडवानलः ?

प्रौढ़ वड़वानल भी क्या समुद्र को सूखा सकता है?

पुनः-पुनः देखकर फिर उसने अत्यधिक तेज दृष्टि के साथ प्रभु को देखा। परन्तु वह दृष्टि ज्वाला भी भगवान के समीप पहुँचकर कमल की नाल की तरह नरम पड़ गयी। तब वह प्रभु को क्रोधपूर्वक देखकर उनके पैरों में डंक मारकर शीघ्र ही यह सोचकर चला गया कि विष के आवेग से मूर्च्छित होकर कहीं यह मुझ पर ही न गिर पड़े। बार-बार डंसने पर भी प्रभु को कोई विष जन्य दर्द नहीं हुआ, किन्तु जिस पाँव पर डंक मारा था, उस पाँव से रक्त की जगह दूध की धारा बहते हुए देखी। तब उस प्रकार के प्रभु के अतिशय को प्रत्यक्ष देखते हुए चण्डकौशिक का क्रोध-ज्वाला शांत हो गयी। उसे उपदेश के योग्य जानकर प्रभु ने उसको कहा-जागो! जागो! चण्डकौशिक! मोहित मत बनो। प्रभु के वचनों को सुनकर ऊहा-अपोह आदि क्रियाओं में युक्त होते हुए क्षपक के जन्म तक का जातिस्मरण ज्ञान उसे उत्पन्न हुआ। तब उस वृत को जानकर वैराग्ययुक्त होते हुए नाग ने प्रभु की प्रदक्षिणा करके, भक्तिपूर्वक प्रणिपात करके, कषायों से निवृत्त होकर, संपूर्ण दुष्कृतों की गर्हा करके, तिर्यंचयोनि में होने से, सर्वचारित्र के अयोग्य होने से, दृढ़ सम्यक्त्व धारण करके, बारह व्रतों को ग्रहण करके, भगवान की साक्षी से अनशन स्वीकार किया।

उसने विचार किया कि दृष्टि विष के दोष से प्राणी मृत्यु को प्राप्त करेंगे, तो मेरे पहले व्रत में दोष लगेगा। अतः सर्वदिशाओं से विरति करके, योगों का निरोध करके बरसात के जल की भी याचना न करने के समान बिल

में अपना मुँह डालकर वह बैठ गया। प्रभु ने उसे सम्पूर्ण धर्मविधि की अनुमति देकर अनुकम्पापूर्वक उसे वहीं उसी रूप में रहने दिया। महावीर स्वामी को यथावस्थित अक्षत देखकर, गोपालक, वत्स-पालक आदि विस्मित होकर उसके पास गये। वृक्षादि की डाल बिल में घुसेड़कर, पत्थर आदि से प्रहारकर, उस सर्प को उत्तेजित करने के लिए उन्होंने उत्तेजना दिलाने वाली बहुत सारी क्रियायें कीं। फिर भी विचलित नहीं होने पर विश्वास करके उसके पास जाकर साँप के फन को लाठियों से रस्सी की तरह हिलाया। तब उन गोपालक आदि लोगों ने कहा- बादलों से दावानल के शांत होने की तरह देवार्य महावीर ने इस सर्प को शांत कर दिया है। ऐसा कहकर उन सभी ने वीर स्वामी के पास जाकर मुदित होकर उनको नमस्कार किया, स्तुति की और उस सर्प की पूजा की। गोरस आदि बेचने के लिए उस मार्ग से होकर निकलनेवाली ग्वालिनियों ने इकट्ठे होकर सरलता से सम्मानपूर्वक नागराज को गोरस चढ़ाया। उसकी गन्ध से आकृष्ट होकर कर्मों के निगमन द्वार की तरह अनेक छिद्र उसके शरीर में चीटियों ने कर दिये। फिर भी उस नाग ने यही विचार किया कि यह अच्छा ही हो रहा है, क्योंकि मेरे कर्मों का उच्चाटन करने के लिए इस प्रकार की वेदना की जा रही है। इस प्रकार धर्म ध्यान रूपी अमृत का पान करते हुए, निवृत मन वाले उस सर्प ने उस भयंकर आर्ति को पन्द्रह दिनों तक सहन किया। श्री महावीर के सान्निध्य को प्राप्त करने वाला वह चण्डकौशिक सर्प कर्म-शत्रुओं को जीतता हुआ सुखपूर्वक सहस्रार देवलोक में गया।

जिस प्रकार दिशा विरमण व्रत के द्वारा चण्डकौशिक नाम के महासर्प ने देवलोक प्राप्त किया, उसी प्रकार दूसरों को भी अन्यों द्वारा दिशा परिमाण की मर्यादा करके अपर दिशाओं की विरति द्वारा उत्कृष्ट पद से निबद्ध होकर शारीरिक योग के निरोधपूर्वक दिशा विरति अपनानी चाहिए।

इस प्रकार दिशिव्रत की विरति में चण्डकौशिक सर्प की कथा पूर्ण हुई।

अब भोगोपभोग व्रत की कथा कहते है-

।। शिवकुमार की कथा ।।

जम्बूद्वीप में वसुवर्तुलपुरी में आयताकार महाविदेह नामक क्षेत्र था। विजयों में अग्रिम पुष्कलावती नामकी विजय में शोक से रहित वीतशोका नाम नगरी थी। न्याय व धर्म के मनोरथ से युक्त पद्मरथ वहाँ का राजा था, वह प्रजावत्सल राजा अपनी प्रजा को सन्तानों की तरह पालता था। पत्र, पुष्प श्रृंगार, छाया व फल सहित वनमाला की तरह वनमाला नामकी रानी उस राजा की वल्लभा थी। निसर्ग सौंदर्य से युक्त रानियों का अंतःपुर-वर्ग होने पर भी लक्ष्मी में विष्णु की तरह वह राजा विशेष रूप से वनमाला में आसक्त था। एक बार रत्नपृथ्वी (रत्नद्वीप) में रत्न की तरह तथा सीप में मोती की तरह वनमाला की कुक्षि में गर्भ का अवतरण हुआ। उस गर्भ के अनुभाव से वह दुर्योध योद्धा की तरह धर्म कर्म में लीन हो गयी। उसका मुख उज्ज्वलता से चमकने लगा। स्वजन आदि में उसका अतीव निर्मल स्नेह भैंस के दही के समान व विशालता युक्त मन वाला हो गया। गुरुजनों के प्रति उसका विनय फल से लदी हुई झुकी हुई शाखा की तरह हुआ तथा दानशीलता में वह कल्पलता के समान हो गयी। शुभ दिन, शुभ समय, शुभ मुहूर्त में कमलिनी के समान उस राजा की प्रिया ने कमल के समन पुत्र रत्न का प्रसव किया। राजा ने महा-महोत्सव से जन्मोत्सव को मनाया। स्वामी के संतोष से सभी लोग भी प्रसन्न व संतुष्ट हुए। उसके गर्भ में आने पर राज्य में हुआ भयंकर अकल्याण शिव रूप में परिगत हो गया, अतः उसका नाम शिवकुमार रखा गया। कुशल भृत्यों तथा धात्री आदि के द्वारा पाला-जाता हुआ। शिवकुमार लोगों के मनोरथों के साथ-साथ वृद्धि को प्राप्त होने लगा। आठ वर्ष की उम्र में उसे कलाचार्यों के पास पढ़ने के लिए भेजा गया। संपूर्ण कलाओं को ग्रहण करता हुआ वह पूर्ण चन्द्रमा की तरह कलाकोश बन गया। मद के अभिमुख हाथी की तरह तारुण्य को प्राप्त होने

पर राजा ने उसके अनुरूप राजकन्या के साथ उसका विवाह कर दिया। तारों के साथ चन्द्रमा की तरह, गोपियों के साथ कृष्ण की तरह तथा अप्सराओं के साथ इन्द्र की तरह वह उनके साथ रमण करने लगा।

काफी समय इसी तरह बीत गया। फिर एक दिन सिद्धान्त अमृत के सागर सागरदत्त नामके ऋषि वहाँ पधारे।

वे विद्वद्वर्य मुनि नगर के बाहर लक्ष्मीनन्दन नाम के उद्यान में ठहरे। तप में लीन रहते हुए उन्होंने मासखमण तप की आराधना की। कामसमृद्ध नाम के सार्थपति ने प्रासुक अन्नादि के द्वारा भक्तिपूर्वक पारणा करवाया। महान पात्रदान के प्रभाव से उसके घर में पुष्पवृष्टि के साथ स्वर्ण-रत्न आदि की भी वृष्टि हुई। सभी नागरिक जन उसको देखने के लिए वहाँ इकट्ठे हो गये। लोगों से उस आश्चर्य को सुनकर शिवकुमार भी वहाँ आया। तप का अद्‌भूत माहात्म्य देखकर उसके नेत्र उत्फुल्ल रह गये। पूर्व भव के स्नेह के वश से मुनि को देखते ही वह रोमांचित हो गया। भक्तिपूर्वक शिवकुमार ने मुनि को वन्दना की और उनके तप की प्रशंसा की। सार्थवाह को पात्र-दान-फल की बधाई दी। महामुनि पारणे के लिए उद्यान में पधार गये तथा सभी जन अपने-अपने स्थान पर चले गये। शिव भी राजभवन को लौट गया। पारणे के बाद तप से आकर्षित नागरिक पुनः मुनि की उपासना करने आये, शिवकुमार भी आया। स्नेह से भाव-विह्वल होकर शिव ने उन मुनि को प्रणाम किया। फिर उनके अन्तेवासी की तरह भक्तिपूर्वक होकर उनके एकदम पास बैठ गया। तब श्रुत के सागर मुनि सागरदत्त ने शिव को धर्म लाभ आशिष देकर धर्मदेशना दी। उन नियोगी मुनिराज ने सिद्ध के आदेश की तरह शीघ्र ही दुष्टों के समान संपूर्ण कषाय-विषय आदि को विवेचित करके संसार की असारता आदि को पर्दों में उसके सामने रखा। शिव ने पूछा-प्रभों! जैसे चन्द्रमा की किरणों के स्पर्श से समुद्र वृद्धि को प्राप्त होता है, वैसे ही आपके दर्शन से मुझमें स्नेह की वृद्धि होती है। इसका क्या कारण है?

तब अवधिज्ञान के प्रयोग से सागरदत्त मुनि ने सब कुछ जानकर उसके पूर्वजन्म के संबंध को कहना शुरु कर दिया। जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में मगध नामका देश था। वहाँ चमकती लक्ष्मी, आरामों, उद्यानों, लताओं से युक्त सुग्राम नामका गाँव था। उस गाँव में शिखर रूप आर्जव नामका कुलपुत्रक था। आकाश की तारिका मानो पृथ्वी पर आ गयी हो, ऐसी रेवती नामकी उसकी पत्नी थी। उन दोनों के अतिस्निग्ध दो पुत्र राम व कृष्ण के समान थे। बड़े पुत्र का नाम भवदत्त तथा छोटे पुत्र का नाम भवदेव था। एक बार उस गाँव में बहुश्रुत आचार्य सुस्थित पधारें। ग्राम के लोग वन्दना करने गये, तो मुनि ने उन्हें धर्मदेशना दी- जीवधारियों को चार अंग परम दुर्लभ है-मनुष्य जन्म, वीतराग वाणी का श्रवण, जिन वचनों में आस्था तथा संयम में पराक्रम। यह उपदेश सुनकर भवदत्त उनके पास वैराग्यवंत हो गया। युवा होते हुए भी अन्तर-शत्रुओं को जीतकर चारित्र राज्य प्राप्त किया। गुरु के साथ विहार करते हुए तथा श्रुत का अध्ययन करते हुए क्रमपूर्वक उन-उन गुणों के द्वारा गुरु की छाया के समान बन गया।

उनके गच्छ में किसी एक साधु ने गुरु को कहा-प्रभो! आपकी अनुज्ञा हो, तो अपने गाँव जाकर अपने स्वजनों से मिलना चाहता हूँ जिससे मेरा स्नेहित अच्छा सा छोटा भाई मुझे देखकर कदाचित संयम ग्रहण कर ले। तब गुरु ने कुछ गीतार्थ साधुओं को उस मुनि के साथ जाने का आदेश दिया। मानो चक्री सेनापति व बल के साथ बाहरी खण्डों को जीतने के लिए निकला हो। तब वह मुनि अपने पिता के गाँव में जाकर पितृगृह में प्रवेश किया। वहाँ मुनि ने अपने छोटे भाई के विवाह हेतु हो रहे अद्‌भूत संरम्भ आरम्भ आदि को देखा। विवाह में गाढ़ रूप से आसक्त अपने अनुज को उच्च स्वर में बुलाया, पर काम के बंधन में जकड़े हुए के समान उसने कुछ भी स्वागत नहीं किया। व्रत ग्रहण करना तो दूर रहा, उस नवोढ़ा में मोदित बुद्धि वाले उस अनुज ने अपने अग्रज मुनि को आया देखकर उन्हें बातों आदि से भी संतुष्ट नहीं किया। पारिवारिक जनों द्वारा अलक्ष्यीभूत वे मुनि लौटकर गुरु के पास

आये। आलोचना करके भ्राता का सारा वृतान्त यथातथ्य बतलाया।

वह वृतान्त सुनकर भवदत्त मुनि ने हंसते हुए कहा-अहो। तुम्हारे भाई का जो स्नेह है वह अन्य किसी का नहीं है, जो कि चिर काल बाद अतिथि की तरह आये हुए सहोदर बड़े भाई के पीछे भी नहीं आया, बल्कि नव विवाहित पत्नी के मोह के रंग में रंजित हो गया। तत्काल कर-लग्न की हुई सर्पिणी के समान स्त्री के राग रूपी विष का आहार करनेवाला बुद्धिमान तुम्हारा भाई ही हो सकता है।

उन मुनि ने भी कहा-हे भवदत्त मुनि! मैं तुम्हारे पाण्डित्य तथा तुम्हारा भ्रातृप्रेम तभी जानूँगा, जब तुम अपने भाई को दीक्षा दिलाओगे। भवदत्त मुनि ने भी कहा-ठीक है। ज्यादा देर नहीं है। उस तरफ अगर गुरुदेव का पधारना हुआ तो तुम सब देखोगे।

कालान्तर में विहार करते हुए गुरु महाराज भवदत्त मुनि की जन्मभूमि की ओर पधारे। कहा भी गया है-

वायोरिव मुनीनां हि कदाचिद् कुत्रचिद् गतिः ।

वायु की तरह मुनिजन कभी भी कहीं भी पहुँच सकते हैं।

तब भवदत्त मुनि ने गुरु से कहा-प्रभो! आपकी आज्ञा हो, तो अपने पारिवारिक जनों को देखने की इच्छा है। भवदत्त मुनि गीतार्थ थे, अतः उन्हें अकेले ही जाने की अनुमति दे दी। क्यों न हो-

सिंहस्यापि सहायः किं जायते जातु कुत्रचित् ।

क्या सिंह को भी कभी सहायता की जरुरत होती है?

अपनी प्रतीज्ञा का निर्वाह करने के लिए वे मुनि प्रवर भवदत्त सुग्राम में अपने परिजनों के आवास स्थान पर गये। भवदेव का विवाह उसी समय नागदत्त तथा वासुकी की कन्या नागिला के साथ हुआ था। वर्षा होने पर जैसे मयूर प्रसन्नता से नाच उठता है, वैसे ही भवदत्त महामुनि को आया देखकर सभी बाँधव प्रसन्न हुए। फिर आनंदपूर्वक उन मुनि के पाद-पद्मों में अभिवन्दना करके भ्रमरों के समूह की तरह अपना मस्तक उनके चरणों में रखकर कहा-हे मुने! आज आपके घर में इसका अर्थात् भवदेव का चूड़ा-महोत्सव[विवाह] है। हमें इस मोके पर भी सुकृत का अर्जन करने के लिए आपकी सेवाभक्ति प्राप्त हो गयी है।

भवदत्त मुनि ने कहा-इस समय सभी विवाह के उत्सव में व्यस्त है। अतः इस समय तो मैं जाता हूँ। किसी अन्य समय में आऊँगा। ऐसा कहकर वे जाने लगे, तो परिजनों ने दोष वर्जित खण्ड-खाद्य-आहार आदि के द्वारा प्रतिलाभ प्राप्त किया। उस समय कुलाचार के कारण भवदेव स्वयं अपनी नवोढ़ा के गालों पर श्रृंगार आदि का मण्डल कर रहा था। जब उसने भवदत्त मुनि का आगमन सुना तो उत्कण्ठित होते हुए जैसे गुरु के बुलाने पर शिष्य तुरन्त जाता है वैसे ही भवदेव अपनी नवोढ़ा को वैसे ही छोड़कर सहसा उठ खड़ा हुआ। उन बोलने वाले लोगों द्वारा उसे मना किया गया-मत जाओ! अर्द्ध मण्डित बाला को छोड़कर क्यों जाते हो? समान वय वाले मित्रों ने भी उसे बार-बार कहा-रति के समान हमारी छोटी बहन को छोड़कर कहाँ जाते हो?

तो उसने जाते-जाते उत्तर दिया-चिरकाल के पश्चाद् मेरे बड़े भ्राता मुनि आये हैं। अतः अपने सहोदर भाई को वन्दना करके वापस आता हूँ। इस प्रकार वर्षा की बूँदों के समान उछलती हुई हर्ष कल्लोलों के साथ भ्राता के पास आकर स्नेहपूर्वक भक्ति से उन्हें वन्दना की। उन्होंने भी उससे बातें करते हुए घी का पात्र उसे पकड़ा दिया। मानो व्रत देने की इच्छा से उन्होंने एक स्वांग रचा हो। कृत कृत्य पूर्वक साधु अपने घर से निकले। सभी स्वजन भी उनके पीछे-पीछे आये। मुनि पाप भीरु होने से किसी को भी लौटने के लिए नहीं कहते। अतः सभी जन धीरे-धीरे मुनि को वंदन कर-कर के लौट गये।

भवदेव ने मन में सोचा-सभी जन तो लोट गये पर मैं अपने बन्धु द्वारा छोड़े बिना कैसे जाऊँ? लोटने की

इच्छा से अर्द्धमंडित नवोढ़ा का स्मरण करते हुए भ्राता मुनि की अनुमति की वांछा करते हुए उपायपूर्वक कहा-हे भाई! अपने कुल की सीमा की तरह आपके साथ कभी भी इस सीमा का उल्लंघन नहीं किया। इस आम के वन में बहुत समय तक हमने साथ-साथ क्रीड़ा की है। पर अपनी पीठ की तरह इस वन के पीछे का भाग मैंने कभी नहीं देखा। हे भ्रात! यह मार्ग तो मेरे लिए सर्वथा नवीन है। मैं तो इतने दिन तक तो कूप मण्डूक की तरह अपने गाँव में ही बैठा रहा। इस तरफ कभी आया ही नहीं।

अपने गुरु के पास ले जाने के लिए भवदत्त ने भी बच्चे की तरह उसको बचपन के सुखादि की बातों में उलझाये रखा। उन्होंने कहा-हे भाई! इस संसार रूपी पिंजरे में पथिको के तरह लगातर घूमते हुए भव्यो के लिए यहाँ अपूर्व कुछ भी नहीं है। इस संपूर्ण लोक का कोई भी ऐसा प्रदेश नहीं है, जहाँ इस जीवात्मा ने जन्म-मरण न किया हो। इस प्रकार की बातें करते हुए उन साधु के साथ उनके भाई ने शीघ्र ही गाँव को पार कर लिया। किसी ने ठीक ही कहा है-

विनोदो ह्यध्वलङ्घकः ।

विनोद ही विनोद में रास्ता कट जाता है।

तब नव-दुल्हे के वेश वाले छोटे भाई के साथ मुनि को आया हुआ देखकर क्षुल्लक मुनि परस्पर बातें करने लगे। निश्चय ही **भवदत्त** मुनि अपने अनुज को दीक्षा दिलाने के लिए ले आये हैं। कहा भी है-

सत्यसन्धो महामुनिः ।

महामुनि सत्य-प्रतिज्ञ होते है।

वे अपनी प्रतिज्ञा को सत्य साबित करके ही छोड़ते हैं। गुरु ने भी उसको देखकर कहा-**भवदत्त**! यह कौन है? उन्होंने कहा-यह मेरा अनुज है। दीक्षा लेने के लिए यहाँ आया है। आचार्य ने आश्चर्यपूर्वक **भवदेव** से पूछा-हे भद्र! क्या व्रत स्वीकार करना चाहते हो? यह सुनकर **भवदेव** विचार करने लगा- उस तरफ मेरी प्राणप्रिया नवयुवती नवोढ़ा वह बाला है और इधर **मेरे ज्येष्ठ भ्राता का अनुल्लंघनीय वचन है**। एक तरफ नवविवाहिता प्रेयसी का महावियोग है, तो दूसरी तरफ भाई की लघुता होगी। तो फिर मेरे द्वारा क्या किया जाना श्रेय है? इस प्रकार विचार करके उसने मन में निश्चित किया कि साधुओं के बीच भाई के वचन मिथ्या न हो जाय, अतः कहा-हाँ! मैं साधु बनुँगा। तब आचार्य ने उसी समय **भवदेव** को दीक्षा देकर सपरिवार वहाँ से विहार कर दिया। क्योंकि-

स्थायिता यतिनां न यत् ।

मुनि कहीं भी स्थायी रूप से नहीं रहते।

नये मुनि को सम्पूर्ण साध्वाचार सिखाया गया। भाई के अनुरोध के कारण उसने द्रव्य रूप से ही व्रत को धारण किया। भावरूप से तो वह सर्व क्रियाओं में शून्यमनवाला होकर एक मात्र अर्द्ध मण्डित प्रेयसी में ही अनुरक्त मन वाला था।

एक दिन **भवदेव** मुनि ने पढ़ते हुए दूसरो के मुख से एक शास्त्र वाक्य सुना-

न सा महं नो वि अहं पि तीसे ।

उसके अर्थ को जान कर मुनि ने अपने मन में विचार किया कि यह वाक्य सत्य नहीं है। क्योंकि "वह मेरी है और मैं उसका हूँ" अतः यह मैं निश्चयपूर्वक कह सकता हूँ कि "महं सा अहयंपि तीसे"। इस प्रकार जोर-जोर से बोलने लगा। तब समस्त साधुओं ने उसे कहा-इस प्रकार मिथ्या भाषण मत करो। तब वह मन ही मन इस प्रकार रटन करने लगा। इस प्रकार मन के निजी संकल्प से उसी वाक्य को शुद्ध मानते हुए सभी क्रियाएँ करते हुए भी उस वाक्य को उसी प्रकार बोलता।

काफी समय बाद अपना अंतिम आयुष्य जानकर भवदत्त मुनि ने अनशन करके प्रकृष्ट समाधि द्वारा दिव्य, दुर्द्धर ऋद्धि को प्राप्त करके सौधर्म देवलोक में देवत्व पद को पाया।

भवदेव ने भवदत्त के देवलोक-गमन के बाद विचार किया कि इतने समय तक तो मैं भाई के उपरोध (अनुरोध) से व्रती अवस्था में था। पर अब इस क्लेशकारी व्रत से मुझे क्या लेना देना है? पक्षी की तरह बंधन मुक्त मैं अब कहीं भी जा सकता हूँ। उस अर्द्धमण्डित छोड़ी हुई बाला को जाकर संभालता हूँ। वह काम-निधान उपद्रव युक्त मेरी नवोढ़ा अब किस प्रकार होगी? कामदेव द्वारा त्यक्त रति तथा इन्द्ररहित शचि की तरह वह बिचारी अकेली मेरे बिना जीने में कैसे समर्थ हुई होगी? बिना बादल की बिजली तथा विष्णु से रहित लक्ष्मी की तरह उसने किस तरह इतना काल बिताया होगा? उस लावण्य की तरंगिणी को अगर मैं जीवित पाऊँगा, तो उसके व मेरे सारे चिन्तित मनोरथ पूर्ण करुँगा। इस प्रकार तीव्र मोह के उदय से विचार करते हुए उसका सम्यक्त्व बोध रूप रत्न गलित हो गया। विवेक पलायन हो गया। कुल का अभिमान नष्ट हो गया। शील उससे दूर हो गया। धर्मोपदेश नष्ट हो गया। स्वीकृत व्रत-मार्ग को वह भूल गया। अब उसे अपने सामने वही-वही दिखायी देने लगी। वही उसकी दृष्टि के सामने झूलने लगी। उसके अन्दर-बाहर, ऊपर नीचे, सब ओर वही-वही दिखायी दे रही थी। ज्यादा क्या कहा जाय? उसके लिए सारा जगत ही नागिलामय हो गया था।

उसके इंगित आदि को जानकर आचार्य ने उसे बोध कराया। सौहार्द व अनुकम्पा से अन्य साधुओं ने उसे शिक्षा दी। पर कर्मगति से जड़ीभूत होकर उनके वचनों का अनादर करते हुए भवदेव स्मृति विहीन हाथी की तरह वहाँ से निकल गया। मनोरथों के रथ पर आरुढ होकर वह कुछ ही क्षणों में अपने गाँव पहुँच गया। वहाँ बाहरी चैत्य में क्षणभर रुककर उसने जिनेश्वर-बिम्ब को नमन किया। ब्राह्मणी तथा उसके पुत्र के साथ नागिला श्रेष्ठ माला लेकर उस चैत्य में आयी और मुनि को देखकर साधुबुद्धि से नमन किया।

भवदेव ने उसे एक तरफ ले जाकर उत्कण्ठित होते हुए पूछा-हे कुशले! क्या यहाँ आर्जव व रेवती कुशल है? उसने कहा-उन दोनों का तो काफी समय पहले ही निधन हो गया। वे दोनों कुशल कर्मी परलोक में भी कुशलपूर्वक गये। सूर्यास्त के समय मुरझाये हुए कमल के समान उसका मुख मुरझा गया। पुनः उसने पूछा-नागिला नाम की कोई स्त्री है या नहीं? यह सुनकर उसने मन में विचार किया कि निश्चय ही यह मेरे पति भवदेव है। इनके वचनों से ये भग्न व्रत-परिणामी प्रतीत होते हैं। इन्हीं से पूछती हूँ। देखती हूँ आगे ये क्या-क्या निवेदन करते हैं, फिर अनुमान से इन महामुनि को बोधित करुँगी। इस प्रकार विचार करके उसने कहा-हे तपोधन! वह आपकी कौन है अथवा आप उसके क्या लगते हैं? उन्होंने आकर्षणपूर्वक कहा-वह नागिला मेरी प्राणप्रिया है। मैं आर्जव व रेवती का पुत्र तथा भवदत्त का अनुज भवदेव हूँ! अर्द्ध मण्डित नागिला को छोड़कर बन्धु मुनि के पीछे-पीछे जाते हुए उनके अनुरोध से मैंने व्रत अंगीकार कर लिया। अब भ्राता मुनि का स्वर्गवास हो जाने पर मैं निर्मुक्त हूँ। माता-पिता व नागिला के स्नेह के कारण मैं यहाँ आया हूँ। अतः मुझे बताओं कि वह नाजुक, दीप्रिमती कुशल नागिला मेरे आने की बात कभी करती है या नहीं? उसने कहा-भद्र! आपको संयम लिया हुआ जानकर उसने भी साध्वियों के संसर्ग से अपवर्ग देने वाले मार्ग को स्वीकार कर लिया है। शुद्ध सम्यक्त्व को मूल से युक्त श्रावक के बारह व्रत ग्रहण किये हैं। धर्मशास्त्रों को पढ़ते हुए वह सर्वदा तप में लीन रहती है। उसने यावत्-जीवन के लिए ब्रह्मचर्य व्रत अंगीकार कर लिया है। घर में रहते हुए भी वह इतने काल से धर्मानुष्ठान में लीन है। द्रव्य-स्तव करके भावस्तव करने की इच्छा से अब वह साध्वियों की सन्निधि में व्रत स्वीकार करने की इच्छुक है। भ्राता के अनुरोध से आपने सुचिरकाल तक व्रत का पालन किया है, तो सन्मार्ग देखकर भी अब क्या आप कायरों के पथ पर जा रहे हैं? हे सौभाग्यशाली! तुषार बिंदु की उपमा वाले इन विषयों के लिए क्यों कठिनाई से प्राप्त अमूल्य रत्नत्रय को छोड़ रहे

हो?

उसके इस प्रकार समझाये जाने पर भी मुनि ने उससे कहा-ऐसा ही होगा। फिर भी एक बार नागिला को देखकर उसकी आज्ञा से चला जाऊँगा।

तब उसने कहा-हे भद्र! देखो! मैं ही नागिला हूँ। मेरे रूप, लावण्य व यौवन को जरा रूपी निशाचरी ने ग्रस लिया है। हे मुनि! मुझे देखते हुए संसार की असारता को जानो। मैं उस समय कैसी थी और अब कैसी हूँ। भवदेव ने लज्जित होते हुए विचार किया-अहो! यह धन्य है! कृतार्थ है! और मैं कितना अभागा! अकृत्यवान हूँ। इस प्रकार विचार करते हुए उसके मन में महा-वैराग्य भावना उद्भूत हुई।

तभी उस ब्राह्मणी के पुत्र ने ब्राह्मणी से कहा-माँ! मुझे उल्टी होने वाली है, अतः नीचे पात्र रख दो। अमृत से भी ज्यादा मनोज्ञ खीर व्यर्थ न जाय। अतः पात्र में वमन की हुई खीर को मैं वापस खा लूँगा। क्योंकि मुझे यह अपने जीवन से भी दुर्लभ है। ब्राह्मणी ने कहा-हे वत्स! उलटी में निकला हुआ भोजन जुगुप्सित होता है। क्योंकि-

वान्ताशिनो हि जायन्ते कुक्कुरा एव नापरः ।

वमन किया हुआ भोजन कुत्तों के लिए ही होता है, अन्य के लिए नहीं।

यह सुनकर भवदेव विचार में पड़ गया कि जो विवेक इस ब्राह्मणी में है, वह मुझमें नहीं है। मेरे द्वारा पूर्व में वमन किये हुए विषय की मैं फिर इच्छा क्यों करुँ? ठीक ही कहा गया है कि-

सत्यसन्धा हि साधवः ।

साधु सत्य-प्रतिज्ञ होते हैं।

अतः भवदेव मुनि ने संवेग की लहरों से प्रक्षालित विमल मनवाले होकर विषयों को अशुचि मानकर तत्त्वतः उन्हें सदा के लिए छोड़ दिया। फिर नागिला से कहा-हे भद्रे! तुमने मुझे मार्ग दिखाया है। जैसे-महावत हाथी को तथा मन्त्री राजा को सलाह देता है, उसे चलाता है, वैसे ही तुमने मुझे दिशा-दर्शन कराया है। अतः तुम मेरी गुरु हो। मैं तुम्हारे सामने अपने सभी पापों का मिथ्या दुष्कृत देता हूँ। उस नागिला ने कहा-आप गुरु के पास जाकर आलोचना करके व्रत का पालन करें। मैं भी अब साध्वियों की सन्निधि में व्रत ग्रहण करुँगी। सत्य ही कहा जाता है कि-

यन्नार्यः पतिमार्गानुगा इति।

नारियाँ पति के मार्ग की अनुगामी होती है।

तब भवदेव ने जिन बिम्ब को भक्तिपूर्वक नमस्कार करके गुरु के पास जाकर संपूर्ण दुष्कृत्य की आलोचना की। चारित्र की सम्यग् अनुपालना करके आयु पूर्ण होने पर सौधर्म देवलोक में इन्द्र के सामानिक देव के रूप में उत्पन्न हुए।

इधर भवदत्त का जीव स्वर्ग से च्युत होकर वृक्ष से पके हुए फल की तरह काल के परिणाम से महाविदेह क्षेत्र की पुष्कलावती विजय में पुण्डरीकिणी नगरी में षट् खण्ड को जीतने की इच्छावाले विशाल सेना के महापति चक्रवर्ती वज्रदत्त की सर्वोत्तम यश से पूर्ण देवी यशोधरा की कुक्षि में सरोवर में राजहंस की तरह अवतरित हुआ। उसकी सौहार्द से हर्ष पूर्वक शीघ्र ही उसने भूतल पर जन्म लिया। एक बार देवी को गर्भ-दोहद के रूप में समुद्र में जलक्रीड़ा करने की इच्छा उत्पन्न हुई। तब राजा ने समुद्र के समान विशाल सीता नदी में यह दोहद पूर्ण कराया। गर्भ के दिवस पूर्ण होने पर महादेवी यशोधरा ने विद्या के समान विमल यशवाले पुत्र को जन्म दिया। राजा ने उसका जन्म महोत्सव करवाकर संपूर्ण लोगों को उस-उस विधि -विधान से संतुष्ट किया। पुण्य रूपी वृक्ष के मूल की तरह दोहद होने से उस शिशु का नाम उत्सवपूर्वक सागरदत्त रखा गया। स्वीकृत-धर्म की परिपालना सम्यग्

रूप से करने पर जैसे धर्म बढ़ता जाता है, वैसे ही राजपुत्र भी क्षण-क्षण में अधिकाधिक वृद्धि को प्राप्त होता गया। कला-शिक्षा आदि का समय होने पर बालक होते हुए भी उस राजपुत्र ने कलाचार्य के पास सारी कलायें ग्रहण की। क्रमशः वृद्धि को प्राप्त होता हुआ कुमार शरीर से तरुण, मन से करुण और वचन से चतुर हुआ। उसी के अनुरूप, मानों उसी के लिए बनी हो ऐसी अनेक कोमल कन्याओं के साथ राजा ने कुमार का पाणिग्रहण करवाया। उन सभी के साथ स्वेच्छा पूर्वक क्रीड़ा करते हुए वह क्रीड़ा-विचक्षण कुमार इन्द्र के समान इच्छित सारे सुखों का अनुभव करने लगा।

एक दिन शरद्काल में अपनी प्रेयसी-स्त्रियों के मध्य हथिनी की लीला में रमण करते हुए अपने महल के अग्र भाग में दैदीप्यमान रत्नों के समूह रूप रोहणाचल पर्वत के समान बहुत सारे बादलों के पंचवर्णी समूह को देखा। उसने उस ओर मुँहकर उस मेघवृन्द को कौतुक से ऊपर जाते हुए देखा। आकाश को विचित्र चित्रों से युक्त वह एकटक देखने लगा। उसके देखते ही देखते वे सारे विचित्र चित्र जल्दी से विलीन भी हो गये। ऐसा लगता था कि मानो यहाँ कुछ हुआ ही न हो। उस कुमार ने उस नष्ट हुए अभ्र-वृन्द को देखकर विचार किया कि-

संसारचक्रेऽस्मिन् भावीः सर्वे विनश्वराः ।

नष्ट हुए बादलों की तरह इस संसार चक्र में भी सभी भाव विनश्वर है।

अतः विवेकी-जनों को उनमें कुछ भी आसक्ति नहीं करनी चाहिए। परम सुख की उपमा से युक्त मुक्ति की प्राप्ति धर्म के बिना नहीं है। इस प्रकार विचार करते हुए उत्पन्न वैराग्य युक्त भावभंगिमा के कारण उसके कमल से मुख को उदास देखकर प्रणयपूर्वक उसकी प्रियाओं ने कहा-अर्द्धक्षण में ही हे स्वामिन्! आप उद्विग्न हो गये है। आप में इस तरह का परिवर्तन किस कारण से हुआ है?

कुमार ने कहा-हे कान्ता! जल के बुदबुदों के समान बादलों के समूह के प्रकट होने व विलीन हो जाने को देखकर मैं विचार में पड़ गया हूँ कि किस दिशा में जाऊँ? क्योंकि इन बादलों की तरह मेरा यह शरीर, यह भवन आदि सब कुछ एक दिन चला जायगा। अतः इस असार व घातक शरीर तथा घर के ममत्व बंधन को छोड़कर चारित्र ग्रहण करुँ, जिससे मेरा यह जन्म सफल हो जाय। यह सुनकर उसकी प्रियाएँ भी लघुकर्मी होने से बोली-हे कान्त! फिर देर किस बात की। हम भी आपका अनुगमन करेंगी। जो मोक्ष रूपी कल्याण को चाहनेवाली धीर शालिनी आत्माएँ होती हैं, वे संसार के स्वरूप को जानकर रागादि बन्धनों को तोड़कर अपने शरीर में भी निस्पृह रहते हुए तपस्या से भावित होती हैं।

तब अपनी प्रियाओं की अनुमति पाकर विशेष उद्यम करते हुए व्रत ग्रहण करने के लिए उस विवेकी कुमार ने माता-पिता को प्रतिबोधित करके अत्याग्रह किया। फिर सागर-कुमार ने महा-प्रभावनापूर्वक प्रियाओं के साथ अमृतसागर आचार्य की सन्निधि में व्रत ग्रहण किया। गुरु की सानिध्यता में उभय शिक्षाओं को पढ़ते हुए मुनि सागरदत्त समस्त श्रुत सागर में पारंगत हो गये। तपस्या द्वारा कर्मों का क्षय करते हुए अतीन्द्रिय अर्थ को प्रकट करने वाला अवधिज्ञान उन्हें उत्पन्न हुआ। भू-मण्डल पर विचरण करते हुए भव्य जीवों को प्रतिबोधित करते हुए यहाँ आनेवाला मुनि वह मैं ही हूँ।

भवदत्त के अनुज भवदेव का जीव तुम्हारे रूप में शिव नामक राजपुत्र के रूप में उत्पन्न हुआ है। हे शिव! पूर्व भवों में हम दोनों भाई थे। जीवन भर हम दोनों में अपूर्व स्नेह था। ऐसा स्नेह, जो अन्य किसी में नहीं हो सकता। सौधर्म देवलोक में भी हम दोनों साथ-साथ देवरूप में रहें। वहाँ देवभव में भी हमारी परस्पर प्रीति वाणी का विषय नहीं बन सकती। इस भव में मैं व्रत में स्थित होकर शत्रु-मित्र पर समभाव धारण करता हूँ और तुम पूर्वभव के स्नेहाभ्यास से मुझ पर अत्यधिक स्नेह रखनेवाले गृहस्थ हो।

यह सुनकर शिवकुमार ने बार-बार अन्तर में विचार किया, जिससे उसे जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हुआ और मुनि द्वारा कथित सारी बातें साक्षात् देखी। तब शिव ने अत्यन्त प्रसन्न होकर साधु महाराज को वन्दना करते हुए कहा-आपका कहा हुआ व्रत पालकर मैं स्वर्ग में गया। अतः हे भ्राता! अभी भी मुझे व्रत प्रदानकर अनुगृहित करें। व्रत ग्रहण किये बिना धर्म का संपूर्ण रीति से पालन नहीं किया जा सकता। क्योंकि-

अतियत्न्यपि किं कुर्यात् षट्कायारम्भवान्गृही ।

धर्म में अतिप्रयत्नी गृहस्थ छ काय का आरंभी होने से धर्म क्या करेगा?

अतः माता-पिता से पूछकर शीघ्र ही व्रत ग्रहण करुँगा। मुनि ने कहा-हे भद्र! प्रमाद मत करो।

तब शिव वहाँ से उठकर अपने माता-पिता के पास आकर उनसे कहा-आज मैंने सागर-ऋषि की धर्मदेशना सुनी। उनके द्वारा अस्थिर-योग वाले भव की असारता को जानकर मैं सतत भ्रमण के श्रम से इस भव से निर्विग्न हो गया हूँ। अतः अब मुझे व्रत के लिए अपनी अनुमति प्रदान करें, जिससे भवसागर का पार पा सकूँ। तब उन दोनों ने कहा-हे वत्स! ऐसा मत बोलो! तुम्हें हम व्रत की अनुमति प्रदान नहीं कर सकते, क्योंकि हम तुम्हारा वियोग सहन करने में समर्थ नहीं है। अतः जब तक हम जीवित हैं तब तक घर पर ही रहकर धर्म करो, उसके बाद चिरकाल तक राज्य करके फिर व्रत ग्रहण करना। तब उनके आग्रह को मानकर प्रतिमा की तरह मौन रूप से संपूर्ण सावद्य कर्म से विरत होकर शिव यति की ही तरह रहने लगा। पिता द्वारा कहे जाने पर भी उसने कुछ भी भोजन ग्रहण नहीं किया। मत्त हाथी की तरह केवल सिर हिलाता रहा।

तब राजा ने शिवकुंमार के मित्र परमार्हती सेठ के पुत्र दृढ़धर्मी को बुलाया और उससे कहा-हे वत्स! शिव को व्रत ग्रहण करने की अनुमति न देने के कारण वह मौन पूर्वक, भोजन का त्यागकर अभिमानपूर्वक बैठ गया है। तब वह दृढ़धर्मी श्रावक राजा की आज्ञा स्वीकार करके शिवकुमार के पास गया। नैषिधिकी का तीन बार उच्चारण करके उसके कक्ष में प्रवेश किया। फिर इर्यापथिक का प्रतिक्रमण करके बारह आवर्त्त द्वारा वन्दन करके भूमि को प्रमार्जित करके "आपकी आज्ञा है" इस प्रकार बोला। तब शिवकुमार ने उससे कहा-हे मित्र! साध्वोचित विनय का कृत्य तुमने मेरे साथ क्यों किया? दृढ़धर्मी ने कहा-हे भद्र! तुम भी भाव-साधु हो। समता-धारी होने से आपके प्रति मेरा विनय क्यों उपयुक्त नहीं है? किन्तु मैं आपसे पूछता हूँ कि भव से निस्पृह आपने आहार का परित्याग क्यों किया है? तब कुमार ने कहा-हे मित्र! व्रत ग्रहण करने के लिए मैंने आहार का परित्याग किया है। जब तक माता-पिता अनुमति नहीं देंगे, तब तक आहार ग्रहण नहीं करुँगा। मेरे अनादर से उनका स्नेह शिथिल पड़ जायगा, वे दोनों मुझसे उद्विग्न होकर मुझे व्रत की अनुमति प्रदान कर देंगे।

उस श्रावक ने कहा-हे कुमार! यद्यपि तुम व्रत स्वीकार करने के इच्छुक हो, पर आहार का त्याग मत करो। आहार देह का मूल है और धर्म देह पर आश्रित है। धर्म द्वारा ही निवृति प्राप्त होगी। मुनि भी अनवद्य आहार तो ग्रहण करते ही हैं। तब शिव ने उसके कथन को उचित मानते हुए वैराग्यवृत्ति पूर्वक बोला-मैं भी तुम्हारे कहने से आहार ग्रहण करुँगा। लेकिन सुनो! आज से आगे मैं गृहवास में रहते हुए भी साधु की तरह रहूँगा। सचित्त तथा सचित्त संबद्ध वस्तुओं से दूर रहूँगा। घृत आदि विकृतियाँ, संपूर्णजाति के फल, सभी दुःपक्व, अपक्व आहार, सभी व्यञ्जन, रंगीन-वस्त्र-परिधान, वाहन, स्नान, विलेपन, पान, पुष्प श्रृंगार, पलंग, स्त्रियों के संगम आदि का परित्याग करुँगा। कर्मों की निर्जरा के लिए उन सभी का अभीष्ट पदार्थों की तरह त्याग करुँगा। एक अन्न व दूसरा जल-इस प्रकार दो ही द्रव्यों का उपभोग आयम्बिल के द्वारा बेले-बेले के पारणे से करुँगा।

उस श्रावक ने यह सारी व्यवस्था राजा को बता दी। राजा भी प्रसन्न हुआ कि आखिर भोजन करने के लिए तो कुमार तैयार हुआ। तब जिस प्रकार शिष्य आचार्य की सेवा करता है उसी प्रकार वह दृढ़धर्मी भी शिव को सदा

पारणे में निरवद्य भोजन लाकर खिलाता। इस प्रकार तप करते हुए शिव अपनी पत्नियों आदि द्वारा भोगोपभोग के लिए गाढ़ रूप से प्रार्थना किये जाने पर भी विचलित नहीं हुआ। गुरु की सन्निधि में नहीं जाकर पिता के पास ही रहकर शिव ने बारह वर्ष तक अपने धर्म का सम्यग् निर्वाह किया। फिर ब्रह्मचारी गृहस्थ होते हुए भी आराधना करके ब्रह्मलोक नामके कल्प में विद्युन्माली देव हुआ।

फिर वहाँ से च्युत होकर राजगृह नगरी में सुधर्मास्वामि के शिष्य जम्बूस्वामी के रूप में पैदा होकर अद्भूत कैवल्य संपदा को प्राप्तकर अनन्त सुख रूप अपवर्ग को प्राप्त किया।

इस प्रकार भोगोपभोग व्रत में **शिवकुमार की कथा** पूर्ण हुई।

अब **अनर्थदण्ड विरति व्रत पर समृद्धिदत्त** एवं श्रीपति की कथा को कहते हैं-

।। समृद्धिदत्त एवं श्रीपति की कथा ।।

पवित्र नाम से युक्त दक्षिण मथुरा नाम की नगरी थी। दिशायोग से दक्षिण होने से उसका नाम **दक्षिण मथुरा** वहाँ के निवासियों द्वारा रखा गया। उस दक्षिण मथुरा में श्री रूपी लता से मण्डित **अशोकदत्त** नाम का श्रेष्ठि था। उत्तर में कुबेर भी उस वणिक पुत्र **समृद्धिदत्त** के समान आभा को धारण करता था।

एक बार उत्तर-मथुरा वासी समृद्धिदत्त नामक श्रेष्ठि अपनी समृद्धि की वृद्धि के लिए दक्षिण मथुरा में आया और उसके साथ उसकी अत्यधिक मित्रता हुई। दोनों दो शरीर एक प्राण की तरह हो गये। सर्वत्र कार्यों की प्रवृति व निवृति एक साथ एक ही काय योग की तरह निर्दिष्ट थी। दोनों की मैत्री को स्थिर करने के लिए दोनों ने यह तय किया कि एक के पुत्र से दूसरे की पुत्री का विवाह कर देंगे।

श्रेष्ठि समृद्धिदत्त ने वहाँ अद्भुत धनोपार्जन किया। फिर अपने मित्र को पूछकर अपने स्थान पर चला गया। परस्पर मैत्री की पवित्रता बरकरार रखने के लिए दोनों जन पत्र लिख-लिखकर अपने संदेश वाहको को भेजा करते थे।

दक्षिण मथुरावासी **अशोकदत्त** नामक श्रेष्ठि के यहाँ संपूर्ण लक्षणों से युक्त पुत्र उत्पन्न हुआ। अशोकदत्त ने पुत्र जन्म का महोत्सव किया और रङ्क से राजा तक को आनन्दसंपदा प्रदान की। यह प्रचुर लक्ष्मी रूपी श्री के पति अर्थात् मालिक रूप से उत्पन्न हुआ है-इस प्रकार सभी जनों द्वारा कहे जाने पर श्रेष्ठि ने अपने पुत्र का नाम श्रीपति रखा। अपने स्नेह-सर्वस्व के निधान मित्र के पास उत्तर मथुरा में बधाई भेजी। मित्र के उत्सव से अलंकृत वचनों को सुनकर वह भी अत्यन्त खुश हुआ। राजा की तरह उसकी खुशी की महान सुरभि से शीघ्र ही वह आनन्द रस में डूब गया। फिर उसने विचार किया-मुझे निश्चय ही देवता आदि के अनुभाव से पुत्री की प्राप्ति हो, ताकि हम अपनी प्रतिज्ञा पूरी कर सकें।

कुछ काल व्यतीत हो जाने के बाद दिव्यरूप धारी कन्या ने उसके यहाँ जन्म लिया। उसने भी पुत्र-जन्म के उत्सव की तरह महान उत्सव करवाया। फिर उसने अपने मित्र **अशोक** दत्त को दक्षिण-मथुरा में पुत्री जन्म की बधाई भेजी। उसने भी यह बधाई सुनकर मन में प्रसन्न होते हुए विचार किया कि अब हमारा चिर-चिन्तित पुत्र-पुत्री विवाह का मनोरथ सिद्ध होगा। इस प्रकार अपनी-अपनी संतानो के आरम्भ-संरम्भ आदि का विचार करते हुए खुशी-खुशी में उन दोनों ने ५-६ वर्ष निकाल दिये। इन दोनों का आपस में विवाह करेंगे-इस प्रकार का निर्णय करके दोनों द्वारा संपूर्ण कृत्य कर लिया गया।

इधर कुछ ही दिनों बाद पुत्र वाले श्रेष्ठि को अकाल में ही काल के दूत के समान दारुण ज्वर हुआ। अच्छे जानकार वैद्यों द्वारा आदरपूर्वक प्रतिकार करने पर भी वह ज्वर प्रलय की अग्नि की तरह वृद्धि को प्राप्त हुआ। अपना

मृत्युकाल नजदीक जानकर अपना संपूर्ण गृह-सार पुत्र को बताकर धर्म में व्यय आदि कृत्य करके वह देवलोक में चला गया। तब उसकी दैहिक क्रिया आदि करके उसके मृत्यु शोक से निवृत होने के पश्चात् स्वजनों तथा नागरिकों ने उसके पद पर उसके पुत्र को बैठाया।

कुछ दिन व्यतीत होने के बाद उसके लाभान्तराय कर्म के उदय से सूखे हुए एरण्डफल के समान समुद्र में पोत डूब गया। दूरस्थ देशों से स्थलमार्ग से आनेवाला क्रय का माल बिना स्वामी के माल के समान चोरों द्वारा संपूर्ण रूप से लूट लिया गया। पहले से नियुक्त अपने ही गोत्रीय वणिक् पुत्रों के द्वारा वित्त विभाजित कर लिया गया। कहा भी है-

विपाकः कर्मणां हहा ।

हाय! कर्मों का विपाक!

कोष्ठागार आदि में रहा हुआ माल तथा धन जलकर राख हो गया। तब मित्र व स्वजनवर्ग भी दूर हो गये।

एक बार उसने स्वर्ण तथा रजतमय पीठ पर बैठकर पहले की भाँति स्नान करने के लिए, तेल की मालिश उबटन आदि करवाया। फिर उच्च जाति के चंदन तथा काश्मीर के हिरणों की नाभि से प्राप्त कस्तूरी से मिश्रित पानी द्वारा भरी हुई स्वर्णकुंडी से देह सुख के लिए हिरण्यमय कलश से पानी ले-लेकर उन स्नान कला में कुशल नरों द्वारा नहलाया जा रहा था। उनके द्वारा कलश हाथ से छोड़ते ही वह पक्षी की तरह उड़ गया। इसी प्रकार स्नान करके उठने पर वह पीठ तथा वह कुण्डिका भी उड़ गयी। देवों को नमस्कार करने के लिए मूल कक्ष में गया, तो वह भी चारों ओर से गरीब के घर की तरह खाली हो गया। स्वर्णरत्नमय थाल व कटोरों में तरह-तरह के दिव्य मन को प्रिय लगने वाले आहार का भोग करते हुए जो-जो भी कटोरे आदि खाली हुए वे भी विरक्त द्वारा सर्वस्व का त्याग करने के समान उड़कर चले गये। खाना खाने के बाद जब थाल भी उड़कर जाने लगा तो उस वणीक् पुत्र ने हाथ से उसके किनारे को पकड़कर कहा-मत जाओ! मत जाओ! लेकिन वह टुकडा टूटकर मात्र उसके हाथ में रह गया, थाल उड़कर चला गया। कहा भी गया है-

गच्छन् किं कोऽपि केनापि शक्यते धर्तुमुन्मनाः?

क्या जाता हुआ कोई भी किसी खिन्नमन वाले द्वारा पकड़ा जा सकता है?

तब उस श्रेष्ठिपुत्र ने विचार किया कि यह तो सब कुछ चला गया। अतः देखता हूँ कि निधि जो खान आदि में रखी हुई है, वह है या चली गयी है। प्रत्येक खान को उसने देखा, तो कहीं अंगारे दिखायी दिये। कहीं बिच्छु आदि दिखायी दिये। तब अपने आप को निर्भागी मानते हुए उसने विचार किया कि मैं कैसा इस भाग्यशाली कुल में उत्पन्न हुआ हूँ! कोई तो पैदा होते हुए संपूर्ण भूतल को प्रसन्न कर देता है। कोई पूर्णिमा के चन्द्र के समान अपने कुल रूपी सागर की पूर्ण वृद्धि करता है। पर मुझ जैसे वंश के फल द्वारा ही अपने वंश का नाश कर दिया गया। मेरी संपूर्ण श्री तात के जाने के बाद उनके पीछे ही चली गयी। वह इस प्रकार विचार कर ही रहा था, कि तभी किसी ने आकर उससे कहा-तुम्हारे पिता ने मुझसे दस हजार स्वर्ण मोहरें ली थीं, वह मुझे अभी लौटाओ। श्रीपति ने उसके वचनों को सुनकर विचार किया कि मेरे पिता द्वारा तो सभी से लेना निकलता है। किसी को देना तो कुछ भी नहीं था। पर यह मेरे दूष्कर्मों का फल ही प्रकट हो रहा है। इस प्रकार जानकर अच्छी तरह विचार करके कहा-हे भद्र! अभी कोश का अधिकारी यहाँ नही है। अतः आप कल आना। सारी बही आदि देखकर उनके अनुसार आपको दे दूँगा।

उसके बाद वह अपनी मां को जाकर बोला-हे माते! मैं देशान्तर को जाता हूँ क्योंकि यहाँ लोग मुझे चैन से नहीं जीने देंगे। तुम यहीं रहो। तुम स्त्री हो अतः तुम्हें कोई कुछ नहीं कहेगा। इस प्रकार अपनी माता को समझाकर

अपना मुख ऊपर करके वह चला गया। जाते हुए उसने विचार किया कि लक्ष्मी ने मेरा त्याग कर दिया है, अतः मैं व्यवसाय तो नहीं करुँगा। कहा भी है-

रक्ते रक्तो हि युज्यते ।

अनुराग में ही राग युक्त होता है।

लाल रंग में लाल रंग ही युक्त होता है।

अतः किसी पर्वत आदि से गिरकर दुःख मुक्त हो जाऊँगा। इस प्रकार विचार करते हुए उसने आगे प्रतिमा की तरह स्थित मुनि को वन में देखा। उसने मुनि को वन्दन किया। मुनि ने भी ध्यान पारकर उसको कहा-हे भद्र! क्या आत्म-घात द्वारा दुःखों से मुक्ति चाहते हो? इससे तुम दुःख मुक्त नहीं बन पाओगे, बल्कि निर्मल तप द्वारा ही तुम दुःख मुक्त बनोगे। अतः तुम शुभ आशय से प्रव्रजित होकर तपस्या करो। तब श्रीपति ने उन मुनि के पास व्रत अंगीकार कर लिया। राग छोड़ देने के बावजूद भी कौतुक के कारण थाल के उस टूकड़े को उसने नहीं छोड़ा। फिर श्रुत पढ़कर उसका अर्थ श्रवण करके संपूर्ण साधु समाचारी को उस बुद्धि के धनी ने जान लिया। गीतार्थ होकर विचरण करते हुए एकाकी चर्या द्वारा वे मुनि उत्तर मथुरा नाम की नगरी में गये। भिक्षा का काल होने पर भिक्षा के लिए घूमते हुए महाइभ्य **समृद्धिदत्त** श्रेष्ठि के घर के आँगन में पधारें। वहाँ उन्होंने स्वर्ण तथा रत्नों से निर्मित उन-उन स्नान उपकरणों को अपनी ही तरह उस श्रेष्ठिवर्य की स्नान सामग्री देखी। पुष्कल उदात्त श्रृंगार से युक्त नवयौवना उसकी पुत्री को बहुत सी दासियों द्वारा पंखा झूलते हुए देखा। सुवर्ण रत्नमय खण्डित थाल तथा कटोरों में उस सेठ को भोजन करते हुए देखा।

भिक्षा प्राप्त कर लेने के बाद भी अपनी संपूर्ण वस्तुओं को कौतुक से चोड़ी आँखों द्वारा वहाँ खड़े देखते रह गये। वह श्रेष्ठि भी उन मुनि को उस अवस्था में देखकर बोले-हे मुनि! क्या इस बाला को देख रहे हैं? क्या अन्न-पान आदि चाहिए या और कुछ चाहिए। अथवा आपका प्रयोजन बताइये। मुनि ने कहा-मैं अनुरागपूर्वक इस कन्या को नहीं देख रहा हूँ। मैंने ब्रह्मचर्य व्रत स्वीकार किया है। स्त्री मेरे लिए तृणवत् है। माधुकरी वृत्ति होने से मुझे अन्न आदि की स्पृहा भी नहीं है और निःसंग को कोई और प्रयोजन भी नहीं होता। पर इन वस्तुओं के समूह से मुझे अत्यन्त आश्चर्य हो रहा है कि ये कहाँ से प्राप्त की-यही पूछने के लिए मैं रूका हुआ हूँ। श्रेष्ठि ने कहा-यह सारी संपत्ति क्रमपूर्वक आयी हुई है। यति ने पूछा-तो खण्डित थाल में क्यों भोजन करते हो? श्रेष्ठि ने कहा-हे मुनि! इस खण्डित थाल पर कई स्वर्णकारों ने स्वर्णखण्ड जोड़ने की बहुत बार कोशिश की, पर यह जुड़ता ही नहीं है। तब मुनि ने अपनी कमर से उस थाल के टूकड़े को निकालकर छोड़ा। छोड़ते ही वह टूकड़ा द्रुत गति से जाकर स्वतः ही खण्डित थाल में लग गया। तब उस समृद्धि की वैसी याथात्म्यता को जानकर निरीहात्मा मुनि वहाँ से निकल गये। श्रेष्ठि ने भी उस टूकड़े को थाल से लगा हुआ जानकर चमत्कृत होते हुए जाते हुए मुनि को आदरपूर्वक कहा-रूको! रूको! अपने स्थान से उठकर उनके पास जाकर शीघ्र ही भक्तियुक्त वन्दन किया। और संभ्रमित होते हुए उस स्थाल-खण्ड की घटना पूछी। मुनि ने कहा-हे भद्र! यह संपूर्ण विभूति तुम्हारे पास कैसे आयी-यह सब मैं जानता हूँ। तब श्रेष्ठि ने लज्जित होते हुए कहा-मैंने आपसे झूठ कहा था। मुझे क्षमा करें। यह श्री मुझे कुछ दिन(वर्ष) पहले ही प्राप्त हुई है। आज से आठ वर्ष पहले एक बार मैं जब नहाने जा रहा था, तो ये सारे स्नान उपकरण आकाश मार्ग से मेरे पास आ गये। ज्यादा क्या कहूँ? यह संपूर्ण अद्‌भूत विभूति दैव की कृपा से कहीं से भी मेरे घर में आ गयी है। हे मुनि! अब आप बतायें कि आप कहाँ से पधारे हैं? आपका नाम क्या है? आप किसके पुत्र है तथा यह स्थाल-खण्ड आपने कहाँ प्राप्त किया?

मुनि ने भी घर से लगाकर वहाँ तक आने तक का अपना सारा वृतान्त यथातथ्य रूप से बता दिया। वह

वृतान्त सुनकर रोमाञ्चित होते हुए श्रेष्ठि ने कहा-अरे! तुम तो मेरे जामाता हो। बड़े भाग्य से अब मुझे प्राप्त हुए हो। हे वत्स! मैं समृद्धिदत्त नामका श्रेष्ठि तुम्हारा श्वसुर हूँ। इस प्रकार कहकर उस मुनि को गले लगाकर आनन्दाश्रु बरसाने लगा। उन्हें घर के अन्दर लाकर स्नेह पूर्वक कहा-ये तुम्हारी सास है और ये तुम्हारे साले हैं। जन्म से ही कल्पित यह तुम्हारी पत्नी है। इतने वर्षों तक तुम्हारे लिए ही मैंने इसे कुँवारी रखा है। ये सारे परिजन तुम्हारे आज्ञानुवर्त्ती है। यह सर्वतो मुखी ऐश्वर्य सब तुम्हारा ही है। अतः इन्द्र के समान यहाँ विविध भोगों का भोग करो। फिर स्वेच्छापूर्वक भोग भोगने के बाद पश्चिम वय में व्रत ग्रहण कर लेना।

तब विषयों से विरक्त मुनि ने उनको जाग्रत करने के लिए अमृतवाणी के द्वारा कहा-काम भोग शल्य रूप है, विष रूप है। काम आशीविष की उपमा के समान है। काम-भोगो की इच्छा में आसक्त रहने वाले बिना उन्हें भोगे ही दुर्गति में जाते हैं। अतः काम भोगों में रति रखना युक्त नहीं है। भव-भ्रमण का हेतु होने से यह दुश्मन के समान है। इस प्रकार संविग्न चित्त से धर्मदेशना करते हुए साधु को अवधिज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से अवधिज्ञान उत्पन्न हुआ। तब अवधिज्ञान से अपने तथा उसके पूर्वभव को जानकर धर्म व अधर्म के फल को साक्षात् करने के लिए कहा-इस महीतल पर श्रीपुर नाम का नगर था। वहाँ पद्माकर तथा गुणाकर नाम के दो मित्र हुए। वे दोनों प्रकृति से भद्रिक, दानशील, स्वजन-वत्सल, न्याय धर्म में मूर्तिमान विश्व में आनन्द रश्मियों के रूप में उदित हुए। गुरु के पास में जाकर धर्म-शुश्रूषा करते हुए उनकी वाणी को सुनकर अपने कर्म विवर द्वारा प्रतिबुद्ध होने पर सम्यग् गृहस्थ धर्म को दोनों ने ग्रहण किया। चिर काल तक उसका प्रतिपालन करते हुए उन्होंने अपना जन्म सफल माना। एक बार किसी के पीछे-पीछे जाते हुए गुणाकर द्वारा सुना गया कि उसने कोई अकृत्य कर लिया है। यह अकृत्य सर्वस्व हानिकारक होगा। गुणाकर ने यह सुनकर कुछ कर्म के गौरव से मुखरता के कारण उच्छृंखल वचन कहे। अगर देखते हुए भी अचानक कोई अकृत्य हो गया, तो क्या हुआ! कोई भी उड़कर तो कभी कहीं नहीं जाता। उसके इन वचनों को सुनकर लोगों ने वही स्वीकार किया। क्योंकि-

प्रायेण प्राणिनो येन नीरवन्नीचगामिनः ।

प्रायः प्राणी नीर के समान नीचगामी होते हैं।

तब पभाकर ने उससे कहा-तुम्हारा यह कहना ठीक नहीं है। तुम्हारे वचन से अनर्थदण्ड व्रत में अतिचार लगता है। फिर आकाश से जमीन पर गिरते हुए के समान अथवा प्रलयादि विरोधों से उद्वेलित के समान मुहूर्त्त भर में ही वह अपने अपध्यान से लौट आया। अहो! मुझे शिक्षा से दमित करो। मैं हींजड़े व कुत्ते के समान नीच, दमन के योग्य हूँ। अननुकूल रूप से इस प्रकार का पापोपदेश युक्त नहीं है।

हल, ज्वलनयन्त्र, अस्त्र मूसल, ऊखल आदि वस्तुएँ उनके जानकार व्यक्तियों को ही दी जाती है। गीत, वाद्यंत्र नाट्य आदि को कौतूहल से देखना, काम-शास्त्रों में श्रम-व्यय करना, द्यूत क्रीड़ा, मद्यपान आदि में रति रखना, पशुओं को लड़वाना, झूला झूलना, दौड़ने के खेल खेलना, वैरी के पुत्रादि के साथ भी वैर रखना, भक्त कथा, देशकथा, स्त्रीकथा, राजकथा आदि करना, श्रम किये बिना रात्रि में सोना, ये सब कर्म रोग के मार्ग है। इस प्रकार बुद्धिमान मनुष्यों को इन प्रमाद-स्थानों का आचरण त्यागना चाहिए।

इस प्रकार अनर्थ दण्ड-त्याग रूप व्रत की आराधना की जाती है। इस प्रकार उसने अपने मित्र को भी समझाया एवं स्वयं भी पालन किया।

फिर कालक्रम से आयु का क्षय होने पर वे दोनों देवलोक में गये। वह पद्माकर की आत्मा तो तुम्हारे रूप में उत्पन्न हुई। गुणाकर की आत्मा के रूप में मैं श्रीपति नामका श्रेष्ठिपुत्र हुआ। अनर्थदण्ड की आलोचना किये बिना मैं उस भव में मृत्यु को प्राप्त हुआ। अतः मुझे इस प्रकार का अफल प्राप्त हुआ। तुमने तीसरे गुणव्रत की

विराधना नहीं की। अतः तुम्हारे घर में आकाश मार्ग से यह सारी समृद्धि रूप लक्ष्मी आयी।

यह सब सुनकर प्रबुद्ध होते हुए श्रेष्ठि **समृद्धिदत्त** को जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हुआ। उसने मुनि के पास व्रत ग्रहण किया। धर्म की महिमा को उस प्रकार से सुनकर के श्रेष्ठि-पुत्री ने भी पति के मार्ग का अनुसरण किया।

इस प्रकार अनर्थदण्ड नामक गुणव्रत की आराधना और विराधना के फल को सुनकर भव्य जीवों द्वारा इस प्रकार के कार्य की आराधना में यत्न करना चाहिए।

अतः अनर्थदण्ड विरति व्रत मे समृद्धिदत्त व श्रीपति की कथा समाप्त हुई।

अब **सामायिक व्रत** के उदाहरण को कहते हैं-

।। सागरचंद्र की कथा ।।

जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में नीतिमान मंत्री की तरह सौराष्ट्र नामक देश था, जो समुद्र से सदैव अलंकृत था। वहाँ श्रेष्ठ द्वारावती नगरी थी। संपूर्ण नगरी स्वर्णमयी होने से स्वर्णपर्वत की बहन जैसी लगती थी। वहाँ यदुवंश के शिरोमणि कृष्ण नामक राजा थे, जो अर्द्ध भरत के अधिपति नौवें वासुदेव थे। उनके भ्राता बलदेव उग्र व बल दोनों में उनसे बड़े थे। उनका सदाचार युक्त विनयी **निषध** नामका पुत्र था। उसके **सागरचन्द्र** नामका पुत्र हुआ, जो सागर के चन्द्रमा की तरह था। जगत के नेत्रों में कमलाकर की तरह बोध पैदा करता था। संपूर्ण कलाओं का ज्ञान करके क्रमशः यौवनावस्था को प्राप्त हुआ। उसकी रूप संपदा को देखकर देवताओं ने अपना रूप-मद छोड़ दिया। चकवे के लिए सूर्य की तरह तथा चकोर के लिए चन्द्रमा की तरह वह शाम्बादि कुमारों को अत्यन्त वल्लभ था।

इधर उद्दाम गजेन्द्र आदि चतुरंगिणी सेना धन से युक्त जगत जयी **धनसेन** नामका माण्डलिक राजा था। कमल के समान लाल हाथों व पैरो से युक्त, कमल के समान मुखवाली लक्ष्मी की छोटी बहन के समान कमलामेला नाम की उसकी पुत्री थी। यौवन वय प्राप्त होने पर उसको **उग्रसेन** राजा के पुत्र **नभःसेनकुमार** को उसके पिता द्वारा दे दी गयी। एक बार नारदजी बड़ी छत्री, माला, कमण्डल, आसन आदि धारण किये हुए उसके सदन में आये। सार्वभौम श्री की प्राप्ति होने पर सुरापान से मदहोश की तरह वह परितोष के पराधीन था, अतः नारद जी का सत्कार नहीं किया। तब नारद ऋषि क्रुद्ध होकर शीघ्र ही वहाँ से उठकर उसके घर से आकाशमार्ग द्वारा **सागरचन्द्र** के घर गये। अभ्युत्थान, प्रणाम तथा अपने सिंहासन के अर्द्ध-आसन को प्रदान करते हुए भक्तिपूर्वक उसने नारद का सत्कार करके वत्सल-भावपूर्वक उनकी कुशलता पूछी। फिर पूछा-भगवान्! विश्व भ्रमण करते हुए क्या कुछ अद्भूत देखा? ऋषि ने कहा-हाँ! देखा। तब **सागरदत्त** ने पूछा-क्या देखा? नारद ऋषि ने कहा-हे कुमार! धनसेन राजा की पुत्री **कमलामेला** को देखा। उसका मुख शरद पूर्णिमा के चन्द्र की तरह है। समुद्री तट पर रहे हुए प्रवाल रत्न वृक्ष की तरह जिसके अधर हैं। वह हंसपदी लता के समान तिरछे कटाक्ष से युक्त है। काम रूपी क्रीड़ा की वापी में वह मछली की तरह उछलती रहती है। सहज लाल, भाग्यशाली चरणों से कमलिनी के समान, और कर रूपी पल्लवों से चलती हुई लता ही लगती है।

यह सब सुनकर सागरचन्द्र काम बाण से आहत हुआ। उसने पूछा-क्या वह कन्या है? तब नारद ऋषि ने कहा-वह उग्रसेन के पुत्र को दी हुई है। सागर ने पूछा-तो फिर मेरा भावी योग उसके साथ कैसे होगा? मैं क्या जानूँ-इस प्रकार कहकर नारदजी आकाश में उड़ गये। वहाँ से वे कमलामेला के घर को प्राप्त हुए। उसने भी सत्कार करके अंजलिपूर्वक पूछा-आपने क्या आश्चर्य देखा? नारदजी ससंभ्रम होते हुए उसको आतुरता से कहा-हे सुन्दरी! इस समय मैंने नगरी में स्वरूपवानों के शिरोमणि **सागरचन्द्र** को देखा और दूसरा आश्चर्य नभःसेन के रूप में कुरूपों के शिरोमणि को देखा। यह सुनकर वह **नभःसेन** से विरक्त होती हुई **सागरचन्द्र** में रंजित हो गयी। क्योंकि

कहा भी गया है-

कर्णविषं येन महाविषम् ।

कान में जहर घोलना ही सबसे महान विष है।

उसने नयनों में आँसू भरकर कहा-भगवान! मैं अभागिनी हूँ। मेरा जीवन विफल है। मेरे वैरी पिता ने कहाँ **नभःसेन** को दे दी है। लेकिन वह मुझे पसन्द नहीं है। अतः मेरा मर जाना ही श्रेयस्कर है। मैं गुणों के सागर सागरचन्द्र में अनुरक्त हूँ जो कि युक्त नहीं है। अभागी को वाञ्छित प्राप्त भी कैसे हो सकता है। मूढ़ मन वाला आर्त्तध्यानपूर्वक दुर्लभ वस्तु की आकांक्षा करता है। आकाश को चन्द्रमा देने के लिए हाथ पसारकर याचना करता है। **नारद** ने कहा-हे पुत्री! धैर्य धारण करो। दुःख मत करो। सागरचन्द्र भी तुममें गाढ़ रूप से आसक्त है। उससे मेरा योग कैसे होगा-यह चिन्ता भी तुम मत करो। दैव की अनुकूलता से असंभव भी संभव हो जाता है। इस प्रकार कमलामेला को संबोधित करके नारदजी **सागरचन्द्र** के पास आये और कहा कि वह भी तुम पर अनुरक्त है।

यह सुनकर **सागरचन्द्र** कमलामेला में और भी ज्यादा अनुरागवाला हो गया। "वह भी तुमपर अनुरक्त है" बस, यही एक वाक्य बार-बार उसकी बुद्धि में चक्कर काटने लगा। वह मन में उसी का ध्यान करता था, वचन से उसी की बातें करता था। चित्रों में उसी को लिखता था। दृष्टि से उसे ही देखता था। अगर मैं खेचर की तरह पंखवाला होता, तो उड़कर उसके चंचल मुख का दर्शन कर लेता। इस प्रकार वह विविध विचारों को मन में धारण करता था। उसके मुख से निकलती हुई लंबी-लंबी गरम-गरम सांसों से उसके मित्र व पार्श्ववर्त्ती जनों का मुख श्याम हो जाता था। कोई उस ताप को दूर करने के लिए पानी छिडकता था, तो वह पानी अंगारो पर फेंकने के समान सूख जाता था। जलयुक्त पंखे द्वारा चन्दन के लेप से, चन्द्रमा की चाँदनी से व्रकदली दल की हवा से भी उसकी विरहरूपी अनल से उत्पन्न देह-दाह शान्त नहीं हुई। वह गीतादि में रक्त नहीं होता था। क्रीड़ाओं में प्रवृत्त नहीं होता था। अंगों का श्रृंगार भी नहीं करता था। आहार की वांछा भी उसे नहीं थी। मूर्च्छा से बन्द आँखों की तरह वह बार-बार भूमि पर गिर जाता था। फिर उन-उन शीत उपचारों द्वारा कुछ चेतना को प्राप्त करता था। कभी-कभी वह असंबद्ध प्रलाप करने लगता-हे प्रिये! प्रसन्न हो! दर्शन दे। मुझ पर क्यों क्रोधित होती हो? मुझे क्षमा करके मेरे पास आओ। वह कुछ भी हितोचित क्रियाएँ नहीं करता था, किंतु सर्वथा अपहरण किये हुए चित्त की तरह शून्य हो गया था। उसकी उस प्रकार की दशा देखकर उसके मित्र आदि ने विचार किया की इस प्रकार की दशा में इसने मदन की नवमी दशा को प्राप्त कर लिया है। अगर इसने दसवीं दशा को प्राप्तकर लिया, तो फिर यह मर जायगा। इस प्रकार चिन्ताभार से आक्रान्त होकर सभी का मन अधीर हो उठा।

इसी बीच शांब ने वहाँ आकर सागरचन्द्र की आंखों को पीठ पीछे से हाथों से बंद कर दी। सागरचन्द्र ने कहा-हे कमलामेले! मेरी चकोर आंखों को छोड़ो! आज तुम्हारे मुखचन्द्र के दर्शन से मुझे तृप्ति मिलेगी। सागर के इस प्रकार कहने पर शाम्ब ने उससे कहा-मैं कमलामेला नहीं हूँ पर तुमसे कमलामेला का मेल कराने वाला मेलक हूँ। तब सागर ने कहा-चाचा! आप अविलम्ब मुझसे कमलामेला का मिलन कराये, मैं आपका आजन्म ऋणी रहूँगा। आपने स्वयं अपने वचन से यह स्वीकार किया है। अतः कुछ ऐसा कीजिए कि जिससे उस रेखा को यहाँ प्राप्त कर सकेंगे। शाम्ब ने विचार किया कि निश्चय ही हंसी-हंसी में मैंने जल्दबाजी से दुष्कर कार्य करना स्वीकार कर लिया है। पर उसके निर्वाह करने में मैं शंकित हूँ। लेकिन अब शंका करने से क्या फायदा? अब दुष्कर हो या सुकर-मुझे प्रतिज्ञा का निर्वाह तो करना ही है। ऐसा विचार करके शाम्बने गुप्त मनुष्यों द्वारा उद्यान से कमला मेला के घर तक एक गुप्त सुरंग बनवायी। चूँकि नारद ने कहा था कि वह भी तुममें अनुरक्त है। फिर शाम्ब ने प्रद्युम्न के पास से प्रज्ञप्ति विद्या ग्रहण की। शाम्ब आदि सभी ने नभःसेन के विवाह के लिए लायी हुई कन्या का सुरंग से हरण

करने के लिए विद्याधरों का रूप धारण किया। फिर उस कन्या का हरण करके उद्यान में सागरचन्द्र का उसके साथ विवाह करके अपना कार्य सिद्ध होने की खुशी में सभी ने क्रीड़ा करनी शुरु कर दी। कमलामेला को घर पर नहीं देखा, तो उसके परिजन व्याकुल हो गये। गवेषणा करते हुए किसी ने उद्यान में कुछ देखा। विद्याधरों के रूप में शाम्ब आदि कुमारों को देखकर उसने विचार किया कि कमलामेला विद्याधरों द्वारा हरण कर ली गयी है। तब धनसेन-उग्रसेन आदि सभी जनों से युक्त होकर उनके साथ युद्ध करने लगे। पर कुछ क्षणों में ही वे शाम्ब आदि कुमारों द्वारा जीत लिये गये।

यह सब वृतान्त जानकर स्वयं कृष्ण सेना के साथ निकले उन्होंने कहा कि-जिसने इस कन्या का हरण किया है, उसका मैं हनन करुँगा। तब शाम्ब ने अपना मूल रूप प्रकाशित करते हुए उनके पाँवों में गिरकर उसके विवाह आदि की सारी कथा श्रीकृष्ण को बतायी। तब श्रीकृष्ण ने स्वयं सागरचन्द्र को वह कन्या देकर धनसेन उग्रसेन आदि का हाथ पकड़कर उन्हें समझाया। क्षमा कर देने पर भी नभःसेन का क्रोध शान्त नहीं हुआ।

को वा कोपातुरो न स्यात्प्रियापरिभवे सति ।

अपनी प्रिया का परिभव होने पर कौन कोपातुर नहीं होगा?

पर वह सागरचन्द्र का कुछ भी अप्रिय करने में समर्थ नहीं था। उसके छिद्रों को, बुराइयों को देखता हुआ वह कष्टपूर्वक अपने घर गया।

कालान्तर में १८ हजार साधुओं से परिवृत भगवान तीर्थंकर श्रीनेमिनाथ प्रभु वहाँ पधारें। तब सागरचन्द्र ने भी वहाँ जाकर हर्षित भाव से, स्वामी को प्रणाम करके उनके श्रीमुख से धर्मदेशना सुनी। सम्यक्त्वमूल श्रावक के बारह व्रत तो उसने पहले ही ग्रहण कर लिये थे। प्रभु की देशना से वह धर्म-कर्म में और भी ज्यादा उद्यत हुआ। एक दिन चतुर्दशी की रात्रि में बाहर श्मशान के पास सामायिक व्रत करके कायोत्सर्ग में स्थित हुआ। दैववश से नभःसेन ने उसको वहाँ देखकर सोचा-इसकी आज हत्या करके बहुत काल से चिन्तित अपने वैर को सिद्ध करुँगा। तब सागरचन्द्र के सिर पर मिट्टी की पाघड़ी बनाकर उसमें जलती हुई चिता से अंगारे लाकर उस पापी ने खुद रखे। सागरचन्द्र को जीवन का अंत करनेवाली वेदना उत्पन्न हुई। फिर भी चलित न होते हुए उसने उत्तम ध्यान ध्याना शुरु कर दिया। हे जीव! तू खेद मत कर। दीनता को दूर से ही त्याग दे। पूर्व में आरोपित पाप वृक्ष के ही ये फल हैं। आत्मा स्वयं ही कर्म करती है और स्वयं ही उसके विपाक को प्राप्त होती है। तो फिर विवेकियों द्वारा उसके निमित्त पर क्रोध करना कहाँ तक उचित है? हे जीव! तुने पूर्व में इसका जो कुछ बुरा किया था, वही पलटकर व्याजसहित तू प्राप्तकर रहा है। अतः इस समय यह ऋण चुकाने वाले की तरह तुम्हारा उपकारी है। अतः द्वेष करना उचित नहीं है। तूँ परितोष को प्राप्त हो।

इस प्रकार सामायिक व्रत में एकाग्रचित्त होकर सद्भावनाओं द्वारा कर्मजाल का तिरस्कार करते हुए सागरचन्द्र नामका सुश्रावक कर्मों का नाश करके देवलोक को प्राप्त हुआ। अतः बुद्धिमान प्राणी सागरचन्द्र की तरह उपसर्ग आने पर भी सामायिक व्रत की विराधना न करें, जिससे सम्यग्-गृहस्थ भी विशुद्ध मनवाला होकर स्वर्ग तथा अपवर्ग को प्राप्त करता है।

इस प्रकार सामायिक व्रत में सागरचन्द्र की कथा सम्पन्न हुई।

अब देशावकाशिक व्रत पर अमरचंद्र की कथा का अवसर है-

।। अमरचंद्र की कथा ।।

यहाँ पुष्करवरद्वीप नामक तीसरे द्वीप में अर्द्ध मनुष्य क्षेत्र की मर्यादा करनेवाला मानुषोत्तर पर्वत है। वहाँ

महाविदेह नामका क्षेत्र है, जहाँ सदेव चौथा आरा ललित कला करता हुआ मनुष्यों द्वारा देखा जाता है। वहाँ पर सात कला से भी अधिक कलाओं से युक्त चन्द्रमा के समान पूर्व विदेह में पुष्कलावती नामकी अत्यधिक विशाल विजय है। वहाँ अन्न-पान, प्रचुरता एवं काव्यरसीकजनों की विशालता, तथा व्रजादि रत्नों की अधिकता द्वारा रत्नाकर को भी तिरस्कृत करने वाला रत्नाकर नामका नगर है। वहाँ पर नाम व रूप-दोनों से ही सुन्दर सुरसुन्दर नामका राजा राज्य करता था। वह लोगों द्वारा देवदेव कहा जाता था। उनको उद्देश्य करके सामान्य राजा होते हुए भी लोक उसे देवदेव नाम से निश्चित कथन करने लगे। उस राजा की रानी मानो विलास की जननी होने से विलासवती कहलाती थी। अन्तःपुर में उसका निवास होने पर भी वह सदैव राजा के चित्त में वसती थी। एक बार महादेवी ने चन्द्र का स्वप्न देखा, जिसके फलस्वरूप अमरचन्द्र नामका अतिपुण्यशाली पुत्र पैदा हुआ। क्रम से अध्ययन करते हुए उसने कला समुद्र का पार पा लिया। यौवन अवस्था को प्राप्तकर वह श्रीनन्दन के अपर रूप की भाँति शोभित होने लगा। अपने मित्र सचिव पुत्र कुरुचन्द्र के साथ एक शरीर एक आत्मा की तरह घुमता हुआ क्रीड़ा रत रहता था। उसके कामदेव जैसे रूप को देखकर अपनी-अपनी कन्याओं का चित्रपट भेजकर कुमार के साथ बहुत सारी कन्याएँ परणायी गयी। राजा के द्वारा प्रदत्त महल में वह राजपुत्र हथिनी के साथ हाथी की तरह उनके साथ क्रीड़ा करता था।

एक बार कुमार अपने आवासगृह में सोया हुआ था। रात्रि में उसने इस प्रकार की आर्त्त ध्वनि सुनी-हा! दौड़ो! दौड़ो! हे नाथ! शरण रूप! शरण दो। गृद्ध के द्वारा भोजन(मांसाहार) झपटने के समान यह मुझे हरण करके ले जा रहा है। विक्रम कुमार के समान कुमार ने विचार किया कि किसी के भी द्वारा हरण करके ले जाती हुई स्त्री की यह आतुर ध्वनि है। मैं क्षत्रिय प्रमुख क्षमापति का पुत्र हूँ। आर्त्त नाद करती हुई इस स्त्री की रक्षा की उपेक्षा करना उचित नहीं है। रक्षा करना ही हमारा क्षात्र धर्म है। एक साथ वीर तथा करुणा रस से युक्त होकर महा औजस्वी तथा कृपालु बनकर वह राजपुत्र उठ खड़ा हुआ। मजबूत गांठ द्वारा केशपाश को संयमित करके तत्क्षण वीर ग्रंथि के द्वारा वस्त्रों को बाँधकर वह वीर कुंजर की भाँति हाथ में तलवार को घुमाते हुए अपने वास गृह से बाहर निकला। जैसे-पूंछ हिलाता हुआ सिंह पर्वत की गुफा से निकलता है। उस धन्वी रूपी दूसरे अर्जुन को देखकर वह स्त्री चिल्लायी-हे! हे! मुझे बचाओ। दुःखी की रक्षा करने से बढ़कर और कोई धर्म नहीं है। विद्याधर ने कहा-हे सुन्दर मुखी! मेरे पुण्य से ही तेरा इच्छित पति मर गया है। अतः इस निर्जन वन में किसके आगे पुकार करती हो? नीचे कुमार को देखकर हंसता हुआ वह कन्या से बोला-हे मृगाक्षी! क्या तुम भूचर के द्वारा मुझसे रक्षित की जाओगी? उसने कुमार को कहा-अरे! अभी तक तो तुम्हारे दूध के दांत भी टूटे नहीं है। तुम्हारे हाथ में तलवार नहीं, सेवा खण्डक ही शोभित होता है। हे बालक! युद्ध में लड्डु पूड़ी नहीं मिलते। तुम उत्कण्ठित क्यों होते हो? यहाँ तो केवल प्रहार ही मिलते हैं। और यह स्त्री न तो तुम्हारी माँ है, न पत्नी है और न ही बहन है। फिर इस स्त्री के लिए क्यों व्यर्थ ही विपत्ति में पड़ते हो? हे शिशु! अकाल में माता की आशा लता का छेदन क्यों करते हो? मुझे बाल-हत्या के पाप में क्यों संलग्न कर रहे हो?

कुमार ने कहा-हे मूढ़! यह परस्त्री कहाँ से हरण की है? विद्याधर के दर्प से वृथा ही तुम लक्ष्य भ्रष्ट हो रहे हो। परदारा का अपहरण करने पर खेचर होते हुए भी रावण क्या भूचर राम के द्वारा यम का अतिथि नहीं बना? खेचरत्व को ढाल बनाकर दुर्वाक्य रूपी हेतुओं के समूह से प्रहार करते हुए तुम अपने दौर्जन्य को क्यों प्रकट कर रहे हो? अगर वीर हो, तो सामने आओ। दुर्वाक्य से अर्जित तुम्हारी पापात्मा को अपनी तलवार की धारा रूपी तीर्थ से शुद्धि करता हूँ। भले ही यह मृगाक्षी मेरी अपनी नहीं है, लेकिन क्षत्रिय राजा को जगत् के सभी प्राणियों को अपने कुटुम्ब के समान ही रक्षा करनी चाहिए।

कुमार के इस प्रकार कहने पर वह अहंकारी खेचर उस स्त्री को वहीं छोड़कर कुमार के साथ स्थल युद्ध के लिए प्रवृत्त हुआ। तभी कहीं से सूर्य के समान उद्योत हुआ। रात्रि में भी सूर्य की तरह तेजस्वी प्रकाश हुआ। और दूसरे लोक युद्ध को देखने के कौतुक से वहाँ आये। वह प्रकाश देखकर वह खेचर अंधकार की तरह शीघ्र ही वहाँ से भाग गया। तब उस स्त्री को कुमार ने पूछा-तुम कौन हो? यह कौन था? तथा यह दिन के समान प्रकाश कैसे हुआ? कुछ आश्वस्त होकर उसने सुन्दर कण्ठ व सुन्दर स्वर में कहा-मैं चन्द्रलेखा नामकी खेचर कन्या हूँ। वैताढ्य पर्वत की दक्षिण श्रेणि में स्थित गगन वल्लभपुर में विद्याधर पवनवेग नाम के राजा हैं। मैं उनकी पुत्री हूँ। उत्तर श्रेणि के राजा के पुत्र किरणमाली रूपादि में मेरे अनुरूप होने से मेरे पिता द्वारा मैं उनको दी गयी हूँ। यह खेचर वासव अपने आपको इन्द्र समझता है। मुझ पर अनुराग रखता हुआ मुझसे परिणय करने के लिए इसने मेरा हरण कर लिया। साक्षात सूर्य के समान गगन के आँगन को द्योतित करने वाला यह किरणमाली विद्याधर मेरा होनेवाला पति है। नव-साधित विद्याओं के कारण यह इन्द्र के समान तेजयुक्त है। सिंह की तरह कहीं यह मुझे नष्ट न कर दे, इस भय से वह वासव शियाल के समान इसको देखकर भाग गया।

इस प्रकार वह कन्या सारा वृतान्त कुमार को बता रही थी, तभी वह किरणमाली विद्याधर भी वहाँ आ गया। चन्द्रलेखा के मुख से कुमार के उपकार को सुनकर अत्यन्त प्रमुदित हुआ। उसने बार-बार कुमार की प्रशंसा की। अधिक क्या कहा जाय! हे वीर! हे वीरपुत्र! तुम्हीं इस धरती के वीरपुत्र हो। वह कृतज्ञों का शिरोमणी कुमार की प्रशंसा करके, उसकी अभ्यर्थना करके राजकुमार की इच्छा न होते हुए भी उसे पर-पुर-[कुटी]प्रवेश नामकी महाविद्या दी। प्रहार का निवारण करनेवाला दिव्य हार दिया। फिर वह खेचर उनको पूछकर उस कन्या को लेकर अपने ज्ञातिजनों के मध्य गया और महा उत्साह पूर्वक उसका विवाह महोत्सव हो गया। वर्द्धमान प्रताप वाले दूसरे सूर्य की तरह वह आर्यपुत्र राजकुमार रात्रि व्यतीत करके दिन का उदय होने पर हृदय पर उस दिव्य हार को धारण करके राजा के पास गया। उस समय वह हार मानो वनमाला वनमाली के कण्ठ से लिपटी हुयी हो वैसा दिखायी देता था।

राजा ने कुमार को युवराज पद प्रदान किया। मानो उसे राज्य देने की अपनी इच्छा पर मोहर लगा दी हो।

प्रातःकाल श्रीपुर नगरी के श्रीषेण राजा का विशिष्ट दूत आया। महाराजा को प्रणाम करके बोला-हे देव! श्रीषेण राजा की पुत्री जयश्री अपने नामके अनुरूप ही यौवन को प्राप्त हो गयी है। उससे एक दिन राजा ने पूछा कि तुम्हारा वर कैसा होना चाहिए। हे पुत्री! बताओ। वह रूपवान हो, कलावान हो या श्रीमान् हो? उसने विचार किया कि अगर इस भव में नये प्रिय से संबन्ध जुड़ता है तो वैसा प्रेम परस्पर नहीं दिखायी देता जैसा कि पूर्वभव के प्रेमी में होता है। लोग कहते भी है कि अति प्रिय भी अति अप्रिय हो जाता है। पूर्वजन्म का भाई इस भव में वैरी बन जाता है। इस प्रकार विचार करने के बाद वह बोली-हे तात! जो पूर्वभव में मेरा पति था, वही पति मेरे लिए इस भव में भी खोजिए। उसकी बात सुनकर राजा ने विचार किया कि पूर्व का पति इस भव में कैसे जाना जा सकता है? पुत्री के इस वचन ने मुझे दुःख के वर्तुल में डाल दिया है।

तभी आकाश में दिव्य ध्वनि उच्चरित हुई-यह स्वयं स्वयंवर में उसको देखते ही पहचान जायगी। पूर्वभव का सम्बन्ध प्रायः करके आँखों से जाना जाता है। प्रिय को देखकर मन प्रसन्न होता है और अप्रिय को देखकर मन मुरझा जाता है।

अतः स्वयंवर का आयोजन राजा द्वारा किया जा रहा है। आपके युवराज को बुलाने के लिए मुझे भेजा है। अगर पधारेंगे तो बड़ी प्रसन्नता होगी।

उसके वचन को युक्ति युक्त मानकर राजा ने युवराज को आदेश दिया-हे वत्स! स्वयंवर में जाओ। जयश्री

तुम्हारी होगी। कर्म विधि के नाटक के आरंभ में ही भावीवृत्त का सूचत करनेवाली राजा की शुभाशीष को धारणकर कुमार भी वेग से वहाँ गया। स्वयंवर में सभी राजाओं के विराजमान हो जाने पर उन सबके बीच युवराज सिंह के पुत्र की तरह शोभित हो रहा था। जयश्री ने भी संपूर्ण राजाओं के समूह को देखा। पर जो खुशी सुरसुन्दर राजा के नन्दन को देखकर हुई, वह और कहीं नहीं हुई। उसे देखकर दृष्टि के विकास से अपने ज्ञान से उस पूर्वभव के पति को पहचानकर उसके गले में वरमाला डाल दी। तब दूसरे सभी राजा कुपित हो गये। राजा ने वीर दूतों को आदेश देकर उन्हें युद्ध के लिए आह्वान किया। युद्ध को उपस्थित जानकर कुमार ने अपने मित्र से कहा-मैं इसके प्रेम की परीक्षा किये बिना अपने प्राणों को संशय में कैसे डालूँ? तब उसके मित्र कुरुचन्द्र ने कहा-शिर की वेदना की भयंकरता का नाटक करके छद्मपूर्वक सो जाओ। वह भी परकुटी-प्रवेश विधि के द्वारा मृत की तरह सो गया। शोक से आर्त्त लोगों द्वारा उसे चिता पर रख दिया। क्योंकि-

मृते काऽन्या प्रति क्रिया ।

मरने पर (जलाने के अलावा) अन्य क्या प्रतिक्रिया हो सकती है।

जयश्री भी यह सब देखकर उस प्रकार से दुःख को प्राप्त हुई। उसमें अत्यधिक दृढ़ प्रेमासक्ति होने के कारण उसके साथ मरण स्वीकार करना तय किया। जन्मान्तर में भी यही मेरे पति हो-यह कहकर वह भी उसी चिता पर चढ़ गयी। यह देखकर सारे राजा उसके पास गये और कहा-हे शुभ्रे! व्यर्थ ही अपने प्राणों का त्याग मत करो। इससे तुम्हारा परिणय तो नहीं हुआ, मात्र वरण ही किया है और यह मर गया। यह तुम्हें भोगने के लिए निर्भागी था। किसी ने ठीक ही कहा है-

निः स्वः किं लभते निधिम् ।

सत्त्वहीन को क्या निधि मिलती है?

इतने सारे राजाओं के बीच तुम्हें जो पसन्द हो, उसको आत्मरूचि के द्वारा चुन लो। उसने भी कहा-कई जन्मों में मैंने अनेक वरों का वरण किया है इस वर के मर जाने से अन्य का वरण करके मैं अपनी आत्मा में लांछन नहीं लगाऊँगी। तुम जैसे परस्त्री की आसक्ति में रंजित रहनेवाले असात्त्विक नपुंसक कायरों को मैं जन्मान्तर में भी वरण नहीं करूंगी। उन राजाओं ने कहा-यह तुम्हारा वर ही कायर है, जो युद्ध मात्र का श्रवण करते ही भय से हृदयाघात को प्राप्त हुआ। तब उनके वचनों को सुनकर क्रोध में उद्धत होकर नाचते हुए अमरचन्द्र के मित्र कुरुचन्द्र ने कहा-हे राजाओं! ऐसा मत कहो। यह कभी स्वप्न में भी भयभीत नहीं होता। भय की तो इसके साथ दुश्मनी है। फिर वह इसमें कैसे संभव हो सकता है? इसके पूर्वज भी केवल मात्र सात्त्विक दलों से निर्मित के समान कभी भी, कहीं भी, किसी से भी नहीं डरते थे। इसके पूर्वजों का सत्त्व जग जाहिर है, अतः शीघ्र ही अमृत जल की बूंदों को पीने के समान मरा हुआ भी यह जी जायगा।

तब उन राजाओं ने कहा-अगर ऐसा ही है। सत्त्व की स्फूर्ति इसमें है, तो हे शत्रु! तुम अपने मित्र को जीवित क्यों नहीं करते? उसने कहा-आपलोगों के देखते ही देखते यह क्षणभर में जीवित हो जायगा। इसमें कोई संशय नहीं है। क्योंकि-

न हन्त्यर्कोऽपि किं तमः ।

क्या सूर्य तम का हरण नहीं करता?

मन मात्र से भी अगर इसके पूर्वज न डरे हो, तो उनके सत्त्व से यह मरा हुआ भी जी जाय।

उसके इतना बोलते ही सुरसुन्दर नन्दन वह कुमार तत्क्षण उठकर खड़ा हो गया। सत्त्व से क्या नहीं होता!

तब श्रीषेण नगर में कुमार की सेना ने वर्द्धापन महोत्सव किया। जयश्री ने भी परम आनन्द संपदा को धारण

करते हुए विचार किया-अहो! इनका कुल सत्त्व रूपी रत्नों का सागर है। जयश्री के प्रेम-उत्कर्ष को जानकर कुमार भी प्रसन्न हुआ। चिता पर आरुढ होने से कसोटी पर कसे हुए स्वर्ण की तरह खरी साबित हुई। कुमार ने एकमात्र पुण्य की अधिकता से चक्रवर्त्ती के समान उन सभी राजाओं पर दुर्जय जीत हासिल की। संपूर्ण राजाओं पर जयश्री प्राप्त करके द्विगुणित जयश्री को चक्रवर्त्ती द्वारा रोहिणी की तरह प्राप्त किया। जयश्री से युक्त होकर वह अपने राज्य में आया। अपने देश की जनता के कमल नयनों को सूर्य की तरह विकसित बनाते हुए मनोरम शोभा से युक्त अपने पुर में प्रवेश करके जयश्री के साथ प्रसन्नतापूर्वक अपने पिता को प्रणाम किया। पुत्र के द्वारा जयश्री की प्राप्ति होने से सुरसुन्दर राजा का प्रमोद व उल्लास सागर की तरह वृद्धि को प्राप्त होता हुआ कल्लोलें मारने लगा। युवराज की जय व पुण्योदय को जानकर पुरवासियों ने चिन्तन किया कि यह भविष्य में पिता से भी ज्यादा अतिशय को प्राप्त करेगा।

एक दिन राजा अपनी सभा में बैठा हुआ मंच, परदे आदि आडम्बरों से युक्त लङ्क नृत्य देख रहा था। जैसे मृग संगीत में आसक्त होकर सुध-बुध खो देता है, उसी प्रकार राजा भी उस में अत्यन्त लीन होकर परवशता के साथ उत्कर्ष को प्राप्त हो रहा था। तभी वहाँ पर आकाश मार्ग से चारण मुनि आये। दिव्य ज्ञान से पवित्र तथा चारित्र की मूर्ति स्वरूप वे मुनि थे। उन्हें देखकर राजा ने उनको श्रेष्ठ आसन पर बिठाया और कर संपुट जोड़कर विनयावनत होकर कहा-प्रभों! एक ही विनती है। आप नाराज मत होना। एक क्षण के बाद हम लोग आपकी धर्मव्याख्या सुनेंगे। मेरा ध्यान अभी उत्सव की तरफ है। लङ्क नृत्य देखने में मैं रस की अतिशयता पर आरुढ हूँ। अतः पहले इस नाटक को देखूँगा। मुनि ने कहा-हे राजन्! हम स्वयं भव-राग के आँगण में लगातार नृत्य कर रहे हैं। अतः इसमें विस्मय कैसा? राजा ने कहा-भगवान! आपके वचन गंभीर अर्थ के द्योतक है। मैं इसका अर्थ नहीं जान पाया। अतः आप इस का अर्थ प्रकाशित करें। मुनि ने कहा-हे महाभाग! यह संसार एक नृत्य भूमि है। गगन की ऊँचाइयों तक जानेवाला मोह नामक महान व सुदृढ बांस है। चार गतियों द्वारा यह चारों ओर से दृढ रूप से बंधा हुआ है। चारों तरफ कषाय नाम की कीलिकाएँ गाढ रूप से गाड़ी हुई हैं। आठ कर्म रूपी आतोद्य वादन आदि विभिन्न प्रकार की सज्जाएँ है। तुम्हारे जैसे मनुष्य देव आदि नाना रूपों में नृत्य करते हैं।

यह सुनकर प्रति बुद्ध होते हुए राजा ने लङ्क को इच्छित दान आदि देकर विसर्जित किया। धोरी की तरह युवराज पर राज्य का भार आरोपित करके राजा ने उसी मुनि की सन्निधि में संयम प्राप्त किया। अमरचन्द्र ने भूपालों के मण्डल को जीतकर राज्य में अपनी भुजाओं से अर्जित महाराज शब्द को प्राप्त किया। मित्र कुरुचन्द्र को उसने अपना मंत्री बनाया। राज्यचिन्ता उस पर छोड़कर सुकुमारता को धारण कर लिया। जयश्री में विहित आसक्ति से विषय लम्पट होते हुए राजा भी राजपत्नी की तरह अंतःपुर को नहीं छोड़ता था। युवराज की अवस्था में अर्जित उसके प्रताप के तेज द्वारा कुरुचन्द्र अपने मित्र के सागरान्त यश को धरतीतल पर फैलाने लगा।

एक बार पुत्र जन्म के उत्सव पर मित्र के अनुरोध से सुरसुन्दर पुत्र राजा अमरचन्द्र अपने आस्थान मण्डप पर बैठा। उस अवसर पर सभी राजा को प्रणाम करने आये। सामन्त, अमात्य, सैनिक, पौरजन आदि विभिन्न पदाधिकारी राजा से मिलने आये। उनके साथ बातचीत करते हुए जयश्री से वियुक्त राजा को रात्रि का एक प्रहर भी एक युग के समान प्रतीत हुआ। फिर राजा उठकर तुरन्त अन्तःपुर में गया। उन्होंने वहाँ जयश्री के पास किसी अन्य पुरुष को देखा। विषादग्रस्त मुख मुद्रा द्वारा राजा ने सोचा-अहो!

दुश्चरितं स्त्रीणां विधेरपि न गोचरे ।

स्त्रियों का दुश्चरित्र विधाता द्वारा भी अगम्य है।

उस प्रकार से इसके प्रेम की परीक्षा करके मैंने इससे शादी की। इसके राग में रंजित होकर मैंने राज्य-चिन्ता

भी छोड़ दी। अपनी आत्मा के समान इसके प्रेम को मानता हुआ मैं मूढ़ इतने दिनों तक इसके आज्ञाकारी की भाँति रहा। यह भी अगर इस प्रकार की लीला को पैदा करती है, तो फिर मानना होगा कि नारी का प्रेम कहीं भी निश्चल नहीं है। यह पुरुष भी साहसी है, जो मरने के लिए यहाँ आ गया है। अतः इसको मारता हूँ-इस प्रकार सोचकर तलवार म्यान से बाहर निकाली। अरे! मरने के इच्छुक! तुम कौन हो? क्या नहीं जानते कि यह मेरा अंतःपुर है। अपने इष्ट देवता का स्मरण कर, जिससे तुम्हें यम का अतिथि बनाऊँ। राजा का ही रूप बनाकर आये उस पुरुष ने "मैं राजा हूँ" इस प्रकार बोलते हुए राजा का गला पकड़कर राजा को बाहर निकालने लगा। उस उपपति रूप पुरुष को मारने के लिए राजा ने सैनिकों को आदेश दिया। उसे घेरकर जब उसे देखा, तो वे भी हैरान हो गये। अपने मित्र कुरुचन्द्र को राजा ने बुलाया, तो वह भी उसको देखकर हेरान रह गया कि अति साम्यता होने से कौन राजा है? कुरुचन्द्र ने सभी के समक्ष उन दोनों में से राजा को जानने के लिए दिव्य हार माँगा, तो दोनों ने ही उसे वह शुद्ध हार दिया। दोनों से एक तरफ अलग-अलग ले जाकर एकान्त में बातचीत की, तो दोनों ने ही संपूर्ण वृतान्त एक समान बताया। कुरुचन्द्र ने विचार किया कि हमारे राजा के सिवाय अन्य कोई भी परकुटीप्रवेश विद्या नहीं जानता। अतः निर्णय हो जायगा। वास्तविक राजा अमरचन्द्र जल्दबाजी में उस विद्या को भूल गया ओर मायावी राजा परकुटीप्रवेश कर गया।

तब राज्य से उसे निर्वासित कर दिया गया। निर्वासित राजा ने खेदित होते हुए विचार किया कि हा! मैं निर्भागी हूँ। मेरा राज्य दैव द्वारा कैसे हर लिया गया। भ्रष्ट राज्य वाला मैं अब जीकर क्या करुँगा? ऐसा विचारकर वह पर्वत से छलांग लगाकर मरने के लिए पर्वत पर गया। वहाँ ध्यान में स्थित साधु ने राजा को मरने की इच्छा करते देखा। उन्होंने ध्यान पारकर कहा-हे भद्र! क्या तुम मरना चाहते हो? उसने अपने वैराग्य के कारण रूप अपने संपूर्ण वृतान्त को बताया। मुनि ने कहा-महाराज! वह देव तुम्हारा पूर्वभव का मित्र था। राजा ने कहा-तो फिर उसकी इस प्रकार की दुश्मनी का क्या कहना? क्या मित्र भी इस तरह के अपकार-कारक होते है? गुरु ने कहा-राजन् समाधान देने वाला उसका तथा तुम्हारा पूर्वभव ध्यानपूर्वक सुनो।

मेघपुर में मेघवाहन नामक राजा था। श्री व्ययकरण **प्रियंकर** व **शुभंकर** नामके दो अमात्य थे। उन दोनों की परस्पर मैत्री अति गहरी थी। एक व्यापार की तरह उन दोनों का साहचर्य भी एक था। व्यापार की तरह उन दोनों पार्थिवों ने एक धर्माचार्य के पास एक साथ गृहीधर्म स्वीकार किया। व्यापार के राजकार्य में परवश रहने पर भी बीच-बीच में वे धर्म क्रियायें भी अति विवेकी की तरह नित्य करते थे। एक बार रात्रि में प्रत्याख्यान काल में प्रियंकर ने देशावकाशिक व्रत का सर्वात्मना, संक्षेपणात्मक रूप से विचार किया-"सापराधी जीव भी मेरे द्वारा नहीं मारा जाना चाहिए। दूसरे को अनर्थकारी सत्य वचन भी नहीं बोलना चाहिए। अदत्त का सर्वथा ग्रहण नहीं करुँगा। निर्मल ब्रह्मचर्य को धारण करुँगा। अधिक होने पर भी कुछ भी परिग्रह नहीं करुँगा। बड़े से बड़ा कारण होने पर भी घर के बाहर नहीं जाऊँगा। चार प्रकार का आहार भी ग्रहण नहीं करूँगा। दूसरों द्वारा पहने हुए वस्त्र भी धारण नहीं करूँगा। पुष्प-भक्षण नहीं करूँगा, न विलेपन करूँगा। वाहन पर नहीं चढूँगा। सर्वथा स्नान भी नहीं करूँगा। रूई सहित एक ही पलंग सोने के लिए धारण करूँगा। चारों प्रकार का अनर्थदण्ड भी अब नहीं करूँगा।" सूर्योदय से सूर्यास्त तक मेरे ये सारे अभिग्रह रहेंगे। राजा ने रात में उस महामात्य को बुलाया। उसने राजा के मुनष्य को अपने अभिग्रह स्वयं निवेदन किये। यह जानकर कुपित राजा ने उस नोकर से कहा-जा रे! उसे अभिग्रह में रहने दो। मेरी मुद्रा लेकर आ जाओ। महामात्य ने भी वह मुद्रा उसे दे दी। धर्म में दृढ़मति वाले उस धीमान ने अपना अभिग्रह खण्डित नहीं किया। उसके निश्चय से प्रसन्न होकर राजा ने स्वयं उसके घर जाकर पुनः सम्मानपूर्वक व अनुरोधपूर्वक वह मुद्रा उसे अर्पित की।

अन्त में वे दोनो मित्र निर्मल ध्यानपूर्वक उसी नाम के साथ सौधर्म देवलोक में देव रूप से उत्पन्न हुए। प्रियङ्कर की पत्नी भी प्रिया के धर्म-अनुमोदन से स्वर्ग में भी श्रीप्रभा नामकी उसकी प्रिया देवी बनी।

प्रियंकर सुर ने अवधिज्ञान से अपना भावी जन्म स्थान तथा धर्म में आत्म-प्रमाद जानकर च्युत-काल नजदीक आने पर अपने मित्र को कहा-हे मित्र! तुम अपने उद्यम से मुझे धर्म में प्रेरित करना। वहाँ से च्युत होकर तुम यहाँ अमरचंद्र नाम के पुत्र हुए और तुम्हारी देवी च्युत होकर यह जयश्री के रूप में उत्पन्न हुई है।

दुःखी होने पर ही मनुष्य धर्मपरायण होते है-यह विचारकर तुम्हें धर्म में उद्यम करवाने के लिए तुम्हारा वह मित्र देव तुम्हारे ही रूप में आया था। शुद्ध शीलवती जयश्री ने उसको तुम्हारे रूप में देखकर अपना पति जानकर अपने आवास खण्ड में प्रवेश करने दिया। तुम्हारी विद्या को उसीने विडम्बनापूर्वक भुलवा दिया। अतः इस प्रकार के हितकारी मित्र पर क्रोध मत करो।

मुनि यह सारा वृतान्त बता ही रहे थे, तभी वह देव जयश्री तथा कुरुचन्द्र को लेकर वहाँ आया। राजा सूर्य का तिरस्कार करनेवाली उसकी रूप की कांति को देखकर विस्मित रह गया। उसे देखते हुए राजा को जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हुआ। सारा तत्त्व ज्ञात हुआ। तब उसने कहा-हे मित्र! तुमने बहुत अच्छा किया। मोक्ष सुख प्राप्तकराने वाले धर्म में अब उद्यम करुँगा। जयश्री ने भी उनके बताने से अपने पूर्वभव को याद किया। फिर देव सभी को क्षण भर में नगर में ले आया। नृप ने राज्य पर जयश्री के पुत्र को बैठाया और अपनी प्रिया के साथ उन्हीं मुनि की सन्निधि में व्रत ग्रहण किया। वह मित्र देव कृतकृत्य होता हुआ राजर्षि और उन मुनि को नमस्कार करके अपने विमान में चला गया। राजर्षि ने भी दीर्घकाल तक दुष्कर तप तपते हुए केवलज्ञान प्राप्त किया। फिर संपूर्ण कर्मों का क्षयकर मोक्ष को प्राप्त किया।

जिस प्रकार अमरचन्द्र के जीव ने प्रियंकर के भव में परम निवृत्ति के हेतु भूत देशावकाशिक व्रत का एकचित्त से आराधन किया, उसी प्रकार दूसरे मनुष्यों द्वारा भी इस व्रत को पालना चाहिए।

इस प्रकार देशावकाशिक व्रत में अमरचन्द्र की कथा पूर्ण हुई।

अब पौषधव्रत पर कामदेव के आख्यानक को बताते हैं-

।। कामदेव की कथा ।।

द्वीप चक्र की नाभि के द्वीप में भरत क्षेत्र है। वहाँ देवनगरी के प्रतीक रूप चम्पा नाम की विख्यात नगरी है। संपूर्ण शत्रुओं को त्रस्त करनेवाला वहाँ का राजा जितशत्रु था। उसने अपनी वीरचर्या द्वारा वीरों की पंक्ति में प्रथम स्थान प्राप्त किया। रूप से तथा नाम से कामदेव नामक एक गृहपति था, जो भला एवं जनवत्सल था। अत्यधिक नामी ईश्वर, श्रेष्ठि, सार्थवाह, कुटुम्बी आदि के सभी कार्यों की वह अपने कुटुम्ब की तरह चिन्ता करता था। प्रकृति से भद्रिक उसके भद्रा नामकी सेठानी थी। विभिन्न दुःखों से परिश्रान्त मन वालों के लिए वह विश्रान्ति का स्थान थी। उसने छ करोड़ स्वर्णमोहरों की निधि (भूमि में गाड़ी हुई थी) की हुई थी। ब्याज रहित छ-छ करोड़ स्वर्ण मुद्रा उसके संपूर्ण व्यवसाय में लगी हुई थी। इस प्रकार अठारह करोड़ स्वर्ण मुद्रा का वह धनी था। वह राजमान्य, प्रजा का आधार और महाजनों का धोरी था। उसके छः गोकुल थे। प्रत्येक गोकुल में हजार हजार गाये थीं। जिनके दूध की नदियाँ सदा घर में बहती थीं। उसके पाँच सौ हल थे। वह गृहपति कृषि-सिद्ध शोभारत्न था। पुण्य की मूर्ति स्वरूप उसके छः बड़े-बड़े जहाज थे। जो समुद्र के दूसरे किनारे से सदैव श्रिय को लाते थे।

एक बार वहाँ नगर की उत्तरपूर्वदिशा के उद्यान में स्वयं श्रीमान महावीर जिनेश्वर पधारें। बारह प्रकार की परिषद यथास्थिती वहाँ बैठी। यह सुनकर कामदेव भी प्रभु को वन्दन करने के लिए घर से निकला। वहाँ रथादि

वाहनों की प्रचुरता से पृथ्वी पर चलना दुर्भर हो गया था। आकाश में भी विमानों की आवाजाही से आकाश मार्ग भी जटिल हो गया था। अतः किसी भी प्रकार से वह भगवान के समीप पहूँचा। स्वामी को देखकर क्षणभर के लिए उसकी दृष्टि उन पर स्थिर हो गयी। फिर विस्मय को छोड़कर प्रदक्षिणा करके वंदना, नमस्कार करके अंजलि बद्ध होकर प्रभु के समीप बैठा। सर्वभाषा में अनुवाद होनेवाली योजनगामी वाणी द्वारा कर्म के मर्म को बतानेवाली धर्मदेशना प्रभु ने दी। उस देशना को सुनकर, राजा, राजन्य, सार्थवाह आदि ने प्रतिबुद्ध होकर प्रभु के पास प्रव्रज्या ग्रहण की। कामदेव भी तृषित की तरह प्रभु की वाणी का सुधापान करके शीत से अंगों के कंपन की तरह रोमांचित हो उठा। फिर उसने प्रभु से कहा-जिस प्रकार ये लोक आपके पास धर्म सुनकर प्रव्रजित हुए हैं, वैसे मैं समर्थ नहीं हूँ। जैसे-लंगड़ा व्यक्ति वेग से दौड़ नहीं पाता, वैसे ही मैं भी संयम मार्ग पर नहीं दौड़ पाऊँगा। आपके द्वारा बाद में कहे गये गृहीधर्म को मैं ग्रहण करुँगा। हे स्वामी! उतना ही भार उठाना चाहिए, जितनी कि शक्ति हो। भगवान ने कहा-हे सुमते! ऐसा ही करो। उसी व्रत का आचरण करो, जिसमें दुःख उठाते हुए मन को छोटा न करना पड़े। तब उसने वीर जिनेश्वर के पास सम्यक्त्व मूल १२ व्रतों को श्रावक बुद्धि से ग्रहण किया। स्वामी ने उसे शिक्षा देते हुए कहा-तुम्हारे द्वारा पवित्र गृहीधर्म स्वीकार किया गया है। तुमने इसे अचिन्त्य चिंतामणि की तरह पाया है। अतः इसे हारना मत। इस गृहीधर्म रूपी तरु का सद्भाव से सिंचन करना। यह धर्म तुम्हें स्वर्ग तथा अपवर्ग के फल को दिलानेवाला है। सिद्धिरूपी नगरी में जानेवाले को मोहकण्टकादि से रक्षा करने के लिए पादुका के समान प्रभु ने उसे शिक्षा दी। उसे ग्रहणकर कामदेव अपने आप को धन्य मानता हुआ घर चला गया। प्रतिदिन साधुसम्पर्क करते हुए वह धीमान तत्त्व तथा अतत्त्व के विषय में परीक्षक के समान हो गया। नित्य धर्मोपदेश श्रवण से वह लब्धार्थ हो गया। धारण करने से गृहितार्थ तथा संदेह होने पर पृच्छा करने पर उसके उत्तर से वह निश्चितार्थ हो गया। चक्रवर्त्ती के निधान की तरह अत्यन्त सार भूत जीव-अजीव आदि नव तत्त्वों को भी उसने उपलब्ध किया। जैसे तपाये जाते हुए लोहे के गोलक में अग्नि एकीभूत हो जाती है, वैसे ही वह भी अर्हत् धर्म से भेदित होकर उससे एकाकार हो गया। यही एक धर्म है, अन्य कोई नहीं है-इस प्रकार निश्चय करके भूतल पर अचल पर्वत की तरह वह जिन-प्रवचन में अचल हो गया। सूर्योदय से सूर्यास्त तक में अंश मात्र समय का बिना निवारण किये वह घर पर भी धर्मशाला की तरह दान देता था। चतुर्दशी, अष्टमी, पूर्णिमा तथा अमावस्या इन चारो पर्वतिथियों में वह पौषध करता था। इस प्रकार निर्मल आर्हत-धर्म का लगातार पालन करते हुए उसे चौदह वर्ष व्यतीत हो गये।

एक बार पौषध-शाला में सर्वरात्रि की प्रतिमा स्वीकार करके कामदेव मन को ध्यान में लीन करके बैठा हुआ था। उस समय शक्रेन्द्र ने अवधिज्ञान से अवनि तल को देखा, तो महर्षि की तरह प्रतिमा में स्थित कामदेव को देखा। अति विस्मय पूर्वक मत्तहाथी के कुम्भस्थल की तरह अपने सिर को हिलाते हुए संपूर्ण देवलोक के देवों के सामने कहा-कामदेव गृहस्थ होते हुए भी चम्पानगरी में अचल ध्यान में स्थित है अलोकखण्ड के समान देव तो क्या, इन्द्र भी उसे ध्यान से चलित नहीं कर सकता। किसी दुर्जन सुर ने परगुण में द्वेषी होने से उस मनुष्य की प्रशंसा को न सह सकने से ईष्यापूर्वक देवेन्द्र से कहा-वही मानना चाहिए, जो मन को भाता हो। हे प्रभो! आपने झूठ को भी सत्यापित किया है। यह गृहस्थ तो धातुओं से जुड़े हुए सर्वांग वाला मनुष्य-मात्र है। अगर उसका वर्णन आप करते है तो कौन बुद्धिमान इस पर श्रद्धा करेगा। मैं अकेला ही बड़ी आसानी से उसे ध्यान से चलित बना सकता हूँ। क्योंकि-

शैलोऽपि चाल्यते देवैः परमाणोर्हि का कथा?

देवों द्वारा तो पर्वत भी चलित हो सकता है, परमाणु का तो कहना ही क्या?

इतना कहकर वह ईर्ष्यालु नीच देव शीघ्र ही चम्पा में अवतीर्ण हुआ। कहा भी है-

किं हि दूरं दिवौकसाम् ?

देवों के लिए कुछ भी दूर नहीं है।

कामदेव को क्षुभित करने के लिए देव ने क्रूर दारुण हुंकार भरी। फिर यम के सहोदर की तरह पिशाच का रूप बनाया। गाय को जिस भाजन में भोजन दिया जाता है, उस भाजन के समान शिर बनाया। अग्नि से जलते हुए के समान भूरे बाल थे। दोनों कान सूपड़े की तरह प्रतीत हो रहे थे। हिंगलु और माणिक्य के समान लाल मुख था। चिपटा विषम आकार का नाक था। घोड़े की पूंछ के समान काले विकराल दाँत थे। ऊँट के होठों के समान मोटे-मोटे उसके होठ थे। हल के नीचे के लोखंड के फल के समान उसके बाहर निकले हुए प्रतिदन्त थे। पेट बहुत बड़ा तथा जंघाए ताड़ के समान थीं। बाघ की खाल को उसने शरीर पर धारण कर रखा था। तवे के तले के समान काले वर्णवाला वह राक्षस साक्षात् पाप रूपी तम की मूर्त्ति लग रहा था। नेवले के समान लम्बे-लम्बे बाल थे। कार्चिडे के समान लाल कण्ठिका थी। भुजंग को उसने जनेऊ की तरह धारणकर रखा था। मुसे के समान काँटेदार वक्ष था। भयंकर अट्टहास के द्वारा ब्रह्माण्ड को चलित करने के समान, आकाश में बिजली की तरह हाथ से तलवार को घुमा रहा था। वह कामदेव के पास जाकर बोला-हे! शठता का सेवन करनेवाले! इन्द्रजाल की तरह तुम्हारा यह दम्भ रूपी आडम्बर क्या है? अगर तुम कदाग्रह से इन व्रतों का भंग नहीं करोगे, तो शीघ्र ही इस तलवार से तुम्हारे सैकड़ों टुकड़े कर दूँगा। तब प्रहार की पीड़ा से आर्त्त होकर करुण स्वर में विलाप करते हुए तुम नितान्त असमाधि की शरण प्राप्त करोगे। अतः इस पाखण्ड को छोड़कर मेरे चरण कमल में नमन करके अपने घर चले जाओ। इस भोग वंचना से अब बस करो। पिशाच के इस प्रकार कहने पर भी वह सात्त्विक कामदेव उसके कथन को सुनकर न तो डरा, न ही क्षुभित हुआ। उसके दो-तीन बार ऐसा कहने पर भी वह ध्यान से चलित नही हुआ। क्योंकि-

चलति शैलेन्द्रः किं वात्यानां शतैरपि?

सैकड़ों हवाएँ चलने पर भी क्या पर्वतराज चलित होता है?

तब राक्षस ने क्रुद्ध होकर तलवार से कुम्हड़े की तरह उसके सैकडों टूकड़े कर दिये। उसने भी निश्चल रहकर उस दुस्सह वेदना को सहा।

फिर उस देव ने राक्षस के रूप का संहरण करके हाथी का रूप बनाया। उमड़े हुए बादलो की तरह गर्जना करते हुए उसने कामदेव को कहा-अगर तुम मेरा कहा हुआ नहीं करोगे, तो अपनी सूंड से तुमको गेंद की तरह आकाश में उछाल दूँगा। वापस आकाश से नीचे गिरते हुए तुम्हें भालों के समान तीखे दाँतो पर ग्रहण करुँगा। पृथ्वी पर पटककर पैरों से तिल की तरह रौंद डालुँगा। इस प्रकार आतंक उत्पन्न करने के लिए उसने दो बार, तीन बार यह कथन कहा। पर बिना उद्विग्न हुए मौनपूर्वक वह ध्यान में स्थित रहा। सत्त्व में एकीभूत होकर कामदेव जरा भी न डरा। वैसे ही ध्यान में खड़ा रहा। तब क्रोध में जलते हुए देव ने जो कहा था, वही कर दिखाया। कामदेव ने भी उस सारी व्यथा को समभाव से सहन किया। पर बन्दी बनाये हुए कंजूस की तरह उसके वचन को नहीं माना।

हताश होकर देव ने हाथी का रूप छोड़कर भयंकर फन वाले नाग का रूप धारण किया। उस रूप में भी उसने दो तीन बार धर्म का त्याग करने को कहा। फिर भी उसको निडर देखकर साक्षात क्रोध ने उस देव में अवतार ले लिया। जिस प्रकार नाड़ी की धूरी चमड़े से वेष्टित की जाती है, उसी प्रकार उसकी ग्रीवा को अपने शरीर द्वारा कसकर आवेष्टित करके उसे अपनी दाढ़ द्वारा द्वीधा से पीड़ित की तरह जोर से डस लिया। वज्र के समान दुर्भेद्य ध्यान में दृढ़व्रती कामदेव श्रावक उस उपसर्ग से भी चलित नहीं हुआ। तब उस देव ने विचार किया कि-

प्रायस्तृतीयोड्डयने मयूरोऽपि हि गृह्यते ।

प्रायः तीसरी उड़ान में मयूर पकड़ा ही जाता है, पर तीसरे उपसर्ग से भी यह मेरे द्वारा चलित नहीं हुआ।

तब उसके सर्वातिशायी सत्त्व से रंजित होकर अपना दिव्य रूप प्रकटकर उससे कहा-हे महाभाग! गुणाकर! तुम धन्य हो! कृतकृत्य हो! महात्मा हो। सुलभ्य मनुष्य जन्म व जीवन तुमने सफल बना लिया है। जिस प्रकार से तुम इस निर्ग्रन्थ प्रवचन में दृढ़ीभूत हो, उससे निश्चय ही सिद्धि तुमसे दूर नहीं है। फिर शकेन्द्र द्वारा प्रशंसा और अपनी असहिष्णुता का वृतान्त बताकर क्षमा माँगते हुए वह देव उसके चरणों में गिर गया। फिर कहा-हे देवानुप्रिय! हे सत्व महोदधी! इन तीन परीक्षाओं से तुमने साबित कर दिया है कि शक्र भी तुम्हारा पार नहीं पा सकता। इस प्रकार पुनः-पुनः भक्तिपूर्वक स्तुति करके उसको प्रणिपात करके, चित्त में उसी का चिन्तन करते हुए वह सुर अपने स्थान पर चला गया। उपसर्ग को गया हुआ जानकर कामदेव भी बन्धन से मुक्त मनुष्य की तरह निवृति को प्राप्त हुआ। उसने चिन्तन किया कि मैं निश्चय ही सुदर्शन आदि के समान धन्य हूँ, क्योंकि गाढ़ उपसर्ग आने पर भी मैंने अपने लिये हुए व्रत को नहीं छोड़ा। प्रातःकाल प्रतिज्ञा पूर्ण होने पर उसने पौषध को पारा। उत्सव में उत्सव की तरह उसने जिन का आगमन सुना। फिर प्रभु के समवसरण में उसी समय चला गया। क्यों न हो-

यदिष्टदर्शनोत्कण्ठा दुर्द्धरा सिन्धुपूरवत् ।

इष्ट व्यक्ति के दर्शन की उत्कण्ठा नदी के पूर की तरह होती है, जो कहीं भी नहीं रूकती।

प्रभु को नमन करके प्रीतिपूर्वक उपासना करने के लिए वह बैठ गया अत्यधिक अभीष्ट वस्तु चिरकाल बाद प्राप्त होने से उसे कैसे छोड़ा जा सकता है। स्वामी ने कहा-हे देवानुप्रिय! अर्द्धरात्रि में तुम्हें दारुण उपसर्ग प्राप्त हुआ, पर तुमने उसे सम्यग् रीति से सहन किया। उसने भी कहा-भगवान्! इसमें भी आपकी कृपा ही कारण है। अन्यथा उनको सहने में मैं बिचारा क्या कर सकता था। स्वामी ने कहा-हे भद्र! तुम धन्य हो! तुमने भव समुद्र का पार पा लिया है, क्योंकि निर्ग्रन्थ प्रवचन में तुम्हारी इस प्रकार की प्रतिपत्ति है। स्वयं भगवान महावीर द्वारा प्रशंसित वह परमानन्द धारण करता हुआ वन्दनाकर घर चला गया।

भगवान ने साधु-साध्वियों को शिक्षा देने के लिए उन्हें बुलाकर कमल जैसी सुकुमार वाणी में कहा-हे साधु-साध्वियाँ यदि गृहस्थ भी प्राणों को तृणवत् मानकर दुष्कर उपसर्गों को सहन करते हैं, तो आप तो श्रुत-अध्ययन से भावित हैं। आपके द्वारा क्यों नहीं सहन किया जाये! उन्होंने भी भगवान के इन वचनों को सम्यक् प्रकार से स्वीकार किया।

फिर कामदेव श्रावक ने भावना भाते हुए श्रावक की ग्यारहवीं प्रतिमा को ग्रहण किया। निरन्तर तप से तप्त होते हुए ध्यान में रहते हुए कामदेव श्रावक इतना कृश हो गया कि उसके शरीर पर केवल चर्म व अस्थि ही शेष रह गयी। इस प्रकार उपासक पर्याय को निरतिचारपूर्वक बीस वर्ष तक पालकर एक मास की संलेखना धारण की। आलोचना प्रतिक्रमण द्वारा भाव शल्य से रहित होकर समाधि रूपी अमृत का पान करते हुए उस कालज्ञ ने काल प्राप्त किया। सौधर्म देवलोक के अरुणाभ विमान में चार पल्योपम की आयु वाला महाऋद्धि संपन्न देव हुआ। पुनः महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेकर कर्म रज से विमुक्त होकर अपुनर्भव रूप मोक्ष को प्राप्त करेगा।

इस प्रकार कामदेव के समान जो धीर-पुरुष कठिनाई से तैरने योग्य दुःख सागर में गिर पड़ने पर भी पौषध व्रत का उच्च भावों के साथ पालन करते है, वे शिव वधू को अपने वश में कर लेते है।

इस प्रकार पौषधव्रत में कामदेव की कथा संपन्न हुई।

अब अतिथि संविभाग व्रत पर मूलदेव की कथा को कहते है-

।। मूलदेव की कथा ।।

गोड़ नामक एक देश था, जो स्वर्ग की नकल की हुई पृथ्वी की तरह शोभित था। उस राज्य को देखकर ही

ऐसा लगता था, मानो यहाँ के लोग स्वभाव से ही धर्म श्रद्धालु हैं। वहाँ पाटलि के पुष्प के समान पाटलिपुत्र नामका नगर था, जो स्निग्ध वर्ण वाला, महा प्रसन्नता से युक्त सदा भंवरे की प्रियता को प्राप्त करने वाला था। वहाँ शंख से उज्जवल यश वाले शंखधवल नगर में कोई नया राजा हुआ। सर्व स्त्रियों में शिरोमणि जयलक्ष्मी के समान अंगवाली उसकी जयलक्ष्मी नामकी अग्रमहिषी थी। बहत्तर कला से युक्त शास्त्रों के गूढ़ रहस्यों को जानने के कौशल से उज्ज्वल बत्तीस लक्षणों से युक्त **मूलदेव** नामका पुत्र था। वह धूर्तविद्या में कुशल, दीन तथा अनाथों के अनुकुल, कूटनीति में धृष्ट, वीरचर्या में साहसी, साधुओं के बीच महासज्जन, तस्करों में महा-तस्कर, कुटिल लोगों में महा कुटिल व सरल आत्माओं के साथ सरल था। सैनिकों के समूह के बीच सैनिक, और कायरों में कायर, पण्डितों में पण्डित, शिकारियों में शिकारी, मूर्खों में मूर्ख, जुआरियों में जुआरी, मान्त्रिकों में मान्त्रिक था। इस प्रकार वर्षा से गिरते हुए जल की तरह विभिन्न पात्रों में तदनुरूप आकार धारण कर लेता था। विचित्र कोतूहल से युक्त सर्वांगीण गुण समूह से युक्त होने से न तो उसे कोई अप्रिय था, न वह किसी को अप्रिय था। इन गुणों की खान होने पर भी चन्द्रमा में कलंक की तरह **मूलदेव** को जुए में अति आसक्ति थी। द्यूत के व्यसन में आसक्त होकर वह राज्य-क्रियाओं में भी रूचि नहीं लेता था। यह जानकर राजा ने उसे अपने पास बुलाकर शिक्षा दी-वत्स! पूर्व में भी तीन खण्ड के अधिपति राजा नल ने अन्तःपुर सहित अपने विशाल राज्य को जुए में हार दिया था। शिकारी की तरह वन-वन भटकते हुए उसने दधिपर्ण राजा के यहाँ सूपकार का कार्य भी किया। इस जुगार के प्रसाद से अर्जुन, भीमादि के सदृश भाइयों के होते हुए भी राजा युधिष्ठिर राज्य भ्रष्ट होकर श्रीकृष्ण की सन्निधि में गये। भारत की योग्यता के शिरोमणि जुए से भ्रष्ट राज्य वाले राजा युधिष्ठिर विराट राजा के पास कङ्क भट्ट के रूप में रहे। उनका भाई भीम रसोईये के रूप में, अर्जुन चारण के रूप में, **सहदेव** दूध के अधिकारी के रूप में तथा नकुल अश्व को दमन करने वाला बना। दुःख के स्थान रूप द्यूत-व्यसन में आसक्त चित्त वालों की यह प्रत्यक्ष कथा है, तो दूसरों का तो कहना ही क्या! अतः हे वत्स! इस जुए का सर्वथा त्याग कर दो। यह इसलोक व परलोक में केवल दुःख का हेतु है। इस प्रकार शिक्षा देने पर भी उसने जुए का परित्याग नहीं किया। **कामिनी में रत कामुक की तरह वह जुए में एकान्त रूप से लीन हो गया।** तब राजा ने अभीष्ट होते हुए भी पुत्र को निकाल दिया। कहा भी है-

सुवर्णेनापि किं तेन कर्णौ त्रोटयतीह यत् ।

ऐसे स्वर्ण से क्या जो कानों को चोट पहुँचाता हो?

उधर अवन्ती देश के मस्तक को अलंकृत करने वाली स्वर्गपुरी की सखी के समान **उज्जयिनी** नाम की नगरी थी। वहाँ शत्रु रूपी हाथियों के बीच केशरी के समान जितशत्रु राजा राज्य करता था। वह गुणरत्नों की खान था तथा प्रार्थियों के लिए कल्पवृक्ष के समान था। वहाँ **देवदत्ता** नामकी एक वेश्या थी। वह कला गुण की परीक्षा में साक्षात् वागेश्वरी थी। वह रूपलता नारियों में अग्रिमपंक्ति मे थी। लावण्य रूपी समुद्र की तरंगिणी थी। वह मीनध्वज (कामदेव) राजा की राजधानी के समान चलती थी। स्वेच्छापूर्वक चलते हुए जिसके कटाक्ष देखते ही मन हर लेते थे। कामियों द्वारा उसको देखते ही उनके चित्त का हरण हो जाता था। रति-सुख की निधि स्वरूप उसका क्या वर्णन किया जाय? तीन जगत् में कोई भी वस्तु उसकी उपमा के लायक नहीं थी, बल्कि वह सब की उपमा स्वरूप थी।

वहीं पर **अचल** नाम का महाऋद्धिवान सार्थवाह भी रहता था। वह निस्पृह होकर प्रार्थियों को त्यागपूर्वक चिन्तित रत्न आदि देता था। उसके यहाँ सूर्यकान्त, चन्द्रकान्त आदि रत्नों के ढेर अपनी-अपनी ऊंचाइयों से रोहिणी पर्वत से स्पर्द्धा करते थे। संपूर्ण रूप, लावण्य, सौभाग्य आदि गुणों से ग्रहित अंग वाला यह मदन देव के समान कामिनियों द्वारा प्रार्थित रहता था।

उधर पिता द्वारा जुए के दोष से निर्वासित नृप का पुत्र **मूलदेव** पृथ्वी पर घूमता हुआ वहाँ आया। गुलिका के प्रयोग से भाट की तरह अन्य रूप वाले कुब्जवामन का रूप धारण कर लिया। विविध विनोदों द्वारा नगरी के जनों को विस्मित करते हुए उस धूर्तराज ने ख्याति को प्राप्त किया।

वह **देवदत्ता** अपने गुणों के उत्कर्ष से गर्वित होती हुई पुरुषों में द्वेष रखती थी। वह मानती थी कि पुरुष निर्गुण होते है। उसके बारे में सुनकर सद्गुण के स्थान रूपी **मूलदेव** ने विचार किया कि अहो! स्त्री होते हुए भी इतना गर्व? यह तो कौतुक ही है। उसके अहंकार को न सह सकने के कारण **मूलदेव** ने **देवदत्ता** के घर के पास जाकर गान्धर्व गीत गाना शुरु कर दिया। उसके सुस्वर की अतिशयता से वहाँ मार्ग पर चलते-फिरते लोग राजाज्ञा को धारण किये हुए की तरह स्थिर हो गये। उसके गीत से हत चित्त वाले सभी जन मन्त्र से स्तम्भित की तरह बिना स्पन्दन किये अपने-अपने कार्यों को भूलकर स्तब्ध हो गये। वातायन में स्थित **देवदत्ता** ने भी उसके गीत को सुना। सुनकर विचार किया कि क्या यह देवलोक से गान्धर्व अवतीर्ण हुआ है। अहो! इसकी वाणी में सुन्दरता ही नहीं, अपितु स्वर की परिपक्वता भी है। अहो! सप्तस्वरों के अलग-अलग रूप रागमय है। अहो! इसके स्वरों का आरोह-अवरोह कितना सुन्दर है! इस प्रकार उसमें आसक्त होती हुई उसे अपने घर पर बुलाने के लिए पहले हंसिका को भेजा, बाद में चंद्रिका को भी भेजा। वे दोनो दासियाँ क्रमशः **मूलदेव** के पास आयीं। अवसर देखकर उसे पाने के लिए उसके सामने खड़ी हो गयीं। तब उत्सुकता के कारण देवदत्त ने पुनः क्रोधित होकर कहा-हे सखी! हे संगमिके! लगता है तुम्हें वहाँ बैठने के लिए आसन दे दिया गया है। शीघ्र ही उस गवेयों के शिरोमणि को लेकर आओ। उसके इस प्रकार कहने पर वे दोनों शीघ्र ही **मूलदेव** के पास आयीं। तब **मूलदेव** ने गाने से विराम लिया। उसने कहा-हे गवैये! हमारी स्वामिनी आपको बुला रही हैं। यह पहली दासी भी आप ही को बुलाने के लिए भेजी थी। अतः प्रसन्नता पूर्वक पधारें, जिससे हमारी स्वामिनी भी खुश हो जाय। उसकी बात को अनसुनी करते हुए **मूलदेव** ने कोई उत्तर नहीं दिया। जब उन्होंने दो बार-तीन बार कहा-तो उसने पूछा-भद्रे! तुम्हारी स्वामिनी कौन है? दासी ने कहा-**देवदत्ता** नामक वेश्या हमारी स्वामिनी है। उसने कहा-अगर वेश्या है, तो फिर और कुछ बात मत करना। वेश्या तो सोचती कुछ है, कहती कुछ है और करती कुछ अन्य है। उसके तीन प्रकार की परिणति होने से कौन उस पर अनुरक्त होवे? किसी ने ठीक ही कहा है-

को हि वेश्यासु रज्यते ।

वेश्याओं में कौन रक्त होता है ?

जो अखिल नारी जाति में निकृष्ट है तथा करोड़ों जारों से निघृष्ट है। हृदय से दुष्ट व मुख पर मीठी वेश्या सज्जनों को अभीष्ट नहीं है। जब वह स्पृहा युक्त नजर डालती है तो कामुक का सर्वस्व ले लेती है, यहाँ तक कि वस्त्र भी नहीं छोड़ती। वेश्या धनानुरागिणी होती है गुणानुरागिणी नहीं। अगर कुष्ठीपुरुष भी धनवान होता है, तो उसको मदन देव के समान लगता है और धनहीन कामदेव भी उसको कुष्ठी के समान लगता है। हे कुब्जा दासी! हमारे साथ तो वेश्याओं का वैर है। क्योंकि वेश्या धन चाहती है, जो कि हमारे पास नहीं है।

यह सुनकर उस कुबड़ी दासी ने वाणीकुशलता के साथ कहा-तत्त्वविद होते हुए भी आपने बिना विचारे कथन किया है। कहा भी गया है-

श्रीखण्डैरण्डयोः काष्टं फलं तालरसालयोः ।

क्षीरं सुरभिरासभ्योगिरीथः परमन्तरम् ॥

चन्दन व एरण्ड की लकड़ी में, ताल व रसाल वृक्ष के फलों में, गाय व गधेड़ी के दूध में समान तत्त्व होते हुए भी महान अन्तर होता है।

अतः सिर्फ वेश्या नाम भर होने से आप मत डरें। हे गुणधारी! पहले हमारी स्वामिनी के गुणों व अवगुणों को जाने। अतः वहाँ आने की हमारी प्रार्थना को आप मान्य करें। इस प्रकार चाटुकारिता से बोलती हुई उसके पैरों पर गिर पड़ी। मूलदेव ने अपनी कला-निष्णात के द्वारा उसकी पीठ के कूबड़े स्थान को सीधा करने के लिए मुट्ठी का प्रहार किया। प्रत्यंचा रहित धनुष की तरह तत्क्षण वह कुब्जा सरल आकृति वाली हो गयी। तब उसके उपकार से भार भूत अंगवाली वह दासी आदरपूर्वक अनुरोध करके हर्ष युक्त होकर उस गायक को घर में ले गयी।

देवदत्ता वेश्या भी उसको देखकर आश्चर्य चकित हो गयी। उसने स्वयं आगे बढ़कर स्वागत किया। गुणी किसकी पूजा के योग्य नहीं होता? सागर से वियुक्त चन्द्रमा को शिव ने अपने सिर पर धारण किया। गुणी व्यक्ति कहीं भी चला जाय, उसे सिर पर ही बिठाया जाता है। रोहण पर्वत से भ्रष्ट रत्न विमल गुणों द्वारा राजाओं के मुकुटों के अग्रभाग में धारण किये जाते हैं।

देवदत्ता वेश्या ने दासी से कहा-हे कुब्जा! तुम इस प्रकार कैसे हो गयी? उसने भी विस्फारित नेत्रों से उस गायक का चमत्कार बताया। तब वह गणिका उसके कौशल को देखकर विशेष रूप से चमत्कृत हो गयी। तब उससे वार्त्तालाप रूपी सुधापान करने लगी। इसी बीच वहाँ वीणा बजाने में प्रवीण एक वीणा वादक आया। उसने देवदत्ता के सामने वीणा बजायी। नाट्य शास्त्र में कही हुई भंगियों के द्वारा वीणा बजाते हुए सुनकर देवदत्ता ने भी विस्मित होते हुए उसकी प्रशंसा की। मूलदेव ने कानों को बंदकर इस प्रकार कहा-जो इस प्रकार के स्वर को सुनते है, वे वज्रकर्ण वाले हैं।

यह सुनकर वह वीणावादक ईर्ष्यापूर्वक हंसते हुए बोला-हे भ्रातः! इस वीणा में अथवा वीणावादक में क्या दोष है? जरा यह तो बताओ। उसने कहा-हाँ! है। तुम्हारे इस तन्त्री दण्ड में, इस वीणा में एक छोटा सा कठोर बीज रहा हुआ है। हे वीणावादक! अब कहो! क्या कहते हो?

वीणावादक ने वह वीणा कुब्जा दासी को दी और कहा-दिखाओ। मूलदेव, जो कि ज्ञाता था, उसने वीणा लेकर देखी। उस वीणा में कहीं एक स्थान पर रहे हुए उस बीज को दैवज्ञ की तरह देखा। फिर मान्त्रिक की तरह आकर्षित करने के समान दण्ड से तन्त्र को सूत्र रहित करके उस सूक्ष्म बीज को सूक्ष्म दृष्टि से निकाल कर दिखाया। फिर अपने पास रहे हुए सूत्र से वीणा को सज्जित करके बीज रहित उस वीणा को नारद की महती वीणा की तरह बजाया। उस वीणा ध्वनि को सुनते ही सभी जन सुधा कुण्ड में सुखमय डुबकी लगाने के समान हो गये।

तब देवदत्ता ने कहा-अहो! आप इस पृथ्वी पर अद्‌भुत है। निश्चय ही आप नाट्य वेद के छिपे हुए रूप में सुष्टा है। वीणावादक ने भी अंजलिपूर्वक नमस्कार करते हुए कहा-हे वीणाचार्य! आप अभी मेरा शिष्यत्व स्वीकार कीजिये। उस धूर्त्तराज ने कहा-मैं इतना अच्छा नहीं जानता हूँ। बल्कि विक्रमसेन नामके कलाचार्य हैं। काश्मीर में भारती की तरह पाटलीपुत्र में उनका निवास है। मैं और मूलदेव उनके अन्तेवासी शिष्य थे।

उसी समय विश्वभूति नामक नाट्य कलागुरु आये। सभी ने उनकी उपाध्याय के समान पूजा की। तब मठ में रहे हुए शिष्यो की तरह निःशंक होकर प्रत्यूत्पन्न मति वाले धूर्त्तराज के द्वारा पूछे जाने पर भरत प्रणीत नाट्य शास्त्र आदि तत्क्षण बताया। तीन-चार रहस्य की बातें पूछने पर उसने कहना आरम्भ किया। परंतु धूर्तराज के मार्मिक प्रश्न पूछने पर शीघ्र ही कर्क सक्रान्ति के सूर्य के समान वे निरुत्तर हो गये। लज्जित होकर तिरस्कार के भय से उत्तेजित होकर "अभी आता हूँ" ऐसा कहकर विश्वभूति शीघ्रता से चला गया।

तब लक्षपाक तेल लेकर मालिश करने के लिए एक अंगमर्दक देवदत्ता के पास आया। मूलदेव ने उससे कहा-लाओ! मैं मालिश करुँगा। देवदत्ता ने साश्चर्य पूछा-क्या आप यह भी जानते हैं? उसने कहा-मैं मालिश के जानकार व्यक्ति के पास बैठता था। अतः हे सुन्दर भौंहोवाली। आज मालिश करने के बाद पता लगेगा कि मुझे

आता है या नहीं? फिर उसने अर्द्धपल(चार कर्ष भार) तेल लेकर उसके संपूर्ण शरीर में तेल लगाकर मर्दन किया। लोम आहार की तरह उसके शरीर के रोम-रोम में तेल रमा दिया। उस तेल से शरीर के अंदर गर्मी पैदा न हो जाय। अतः उसके अंगों से सारी गर्मी को पसीने के रूप में क्षणभर में खींच लिया। उस कला के भी उत्कर्षों से देवदत्ता अत्यन्त अनुरक्त हो गयी। उसने विचार किया कि क्या यह संपूर्ण कलाओं के आदि-गुरु है? देव की तरह उसके चरणों में गिरकर उसे एकान्त में ले जाकर प्रेमपूर्वक अंजली बद्ध होकर उसने पूछा-आप या तो कोई देव है या दानव है या फिर विद्यासिद्ध पुरुष है, जो कि कूबड़े के कृत्रिम रूप में है। मैंने आपके गुणों से यह जान लिया है। अतः मुझ पर प्रसन्न होकर शीघ्र ही अपना निजी रूप प्रकाशित करें, ताकि उसे देखकर मेरी दृष्टि की निर्मिति सफल हो सके। उस वेश्या के अत्यधिक आग्रह करने पर उस गुलिका को दूरकर देवों को भी जीतने वाले सोन्दर्य युक्त अपने निज रूप को प्रकाशित किया। उस सद्भाव युक्त प्रेमशालिनी मानवी के आगे कुछ भी न छिपाते हुए अपना संपूर्ण वृतान्त शुरु से लेकर अब तक का कहा। तब देवदत्ता ने कान्ति, प्रसक्ति, माहात्म्य, कला आदि अनुपम उपमाओं से युक्त मूलदेव को राजपुत्र जानकर उसके गुणों में अनुरक्त होते हुए अपने आप को अर्पण कर दिया व कहा-हे प्राणनाथ! मेरा सर्वस्व प्रेम अब आप पर ही है। ऐसा कहकर मृदु अंगी होते हुए भी उसने उसके संपूर्ण अंगों की स्वयं ही मालिश की। किसीने कहा भी है-

प्रेम्णो किंचिन्न दुःकरम् ।

प्रेम में कुछ भी दुष्कर नहीं है।

फिर दोनों ने स्नान करके एक ही थाल में भोजन ग्रहण किया। दम्पती भाव स्वीकार किये हुए की तरह खूब सुख प्राप्त किया। प्रतिदिन स्नेह मय सुख को उसके साथ प्राप्त करते हुए देवलोक में शचि के साथ इन्द्र की तरह सौख्य अनुभव करने लगा। वहाँ भी वह द्यूत क्रीड़ा करने लगा। देवदत्ता ने भी कहा-आप द्यूत क्रीड़ा को मेरी सौत बना रहे है, अन्य को क्यों नहीं? लेकिन वहाँ पर भी सैकड़ों मन्त्र वादियों से ग्रहित पात्र की तरह मूलदेव ने द्यूत क्रिया नहीं छोड़ी।

एक बार राजा को नृत्य दिखाने जाते हुए देवदत्ता ने मूलदेव को वाद्यन्त्र बजाने के लिए प्रार्थना की। और कहा कि अगर मेरे नाच करने पर आप पटह बजायेंगे, तो मैं उस नाट्य द्वारा रम्भा के नृत्य को भी नीचा कर दूँगी। उसने भी पत्नी के दोहद की तरह उसकी अभीष्ट पूर्ति की। उसके नृत्य से प्रसन्न होकर राजा ने उसे वर माँगने के लिए कहा। उसने भी कहा-देव! आपका यह वर भाण्डागार में रखें। किसी बड़े कार्य में आपसे यह वर प्राप्त कर लूँगी। एक बार राजा ने उसे सार्थाधिपति अचल को दे दी। वह सार्थपति भी द्वितीय कुबेर की तरह लक्ष्मी व प्रीति से युक्त होकर उसके घर आया। देवदत्ता ने भी उसका यथोचित स्वागत किया। अपने घर में आये हुए कल्पवृक्ष को कोई भी अनादर नहीं करता। वह अचल देवदत्ता में अत्यधिक अनुराग वान होकर उसके समान उसके दासों को भी दानादि से संतुष्ट करने लगा। जिस प्रकार देवों ने साढ़े तीनदिन तक अयोध्या में स्वर्णरत्न आदि की वर्षा की थी, उसी प्रकार वह भी उसके घर में स्वर्ण, रत्न, वस्त्र आदि की नित्य वर्षा करने लगा। फिर भी देवदत्ता गुणानुरागी दृष्टि वाली होने से अचल के साथ कृत्रिम स्नेहपूर्वक नाना प्रकार के चित्तहारी विनोदों द्वारा रमण करती थी। पर मूलदेव के साथ आन्तरिक स्नेह से युक्त होकर अन्दर जाकर रमण करती थी, मानो वह अचल को जानती ही न हो।

एक बार उसके पास रहनेवाली उसकी माँ ने कहा-पुत्री! यह विरुद्ध कार्य मत करो। इसे जानकर अचल तुम में दुर्मना हो जायगा। तुम इस प्रकार के जुआरी मूलदेव में क्यों अनुरक्त हो? तथा इष्टि प्रदान करने वाले अचल में क्यों अनुरक्त नहीं होती? मां के इस प्रकार कहे जाने पर भी देवदत्ता ने उसकी शिक्षाओं पर ध्यान नहीं दिया।

तब मां ने उसे समझाने के लिए प्रबोधमय दृष्टान्त दिये। जिस प्रकार इक्षुखण्ड के रस को पीकर नीरस कचरे को फेंक दिया जाता है। आम, केले आदि फलों को खाकर उनके छिलके फेंक दिये जाते है। अलते से रंग लेकर उसकी रंगहीन पंखुडियों को फेंक दिया जाता है। देवदत्ता के सम्मुख माँ द्वारा ये दृष्टान्त रखे जाने पर भी उसने अवहेलना की। उसने माँ से कहा-इस प्रकार क्या कहना चाहती हो? उसने कहा-पुत्री! तुम अपने आप को पण्डिता मानती हुई भी मूर्खा हो, क्योंकि तूम इस प्रकार के विरस को तो योग्य मानती हो और सरस को अयोग्य मानती हो। गरीब कपटी जुआरी पर तो अनुरक्त हो, पर श्रीमंत अचल पर अनुरक्ता नहीं हो। देवदत्ता ने पुनः कहा-हे माता! मैं मूलदेव के गुणों के कारण उस पर अनुरक्त हूँ। माता ने कहा-पुत्री! अचल भी मूलदेव से कम गुणी नहीं है। देवदत्ता ने कहा-माँ! इस प्रकार का अनुचित कथन मत करो। गुणों की मूलभूमि केवल मूलदेव ही है। ऐसा तो कोई देव भी नहीं हो सकता, तो मानव की तो बिसात ही क्या है? माँ ने कहा-ठीक है। अगर तुम्हारा यही आग्रह है, तो फिर परीक्षा कर ली जाय। देवदत्ता ने कहा-हाँ, माँ! तुमने बिल्कुल युक्तियुक्त कथन किया है। मेरे लिये गन्ने मंगवाओ, परीक्षा हो जायगी।

तब माता ने अचल को कहलवाया कि तुम्हारी प्रिया देवदत्ता को गन्ने खाने की इच्छा पैदा हुई है। अतः अभी गन्ने भेजो। माता के इस प्रकार कहलवाते ही उसने गन्नों के बण्डल से भरी भारियों की गाड़ियाँ उसके लिए भिजवा दी। यह देख खुश होते हुए मां ने देवदत्ता से कहा-हे बुद्धिशालिनी! देखो! आश्चर्य युक्त यह उदारता मेरे जामाता की देखो।

देवदत्ता ने क्रोधपूर्वक कहा-मैं क्या हथिनी हूँ, जो कि मेरे सामने गन्नों का ढेर लगा दिया है। अब तुम मूल देव को भी कहो। माता के द्वारा कहलाने पर मूलदेव तुरन्त ही जुए को छोड़कर उठ खड़ा हुआ जो थोड़ा सा द्रव्य जुए में जीता था, उससे अच्छी-अच्छी परीक्षा करके ५-६ इक्षुलता खरीदी। उनके मूलाग्र को हटाया। छुरी से उसे छीलकर दुर्भेद्य ग्रन्थि को काटकर दो-दो अंगुल के अमृत भरे टुकड़ेकर तज, इलायची, तमालपत्र तथा नागकेसर-इन चार रसातिशयकारी श्रेष्ठ द्रव्यों से संस्कृत करके घनसार के अर्क से अधिवासित करके, हाथ से स्पर्श न करना पड़े, अतः एक-एक टूकड़े में एक-एक काँटा लगाकर शकोरे में रखकर दासी के हाथ से उसके पास भेजा।

देवदत्ता ने स्वयं देखकर अपनी माता को दिखाया और कहा-माता! देखो! दोनों में यही अंतर है। तब उसकी माँ चुप होकर क्रोधाग्नि से जलते हुए दुष्ट बुद्धि द्वारा मूलदेव के छिद्रान्वेषण करने लगी।

एक दिन उसकी माता ने अचल सार्थपति से कहा-इसका अनुराग मूलदेव पर है, तुम पर नहीं। तो इसका अपमान करके किसी भी प्रकार इसे यहाँ से निकालो, जिससे देवदत्ता तुम में ही दृढ प्रेम वाली हो जाय। अचल ने जाकर देवदत्ता से कहा-हे वल्लभे! मैं अन्य गाँव जा रहा हूँ। दो-तीन दिन में शीघ्र ही वापस आ जाऊँगा। इस प्रकार छलपूर्वक कहकर वह चला गया। देवदत्ता ने भी हर्षित होते हुए मूलदेव को बुलवाकर स्वेच्छापूर्वक रमण करना शुरु कर दिया।

माता द्वारा बताने पर अचल ने वह सब वृत्त जाना, तो वहाँ आकर अपने सैनिकों द्वारा देवदत्ता के आवास को घेर लिया। फिर स्वयं हाथ में छुरी लेकर प्रवेश किया। मध्य में स्थित मूलदेव की लीला से अनजान बनकर वह वहाँ आया। उसको अचानक आया हुआ देखकर भय से देवदत्ता ने मूलदेव को शीघ्र ही पलंग के नीचे छिपा दिया। अचल भी वहाँ आकर पलंग पर बैठकर देवदत्ता से बोला-हे प्रिय! शकुन की स्खलना से मैं ग्रामान्तर को नहीं जा पाया। इधर-उधर देखकर मूलदेव कहीं भी दिखायी न पड़ने पर उसने सोचा कि मूलदेव पलंग के नीचे ही है, इसमें कोई संशय नहीं है।

अतः उसने शठता पूर्वक कहा-हे प्रिये! मैंने रात्रि में एक दुःस्वप्न देखा। उसने पूछा-प्रिय! किस प्रकार का

देखा? उसने कहा-हे वल्लभे! मैं वहाँ पलंग के मध्य बैठकर संपूर्ण अंगों की मालिश करवाने के बाद मानो नहा रहा हूँ। यह स्वप्न मुझे बींध रहा है। यह दुःस्वप्न अमंगल रूप है। इसका प्रतिघात करने के लिए तुम मुझे यहीं स्नान करवाओ। यह सुनकर उसकी मां शीघ्र ही संपूर्ण स्नान की सामग्री लेकर वहाँ आ गयी। देवदत्ता ने कहा-स्नान पीठ पर विराजें। उसने कहा-हे सुभ्रु! इन तूली के बिस्तर के नाश से मत डरो। मैं इससे भी दुगुने मूल्यवाली तूली से बना हुआ पलंग तुम्हारे लिए संवादित करुँगा, अतः इसकी कंजूसी मत करो।

तब उसने वहीं अभ्यंगादि पूर्वक स्नान करना शुरु किया। उसका नहाया हुआ पानी मूलदेव के सिर पर गिरने से वह बहुत व्यथित हुआ। उसने विचार किया-हाय! आज किस तरह मेरा पराभव हुआ। ठीक ही है-

यद्वा विषयलोलानामनर्थः कोऽत्र दुर्लभः ।

विषयलोलुपी नरों का अनर्थ यहाँ कहाँ दुर्लभ है?

अन्यथा कहाँ तो मैं राजपुत्र और कहाँ यह वणिक्-पुत्र। इस दुर्मति द्वारा भी मुझे नीचा दिखाकर मेरा क्षय किया गया है। इस प्रकार विचार करके उस पलंग के नीचे से ऐसे निकला, मानो साँप अपने बिल से बाहर आया हो। उसके निकलते ही अचल ने अपने हाथ द्वारा साँप के फन को पकड़ने के समान उसकी गरदन पकड़ ली। फिर कहा-हे सभ्य! क्या तुम्हारा यह कार्य साधु है? उसने कहा-नहीं। यह अच्छा नहीं है। महात्माओं द्वारा गर्हित है। तो फिर, हे सर्व-अद्भुत कला के निधि! तुम्हारे साथ क्या किया जाय? मूलदेव ने कहा-जो तुम्हें अच्छा लगे और जो तुम्हारे कुल के लिए उचित हो। तब अचल ने उससे कहा-यह क्या कहते हो? गुणों के सागर होने पर भी दैव के वश से तुमने इस प्रकार का व्यसन प्राप्त किया है। मुझे तुम पर खेद होता है। इसे छोड़ दो, क्योंकि राहु तो दुर्दैव के योग से केवल शिर को ही ग्रसित करता है, पर यह व्यसन तो हजारों हाथों से हमें ग्रसित करता है। हे महात्मन्! तुम मेरी तरफ से मुक्त हो। तुम्हारा कल्याण होवे। अगर कदाचित मैं व्यसन (संकट) को प्राप्त हो जाऊँ, तो तुम भी मेरी रक्षा करना।

उसका वचन स्वीकार करके मूलदेव वहाँ से निकल गया। अपमानित होकर मन में इस प्रकार विचार करने लगा-इस नगर के सौहार्दशाली लोगों को मैं अपमान से मुरझाया हुआ अपना मुख-कमल कैसे दिखाऊँगा? इस प्रकार विचार करके कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य से पराङ्मुख होकर तत्क्षण ही वेण्णातट पुर के लिए रवाना हो गया। देवदत्ता की मां सूर्यास्त से पापिनी की तरह रात्रि में घूमने वाली वधू की तरह मूलदेव के पराभव से अत्यधिक प्रसन्न हुई। उधर देवदत्ता अपने प्राणेश्वर की विडम्बना देखकर उसको वज्रधारी की तरह दृष्टि से भेदती हुई अचल के प्रति क्रोधित हुई। अर्द्ध स्नान कराये हुए अचल को वैसे ही छोड़कर कुपित होती हुई पति को परदेश गया हुआ जानकर शीघ्र ही राजा के पास गयी। राजा ने भी कहा-हे भद्रे! विमना के समान क्यों दिखायी दे रही हो? क्या किसी ने अपमान किया है या फिर इष्ट वियोग से दुःखित हो? उसने कहा-हे देव! नाचते हुए मुझे जब आपने वर दिया था, उस समय मेरे पास एक पटहवादक पुरुष था। हे देव! वह पाटलीपुत्र के राजा का पुत्र मूलदेव था। वह कला-कुल को धारण करने वाला तथा शंख के समान उज्ज्वल यश को धारण करने वाला है। नागरिकों द्वारा गुणी जनों के शिरोमणि रूप से अलंकृत वह अपने अपमान से अन्यत्र कहीं चला गया है। मैं उस गुणों के आश्रयरूप गुणालय में अत्यन्त अनुरक्त हूँ। इस प्रकार वह राजपुत्र अत्यंत गुणी होने पर भी अचल ने साधारण मनुष्य की तरह उसका अपमान किया है। मैं शरीर से उनसे पृथक् हूँ। मेरा मन तो उनके साथ ही है। अतः उनके दुःख से दुःखी होकर मैं ऐसी हो गयी हूँ। राजा ने भी राजपुत्र का अपमान उसके मुख से सुनकर क्रोधित होकर अचल को बुलाकर पूरी घटना पूछी। फिर कहा-क्यों रे! दुष्ट! तुम इस नगर के स्वामी हो। धन के मद से उन्मत्त बनकर अमात्य-आदि को भी नहीं मानते। तुमने जो उस कलानिधि राजपुत्र का अपराध किया है। बिना किसी को कहे स्वयं ही उसे दण्ड

दिया है। इस प्रकार के अपराध के कारण तुम्हारा सर्वस्व हरण करके तुम्हारा वध करना ही दण्ड होगा। राजा के इस प्रकार कहने पर देवदत्ता ने उसे प्राणदान दिलवाया। उसने विचार किया कि इसने भी मूलदेव को जीवन्मुक्त किया था। राजा ने अचल से कहा-तुम्हें आज देवदत्ता के कारण जीवनदान मिला है। लेकिन उस नर-शिरोमणि मूलदेव को लेकर आओ, तो ही इस नगर में प्रवेश करना। वरना इस देश की भूमि पर पाँव मत रखना। युगान्तकारी पवन की तरह राजा के आदेश से अचल भी तत्क्षण चलित हो गया। क्योंकि-

राज्ञामाज्ञाऽति भैरवा ।

राजाओं की आज्ञा अति भयंकर होती है।

अचल ने मूलदेव को सर्वत्र खोजा। पर वह संपदा की तरह निष्पुण्य शाली अचल को कहीं प्राप्त नहीं हुआ। तब अपने सर्वस्व तथा परिवार जनों के साथ वह बाहर ही रह गया। नदी के दूसरे तट से आनेवाले मछुआरों से वह भयभीत होकर सदा मूलदेव के बारे में पूछा करता। देवदत्ता को भी राजा ने उपालम्भ दिया कि तुमने मूलदेव के बारे में हमे पहले क्यों नहीं कहा? अगर तुमने पहले हमें बता दिया होता तो हम मूलदेव को देशादि देकर हमारे पास में ही हम उसे रखते। क्योंकि-

कः कराद्रत्नमुज्झति ।

हाथ से रत्न को कौन छोड़ता है?

देवदत्ता ने कहा-इसी अपाय की आशंका से मैंने आपको नहीं बताया था। हे देव! तब मेरी बुद्धि भ्रष्ट हो गयी थी। फिर देवदत्ता ने राजा को प्रणाम करके उनके पास वर माँगा-देव! अब आगे आप के द्वारा मैं किसी को भी न दी जाऊँ। महाराज ने भी उसको उसका इच्छित वरदान प्रदान किया। क्योंकि-

जायन्ते नाऽन्यथा वाचः कल्पान्तेऽपि यतः सताम् ।

सज्जनों का वचन कल्पान्त काल में भी अन्यथा नहीं होता।

चतूर्थ व्रत को स्वीकृत करने की तरह मूलदेव के सिवाय अन्य किसी भी पुरुष का उसने निषेध कर दिया।

इधर मूलदेव भी ग्राम से ग्रामान्तर चलते हुए क्रमशः तीन दिन जितने समय में पार करने वाली महा अटवी का मुख प्राप्त किया। वह किसी सार्थ को खोजने लगा। उसके पास खाने के लिए पाथेय भी नहीं था। तभी उसने एक मूर्ख ब्राह्मण को आते हुए देखा। उसके हाथ में सत्तु की छोटी सी थैली देखकर उसने सोचा-इसके तथा इसके पाथेय के सम्बल से मैं भी इस अटवी को पार कर लूँगा। अतः उसके पास जाकर कहा-भद्र! बहुत ही अच्छा हुआ। इस मार्ग को पार करने के लिए मुझ अकेले को आपने दो कर दिया। अब हमें श्रम की थकान ज्ञात नहीं होगी। परस्पर बातें करते हुए मार्ग आसानी से पार हो जायगा। द्विज ने कहा-हे महाभाग! तुम कहाँ जाना चाहते हो? मूलदेव ने कहा-मैं वेण्णातट पुर जाऊँगा। उसने भी कहा-मैं विरनिधानक गाँव में जाऊँगा। अतः हे भद्र! इस पूरे जंगल तक हम दोनों का साथ रहेगा। तब उन दोनों ने मार्ग पर चलना शुरु कर दिया। मानो सिद्धान्त में उत्सर्ग व अपवाद मार्ग की संगत हो। सिर पर छतरी होने पर भी सूर्य के ताप से पीड़ित होकर दोनों एक सरोवर देखकर विश्राम के लिए रूक गये। मूलदेव ने वहाँ स्नानकर उस सरोवर का पानी पीकर सरोवर के किनारे वृक्षों की छाया में विश्राम किया। उस निर्लज्ज ब्राह्मण ने सरोवर देखकर सत्तू निकालकर स्वार्थी की तरह अकेले ही खाना शुरु कर दिया। मूलदेव ने सोचा-यह क्षुधा से पीड़ित होने के कारण पहले स्वयं खा रहा है, बाद में मुझे देगा। खाने के बाद थैली का मुँह बाँधते देखकर मूलदेव ने पुनः विचार किया कि यह अभी नहीं तो आगे जाकर मुझे देगा। तब उस ब्राह्मण ने उससे कहा-चलो। अब आगे जाया जाय। वह भी आशा रूपी लाठी के सहारें क्षुधित होने पर भी पथ पर चलने लगा। दूसरे दिन भी उसे दिये बिना ही सत्तू खाने पर वह सोचने लगा-खत्म हो जायगा-इस भय से

आज भी इसने मुझे सत्तू नहीं दिया। प्रातःकाल जरुर देगा। यह देने की भावना का होना निश्चय ही सूदुष्कर है। इस तरह आशा के वशीभूत तीन दिनों में उस अरण्य को पार कर लिया। तब द्विज ने मूलदेव से कहा-भद्र! मैं चलता हूँ। तूम्हारा कल्याण हो। मेरे गाँव का यह मार्ग है।

मूलदेव ने भी कहा-अच्छा! तुम्हारी सहायता से मैंने यह अरण्य पार कर लिया। जैसे कि नाव से महानदी पार की जाती है। मेरा नाम मूलदेव है। मैं वेण्णातट नगर जाऊँगा। कहीं भी सुनो कि मैंने राज्य प्राप्त किया है, तो सुनकर मेरे पास चले आना। हाँ, अपना नाम तो बताओ। उसने कहा-मेरा नाम तो सद्वड है। पर लोग मुझे निर्घृणशर्मा कहते हैं। मूलदेव ने कहा-व्याकरण में स्वर, व्यञ्जन, वर्ग आदि संज्ञा की तरह लोगों द्वारा प्रदत्त तुम्हारा नाम सान्वय है। तुम्हारी इस क्रिया द्वारा मुझे भी इस अर्थ पर विश्वास हो गया है। इस प्रकार हंसीपूर्वक मूलदेव के स्तुति करने पर वह चला गया।

मूलदेव भी चलता हुआ वेण्णातट नगर के पास में एक गाँव में पहुँचा। निर्जन वन में चलते हुए गाँव प्राप्त करने पर उसे ऐसा लगा, मानो समुद्र में द्वीप मिल गया हो। भूख से क्षीण कुक्षिवाला वह राजपुत्र भिक्षा के लिए घूमने लगा। हा! हा! दुर्दशा देखो! दैव के दुर्योग से हरिश्चन्द्र राजा ने भी चण्डाल के घर पर क्या पहले पानी नहीं भरा? घूमते हुए बड़े कष्ट से उसे कुल्माष कहीं से भी प्राप्त हुए। उसके द्वारा प्राणवृत्ति धारण करने के लिए वह जलाशय के समीप गया। तभी उसने एक महासत्त्व-संपन्न मुनि को आते हुए देखा। मास-मासखमण तप की तपस्या से शरीर के कृश होने पर भी उनका ओजस कृश नहीं हुआ था। उसने सोचा-यह गाँव तो कंजूसों की जन्मभूमि है। यहाँ पर भिक्षार्थ घूमते हुए मुनि को क्लेश ही प्राप्त होगा। अतः आज मैं गरीब होते हुए भी साधु को कुल्मास दान से पुण्य श्री युक्त हो जाऊँगा। मुझे ऐसा सुपात्र कहाँ मिलेगा? अतः मुनिराज के निकट जाकर कहा-प्रभो! कृपा करके कुल्मास ग्रहण करके मुझे अनुग्रहित कीजिए। मुनिराज ने उस आहार को द्रव्यादि से शुद्ध जानकर रस गृद्धि से विरक्त होकर शुद्धात्मा से पात्र में ग्रहण किया। मूलदेव ने भी अविछिन्न रूप से संपूर्ण कुल्मास आनन्दपूर्वक मुनि के पात्र में उड़ेल दिये। अपने आपको धन्य मानते हुए वह गाने-नाचने लगा कि धन्य हूँ मैं जो मैंने साधु को पारणे में कुल्मास बहराये। उसके इस प्रकार मूहुर्त्त भर तक गाने को सुनकर उसके भावों से रञ्जित होकर वहाँ रहे हुए देवता ने कहा-हे भद्र! जो भी तुम्हें अभीष्ट हो, वह अर्द्ध श्लोक द्वारा माँग लो। दिव्य आकाशवाणी सुनकर उसने भी मुदित होकर कहा-देवदत्ता वेश्या तथा सहस्र हाथियों से युक्त राज्य मुझे प्राप्त हो। देवता ने भी कहा-हे महाभाग! जो तुम्हें इप्सित है वह अवश्य प्राप्त होगा। शीघ्र ही प्राप्त होगा-इसमें कोई संशय नहीं है। तुम्हारे इस पुण्य वृक्ष का तात्कालिक फल तो राज्यादि की प्राप्ति है तथा आगामी फल स्वर्ग आदि के सुख की प्राप्ति के रूप में फलित होगा।

यह सुनकर अत्यधिक प्रसन्न होता हुआ महामुनि को प्रणाम करके पुनः घूम-घूमकर जो मिला उससे अट्ठम का पारणा किया। फिर वेण्णातट नगर के बाहर पास ही में एक पान्थशाला में जाकर ठहर गया। क्योंकि-

स्थानमस्थानिनां हि सा ।

अस्थानियों का स्थान पांथशाला ही है।

रात्रि के अंतिम प्रहर में उसने एक स्वप्न देखा कि मुख रूपी समुद्र में पूरा चन्द्र-मण्डल प्रवेश कर गया है। उसी धर्मशाला में एक संन्यासी ने भी यही स्वप्न देखा और साथियों को विचार करने के लिए कहा। उन्होंने भी कहा-आज भिक्षा के लिए घूमते हुए तुम्हें गोल चन्द्रमंडल की तरह गुड़ युक्त पूड़ी प्राप्त होगी। यह सुनकर वह हर्ष से फूला न समाया। पर उसने कोटि द्रव्य के समान स्वप्न फल को कोड़ी के समान बना दिया। अतः विचक्षण मूलदेव ने उनको अपना स्वप्न नहीं बताया। नमक की परीक्षा करनेवाला वणिक् क्या रत्न-परीक्षा कर सकता है?

उस कार्पटिक ने किसी घर में पूडी व गुड़ प्राप्त किया। किसी ने ठीक ही कहा है-

विचारानुगुणं प्रायः फलं स्वप्नः प्रयच्छति ।

विचारों के अनुरूप ही प्रायः स्वप्नफल होता है।

मूलदेव विश्रान्तिदायक उद्यान में जाकर पुष्प-चुनना आदि सहायता के द्वारा उस उद्यान के मालिक को खुश किया। फिर उससे कतिपय पुष्प फल आदि प्राप्तकर शुद्ध होकर मंदिर की तरह स्वप्नफल द्रष्टा के घर गया। उसे प्रणाम करके उसके हाथों में सुपुष्प-फल आदि रखकर अपना स्वप्न सुनाया तथा विनयपूर्वक उसका फल पूछा। उसके द्वारा महास्वप्न कहे जाने पर स्वप्नवेदी भी विस्मित हुआ। उसने कहा-वत्स! अच्छा लग्न काल आने पर विद्या की तरह स्वप्नफल कहूँगा। इस प्रकार कहकर स्नान करवाकर नये वस्त्रों को धारण करवाकर चिरकाल से आये हुए प्रिय अतिथि की तरह आदरपूर्वक उसे खाना खिलाया। अपनी कन्या उसे देने के लिए समीप लेकर आया, मानो सौत की तरह राज्य संपदा को भी चाह रहा हो। **मूलदेव** ने कहा-तात! यह सब क्या है? मुझे बताइये जिससे कि आप मेरे कुल आदि को जाने बिना ही कन्यादान के लिए उद्यत हो गये हैं। उसने कहा-महाभाग! शील, विनय आदि गुणों तथा इनकी सहचरी क्रियाओं ने तुम्हारा कुल बता दिया है। इस प्रकार उसे समझाकर शीघ्र ही अपनी कन्या का विवाह उसके साथ कर दिया। कहा भी गया है-

बलादप्युपसर्प्पन्ति पुंसः पुण्योदये श्रियः ।

पुरुष का पुण्योदय होने पर ऋद्धि सिद्धि जबरन पास में चली आती हैं।

फिर उसने दिव्य ज्ञानी की तरह स्वप्नफल कहा-सात दिन के अन्दर-अन्दर तुम्हें यहाँ पर ही राज्य की प्राप्ति होगी। देवता वाक्य की सत्यता बतानेवाला स्वप्नार्थ जानकर वह प्रसन्न हुआ। खोये हुए राज्य मार्ग को खोजने की तरह वह वहीं रहा। पाँचवें दिन पुण्य के द्वारा पुकारा जाता हुआ वह बाहर वन में गया। मार्गश्रम से थके हुए पथिक की तरह वह चम्पक वृक्ष के नीचे सो गया। उसी समय वहाँ का निष्पुत्र राजा मृत्यु को प्राप्त हो चुका था। भाई रहित बहन की तरह राज्यश्री निरालम्ब हो गयी। मन्त्रियों द्वारा राज्य के योग्य पुरुष को पाने के लिए हाथी, घोड़ा छत्र, चामर तथा स्वर्णकलश-इन पाँच देवाधिष्ठित मंगलो को फिराना शुरु किया। वे पूरी नगरी में संचरण करने लगे। एक विदेशी मनुष्य को श्री युक्त देखा। राज्य के योग्य उस प्रकार के उस मनुष्य को जानकर वे पाँचों मंगल नगर से बाहर निकलते हुए **मूलदेव** के पास आये। गजराज उसे देखकर आषाढ़ के मेघ की तरह गरजा। मानो लोगों को कह रहा हो कि यह पुरुष राज्य के योग्य है।

घोड़े ने भी हिनहिनाते हुए मानो अपनी सहमति प्रकट की हो-गजराज! तुमने बहुत अच्छा राजपात्र निवेदन किया।

छत्र की बाँधी हुई डोरियाँ अपने आप टूट गयी तथा छत्र विस्तार युक्त होकर राजश्री के मूलचिह्न की तरह उसके सिर पर जाकर स्थित हो गया।

पुरोहित की तरह स्वर्ण कलश उस पर अर्घ्य चढ़ाने लगा।

पंख की तरह चामर अपने आप डोलने लगे।

मूलदेव जागृत हुआ तथा वह सब देखकर खुश हो गया। गजराज ने उसे अपनी सूँढ से उठाकर अपने कन्धे पर बिठा लिया। स्वामी को प्राप्तकर प्रसन्न होते हुए लोगों ने जय-जयकार की ध्वनि की। राजा के मंगल के लिए नान्दीतूर्य बजाया जाने लगा। नये राजा ने महा-उत्साहपूर्वक पत्तन में प्रवेश किया। जैसे राम ने लंकाधिपति को जीतकर अयोध्या में प्रवेश किया था। मेहमान की तरह उसे ले जाकर अनेक मंगल किये गये। जैसे सिंह गुफा में प्रवेश करता है वैसे ही उसने महल में प्रवेश किया। विपुल लक्ष्मी से युक्त चक्रवर्त्ती की तरह सिंहासन पर आरुढ़

होने पर सामन्तों आदि के साथ सभी ने उसका अभिषेक किया। तब आकाश से देववाणी हुई कि देवों के अनुभाव से यह राजा विक्रमराज के नाम से ख्यात होगा। इन्द्र की आज्ञा की तरह इसकी आज्ञा का जो कोई भी भंग करेगा, उसे वज्र के समान महादण्ड से दण्डित किया जायगा।

यह देव वाणी सुनकर सामन्त सचिव आदि सभी चकित रह गये। सैनिकों के नियम की तरह सभी उसकी आज्ञा के वशवर्त्ती हो गये। मूलदेव परम राज्य तथा विशाल समृद्धि से युक्त होकर भी देवदत्ता के बिना अपने आपको रसरहित काव्य की तरह मानता था। अतः उसने अवन्तीपति के साथ सौहार्द सम्बन्ध बनाया। जिसके द्वारा चतुरता से मेरा कार्य साधा जा सके। फिर निर्घृणशर्मा सद्वड ब्राह्मण को बुलाकर उसकी अदृष्ट सेवा के लिए उसी गाँव को उसे दे दिया।

फिर एक दिन अनगिनत उपहारों को हाथ में देकर दूत को अवन्तीपति की सन्निधि में देवदत्ता को लाने के लिए भेजा। उस दूत ने उज्जयिनीपुरी में जाकर जितशत्रु राजा को उपहार अर्पितकर नमस्कार करके कहा-देव! देवता से प्राप्त वरदान के कारण मूलदेव अब वेण्णातट नगर में विक्रमराज नामक राजा बन गया है। उन्होंने कहलवाया है कि आप भी जानते हैं कि वस्त्र में रही हुई नीली रंग की तरह मेरा देवदत्ता में प्रेम है। अतः उस भामिनी को भेज ने की कृपा करें। उसके बिना यह राज्य संपदा मूलदेव के लिए दुर्भाग्य के समान है।

अवन्तीराज ने दूत से कहा-हे दूत! बस इतनी सी बात है। मैं तो मूलदेव को अपने आधे राज्य का स्वामी मानता हूँ। उस कलानिधि के यहाँ आने का हमें पता ही नहीं चल पाया, यह बात हमें अन्तः शल्य की तरह सदैव दुःख देती है। फिर शीघ्र ही देवदत्ता को बुलाकर राजा ने कहा-हे भद्रे! तुम्हारा मनोरथ रूपी तरु फलों से परिपूर्ण हुआ। मूलदेव देवता के बरदान से वेण्णातट पुरी में राजा बन गया है। उसने तुम्हें बुलाने के लिए अपना विशिष्ट दूत भेजा है।

राजा के आदेश से देवदत्ता मुदित होती हुई अपनी समग्र सामग्री के साथ वेण्णातट पुर गयी। राजा मूलदेव ने भी रति की मूर्त्ति स्वरूपा देवदत्ता का प्रसन्नतापूर्वक नगर प्रवेश करवाया। फिर कहा-हे प्रिये! अब मेरे चित्त में राज्य आया है। तुम्हारे बिना तो मैं चित्त से तो राज्य से परे ही था।

तब धर्म, अर्थ, काम द्वारा परस्पर बिना बाधा के मूलदेव राज्य को शासित करता हुआ पृथ्वी को सुशोभित करने लगा।

एक दिन अचल भी उस राज्य के समीपवर्त्ती दूसरे किनारे से विविध माल से युक्त सागर के महापोत की तरह वहाँ आया। चावल से पूर्ण भरे हुए पात्र की तरह रत्नों से भरा थाल लेकर वह रत्नाचल की तरह अचल विक्रमराज के पास उपस्थित हुआ। देखने मात्र से राजा ने उसको पहचान लिया। मेरा अपकारी और उपकारी यह अचल है। अतः मैं भी इसका उपकार व अपकार दोनों ही प्रतिकारों को करुँगा क्योंकि लोगों में यही रुढि है।

लेकिन अचल ने नहीं पहचाना कि यह राजा वही मूलदेव है। पहचानता भी कैसे? उस गरीब ने तो साम्राज्य संपदा को प्राप्त कर लिया था। उसने राजा को पंचकुल देखकर क्रय शुल्क ग्रहण करने को कहा। पंचकुल का तात्पर्य यह है कि देश से देशान्तर वाणिज्य के लिए जाने पर राजा माल को देखकर शुल्क ग्रहण करता था।

राजा ने कहा-श्रेष्टि! हम स्वयं आयेंगे। उसने भी कहा-मैंने तो कोड़ी की इच्छा की थी, पर मैंने तो रत्न को पा लिया। तब राजा अचल के सार्थ में गया। उसने राज कर्मचारियों को माल का भण्डार दिखाया। राजा ने पूछा-श्रेष्ठि! क्या इतना ही माल है जो तुमने दिखाया है अथवा अन्य भी माल है। पुनः देखकर मुझे अच्छी तरह बताना। झूठ मत बोलना। क्योंकि मेरे राज्य में शुल्क-चोर भी चोरों की तरह निगृहित किये जाते हैं। अचल ने भी कहा-देव! आप मुझे ऐसा क्यों कह रहे हैं? क्या मैं आपके सामने भी अन्यथा कहूँगा? उसके कथन से संतुष्ट हुए की तरह

राजा ने कर-वसूलकों से कहा-इसका आधा भाग इस सत्यवादी श्रेष्ठि से ग्रहण कर लो। लेकिन उससे पहले एक बार पुनः इसके माल का निरीक्षण कर लो। ताकि इसे सत्यवादियों में शिरोमणि करके पट्टबन्ध किया जाये।

तब उन राज-कर्मचारियों द्वारा लकड़ी से तथा पाँवों के प्रहार से शोधन करते हुए उन दक्षों द्वारा उस व्यापारी की शठता को पहचान लिया गया। जहाँ माल रखा हुआ था, उस स्थान में गर्भ गृह खोदने पर क्षणभर में ही असार से सार लाकर राजा को माल का दर्शन कराया। राजा ने अचल से कहा - यही है तुम्हारी सत्यवादिता। बार-बार पूछने पर भी इस महादम्भिक ने नहीं बताया। तब कुपित होते हुए राजा द्वारा आज्ञा दिये जाने पर सैनिकों ने उसे शुल्कचोर रूप से बाहर बाँध दिया। फिर उसे अपने आवास में ले जाकर बन्धन खोलकर पूछा - अचल! क्या मुझे जानते हो? उसने कहा - राजाओं में राजा की तरह शीतल, उग्र प्रतापियों में सूर्य के समान प्रतापी आपको कौन नहीं जानता, राजा ने कहा - चाटु उक्ति कहना बन्द करो। यह बताओ कि तुमने मुझे पहले कभी देखा है या नहीं? स्मरण शक्ति नहीं रहने से कुछ आतुर होकर बोला - नहीं जानता हूँ। तब राजा ने देवदत्ता को बुलाकर उसको दिखाया। वह राजा की तरह ही राजा की सर्व विभागिनी थी। उसने भी उसको देखकर लज्जा नामक भुंजग के दंश से पीड़ित मूर्च्छा की तरह मुँह नीचा करके नजरे झुकालीं।

देवदत्ता ने कहा - खेद है! जानो कि यह राजा मूलदेव है। उस समय तुमने इससे कहा था कि मेरी भी आपत्ति में रक्षा करना। अतः महा अपराध करने पर भी तुमको पकड़कर भी इसने छोड़ दिया है। अतः अपकार व उपकार दोनों का ऋण आज अदा हो गया है।

तब अचल मूलदेव को जानकर शीघ्र उसके पाँवों में गिरकर पूर्व में किये अपराधों की माफी माँगने लगा। उसने राजा को कहा - देव! उज्जयिनी पति ने इसी गुनाह के लिए मुझे अवन्ती से निकाल दिया है। तब कृपालु मूलदेव ने अपने दूत के द्वारा प्रसन्न किये जाने पर अवन्ती-नरेश ने उस वणिक् को अवन्ती में आने दिया।

एक बार महाजन ने आकर नमस्कार करके प्रजानाथ मूलदेव को अपना दुखड़ा बताया - आप जैसे त्राता के होते हुए भी यह पुर एक चोर द्वारा त्रस्त है। जीर्ण वस्त्रों को धारण करने वाला चोर यह सारा कार्य करता है। हे स्वामी! वह खात्री खोदकर हमारे घरों में घुस जाता है। सहस्रों घरों में इस तस्कर ने खोद-खोदकर छेद कर दिये हैं। हे स्वामी! आपके सारे आरक्षक अरक्षक ही साबित हुए हैं। कठिनाई से पकड़ने योग्य वह चोर रात के राक्षस की तरह घूमता है।

राजा ने कहा - हे भद्र! खेद न करें। मैं आप सभी को सुखी करूँगा। शीघ्र ही सभी चोरों को यमपुरी के नागरिक बनाऊँगा। इस प्रकार राजा ने महाजन को समझा-बुझाकर रवाना किया। फिर आरक्षकों को बुलाकर कहा - क्या पुर की रक्षा नहीं करते? उन्होंने भी भयभीत होकर कहा - स्वामी! वह एक ही चोर है। विद्या सिद्ध की तरह अनेक रूप प्रकट करता है। अनेक उपायों द्वारा उसे पकड़ने की कोशिश की गयी। पर जैसे हनुमान राक्षसों के हाथ नहीं आये, वैसे ही यह भी हमारी पकड़ में नहीं आया।

क्रोधित होकर राजा स्वयं पिण्डी भूत अंधकार के समान अंधकार पट से आच्छन्न रात्रि में निकल पड़ा। चोरों के रहने के गुप्त स्थानों को छान मारा। पर चावल रहित खीर की तरह वह कहीं भी दिखायी नहीं दिया। घूमते-घूमते थककर एक खण्डित मन्दिर के अन्दर सिंह की तरह निर्भय होकर धैर्य के साथ राजा सो गया। आधी रात में वहाँ मण्डिक नामक चोर आया। छोटी तलवार हाथ में लिए राक्षस की तरह वह हाथ में कुहाड़ी लिये हुए था। कौन पुरुष यहाँ सोया हुआ है - उसने इस प्रकार राजा से कहा। फिर अपने पाँव से जैसे स्वामी सोये हुए रात के प्रहरियों को हिलाता है वैसे ही उसने राजा को हिलाया। राजा भी उसकी आकृति से उसको चोर जानकर जल्दी से उठा और उसको विश्वास दिलाने के लिए कहा - हे पथिक! मैं संन्यासी हूँ। उसने कहा - भद्र! ठीक है। तुम मेरे साथ

आओ। कल्पवृक्ष की तरह मैं तुम्हारी दरिद्रता को शीघ्र ही हर लूँगा। जिस प्रकार बलि का हनन् करने के लिए विष्णु ने भी याचकता को स्वीकार किया था, उसी प्रकार राजा ने भी उस दस्यु की अनुचरता स्वीकार कर ली। उसने भी क्रुध दैव के रूप में उस राजा को नहीं पहचाना। किसी महा इभ्य कुबेर के समान धनी सेठ के घर में गया। वहाँ सेंध लगाकर उसने संपूर्ण मूल्यवान् पदार्थों की चोरी की। शंख दानव के समान चारों तरफ मुख करके सारी मिल्कत ले ली। फिर बिल्ली द्वारा खीर की रक्षा कराने की तरह उस मूढ़ चित्त वाले चोर ने वह सारा धन उठाकर ले जाने के लिए राजा को दे दिया। उसे उसकी कसौटी पर कसने के लिए उस के वचन से राजा ने भी वह भार उठा लिया। धूर्त्त लूटने की इच्छा से ही पहले मनुष्य को वश में करता है। एक जीर्ण उद्यान में जाकर उसने भूगृह का द्वार खोला। राजा ने भी हरिण का पीछा कर रहे शिकारी की तरह उसमें प्रवेश किया। साक्षात् पाताल कन्या की तरह एक कन्या वहाँ थी जो उसकी बहन थी। नवयौवन के साथ सर्वांग सौभाग्ययुक्त थी। वह मण्डिक के कहने पर कुएँ के निकट कुएँ की मुंडेर पर वध्यभूमि की तरह राजा को बिठाकर उसके पाँव धोने लगी। उसके पाँवों का प्रक्षालन करते हुए उसने उसके लक्षणों को देखा। संपूर्ण अंगों को देखते हुए उसने विचार किया कि क्या यह कामदेव स्वयं है? तब उसमें अनुरक्त होते हुए उसने विचार करके कहा - हे सुभग - प्रमुख! यहाँ लोगों को पैरप्रक्षालन के बहाने से इस खड्डे में गिरा दिया जाता है। तुम तो भद्र आकृति वाले हो, कोई सामान्य पुरुष नहीं हो। अतः शीघ्र ही यहाँ से भाग जाओ। मृत्यु के ग्रास न बनो। उसके कहने पर राजा ने सर्व वृत्त जानकर कि यह यहाँ सभी को वध करने के लिए लाता है। इस प्रकार विचारकर राजा वहाँ से निकल गया। फिर उस पुरुष की रक्षा तथा अपना दोष छिपाने के लिए उस बुद्धिमती स्त्री ने छलपूर्वक क्षण भर बाद कहा - यह भाग गया है। म्यान से तलवार खींचकर मानो प्राणों को अपहरण करने की श्रृंखला की कड़ी हाथ से खींचकर उसे मारने के लिए मण्डिक मृत्यु के दूत की तरह दौड़ा। उस चोर को चोर के समान नजदीक आते हुए देखकर राजा भी चार खम्भों के बीच में से होकर शीघ्र ही दूसरी तरफ निकल गया। दर्प से तथा क्रोध से अंधा होकर उस पत्थर के खम्भे को पुरुष समझकर क्रोधी मण्डिक ने अपने खंग - दण्ड से उसे काट डाला। फिर विजयोन्मत्त होता हुआ चोर अपने स्थान को चला गया। राजा भी चोर की प्राप्ति से प्रसन्न होता हुआ महल लौट आया।

प्रातःकाल राजा उस राज्य शत्रु को देखने के लिए निकला। उसको देखने के लिए इधर-उधर चारों तरफ पैनी दृष्टि घुमायी। उस शठ चोर ने उस जगह कपड़े की दूकान कर ली थी तथा स्वयं दर्जी बनकर पास में छिपी हुई तलवार वाली यष्टि लेकर जासूसी नजरों से सब ओर देख रहा था। वह जंघा, उरु, भुजा व मस्तक रूपी चोरों के बीच कपट प्रवेश से युक्त होकर पगडी बांधने के बहाने पट्टबन्ध को धारण कर रहा था। रात्रि को देखे हुए उस चोर को देखकर राजा ने शीघ्र ही तार्किक के समान उन-उन लक्षणों से अनुमान करके निश्चय कर लिया।

फिर महल में जाकर चिह्न आदि के द्वारा समझाकर राजा ने अपने अनुचरों को उस दर्जी को लाने के लिए भेजा। बुलावे द्वारा उसने भी सोचा कि मेरे द्वारा रात्रि में वह पुरुष नहीं मारा गया था। यह उसीका तुच्छ परिणाम है। वह राजा के महल में आया। राजा ने भी उसका सत्कार किया। चतुर लोग किसी कारण के होने पर बन्दी पर भी प्रसन्न हो जाते हैं। तब राजा ने उनसे कहा - अपनी बहन मुझे दे दो। क्योंकि अन्य किसी को तुम उस कन्या को तो दोगे ही। मेरी बहन कभी भी घर से बाहर नहीं निकली। किसी ने भी उसे नहीं देखा। अतः निश्चय ही यह राजा छलपूर्वक रात में मेरे घर आया था। यह जानकर उसने चतुराई पूर्वक कहा - देव! यह क्या कहा? मेरी बहन ही नहीं, बल्कि मेरा सर्वस्व भी आपका ही है। तब उसी समय उस कन्या की राजा के साथ शादी कर दी। प्राणदान रूप उपकार करने से वह राजा को अति प्रिय थी। फिर राजा ने श्रीकरण अमात्य को कहा, कि बिना विश्वास दिलाये सब कुछ लेना योग्य नहीं है। जैसे - सरोवर से पानी लिया जाता है। वैसे ही राजा ने उसका अखिल द्रव्य किसी-

किसी कार्य के उद्देश्य से मंगवा लिया। फिर राजा ने उसकी बहन से पूछा - देवी! बताओ! अभी भी तुम्हारे भाई के पास कितना धन सञ्चय है? उसने स्पष्ट किया - देव! उसका सर्वस्व लेकर आपने उसे निचोडी हुई इक्षु यष्टि की भाँति कर दिया है। चिरकाल तक चोर को पीड़ित करके राजा ने फिर उसका निग्रह किया। न्याय-निष्ठुर राजा अन्याय को नहीं भूलते। फिर मूलदेव देवराज के ओज की तरह राज्य को निष्कंटक, निरपाय करके नय से उज्ज्वल राज्य का पालन करने लगा।

तेले के उपरान्त भिक्षा प्राप्त होने पर क्षुधा से पीड़ित होने पर भी कुल्मासों के द्वारा जो उसने महात्मा को दान देकर अतिथि संविभाग व्रत का पालन किया, उससे इसी जन्म में वह मूलदेव राजा हुआ। इसलिए हमें सतत अतिथि संविभाग व्रत में यत्न करना चाहिए।

इस प्रकार अतिथिसंविभाग व्रत में मूलदेव की कथा संपूर्ण हुई।।३।।६३।।

अब यतिधर्म कहते हैं -

खंती य मद्दवज्जवमुत्तीतवसंजमे य बोधव्वे ।
सच्चं सोयं अकिंचणं च बंभं च जइधम्मो ॥४॥ (६४)

क्षान्ति-क्षमा। मार्दव-मृदुता। आर्जव-सरलता। मुत्ती-निर्लोभता। तप-अनशन, ऊनोदरी आदि बारह प्रकार के तप। संयम-सतरह प्रकार का है, जो इस प्रकार बताया गया है -

पुढविदगअगणिमारुय वणस्सइ बितिचउपणिंदिअजीवे ।
पेहुप्पेहपमज्जणपरिठवणमणवईकाए ॥१॥ (दशवै. नि. ४६)

अर्थात् सत्तरह प्रकार के संयम के नाम इस प्रकार है -

१. *पृथ्वीकाय संयम,*
२. *अप्काय संयम,*
३. *तेउकाय संयम,*
४. *वायुकाय संयम,*
५. *वनस्पतिकाय संयम,*
६. *दोइंद्रिय संयम,*
७. *तेइन्द्रिय संयम,*
८. *चतुरीन्द्रिय संयम,*
९. *पंचेन्द्रिय संयम,*
१०. *अजीव संयम,*
११. *प्रेक्षा संयम,*
१२. *उपेक्षा संयम,*
१३. *प्रमार्जना संयम,*
१४. *परिस्थापना संयम,*
१५. *मन संयम,*
१६. *वचन संयम,*
१७. *काय संयम*

सत्य - सम्यक् कथन करना। शौच - अव्रत का त्याग। अकिंचन - निष्परिग्रहिता। ब्रह्म - ब्रह्मचर्य। ये सभी यति के धर्म जानने चाहिए।

इस प्रकार गृहस्थ धर्म एवं साधु धर्म रूप दो प्रकार का होते हुए भी दान-शील-तप व भावना के भेद से चार प्रकार का भी कहा गया है। इन चार प्रकार के धर्म की आचरणा करनेवालों की कथाओं को भव्यों के उपकार के लिए यहाँ कहा जाता है।

सबसे पहले दान पर चंदनबाला की कथा कही जाती है -

।। चंदनबाला की कथा ।।

सर्व द्वीपों में प्रथम द्वीप जम्बूद्वीप के भरतवर्ष क्षेत्र में सूर्य की तरह उगता हुआ रङ्ग सहित अंग नामक देश

था। वहाँ पुष्पों की सुरभि से युक्त अथवा पशुओं की समृद्धि से वासित स्निग्ध, मनोहर वर्ण वाली हरिणी के नयनों के समान भूमि वाली चम्पक माला की तरह **चम्पा** नामक नगरी थी। उस नगरी में सैन्य रूपी सागर से युक्त **दधिवाहन** नामक राजा था। जिसका यश - सागर पूरे ब्रह्माण्ड में बुदबुदाता था। उसकी वल्लभा धारिणी, अतुलनीय, अमूल्य, शील का महा अलंकार धारण करने वाली शुद्ध सम्यक्त्व की धारिका थी।

एक दिन उसने रात्रि में सोते हुए एक स्वप्न देखा कि उसके आँगन में एक दिव्य कल्पलता देवलोक से आकर अवतीर्ण हुई। जागृत होकर देवी ने वह स्वप्न अपने पति को बताया। उसने भी स्वप्न - पाठक की तरह एक अति उत्तम पुत्री का लाभ बताया। तब गर्भ का वहन करते हुए रानी धारिणी ने समय आने पर द्वितीया के चन्द्र की तरह शुक्ल पक्षिणी आनन्दकारिणी पुत्री को जन्म दिया। महोत्सव पूर्वक उसका नाम **वसुमती** रखा गया। क्रम से सिंची हुई लता की तरह वह कांति आदि से बढ़ती गयी।

उधर वत्सदेश में कौशाम्बी नाम की नगरी थी। वहाँ शत्रुओं को भय उत्पन्न करनेवाला शतानीक नामक राजा राज्य करता था। कमल के भ्रम से आये हुए भँवरों के समूह की तरह सरोवर रूपी समरांगण में कर रूपी कमल में तलवार रूपी भँवरे शोभित होते थे। चेटक राजा की पुत्री मृगावती उसकी रानी थी। अप्सरा के रूप को तिरस्कृत करनेवाली, सतियों में वह शिरोमणी थी।

एक बार शतानीक कौशाम्बी से निकलकर क्षणों में ही नौका के सैनिकों के साथ सहसा विद्युत्पात की तरह अज्ञात रूप से चम्पा में आ गया। चम्पा का राजा दधिवाहन उसको सहसा आया हुआ देखकर भाग गया। कहा भी गया है -

अपचितः पराक्रान्तः कुर्यात् किं सबलोपि हि ।

दूसरे से आक्रान्त, नाश को प्राप्त सबल भी क्या कर सकता है?

सेना के मध्य में शतानीक ने स्वयं ही जय की घोषणा कर दी। उसके सैनिकों द्वारा चारों ओर से चम्पानगरी लुटी जाने लगी। दधिवाहन की पत्नी धारिणी अपनी पुत्री के साथ पिता के घर की तरफ जाती हुई किसी रथिक के द्वारा पकड़ ली गयी। सेना द्वारा सर्वस्व लूटे जाने पर हर्षित होता हुआ शतानीक अपनी राजधानी आया और अपनी जीत का मंगल उत्सव किया।

रथिक ने तो पृथ्वी पर इन्द्राणी के समान धारिणी को पाकर अपने मित्र आदि से कहा - मैं इसे अपनी प्रिया बनाऊँगा। इसकी पुत्री को बेचकर विपुल धन प्राप्त करुँगा। अहो! मुझे मृत्युलोक में भी स्वर्ग प्राप्त हो गया है। यह सुनकर धारिणी ने विचार किया - मैंने पवित्र कुल में जन्म लिया है। शुद्ध वंश के दधिवाहन राजा की पत्नी हूँ। पर हा! देव! मेरी यह दुःखित अवस्था कैसे हुई? इसके अप्रिय शब्दों रूपी भाले से मैं बिंध गयी हूँ। हे जीव! असमय को जान! क्या दुःख सहने के लिए जिन्दा रहूँ? जिस प्रकार गाय, अश्व, पुरुष व पशु को बार-बार ले जाने वाला यमराज दारु से दुर्मदी बने हुए की तरह तृप्त नहीं होता, उसी प्रकार तपस्या से दुष्कर्म की तरह तथा क्षमा से क्रोध की तरह जाओ-जाओ कहने से यह मेरे द्वारा बलपूर्वक नहीं निकाला जा सकेगा। अपमान व तिरस्कार से पथराये हुए उसने अपने वक्ष में कटार भौंककर अपने प्राण त्याग दिये। धारिणी को मरी हुई देखकर उस रथिक का हृदय काँप उठा। हा! हा! मेरे द्वारा इस महासती को अयुक्त वचन कहा गया।

सत्यो हि शीलभङ्गस्य क्षमन्ते न वचोऽपि हि ।

सत्यवादी के लिए वचन मात्र से शील भंग होना भी असहनीय होता है।

यह सत्य मैंने पहले सुना था, पर आज देखा है। तब वसुमति माता के शोक में विह्वल होकर बार-बार रोती हुई बार-बार मूर्च्छित सी होने लगी। विलाप करने लगी - हा दैव! हा निष्ठुर! मुझ शिशु को भी एक के ऊपर एक

दुःख देते हुए तुम्हें शरम नहीं आती? इतने काल तक तो अनेक भवों को धारण किया। मनुष्य लोक में भी नारकीय दुःखों को देखा। फिर मैं गर्भ में ही क्यों नहीं गल गयी या विलीन हो गयी? अथवा पैदा होते ही जन्म की अनंतगुणी वेदना से क्यों नहीं मर गयी? अथवा झूला झूलते हुए डोरी कटने से मैं क्यों नहीं मरी? आकाश से गिरते हुए को धरती धारण करती है, पर तुम्हारे द्वारा अत्यधिक दुःख दिये जाने पर धरती पर गिरते हुए मुझे धारण करने वाली धारिणी माता भी तुमने छीन ली। तो अब मेरे जीने के लिए बचा ही क्या हैं? इस प्रकार उच्च स्वर में विलाप करती हुई नयनों की अश्रुधारा से मानो माता को पग-पग पर जलांजलि दे रही हो। पग पटक-पटककर चलने से दोनों पाँवों में खून की धाराएँ बहने से संपूर्ण पृथ्वी रक्त से आर्द्र बन गयी। मानो वसुमती के दुःख से धरती की छाती भी फिर गयी हो।

तब वह रथिक उसे सान्त्वना देते हुए समझा बुझाकर अपने लोभ से उसे कौशाम्बी नगरी ले आया। वहाँ पर ऊँचे दाम पर बेचने के लिए उस बेशरम ने वसुमति को चतुष्पथ पर ले जाकर खड़ा कर दिया। उसके भाग्य से उसे सर्वप्रथम धनावह नामक श्रेष्ठि ने देखा। देखते ही विचार किया कि इस प्रकार का रूप तो सुकुल में ही सम्भव है। चंपा नगरी का नाश होने पर अपनों से वियुक्त इस बाला को इस दुरात्मा ने प्राप्त कर लिया है। अपने यूथ से भ्रष्ट शिकारी से डरती हुई हरिणी की तरह यह बालिका मांस के पिण्ड की तरह धरकर यहाँ बेचने के लिए रखी गयी है। यह बिचारी किसी नीच के हाथ न चली जाय, अतः बहुत सारा द्रव्य देकर भी इसे मैं ही खरीदूँगा। खामोश होकर देखती हुई उस बाला को अपनी पुत्री की तरह स्नेह से देखते हुए श्रेष्ठि ने विचार किया कि मेरे घर में रहते हुए कदाचित् इसके अपने इसे मिल जाये। इस प्रकार विचार करके उस रथिक को इच्छित मूल्य देकर पुत्री लाभ से अत्यन्त प्रसन्न होते हुए वसुमती को अपने घर ले गया। श्रेष्ठि ने उससे पूछा - बेटी! बोलो! तुम्हारे पिता कौन है? तुम्हारे स्वजन कहाँ है? मुझसे मत डरो। मैं तुम्हारे पिता के समान हूँ। अयोग्य अवस्था के कारण वह अपना कुल आदि बताने में असमर्थ रही। मुख नीचा करके मौन पूर्वक ही उसने उत्तर दिया। सेठ ने अपनी मूला सेठानी से कहा - प्रिये! यह मेरी पुत्री है। उत्पन्न होते हुए फूल की तरह म्लान हो रही है। अतः इसकी यत्नपूर्वक रक्षा करना। इस प्रकार सेठ के कथन द्वारा वह अपने घर की तरह वहाँ रहने लगी। अमृत रस से भरी हुई आत्मा के समान वह लोगों के नेत्रों को आनन्द देने लगी। शील, मधुर वाणी, विनय आदि के द्वारा चन्दन की तरह सभी को शीतलता प्रदान करने के कारण श्रेष्ठि ने उसका नाम चन्दनबाला रख दिया। देखते ही देखते वह विकारों के रंगस्थान रूप यौवन को प्राप्त हुई। लेकिन उसका यौवन बचपन की तरह निर्विकारी था। अतिशय रूप से युक्त उसके यौवन को देखकर मूला ने मत्सर भाव युक्त होकर विचार किया - पुत्री वत् मानते हुए भी अगर इसके रूप से मोहित होकर श्रेष्ठि इसके साथ विवाह कर लेंगे तो मैं तो जीवित रहते हुए भी मृत के समान हो जाऊँगी। स्वभाव सुलभ तुच्छता तथा ईर्ष्या से मूला अग्नि से जले हुए की तरह दिन रात अंदर ही अंदर जलने लगी।

एकदिन गरमी के ताप से आक्रान्त होकर श्रेष्ठि बाजार से घर आये। भाग्यवशात् उस समय उनके पाँवों को धोने के लिए घर पर कोई भी नहीं था। विनीता होने से चन्दना श्रेष्ठि के मना करने पर भी उनके पाँवों को धोने लगी। ऐसा कार्य कभी नहीं किया हुआ होने से श्रम से निःसहाय होते हुए उसके काले-काले लम्बे बाल निर्बन्ध होकर उसके सिरसे चेहरे पर आकर नीचे लटकने लगे। सेठ ने सोचा इसके निर्मल बाल पृथ्वी पर खराब न हो जाये, अतः सरलता पूर्वक कोमलता से उसके बालों को इकट्ठा करके स्नेह से बाँध दिया। यह देखकर मूला के दिल में शूल चुभ गयी। उसने विचार किया कि मैंने जो सोचा था, वही हो रहा है। श्रेष्ठि ने चन्दना के बालों को संयमित किया है। पर यह सब पिता के लक्षण नहीं है। मुझे चन्दना के प्रति उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। कौन जानता है कि नख से छेदन करनेवाला कभी कुठार से छेदन करने की ओर ले जाय! अभी तो यह कोमल व्याधि है, अतः अभी

ही इसकी चिकित्सा हो जानी चाहिए। बाद में तो असाध्य रोग हो जाने पर किया गया प्रयत्न भी निष्फल हो जायगा। इस प्रकार मन में विचार करके मूला सेठानी बिल्ली की तरह कुबुद्धि से स्थिरता-प्रधान चेष्टा विशेष की रचना करने लगी।

मुहूर्त्त भर विश्राम करके श्रेष्ठि तो घर से चले गये। मूला ने भी नाई को बुलवाकर चन्दना का मुण्डन करवा दिया। पाँवों में बेड़ियाँ डालकर उसे कारावास के समान एक कमरे में बन्द कर दिया। उसके द्वार पर ताला लगाकर अपने दास-दासियों को कहा - अगर किसी ने श्रेष्ठि को चंदना के बारे में बताया, तो उसका भी मैं यही हाल करूँगी।

श्रेष्ठि ने घर आने पर पूछा - चन्दना क्यों नहीं दिखायी दे रही है? पर मूला सेठानी के भय से कोई भी कुछ नहीं बोला। क्योंकि -

कः खलीकुरुते यमम् ।

अर्थात् यम की अवज्ञा कौन करे?

श्रेष्ठि ने भी सोचा - मेरी पुत्री कहीं किसी के साथ ऊपर पढ़ - गुण रही होगी या खेल रही होगी। इस प्रकार श्रेष्ठि ने घर आकर बार-बार सभी से पूछा, पर तीन दिन तक किसी ने भी चन्दना की घटना श्रेष्ठि को नहीं बतायी।

चौथे दिन भी चन्दना के दिखायी न देने पर शंका तथा कोप से आकुल होकर श्रेष्ठि ने परिजनों को कहा - जगत् को आनन्द देने वाली मेरी चन्दना कहाँ है? अगर किसी ने जानते हुए भी नहीं बताया, तो मैं उसका निग्रह करूँगा।

यह सुनकर एक वृद्धा दासी ने विचार किया कि मैंने चिर काल तक जीवन जी लिया। अब मेरी मृत्यु निकट है। जाते हुए प्राणों द्वारा दूसरों का उपकार करके जो निर्मल धर्म व कीर्त्ति को अर्जित करते हैं वे धन्य हैं। अतः मेरे जीवितव्य से यह (चंदना) जीवित रहो। (मेरी मृत्यु हो जाय तो भी नुकशान नहीं, चंदना जीवित रहनी चाहिए।) इस प्रकार विचार करके उसने श्रेष्ठि को मूला के द्वारा चंदना की विडंबना की सारी बातें करके चंदना का कारावास का स्थान दयार्द्र होकर बता दिया। तब व्याकुल होकर श्रेष्ठि ने उसका द्वार खोला। वहाँ उसने नूतन क्षुल्लिका की तरह मुण्डित, सूर्य से मुरझित मालती की तरह क्षुधा-तृषा से म्लान मुखवाली, दुश्मन की तरह बन्दी बनायी हुई, पाँवों में बेड़ी डाली हुई, आँसूओं से भूमि को कर्दम-युक्त करती हुई चन्दना को देखा। आँखों में आँसू भरकर वह दयानिधि चन्दना को आश्वासन बंधाकर उसके लिए भोजन लाने के लिए शीघ्र ही रसोईघर में गया। उसके दुःख से दुःखी बने हुए सेठ को वहाँ कुछ भी वैसा भोज्यपदार्थ दिखायी नहीं दिया। एक सूपड़े में उड़द के बाकले रखे हुए थे। उसे देखकर पुत्री को वह सूप पकड़ाया एवं कहा - वत्से! तुम यह खाओ, तब तक मैं लुहार को लाकर तुम्हारी बेडियाँ कटवाता हूँ। यह कहकर वह घर से निकल गया। चन्दना ने विचार किया - अहो! दैव! राजकुल में जन्म देकर इस प्रकार की दुर्दशा क्यों? नाटक के समान क्षण-क्षण में आपत्तियों का रूप बदलता रहता है। अथवा यह भी आँखों से देखी हुई नष्ट ऋद्धि के समान स्वप्न या इन्द्रजाल है? मेरे कुटुम्ब की दुरवस्था करके फिर मेरी माता से मुझे विलग किया। और अब सर्वदुःखों में चूलिका स्वरूप यह दासी भाव प्राप्त हुआ। इस प्रकार दुःख रूपी समुद्र में मग्न होती हुई, रोते हुए, अश्रु जल से प्लावित मुख द्वारा उसने पुनः विचार किया - अपने घर में तो मैं एकासन के पारणे पर भी भक्तिपूर्वक चतुर्विध संघ को प्रतिलाभित करके फिर खाती थी। पर इस समय तो तेले का पारणा होने पर भी इस दुर्दशा के वश में मजबूर होकर मैं निष्पुण्यशालिनी बिना किसी के संविभाग के पारणा करुँगी। पात्र में दान देने के लिए भूख से आर्त्त होने पर भी अनाकुल होकर दान रूपी श्रद्धा से महाभागी बनी वह

द्वार के अभिमुख देखने लगी।[1]

इधर काफी समय पहले से ही कौशाम्बी में छद्मस्थ चरम तीर्थंकर प्रभु महावीर ने पौष वदी एकम के दिन अभिग्रहों को धारण किया था। वे अभिग्रह इस प्रकार थे -

१. सूपड़े में रखे हुए हों। (द्रव्य से)
२. उड़द के बाकुले हों । (द्रव्य से)
३. देनेवाली स्त्री हो। (क्षेत्र से)
४. एक पाँव देहली के अन्दर हो । (क्षेत्र से)
५. एक पाँव देहली के बाहर हो। (क्षेत्र से)
६. भिक्षा का काल निवृत्त हो गया हो। (काल से)
७. रोती हो
८. राजकन्या हो
९. दासीपने में हो
१०. लोह की शृंखला से बंधे हुए पैर हो
११. मस्तक मुंडित हो
१२. अट्ठम तप हो
१३. वह दान देगी तो पारणा करना

अगर ये १३ ही अभिग्रह चिरकाल बाद भी पूर्ण होंगे, तभी आहार ग्रहण करुँगा, अन्यथा नहीं।

अभिग्रह से अनजान लोगों के घर भिक्षाचर्या के समयोपरान्त प्रभु उच्च नीच घरों में प्रतिदिन घूमने लगे। लोगों द्वारा बहराये जाने पर भी अभिग्रह के कारण प्रभु आहार ग्रहण नहीं करते थे। अतः लोग खेदित होते हुए बार-बार स्वयं की निन्दा करने लगते। इस प्रकार भिक्षा को न ग्रहण करते हुए यम की पीड़ा के समान परीषहों को सहन करते हुए स्वामी ने चार माह बिता दिये थे। एक बार वे भिक्षा के लिए सुगुप्त अमात्य के घर पधारें। अमात्य पत्नी नन्दा ने जंगम कल्पवृक्ष के समान स्वामी को देखा। भाग्य से ही आज मेरे घर वीर स्वामी स्वयं पधारे हैं। इस प्रकार आनन्द से बोलते हुए नन्दा अभ्युत्थान पूर्वक स्वयं अद्‌भुत कल्पनीय आहार लेकर आयी। पर अभिग्रह से नियन्त्रित स्वामी बिना कुछ लिये ही लौट गये। नन्दा भी अत्यधिक दुःखित हुई - हा! मैं निर्भागी हूँ जो देखते-देखते नष्ट निधि की तरह प्रभु का आगमन भी मेरे लिए निष्फल हुआ। उसे विषादग्रस्त बैठी हुई देखकर दासी ने पूछा - देवी! ये देवार्य प्रतिदिन आते हैं और भिक्षा लिये बिना लौट जाते हैं। तब नन्दा ने कहा - निश्चय ही स्वामी के कोई अभिग्रह है। फिर उसने अपने पति अमात्य को सारा वृतान्त बताते हुए कहा - हे कान्त! आपकी इस विशाल बुद्धि का क्या फल है? अगर आप भिक्षा के विघ्न के कारण रूप अभिग्रह को नहीं जान पाते। महामात्य ने भी कहा - देवी! खेद मत करो। स्वामी के अभिग्रह को जानने के लिए उपाय खोजुँगा। वहाँ पर आयी हुई मृगावती की दासी विजया ने उनके वार्त्तालाप को सुनकर अपनी स्वामिनी को निवेदन किया। मृगावती भी शीघ्र ही विषाद रूपी विष से ग्रस्त होते हुए विह्वल हो गयी। डरते हुए राजा ने भी उसके विषाद का कारण पूछा। रानी ने कहा - राजा लोग अपने चरों द्वारा संपूर्ण विश्व के चर-अचर के बारे में जानते हैं, पर आप तो अपने ही पुर के बारे में नहीं जानते। हमारी नगरी में त्रैलोक्य पूजित भगवान् वीर स्वामी पधारें हैं। उनको भिक्षा ग्रहण किये हुए कितना काल हो गया है? क्या इसे आप जानते हैं? राजा ने पूछा - देवी! क्या हमारी नगरी में धनी लोग नहीं हैं? या फिर दुर्भिक्ष काल है, जिससे कि भगवान् को भी भिक्षा का लाभ नहीं होता है! देवी ने कहा - भिक्षा तो प्राप्त होती है, पर उसे भगवान् ग्रहण नहीं करते। घर-घर में प्रवेश करके वे नित्य ही बिना भिक्षा लिये ही लौट जाते हैं, यह आपको ज्ञात हो। आपकी इस विभूति से क्या अमात्य आदि को भी ज्ञान नहीं है कि अभिग्रह अपूर्ण रहने पर ही स्वामी भोजन नहीं करते, पर हम जैसे स्वयं भोजन करते हैं। राजा ने कहा - देवी! आपने अतिसुन्दर कहा - प्रमाद निद्रा में सोया हुआ मैं अब जागृत हो गया हूँ। प्रातः कल किसी भी उपाय के द्वारा प्रभु के अभिग्रह को जान लूँगा। इस प्रकार कहकर अमात्य को बुलाकर सारा वृत कहा। अमात्य ने भी यह सुनकर स्वामी का अभिग्रह जानने के लिए तथ्य का

1. वह कमरा मार्ग के सन्मुख था।

आख्यान करने वाले उपाध्याय को बुलाकर उनसे पूछा। उसने कहा - यतियों का द्रव्य आदि द्वारा अभिग्रह विशाल होता है। बिना किसी अतिशय के स्वामी का अभिग्रह नहीं जाना जा सकता। हे राजेन्द्र! आप नगरी में उद्घोषणा करवा दीजिए कि भगवान को सभी प्रकार की भिक्षा दी जानी चाहिए। राजा ने वैसा ही किया। लोगों ने भी अनेक प्रकार से दान देने की कोशिश की। किसी ने राजा की आज्ञा से, तो किसी ने प्रभु की भक्ति के वश से पर अपूर्ण अभिग्रह के कारण भगवान् ने कुछ भी ग्रहण नहीं किया। सद्ध्यान रूपी अमृत को पीते हुए अम्लान भाव से सदा स्थित थे।

प्रासुक भिक्षा भी स्वामी द्वारा ग्रहण न किये जाने पर अपनी विभूति को निष्फल जानकर सभी पुरीजन खिन्न थे। इसी बीच छः मास में पाँच दिन कम - इतने समय से अभिग्रह धारण किये हुए प्रभु ने उस दिन भिक्षा के लिए धनावह वणिक् के घर में प्रवेश किया। चन्दनबाला भी प्रभु को आया हुआ देखकर अचानक पभनाल की तरह उठ खड़ी हुई। महा पुण्य! अहो पुण्य! इस जगत् में मेरा सबसे अधिक पुण्य है। क्योंकि आज भावी अरिहंत महात्मा मेरे पारणे पर भिक्षा के लिए पधारे हैं। इस प्रकार चिन्तन करती हुई चन्दना उड़द के बाकलों से भरा सूप लेकर चली। देहली के बाहर एक पग निकाला, दूसरा पग देहली के भीतर ही था। पर पृथ्वी से बेड़ी बन्धी होने के कारण वह देहली को उल्लांघकर जाने में सफल नहीं हो पायी। तब आँखों में आँसू भरकर अद्भुत भक्ति से स्वामी को वहीं खड़े होकर कहा - स्वामी यद्यपि यह भोजन आपके योग्य नहीं है, फिर भी हे करुणानिधि! मुझ पर करुणा करके ग्रहण करें। स्वामी ने भी अपने लिये हुए अभिग्रहों को पूर्ण हुआ जानकर श्रेष्ठ हाथों की तरह अपने हाथों को फैलाया। अपने आप को कृतार्थ मानते हुए चन्दना ने आनन्द युक्त होकर सूपड़े से कुल्माषों को प्रभु के कर कमलों में रखा। उसने विचार किया कि मेरी यह विपत्ति भी आज हर्ष का कारण बनी। स्वामी के अभिग्रह की पूर्त्ति कराने के लिए ही मेरी यह स्थिती बनी।

देवों ने भगवान् के अभिग्रह की पूर्त्ति से पारणा हुआ जानकर वहाँ आकर हर्षित होते हुए पाँच दिव्यों की रचना की। वस्त्रों की वर्षा की। आकाश में देव दुंदुभि बजायी। रत्न - वृष्टि, पुष्पवृष्टि तथा सुवासित जल की वृष्टि की। चन्दना की बेड़ी पाँवों की नुपुर बन गयी। सिर में नये केश उग आये। चन्दना के सर्वांगों को दिव्य कान्ति से भूषित किया। वाद्य की ध्वनि की तरह देवों ने उत्कृष्ट नाद किया। हर्ष के उत्कर्ष के वश में होकर देवों ने नृत्य-गीत आदि किये। स्वामी के पारणे को जानकर सौधर्मेन्द्र भी वहाँ आया। तब वहाँ देवों तथा विमानों से स्वर्ग जैसी रचना हो गयी। संपूर्ण नगरी में हर्ष का कोलाहल व्याप्त हो गया कि धनावह श्रेष्ठि के घर पर स्वामी ने पारणा किया है। यह सुनकर श्रेष्ठि भी अपने आपको धन्य मानता हुआ शीघ्र ही अपने घर गया। उस प्रकार की भव्य समृद्धि देखकर वह मानो अमृत के सागर में डुबकी लगाने लगा। देव दुन्दुभि से यह वृतान्त जानकर शतानीक राजा, मृगावती रानी, मंत्री सुगुप्त तथा मन्त्री पत्नी नन्दा भी अपने परिवार व ज्ञातिजन के साथ वहाँ आये।

दधिवाहन राजा का द्वारपाल सम्पुल, जो चंपा के नष्ट हो जाने से मृगावती के पास आकर रहता था, वसुमती को देखने आया। वहाँ आकर व उसको देखकर उसके पैरों में प्रणाम करके मुक्तकण्ठ से रोने लगा। राजा ने कहा - भद्र! इस उत्सव पर शोकयुक्त विलाप क्यों कर रहे हो? उसने भी अश्रुओं से आप्लावित नयनों से राजा को कहा - यह तो राजा दधिवाहन तथा धारिणी की प्राणवल्लभा पुत्री है। आज यह किसी पराये घर में दासी की तरह रह रही है। यही देखकर रोना आ रहा है। राजा ने कहा - भद्र! ऐसा मत बोलो। चन्दना के लिए दुःख न करो। इसी के द्वारा भगवान् महावीर स्वामी के अभिग्रह पूर्ण हुए हैं।

मृगावती ने भी कहा - देव! धारिणी मेरी बहन है। उसकी पुत्री को मेरी पुत्री की तरह मुझे दिलाइये। यह सुनकर राजा ने स्नेहपूर्वक चन्दना को गोद में बिठाया। उसने कहा - मैं श्रेष्ठि की अनुमति से व्रत ग्रहण करुँगी।

कितने दिनों से मैं इस भव के विपाक देख रही हूँ। अतः हे तात! यहाँ क्षण भर भी रहने का मेरा मन नहीं है। राजा ने प्रेमपूर्वक कहा - बेटी! अभी तो तुम नवयौवना हो। यौवन रूपी अरण्य दुर्लंघ्य है तथा मोहराज अति दुर्जय है। इस देव-ऋद्धि की विलासिता को जानकर भव-सुख को भोगकर वय की परिणति होने पर तुम धर्म उद्यम करना। हे वत्से! कहाँ तुम्हारा यह कोमल शरीर और कहाँ दुष्कर तप! तुम्हारा शरीर नवोद्गम किशलय की तरह सूर्य के ताप के समान तप को सहन नहीं कर पायगा। वयोवृद्ध ही परमार्थ को साधने में शक्तिमान होते हैं। पूर्ण चन्द्रमा की किरणें ही जगत को प्रकाशमान करती हैं।

यह सुनकर चन्दना ने चन्दन की उपमा वाले शीतल वचनों से कहा - तात! धर्म का यही काल तीर्थंकरों द्वारा युक्त कहा गया है। जब तक वृद्धावस्था शरीर को बाधित नही करती, जब तक व्याधि नहीं बढ़ती, जब तक इन्द्रियाँ क्षीण नहीं हो जाती, उससे पहले ही धर्म का आचरण करना चाहिए। यौवन के जरा द्वारा क्रियाओं में अक्षम हो जाने से फिर कहाँ तप और कहाँ जप?

यह सब वार्त्तालाप सुनकर शक्रेन्द्र ने शतानीक को कहा - हे राजन्! यह बाला चरम शरीरी है। यह भोग से पराङ्मुखी है। भगवान् वीर स्वामी को केवलज्ञान उत्पन्न होने के बाद यह उनकी प्रथम शिष्या बनेगी। अतः इस अमूल्य रत्न का आप भगवान् की कैवल्य उत्पत्ति होने तक पालन करें। यह रत्न वृष्टि आदि धन इस पुण्य शालिनी महा धनिका का है। यह स्वयं चाहे तो ग्रहण करे अन्यथा जिस किसी को भी यह इच्छानुसार प्रदान कर सकती है। राजा को यह कहकर इन्द्र चंदना की प्रशंसा करके तथा स्वामी को प्रणाम करके देवों के साथ सुरलोक चला गया।

पाँच महीने २५ दिन की तपस्या का पारणा करके धनावह श्रेष्ठि के घर से भगवान् वीर स्वामी चले गये। धनावह ने भी वह धन तथा चन्दना राजा को समर्पित कर दी। अपनी मौसी मृगावती के साथ चन्दना राज भवन में आ गयी। श्रेष्ठि की प्रशंसा करके राजा, अमात्य आदि तथा सभी पौरजन चन्दना की प्रशंसा करते हुए प्रसन्न होकर अपने-अपने घर लौट गये। अनर्थ की मूल भूत मूला को श्रेष्ठि ने अपने घर से निकाल दिया। वह अपध्यान से मरकर नरक गति में उत्पन्न हुई।

कन्या-अन्तःपुर में रहती हुई चन्दना नित्य देव बुद्धि से एकमात्र वीर जिनेश्वर को ध्याती रही। श्रृंगार रहित सदाचार युक्त निर्विकार भाव से वह महासती दान, शील, तप व भाव से धर्म कर्म में परायणा बनी।

स्वामी को कैवल्य - उत्पन्न होने पर सुर-असुर-नरेन्द्र आदि द्वारा निष्क्रमण महोत्सवपूर्वक विधि से उसे दीक्षा दी गयी। छत्तीस हजार आर्याओं की वह प्रवर्तिनी बनी। फिर केवलज्ञान उत्पन्न होने पर सिद्धिसौध को प्राप्त हुई।

अतः विधिज्ञों द्वारा सुविशुद्ध चित्त से विधिपूर्वक सुपात्रदान सदैव दिया जाना चाहिए। जिससे चन्दनबाला की तरह इस भव में ख्याति व अपर भव में मुक्ति प्राप्त करें।

इस प्रकार दान में चन्दनबाला की कथा पूर्ण हुई।

अब शील व्रत पर नर्मदासुन्दरी की कथा को बताते हैं -

।। नर्मदासुन्दरी की कथा ।।

इस जम्बूद्वीप के सुविस्तीर्ण भरत क्षेत्र में नागरिकों के वर्द्धमान गुणों से वर्द्धित वर्द्धमान नामक पुर था। मौर्यवंश के भूषण कुणाल महीपति का पुत्र संप्रति भरत के तीन खण्ड का अधिपति राजा था।

उसी नगर में ऋषभसेन नामक महाऋद्धिवाला सार्थवाह था। नित्य जिनधर्म में रत रहने वाली वीरमति नाम

की उसकी प्रिया थी। उसके **सहदेव** तथा वीरदास दो पुत्र थे। सर्व स्त्री गुणों से सेवित **ऋषिदत्ता** नाम की पुत्री थी। उसके गुणों से आकृष्ट होकर अनेक वर उसके लिए आये। पर अत्यधिक धनवान होने पर भी मिथ्यादृष्टि होने के कारण अपनी पुत्री का विवाह सार्थवाह ने नहीं किया। उसने कहा कि जो कोई जिनधर्म में एकान्त निश्चल श्रद्धा वाला होगा, वह चाहे दरिद्र हो या कुरूप-उसी को अपनी पुत्री दूँगा।

यह वृतान्त सुनकर **कूपचन्द्र** नामक पत्तन से **ऋषिदत्ता** को चाहनेवाला **रुद्रदत्त** नाम का सार्थपति वहाँ आया। अपने मित्र कुबेरदत्त के यहाँ अपना माल रखकर उसकी दूकान में बैठा नगर की श्री को देख रहा था। तभी **ऋषिदत्ता** को अपनी सखियों से घिरी पथ पर जाते देखकर विस्मित होते हुए उसने मित्र से पूछा - क्या यही ऋषभसार्थवाह की आत्मजा है? उसने कहा - हाँ! यही है। पर मुक्ति श्री की तरह यह अनार्हत को नहीं दी जायगी।

तब **ऋषिदत्ता** को पाने की चाह में उसने रोज जैन गुरु की उपासना करनी शरु कर दी। उस **ऋषिदत्ता** में लीन मनवाला होकर कपटपूर्वक श्रावक बनकर सात क्षेत्रों में उसने बहुत धन लगाया। क्यों न हो -

रागान्धः कुरुते न किम्?

अर्थात् राग में अन्धा व्यक्ति क्या नहीं करता?

उसके व्यवहार को देखकर ऋषभदेव अति प्रसन्न हुआ। उसने स्वयमेव उसे कन्या देकर विवाह किया। रुद्रदत्त उसके साथ सुख भोगने लगा। तभी उसे बुलाने के लिए उसके पिता का पत्र आया। पत्र का भावार्थ जानकर श्वसुर को पूछकर अपनी प्रिया **ऋषिदत्ता** के साथ वह **कूपचन्द्र** पत्तन को गया। पिता आदि के द्वारा अभिनंदित वह वहाँ सुख से रहा। कपट पूर्वक अपनाया हुआ धर्म वह थोड़ा-थोड़ा करके छोड़ने लगा। **मिथ्यात्वियों के संसर्ग से ऋषिदत्ता भी मिथ्यादृष्टि बन गयी।** किसी ने ठीक ही कहा है -

स्वर्णमप्यग्निसंसर्गादग्निवज्जायते न किम्?

क्या स्वर्ण भी अग्नि के संसर्ग से अग्नि की तरह नहीं हो जाता?

उसके पिता ने यह सब जानकर संदेश आदि भिजवाना भी छोड़ दिया। परस्पर थोड़ा सा अन्तर होते हुए भी मनों की दूरी के कारण समुद्र पार जितनी दूरी बढ़ गयी। उन दोनों ने स्वेच्छापूर्वक विषयसुख भोगा। एक बार **ऋषिदत्ता** के कामदेव की श्री के समान पुत्र पैदा हुआ। उसका नाम **महेश्वरदत्त** रखा गया। वह नये चन्द्र की तरह वृद्धि को प्राप्त होने लगा। क्रमशः कला-सागर को पार करता हुआ नवयौवन को प्राप्त हुआ।

इधर **वर्द्धमान** नगर में उसका मामा **सहदेव** रहता था। उसकी प्रिया का नाम **सुन्दरी** था। उसने अपनी प्रिया के साथ संसार के सर्वस्व सुख को भोगा। एक बार वह गर्भवती हुई। गर्भ के साथ उसे दोहद भी उत्पन्न हुआ। दोहद पूर्ण न होने के कारण वह दूज के चाँद की तरह पतली हो गयी। चिन्ता ने प्रौढ़ शाकिनी की तरह उसके माँस व खून को सोख लिया। **सहदेव** ने यह स्थिती देख अपनी प्रिया से पूछा - तुम्हारी किस इच्छा की पूर्ति नही हुई? जिससे कि तुम ऐसी हो गयी हो। उसने कहा -प्रिय! मुझे गर्भ के अनुभाव से दोहद उत्पन्न हुआ है कि नर्मदा नदी में जाकर संपूर्ण सामग्री द्वारा आपके साथ जल क्रीड़ा करूँ। इस प्रकार की इच्छा पूरी न होने पर अप्राप्ति से मेरा शरीर कुम्हला रहा है। तब उसने अपनी प्रिया को आश्वासन देकर सारी सामग्री की व्यवस्था की। सैकड़ों वणिक पुत्रों से युक्त महासार्थ तैयार किया। फिर विभिन्न प्रकार का माल लेकर शुभ मुहूर्त्त में अपनी प्रिया के साथ रवाना हुआ। जीतने की इच्छा से जाते हुए राजा की तरह विश्राम ले लेकर प्रयाण करते हुए सैन्य के समान नर्मदा के किनारे सार्थ ने आवास किया। आनंददायक नर्मदा में इन्द्र की तरह अपनी प्रिया के साथ महाऋद्धि पूर्वक मज्जन क्रीड़ा की। उसका दोहद पूर्ण होने की खुशी में वहाँ नर्मदापुर नामक नगर बसांकर अर्हत्चैत्य बनवाया। उस उत्तम पुर के बारे में सुनकर अनेक वणिक् वहाँ आ गये। वहाँ महान लाभ होने से उस नगर की ख्याति चतुर्दिग् में फैल गयी।

सहदेव तथा उसकी प्रिया ने वहाँ अपना मनोरथ सुखपूर्वक पूर्ण किया। फिर उसने आकाश में चमकती दिव्य विद्युत् माला की तरह एक कन्या को जन्म दिया। सहदेव ने पुत्र जन्म की तरह कन्या का जन्मोत्सव किया। अत्यधिक आनन्द प्राप्त होने से उसका नाम नर्मदासुन्दरी रखा। वह क्रम से वर्द्धमान होती हुई कलाब्धि में पारंगत बन गयी। विशेष रूप से वह स्वरमण्डल की विज्ञात्री बनी। यौवन को प्राप्त होकर वह बाला विलासों के समूह रूप मन्दिर में रूप-लावण्य सौभाग्य द्वारा अप्रतिम रूप से ख्यात हुई। उसके अद्‌भुत रूप का श्रवणकर ऋषिदत्ता ने विचार किया कि वह मेरे पुत्र की भार्या कैसे बनेगी? अहो! मेरे अपनों द्वारा मैं अभागिनी त्यागी हुई हूँ। मैंने अर्हत् धर्म रूपी रत्न का त्याग कर दिया है। उतना ही नही, मेरे साथ जिन्होंने बातचीत भी बन्द कर दी है, वे मेरे पुत्र को वैसी कन्या कैसे देंगे? इस प्रकार वह बार-बार दुःखित होकर रोने लगी। उसे देखकर उसके पति ने कहा - मेरे साथ रहते हुए भी तुम्हें क्या दुःख है? प्रिये! बताओ! जिससे मैं तुम्हारा दुःख दूर कर सकूँ। तब उसने पूरी बात बतायी। उसका सारा वृत्त सुनकर उसके पुत्र ने कहा - तात! मुझे माता के पितृगृह में अभी का अभी भेज दीजिए। मैं विनय आदि के द्वारा उन सभी स्वजनों की आराधना करके उस कन्या से विवाह करके माता को सन्तोष प्रदान करूँगा। तब खूब सारा माल देकर एक महासार्थ बनाकर पिता के द्वारा भेजा गया वह मामा के घर आया। अपनी नानी आदि स्वजनों को देखकर वह परितोष को प्राप्त हुआ। घर में आये हुए आगत का स्वागत करना चाहिए - ऐसा विचारकर उन्होंने भी उसका सम्मान किया। उसने अपने विनय आदि से सभी को खुश करके अपने वश में कर लिया। फिर उसने उनको अत्यन्त प्रार्थना की, पर उन्होंने कन्या नहीं दी।

उन्होंने कहा कि तुम्हारे पिता ने तुम्हारी माँ को हमें ठगकर कपटपूर्वक हमसे ग्रहण कर ली। हम ऐसे व्यवहार को देखते हुए तुम्हें अपनी पुत्री कैसे देवें?

कुछ समय बाद कन्या के द्वारा प्रतिबोधित किये जाने पर उसमें धर्म विचार उत्पन्न हुआ। सद्धर्म से भावित आत्मा वाला वह परम श्रावक बन गया। तब उनके द्वारा पुत्री का विवाह उसके साथ कर दिया गया। वह प्रीतिपूर्वक उसके साथ धर्म व काम दोनों साधने लगा।

फिर एक बार वह स्वजनों से पूछकर नर्मदापुर से अपने नगर में आया। माता पिता ने उत्साहपूर्वक उसे अपने घर में प्रवेश कराया। सास-ससुर वर्ग को अपनी उचित प्रतिपत्ति से तथा अपने गुणों रूपी वशीकरण मन्त्र से नर्मदा ने वश में कर लिया। धार्मिक सहचारिणी से अपने आप को धन्य मानते हुए महेश्वरदत्त भी पुनः दृढ़ धर्म से युक्त हो गया। ऋषिदत्ता ने भी पुनः अपने आर्हत्-धर्म को स्वीकार कर लिया। रुद्रदत्त भी धार्मिकों में अग्रिम सत्य श्रावक बन गया।

एक बार नर्मदा विपुल विलास युक्त झुककर दर्पण में मुख देखती हुई खड़ी हुई और गवाक्ष से बिना देखे प्रमादवश उसने पान का रस थुक दिया। वह रस नीचे से जाते हुए एक साधु पर गिरा। कुपित होते हुए साधु ने शाप दिया - जिसने मुझ पर ताम्बूल रस थूका है, वह पापात्मा अपने प्रिय के वियोग का पात्र बनें। साधु के वचन सुनकर उसे संपूर्ण शरीर में भाले के प्रहार जैसा लगा। अति वृद्धा की तरह काँपती हुई नर्मदा सुन्दरी गवाक्ष से शीघ्र ही उतरकर स्वयं की अनेक प्रकार से निंदा करती हुई मुनि को वस्त्र से पोंछकर उनके पाद पक्षों में गिर गयी। अति दीनता से विनयपूर्वक क्षमा माँगकर उसने कहा - हे जगदानन्द! मेरे संसार-सुख का इस प्रकार छेदन न करें। हाय! धिक्कार है मुझ अनार्या को। जो इस प्रकार की क्रिया कर डाली। दुस्सह, रौद्र दुःख सागर में प्रमाद से अपने आप को डुबो दिया। मेरे सारे सुख अभी से ही नष्ट हो गये हैं। प्रभो! मैं पापीष्ठ से भी पापिनी बन गयी हूँ। हे स्वामी! दुःखियों पर तो महर्षि दयावान् होते हैं। अतः हे करुणा सागर! मेरे शाप को दूर कीजिए।

उसे अत्यन्त विलाप करते हुए देखकर अपने विशिष्ट श्रुतज्ञान से जानकर मुनि ने कहा - भद्रे! दुःखी मत

होओ। विलाप मत करो। कोपावेश के वश में होकर मैंने तुम्हें शाप दिया था। तुम्हारे विनय रूपी जल के द्वारा मेरी क्रोधाग्नि अब शान्त हो गयी है। बिना जाने दिया हुआ मेरा शाप तुम्हारा भावी है। हे भद्रे! यह भवान्तर में तुम्हारे द्वारा बाँधे गये निकाचित कर्मों का विपाक है। अतः चिर काल तक प्रिय के वियोग का अनुभव तुम्हें करना ही पड़ेगा। अपने द्वारा कृत कर्म भोगे बिना नहीं छूटते। कहा भी गया है -

हसद्भिर्बध्यते वत्से! पापकर्म यदङ्गिभिः ।
निस्तीर्यते रुदद्भिस्तन्निश्चयोऽत्र न संशयः ॥

हे वत्से! जीवों द्वारा जो पाप कर्म हंस-हंसकर बाँधे जाते हैं, निश्चय ही वे रो-रोकर भोगे जाते हैं। इसमें कोई संशय नहीं है।

अतः परमार्थ को जानकर मुनि को वन्दन करके वह भवन में चली गयी। संपूर्ण वृतान्त पति को रोते हुए बताया। उसने भी आश्वासन देते हुए कहा - देवी! रोती क्यों हो? अशुभ कर्म की शान्ति के लिए जिनपति की अर्चना आदि करो। गुरु के उपदेश की तरह वह भी उसके वचनों को स्वीकार करके वैषयिक सुख को छोड़कर विशेष रूप से धर्म में रत बन गयी।

इस प्रकार समय बीतने लगा। एक बार नर्मदा सुन्दरी का पति अपने मित्रों के साथ गोष्ठी में बैठा था। उसके मित्रों ने उससे कहा - मनुष्यों के वैभव के उपार्जन का काल यौवन होता है। वह यौवन हम में आ चुका है। अतः पिता के अर्थ का भोग करना आर्य लोगों के लिए उचित नहीं है। अतः यवन द्वीप जाकर हम प्रचुर धन का उपार्जन करें तथा स्वेच्छापूर्वक विलास-क्रीड़ा करें। यह सुनकर वह भी तैयार हो गया।

उसने माता-पिता को प्रयत्नपूर्वक समझाकर उस द्वीप के योग्य माल आदि संपूर्ण सामग्री तैयार की। उसने नर्मदा सुन्दरी से कहा - प्रिये! तुम यहीं रहो। मैं समुद्र पार जाऊँगा। तुम्हारा शरीर मार्ग के दुःख को झेलने के लिए अति सुकुमार है। तुम नित्य देव गुरु की उपासना करते हुए सुख को प्राप्त करना। उसने कहा - हे वल्लभ! इस प्रकार के वचन मत बोलो। मैं आपकी विरह व्यथा सहने के लिए यहाँ रुकनेवाली नहीं हूँ। आपके साथ से मैं उस सुखाकर रूप कष्ट को भी सहन कर लूँगी। पर चन्द्रमा की चाँदनी की तरह आप ही का अनुगमन करुँगी।

तब उसको लेकर वह महासार्थ के साथ निकला। समुद्र के पास जाकर सार्थ भी जहाज पर आरुढ़ हुआ। अनुकूल हवा के संयोग से समुद्र में प्रीतिपूर्वक जाते हुए जहाज में किसी ने अति मधुर स्वर में गाना आरंभ किया। यह सुनकर स्वर-लक्षण के मर्म को जाननेवाली नर्मदा प्रसन्न हुई। उसने कहा - हे कान्त! इस गायक की छवि शरीर का वर्ण वृषभ जैसा है। बर्बर देश का निवासी यह साहसी तथा रण में दुर्जय है। इसका वक्षस्थल उन्नत है। मोटे-मोटे हाथ तथा बत्तीस दाँत हैं। इसके उरु में एक श्यामल रेखा है तथा गुप्त स्थान में लाल रंग का मस है। यह सुनकर नर्मदा के पति ने विचार किया कि क्षण भर में ही उसकी प्रिया उस गायक में प्रेममय हो गयी है। निश्चय ही यह इसके साथ रही हुई है, अन्यथा इस प्रकार की बातें कैसे जानती है। निश्चय ही यह तो असती है। इसने दोनों कुलों को कलंकित किया है। मेरे हृदय में तो यह धारणा थी कि मेरी प्रिया तो महासती व जैनी श्राविका है। अगर यह भी असती है तो सतीव्रत तो निराधार ही हैं। तो क्या मैं इसे समुद्र में फैंक दूँ या फिर छुरि से मार डालूँ, अथवा सबके बीच जाहिर करके मार डालूँ या फिर इसकी गरदन मरोड़ दूँ? वह इस प्रकार से अनेक प्रकार के मिथ्या विकल्पों का विचार कर ही रहा था, तभी पोत के अग्रभाग में रहे हुए मनुष्य ने कहा - हे भद्रों! इस राक्षस द्वीप से नीर-इन्धन आदि ग्रहण कर ले। उन्होंने भी यान के पात्रों को उसके वचनानुसार धारण किया। सभी ने उस द्वीप को देखते हुए जल व इंधन भरना शुरु कर दिया।

तब महेश्वरदत्त ने भी अपनी भार्या नर्मदा को मायापूर्वक कहा - हे सुन्दरी! यह द्वीप अति रम्य है। अतः उतर

कर देखते हैं। वह भी हर्षित होती हुई उतरकर पति के साथ घूमने लगी। एक वन से दूसरे वन में भ्रमण करते हुए उन्होंने एक सरोवर देखा, जिसके किनारों पर रहे हुए विशाल छायादार वृक्षों की कतारों की छाया बादलों का भ्रम पैदा करती थी। कमलों से आच्छादित सुस्वादु स्वच्छ जल उस सरोवर में था। उन दोनों ने उस सरोवर में जलक्रीड़ा की फिर वहाँ से निकलकर उसके तट पर एक लतागृह देखा। उसमें कोमल पत्तों की शय्या बनाकर कुछ ही क्षणों में पति-पत्नी सो गये। तब नर्मदा के निद्राधीन हो जाने पर उसके पति ने वैरी की तरह निर्लज्जों का शिरोमणि बनकर विचार किया - इसको यहाँ एकाकिनी छोड़ दूँ, जिससे यह स्वयं ही मर जायगी। फिर चिन्तन के अनुरूप कार्य करके वह धीरे से वहाँ से निकल गया। जहाज के पास आकर वह कपटी जोर-जोर से रोने लगा। सार्थिकों ने आकुल होकर पूछा - है सार्थप! क्यों रोते हो? उसने कहा- मेरी पत्नी को राक्षसों ने खा लिया है। उसकी रक्षा में असमर्थ मैं कायरों की तरह भागकर यहाँ आ गया। जल्दी से जहाज को रवाना कर दो। वह राक्षस कहीं यहाँ न आ जाय! भयभीत होते हुए सभी ने जहाज रवाना कर दिया। उसने भी छलपूर्वक दुःखी की तरह आहार भी नहीं किया। विलाप करते हुए ऊँच स्वर में रोने लगा। कभी भूमि पर लौटता, कभी मूर्च्छित हो जाता। हृदय में तो खुश होता हुआ वह विचार करने लगा कि इस प्रकार करते हुए लोगों में मेरा अपवाद भी नहीं होगा। सार्थिकों द्वारा उसे महा कष्ट पूर्वक समझा बुझाकर भोजन करवाया गया। यवनद्वीप जाकर सभी ने वांछा से अधिक लाभ प्राप्त किया। अतः सभी प्रसन्न हुए। माल के बदले दूसरा माल लेकर वे सभी अपने नगर में आये।

नर्मदा के पति ने रोते हुए अपने मात-पिता से बताया - आपकी बहू का राक्षस द्वीप में एक राक्षस ने भक्षण कर लिया। दुःखार्त्त होकर उन्होंने भी जैसा उसने दुःख प्रकट किया था, उसी तरह माता पिता भी विलाप करने लगे। और मृतक कार्य पूर्ण किया क्योंकि-

स्थितिर्ह्यासौ ।

संसार की स्थिति ही ऐसी है।

कुछ समय बीत जाने के बाद उसका एक स्वरूपवती कन्या के साथ फिर से विवाह कर दिया। उसके साथ प्रेमासक्त होकर वह भोगों को भोगने लगा।

इधर नर्मदा कुछ क्षणों बाद सोकर उठी, तब उसने पति को न देखकर मन में विचार किया कि निश्चित ही मुझसे परिहास करने के लिए मेरे प्रिय कहीं छिप गये हैं। बार-बार उसने आवाज लगायी - हे कान्त! मुझे दर्शन देवें। अब मजाक न करें, मेरा मन घबराता है। फिर भी पति के न आने पर वह शंकित मन से शीघ्र ही उठ खड़ी हुई। सरोवर, वन आदि सभी जगह खोजा। पुनः उनके नहीं देखने पर वह कहने लगी - हा! नाथ! मुझे अनाथ छोड़कर आप कहाँ चले गये? प्रतिध्वनि होने पर वह मुग्ध की भाँति दौड़ने लगी। पाँव में काँटें चुभ जाने से पाँवों से झरते हुए खून से पृथ्वीतल लाल हो गया। निकुंजों आदि में घूम-घूमकर पुनः लता निकुंज में आयी। इसी बीच उसकी इस प्रकार की दशा देखकर प्रतीकार करने में असमर्थ सूर्य लज्जित होकर अस्ताचल में चला गया। तब वह खेद से घिरी हुई उसी लतागृह में रोते-रोते तथा डरते-डरते दीन होकर पर्णशय्या पर सो गयी। उसके दुःख से दुःखित वह रात और ज्यादा अंधकार से आच्छादित हो गयी। अथवा मलीन मन वाली रात सज्जनों की आपत्ति-विपत्ति में ज्यादा उल्लसित हो रही हो ऐसा लग रहा था। चिन्ता भार से आक्रान्त मन वाले होने से उसके रात्रि के चार प्रहर भी करोड़ों प्रहरों की तरह हो गये। सवेरे उठकर पुनः वह इधर-उधर घूमने लगी। मृग आदि को पूछने लगी कि क्या तुमने मेरे पति को देखा है? हे चतुरता के महासागर! हे कृपारत्न रूपी पर्वत! हे नाथ! मुझे क्यों छोड़ दिया? इस प्रकार उच्च स्वर में विलाप करने लगी। इस प्रकार पाँच दिनों तक सर्वत्र घूम-घूमकर पति को न देखकर वह महासती थककर निराश हो गयी।

छट्ठे दिन जहाज के रुकने के स्थान पर गयी। वहाँ शून्य देखकर उसने विचार किया कि स्वामी ने मुझे त्याग दिया है। पर मेरा क्या अपराध हुआ - यह मैं नहीं जानती। इस प्रकार विचार करते हुए उसे याद आया और उसने जाना कि मुनि के द्वारा कथित मेरा पूर्वबद्ध निकाचित कर्म अब उदय में आया है। अतः हे जीव! उसके प्रभाव से यह छल रूप संकल्प है और कुछ नहीं। मुझे प्रिय ने त्यागा है, अत, स्वकृत दुष्कर कर्म को सहन कर। हे जीव! तूँ न रो, न ही विलाप कर। सिर्फ सम्यग् भावना भा। क्योंकि -

धर्मकृत्यं विना नान्यद् येन कर्मघनमौषधम् ।

कर्म समूह की औषधि धर्म के बिना अन्य कुछ भी नहीं है।

इस प्रकार विचारकर उसने सरोवर पर जाकर अपने वस्त्रों तथा अंगों को प्रक्षालित करके स्थापनाचार्य की स्थापना करके उस आर्हती ने अर्हंत को वन्दन किया। प्राण वृत्ति के लिए फल लेकर पर्वत की गुफा में प्रभु की मिट्टी की प्रतिमा बनाकर नित्य भक्तिपूर्वक वन्दन करने लगी। पुष्पों द्वारा पूजा करती। पके हुए फलों का भोग लगाती। सुमधुर वाणी से झूमते हुए रोमाचिंत होकर प्रभु की स्तुति करती। फिर उसने विचार किया कि अगर मैं पुण्ययोग से इस सागर को पार कर गयी, तो व्रत ग्रहण करुँगी। ऐसा विचारकर समुद्र के तट पर उसने जहाज से पृथक् हुए यात्री की तरह आने-जानेवाले जहाजों को बताने के लिए एक पताका गाड़ दी।

इसी बीच उसके चाचा वीरदास किसी तरह बर्बरकूल देश को जाते हुए उस प्रदेश में आये। उस पताका रूपी चिह्न को देखकर पोत से उतरकर मार्ग पर पैदल आगे बढ़े। वहाँ नर्मदासुन्दरी जिनेश्वर की स्तुति कर रही थी। उस ध्वनि को सुनकर विचार किया कि नर्मदा की आवाज यहाँ कैसे? जब वह खड़ी होकर पीछे मुड़ी तो चाचा की दृष्टि उस पर पड़ी। चाचा भी उसे जानकर क्षण भर के लिए साश्रु हो गये। फिर पूछा - बेटी! तुम इस जंगल में अकेली कैसे? उसने भी अपना संपूर्ण वृतान्त यथातथ्य कह बताया। अहो! भाग्य की बिडम्बना! इस प्रकार कहकर उसे जहाज पर ले जाकर स्नान आदि करवाकर मोदक आदि भोजन करवाया। पवन की अनुकूलता से जहाज तीव्र वेग से चलने लगा। बर्बर कुल देश को प्राप्तकर सभी प्रसन्न हुए। उसके चाचा ने तम्बू बनवाकर उसमें नर्मदा को बिठाया। स्वयं पोत से माल उतारकर उपहार आदि लेकर राजा के पास गये। राजा ने भी उनका सम्मान करके इच्छापूर्वक व्यापार करने के लिए अपने भाण्डशाला में उसको रखा।

उस नगर में रहनेवाली हरिणी नामकी वेश्या थी। राजा की कलाओं में वह नृत्यांगना गौरव के योग्य थी। वह सर्व वेश्याओं की स्वामिनी थी। देशान्तरों में भी वह ख्यात थी। निज सौन्दर्य के गर्व से वह अप्सराओं पर भी हंसती थी। सभी वेश्याओं से भाड़े का अंश लेकर तथा अपना अर्जित धन का अंश लेकर वह गणिका राजा को काम-शुल्क देती थी। बाहर से आये हुए जहाज के अधिपति उसे राजा की आज्ञा से एक हजार आठ दीनारें देते थे। एक बार उसने दासी द्वारा वीरदास को कहलवाया - हे देव! मृत्युलोक की सची हरिणी आपको चाहती है। वीरदास ने कहा - हे भद्रे! अगर वह इन्द्राणी से भी ज्यादा गुणवती हो, तो भी मैं स्वदारा में परितोष रखने वाला कभी उसकी कामना नहीं करता। बिना किसी भावना के उसने १हजार आठ दीनारें उसके योग्य अर्पित की। वह दासी भी उन दीनारों को लेकर अपनी स्वामिनी के पास आ गयी। उसने कहा - इन दीनारों से मुझे क्या? उस वणिकपुत्र को लेकर आ। उस दासी ने पुनः जाकर अपनी स्वामिनी का कथन दोहराया। उसने भी विचार किया कि आखिर वह वेश्या मेरा करेगी भी क्या? महा प्रलय काल आने पर भी मैं अपना शील नहीं छोड़ूंगा। अतः वीर सुभट की तरह जाता हूँ। कायर होना योग्य नहीं। मेरे शील रूपी स्वर्ण की यह पत्थर पर कसौटी हो जाय। ऐसा विचारकर वह वेश्या के भवन में आया। उस अभिमानिनी ने भी भिन्न-भिन्न हावभाव द्वारा उसे क्षुभित करने की कोशिश की, पर वह मेरु की तरह अचल रहा। चुगलखोर की तरह उसकी दासी ने उसके कान में कहा - हे देवी! इसकी प्रिया

इन्द्राणी के रूप को भी फीका करती है। मैं क्या वर्णन करुँ। उसने कहा - अगर ऐसा है और तू उसे यहाँ ले आयी तो मैं तेरे घर में रत्नों का ढेर लगा दूँगी। दासी ने कहा - मैं ज्यादा क्या कहूँ। उसके जैसी दूसरी कोई हो ही नहीं सकती। हरिणी के मन में यह सुनकर उसके लाभ की लालसा जाग उठी। फिर उत्पन्न मति से विचारकर उसने एक उपाय खोजा और वीरदास से कहा - हे सुभगाग्रिम! आपकी यह रत्नमुद्रा अद्‌भुत है। मुझे कुछ क्षणों के लिए अर्पित करें ताकि मैं भी इसके जैसी अंगूठी अपने लिए करवा सकूँ। वीरदास ने मुद्रिका सहज भाव से उसे दे दी। उसने भी प्रच्छन्न भाव से वह मुद्रा अपनी दासी को दी। दासी समझ गयी। उसने शीघ्र ही जाकर नर्मदा से कहा - हे भद्रे! तुम्हें वीरदास बुला रहा है। अतः आओ! मुझ पर विश्वास करने के लिए उसने तुम्हें यह मुद्रा रत्न भेजा है। वीरदास के नाम से अंकित मुद्दारत्न को देखकर वह बिना विचारे उस दासी के साथ उसके घर चली गयी। पीछे के द्वार से उसे अन्दर ले जाकर भूमिग्रह में उसे रखा। वीरदास की मुद्रा उसे वापस लौटा दी।

वीरदास अपने स्थान पर लौटा, तो उन्होंने नर्मदा को वहाँ नहीं पाया। उन्होंने अन्यत्र वन, देवकुल आदि में उसे खोजा। वहाँ भी न पाकर दुःखी होते हुए उन्होंने विचार किया कि किसी ने मेरे रहते हुए भी उसका हरण कर लिया है, पर मेरे भय से प्रकट नहीं करेगा। अतः मैं यहाँ से चला जाता हूँ, जिससे वह उसे प्रकट करेगा। इस आशय से वह तैयार होकर अपने घर की ओर मुड़ गया। सैकड़ों जनों से आकुल-युक्त, भरुकच्छपुर को जहाज प्राप्त हुआ। वहाँ उसका मित्र परमार्हती श्रावक जिनदेव था। उसने जिनदेव को संपूर्ण वृतान्त बताकर कहा - हे मित्र! तुम वहाँ जाओ तथा किसी भी तरह से उस बाला को खोजकर यहाँ लाओ। वह भी उसकी बात स्वीकार करके संपूर्ण सामग्री तैयार करके उसकी भतीजी को अपनी ही पुत्री मानता हुआ मित्र वत्सल भाव से वहाँ गया।

वीरदास ने नर्मदा की सारी घटना नर्मदापुर पहुँचा दी। यह सुनकर उसके सारे स्वजन शोक सागर में निमग्न हो गये।

इधर हरिणी ने वीरदास को गया हुआ जानकर दुष्ट बुद्धि से नर्मदासुन्दरी को कहा - हे नादान! वेश्यावृत्ति का पालन कर। नये-नये मनुष्यों के साथ वैषयिक सुख स्वेच्छानुसार भोग। मेरी यह सारी विभूति अब तुम्हारी है। यह सुनकर नर्मदा ने अपने हाथों रूपी पल्लवों को हिलाते हुए कहा - हे कुलटा! कुल-शील को नष्ट करनेवाले ऐसे दुर्वचन मत बोल। हरिणी ने रुष्ट होकर उसे कोडों से ताड़ित किया उसकी चमड़ी फूलकर पभराग-मणि के समान तथा किंशुक के समान लाल हो गयी। फिर वेश्या ने पूछा - हे धृष्टा! क्या अब भी मेरा कहा नहीं मानेगी। नर्मदा ने कहा - इस जन्म में तो तेरा कहना कभी नहीं मानुँगी। तब उस दुष्टा ने अतिरुष्ट होकर उसे और ज्यादा कष्ट देना शुरु कर दिया।

नर्मदा ने भी अपनी रक्षा के लिए पंचनमस्कार का स्मरण शुरु कर दिया। अदृष्ट वज्र प्रहार से आहत की तरह वह दुरात्मिका हरिणी नमस्कार मंत्र के प्रभाव से गतप्राण हो गयी।

हरिणी के मरण को जानकर राजा ने मन्त्री से कहा - उसके स्थान पर किसी दूसरी स्वरूपवती स्त्री को स्थापित करो। राजा के आदेश से अमात्य हरिणी के घर आया। नर्मदा के असादृश्य रूप सौंदर्य को देखकर वह विस्मित हो गया। उसने कहा - राजा के आदेश से तुम्हें हरिणी के पद पर स्थापित करता हूँ। अपने निकलने के उपाय को जानकर उसने भी वह पद स्वीकार कर लिया। मंत्री ने उसे उस पद पर स्थापित किया एवं प्रसन्न होता हुआ चला गया। अब वह हरिणी के धन को कल्पलता की तरह दान में लुटाने लगी। उसे रूपवती तथा दानशीला जानकर राजा ने उसे बुलाने के लिए पालकी तथा कहारों को भेजा। उसे पालकी में बिठाकर जब वे मनुष्य अंतःपुर की ओर ले जाने लगे, तो उसने विचार किया कि जीते-जी तो मैं अपना शील खण्डित नहीं होने दूँगी। पर रक्षा का क्या उपाय करुँ? इस प्रकार विचार कर रही थी। तभी एक बहुत बड़ा नाला रास्ते में आया, जिसमें अत्यन्त

दुर्गन्धमय कीचड बह रहा था। उसने राजपुरुषों से कहा - मुझे बहुत प्यास लगी है। अतः पालकी यहीं छोड़कर पहले मेरे लिए पानी लेकर आओ। वे जब तक पानी लेकर आते, तब तक तो वह पालकी से उतरकर शूकरी की तरह उस नाले में लोटने लगी। अहो! यह तो अमृत है - इस प्रकार कहकर उस दुर्गन्धयुक्त कीचड़ को पीने लगी। लोगों में आक्रोश पैदा करते हुए क्रुधी की तरह मानो घोड़े पर सवार होकर उड़ रही थी। कहने लगी - मैं इन्द्राणी हूँ। मैं विद्यादेवी हूँ। देखो! देखो! मुझे देखो! इस प्रकार अपने शील की रक्षा के लिए भूत प्रेत से आवेष्टित की तरह क्रियायें करने लगी।

राजपुरुषों ने जाकर राजा से वह सब कहा! राजा ने भी उसे पकड़ने तथा निग्रह करने के लिए मांत्रिकों को भेजा। उनके द्वारा क्रियायें आरम्भ किये जाने पर वह शीघ्र ही क्रोध से हुए लाल-लाल लोचनों के द्वारा अपने पर हावी भूत प्रेत की शक्तियों को प्रौढ़ व भीषण रूप से दिखाने लगी। उन मांत्रिकों ने भी डरकर उसे उसी स्थिती में छोड़ दिया। बच्चों द्वारा पत्थर आदि से वह मारी तथा घायल की जाने लगी। इस प्रकार बाहरी आत्मा से ग्रसित के समान उसने अपने शील की रक्षा की। हृदय में एक मात्र आर्हत् धर्म को ध्याती थी।

एक बार वह लोगों से घिरी हुई मैले वस्त्र तथा मैले शरीर से एकसार होकर जिनवाण को गा-गाकर गोल-गोल घूमते हुए नृत्य कर रही थी। उसको देखकर जिनदेव ने कहा - तुम तो अर्हत् उपासिका हो। तुम्हें किसने पकड़ा है? उसने कहा - यहाँ सागार है। अतः अपना नाम नहीं बताऊँगी। दूसरे दिन बच्चों द्वारा पत्थर आदि से प्रताड़ित वह गाँव के बाहर उद्यान की ओर गयी। इतनी दूर व्यर्थ में ही कौन जाये - यह सोचकर बच्चे वापस मुड़ गये।

वन के बीच धर्मानुष्ठान में तत्पर उसे जानने की इच्छा से जिनदेव भी आ गया। उसे देखकर वह मस्तक झुकाकर बोला - बहन! नमस्कार करता हूँ। तब नर्मदा ने भी उसे श्रावक जानकर अपनी सारी कथा कह सुनायी। जिनदेव ने भी उससे कहा - वीरदास मेरा मित्र है। भरुकच्छ से तुम्हारे लिए ही उसने मुझे भेजा है। अतः तुम दुःख मत करो। प्रातः काल राजपथ पर स्थित मेरे बेचने के लिए लाये गये हजारों घड़े तुम लकड़ी से फोड़ डालना। इस प्रकार संकेत करके दोनों ने नगर में प्रवेश किया। दूसरे दिन उसने राज-मार्ग पर रखे सभी घटों को फोड़ डालें। तब राजा ने जिनदेव को बुलाकर कहा- हा! उस पिशाच गुस्ता ने तुम्हारी कितनी बड़ी क्षति की है। अतः हमारे अनुरोध से तुम इसे समुद्र के उस पार ले जाकर छोड़ दो, जिससे यहाँ रहते हुए यह अनेक अनर्थ करने से बच जाय। उसने भी राजा के आदेश को स्वीकार करके, राजा का अत्यधिक सत्कार करके नर्मदा को दृढ़ बंधन में बांधकर अपने स्थान पर ले गया। वहाँ उसके बंधन खोलकर उसे नहलाकर अच्छे वस्त्र पहनाकर भोजन करवाया। फिर जहाज पर सवार होकर भृगुकच्छपुर आ गये। जिनदेव ने अपने घर आकर नर्मदापुर में समाचार भेज दिये। वे हर्षित होकर उसे लाने के लिए जाने की तैयारी करने लगे। जब तक वे रवाना होते, तब तक तो जिनदेव नर्मदा को लेकर वहीं आ गया। पिता आदि को देखकर वह उनके गले लगकर बहुत रोयी। ऋषभसेन आदि सभी स्वजनों द्वारा आनन्दाश्रुओं की मानो बरसात ही अवतरित हुई। पूछने पर जब नर्मदा ने अपना वृतान्त सुनाया तो सुनने वालों को भी इतना दुःख हुआ कि उन्होंने सोचा कि इस बिचारी नाजुक सी बाला ने यह दुःख कैसे सहा होगा?

उसके आ जाने की खुशी में मंदिर में अर्चना आदि उत्सव किये गये। संघ में महादान आदि द्वारा सभी पूजा की गयी। नर्मदा को लेकर आनेवाले जिनदेव को भी सभी के द्वारा अत्यन्त सम्मानित किया गया। फिर वह भी अपने वतन चला गया। नर्मदा सुन्दरी को प्राप्त करके सभी प्रेमशालियों के दिन स्वर्गलोक में देवों के समान सुखपूर्वक बीतने लगे।

एक बार नर्मदापुर में सर्वज्ञ के प्रतिनिधि के रूप में दस पूर्वधारी आर्य सुहस्ति नामक आचार्य पधारें। उन सूरि को आया हुआ जानकर ऋषभसेन आदि नर्मदासुन्दरी से युक्त होकर उन्हें वंदना करने के लिए गये। वन्दना

करके वे सभी न तो एक दम पास न एक दम दूर - गुरु के पास बैठ गये। गुरु ने भी मोक्ष-सुख को प्रदान करने वाले निर्मल धर्म का उपदेश दिया - इस अपार संसार में जीव अपने द्वारा पूर्व में किये हुए कर्मों का ही शुभ या अशुभ रूप से फल भोग करते है। यह सुनकर **वीरदास** ने हाथ जोड़कर मस्तक पर लगाकर पूछा - प्रभो! मेरे भाई की पुत्री नर्मदा ने पूर्व में ऐसा कौन सा कर्म किया था, जिससे अद्‌भुत शीलवती होते हुए भी इस प्रकार की दुर्दुशा को प्राप्त हुई। गुरुदेव ने सुधासिक्त वाणी से कहा - यहाँ भरत क्षेत्र के मध्यखण्ड में भूभृद् पर्वत है। जिस पर अद्‌भूत धान्य-घास आदि का समूह उगता है, जिसे गायें सुखपूर्वक चरती हैं। उस पर्वत से महावेग वाली नर्मदा नदी निकलती है (बहती है)। उस नदी की अधिष्ठात्री नर्मदा नामक मिथ्या दृष्टि देवी थी। उस देवी ने एक बार धर्मरुचि मुनि को देखकर कुबुद्धि धारण किये हुए के समान अनेक उपसर्ग किये। साधु के निश्चल रूप से प्रशान्त रहने पर उसने स्व की निन्दा की। फिर साधु द्वारा प्रतिबोधित होने से वह सम्यक्त्व - धारिणी बन गयी। वहाँ से च्यवकर वह तुम्हारे भ्राता की पुत्री **नर्मदासुन्दरी** बनी। इसके गर्भ में आने पर इसीलिए माता को नर्मदा-स्नान का दोहद उत्पन्न हुआ। मत्सर भाव से इसने साधु की धृष्टता करके निकाचित कर्मों का बन्धन किया। इतने काल तक उसने उन्हीं दुःसह कर्मों का फल भोगा। कर्मों का उदय आने पर ही इसने गीत-गायक के स्वर से उसका पूरा स्वरूप पति को कहा और इसी कारण पति ने उसको असती मानकर त्याग दिया।

तब अपने चरित्र को सुनकर **नर्मदा** को पूर्वभव का स्मरण हुआ। तब संवेग पूर्ण होकर उसने गुरु के पास में व्रत ग्रहण कर लिया। दुस्तप को करते हुए उसे अवधिज्ञान उत्पन्न हुआ। तब उसे योग्य जानकर गुरु ने उसे प्रवर्तिनी पद पर स्थापित कर दिया। फिर विहार करते हुए वह **कूपचन्द्रपुर** गयी। बहुत सी साध्वियों से घिरी हुई वह **ऋषिदत्ता** के घर के एक भाग में ठहर गयी। वह सदा अर्हत् धर्म का कथन करती। **ऋषिदत्ता** भी आदरपूर्वक सुनती। **महेश्वरदत्त** भी ध्यान से सुनता था।

एक बार उसने **महेश्वरदत्त** को प्रतिबोध देने के लिए स्वर-मण्डल-शास्त्र का परावर्तन किया। इस प्रकार का स्वर होने पर मनुष्य के शरीर का वर्ण इस प्रकार का होता है। इस प्रकार का स्वर होने पर उसकी उम्र इतने वर्ष की होती है। इस प्रकार के स्वर से वह इस देश का होता है। इस प्रकार का शब्द होने पर उसके गुह्य प्रदेश में मष होता है। इस प्रकार का स्वर होने पर छाती पर रेखा देखी जाती है। इस प्रकार के विषय को सुनकर **रुद्रदत्त** - सुत ने विचार किया कि निश्चय ही मेरी पत्नी भी स्वर - लक्षण को जाननेवाली थी। तभी तो उसने उस गायक की उरु रेखा आदि बतादी। तब वह विलाप करने लगा हाय! हाय! मैं कितना कठोर हूँ। क्रूर बुरे पति की तरह मैंने बिना विचारे अपने अनार्यपने का आचरण किया। उस अगाध प्रेम वाली निरपराधिनी पत्नी को भी मैंने ईर्ष्यालु होकर पाप पूर्वक उसे एकाकी छोड़ दिया। हाथ में आये हुए रत्न को भी मैंने निर्भाग्य के कारण हार दिया। मुझ स्त्रीहत्या के पापी को मृत्यु बिना शुद्धि नहीं है।

उसके इस विलाप को सुनकर प्रवर्तिनी ने कहा - वह नर्मदा सुन्दरी निश्चय जीवित है, और वह मैं ही हूँ। मैं इस-इस प्रकार से यहाँ आयी। मैंने अब चारित्र ग्रहण कर लिया है। अतः हे भद्र! तुम विलाप मत करो। अब तुम मेरे भाई हो। तुम भी अब शुद्ध संयम रूपी वारि के द्वारा पाप रूपी मल का प्रक्षालन करके भवो भव में निर्मल आत्मा बनों।

महेश्वरदत्त ने सारा वृतान्त सुनकर हाथ जोड़कर मस्तक से लगाकर अतिशय विनयपूर्वक कहा - शुद्ध शीलवती होते हुए भी मेरे द्वारा आपको घोर दुःख के सागर में फेंक दिया गया। हे महाभागे! मुझ पापी को क्षमा करो। क्षमा करो।

उसने कहा - तुम दुःख मत करो। इसमें तुम्हारा कोई दोष नहीं है। तुम तो निमित्त मात्र हो। मैंने तो अपने

ही कृत कर्मों को भोगा है।

रौद्रदत्त के पुत्र ने कहा - अगर मेरे भाग्य से गुरुदेव पधार जायें, तो लोकाग्र पर चढ़ने के सोपान स्वरूप दीक्षा को ग्रहण करुँगा। तब विचरण करते हुए सुहस्ति गुरु वहाँ पधारे। भाग्योदय के समय मनुष्य द्वारा चिन्तित ही फलीभूत होता है। तब जैसे ब्राह्मण श्राद्ध में जीमने के लिए उत्सुक होता है, वैसे ही **महेश्वरदत्त** भी अपनी माता के साथ गुरुदेव को वंदन करने के लिए आया। जैसे पिपासु अमृत को देखकर तथा दरिद्र धन को देखकर प्रसन्न होता है, वैसे ही दीक्षा - पिपासु शुद्ध सम्यक्त्वी वह गुरु को देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुआ। प्रणाम करके गुरु के सामने सुशिष्य की तरह बैठ गया। श्रुत रूपी कुएँ में डुबकी लगाने के समान उसने गुरु मुख से व्याख्या सुनी। वस्त्र में समाये हुए रंग की तरह वह व्याख्या उसके हृदय में प्रवेश कर गयी। तब उसने अपनी माता सहित उनके पास व्रत ग्रहण किया।

माता तथा पुत्र-दोनों ने शुद्ध श्रमणपर्याय का अनुपालन करके स्वर्ग में देवत्व को प्राप्त किया। वहाँ से क्रमशः मोक्ष को प्राप्त करेंगे।

उस नर्मदा सुन्दरी प्रवर्तिनी ने भी अपने आयुष्य का अन्तिम समय जानकर अनशन करके देवलोक में दिव्य महर्द्धिक देवत्व को प्राप्त किया। वहाँ से च्युत होकर अपर महाविदेह में राजपुत्र **मनोरथ** के रूप में पैदा होकर अति विशाल साम्राज्य का न्यायपूर्वक उपभोग करके दीक्षा लेकर कर्मों का क्षयकर केवलज्ञान प्राप्त करके भव्य जीवों को प्रतिबोध करते हुए सिद्धि रूपी सौध को प्राप्त करेंगे।

इस प्रकार **नर्मदासुन्दरी** की तरह सभी स्त्रियों को कष्ट पूर्वक भी शील का सम्यग् अनुष्ठान करना चाहिए। पुरुषों को उसके चाचा **वीरदास** की तरह शील पालना चाहिए।

इस प्रकार भद्रबाहु प्रणीत वसुदेव हिण्डी के आधार से विरचित इस लोक में नर्मदासुन्दरी का यह निर्मल चारित्र श्रोताओं के लिए यह एक मात्र पेय, भक्ति का स्थान व शिव निवास को प्राप्त कराने वाला हो।

इस प्रकार शील व्रत में **नर्मदासुन्दरी की कथा** पूर्ण हुई।

अब तप पर **नंदिषेण की कथा** को कहते हैं -

।। नंदिषेण की कथा ।।

समृद्धि के निवास की तरह मगध नामक देश था। उस देश में सभी ग्रामों का शिरोमणि **नन्दिग्राम** नामक ग्राम था। उस ग्राम में महा-दारिद्रय से संपन्न एक ब्राह्मण रहता था। सभी तरह से उसके अनुकूल **वसुमित्रा** नामकी पत्नी थी। उनका पुत्र नन्दीषेण देखने में कुतीर्थियों की तरह कुरूप था। तवे के समान उसका काला रंग था। बिड़ाल के समान भूरी-भूरी उसकी आँखें थी। गणेश की तरह उसका पेट मोटा था। हाथी की तरह उसके दाँत बाहर निकले हुए थे। ऊँट के समान लम्बे होठ थे। बन्दर के समान अथवा सूप के समान उसके कान थे। नाक चिपटा था। कुष्ठ रोग से आक्रान्त की तरह वह लगता था। उसका तिकोना मस्तक उसकी कुरूपता को और बढ़ाता था। बाल्यावस्था में ही उसके माता-पिता मृत्यु को प्राप्त हो गये। किसी भी प्रकार भिक्षाचर के समान दीन वृत्ति से वह जीता था। कितना ही समय व्यतीत हो जाने के बाद उसके मामा ने उसे अपने पास बुलाया और कहा - वत्स! अपने घर की तरह ही विश्वासपूर्वक यहाँ रहो। मुझे सात पुत्रियाँ हैं। वर योग्य अवस्था प्राप्त होने पर मैं तुम्हें मेरी प्रथम पुत्री दूँगा। अतः तुम कुछ भी चिन्ता मत करो।

वह कारीगर की तरह होशियार होकर अनुकूल मन के साथ मामा के घर में सभी कार्य करने लगा। मामा की प्रथम पुत्री जब यौवन वय को प्राप्त हुई तो उसने सुना कि मुझे नन्दीषेण को प्रदान करेंगे। अतः उसने कहा -

अगर इस कुरूप व दुर्भग के साथ मेरा विवाह करेंगे, तो मैं कुएँ में गिर कर जान दे दूँगी। नन्दीषेण के कानों में शब्द पिघले हुए शीशे की तरह गिरे। लटकते हुए आम को देखते हुए बन्दर की तरह उसका मन अधीर हो उठा। तब उसके मामा ने कहा - अधीर मत बनो। मैं तुम्हें द्वितीय पुत्री दूँगा। क्योंकि -

स्थिराणां श्रीर्भवेत् खलु ।

अर्थात् स्थिर मति वालों को लक्ष्मी की प्राप्ति होती ही है।

जब उससे कहा गया, तो उसने भी नन्दीषेण को पति-रूप में नहीं चाहा।

सकर्णः कोपि किं जीवः स्पृहोन्नरकं क्वचित् ?

अर्थात् श्रुतिशील पुरुष क्या कभी नरक की स्पृहा करता है?

इसी प्रकार सभी पुत्रियों ने उससे विवाह के लिए मना कर दिया। कहा भी है -

गतानुगतिको लोकः प्रायेण भवतीह यत् ।

प्रायः लोग गतानुगतिक ही होते हैं। एक के ना करने पर सभी ना बोल देते हैं।

अपने नासिका-रन्ध्रों को फुलाकर स्व-सौभाग्य से गर्वित होते हुए गाँव की तरुणियाँ भी उसका तिरस्कार करते हुए कहती अहो! इसके समान कोई नरशेखर नहीं है! इस प्रकार गाँव के लोगों ने भी उसका उपहास किया, जिससे वह अत्यन्त खेदित हुआ। मामा ने पुनः कहा - मैं अन्य गाँव से किसी की पुत्री माँगकर लाऊँगा। पाँव प्रमाण जूती के समान तुम्हारे लायक कोई लड़की अवश्य होगी। अतः धैर्य धारण कर। यह सब सुनी-अनसुनी करते हुए अत्यन्त दुःखित होकर नन्दीषेण ने विचार किया - धिक्कार है मुझे। जिससे कि मेरे ही मामा की पुत्रियाँ तक ने मुझे नहीं चाहा। तो जिसने मुझे देखा ही नहीं वे दूसरी कन्याएँ मुझे कैसे चाहेंगी? तब विरक्त होकर मामा की आज्ञा लिये बिना ही नन्दीषेण रत्नपुर की ओर चला गया। वहाँ सभी नागरिकों को अपनी-अपनी ललनाओं के साथ ललित क्रीड़ा करते हुए देखा। वे लोग विभिन्न अलंकारों से सज्जित देवों व देवियों के समूह की तरह लग रहे थे। उन्हें देख नन्दीषेण ने स्वयं की विशेष रूप से निन्दा की। मुझ पर किसी भी युवती की दृष्टि की कोई संभावना नहीं है। दुःख की संवेदना के लिए ही विधाता ने मुझे चारों ओर से घेरा है। अतः मेरे जीने का क्या फायदा? मैं अभी ही मर जाता हूँ। इस प्रकार विचार करके फाँसी खाकर मरने की इच्छा से वह उपवन में आया। वहाँ उसने एक लतागृह में धर्म के मूर्तिमान स्वरूप में स्थित अतीन्द्रिय ज्ञान युक्त एक मुनि को देखा। नन्दीषेण ने आनन्द युक्त होकर भक्ति से उन्हें वन्दना की। ज्ञानातिशय से उसके आशय को जानकर मुनि ने कहा-भद्र! कर्मों को और अधिक बांधने का साहस मत करो। क्योंकि-

जीवेन सह कर्माणि यान्त्यन्यत्राऽपि यद् भवे ।

जीव के कर्म उसके साथ अन्य भव में भी जाते हैं।

तुम ऐसा मानते हो कि इस प्रकार की स्थिती मेरे दौर्भाग्य के कारण है। तो फिर जड़ से उखड़े वृक्ष को पक्षी त्याग देते हैं उसी तरह तुम भी मृत्यु का वरण मत करो। तुम्हारे द्वारा जो अनुभूत कर्म है, वह तप अथवा दुष्कर तप द्वारा क्षय करके भस्मीभूत कर दो, जिससे वे पुनः उदय में न आ सकें। इस प्रकार मुनि ने उसको धर्मदेशना देकर प्रति बोधित करके कर्म-इन्धन को जलाने के लिए दीक्षा दे दी। फिर सूत्रार्थों को पढ़कर सत् संवेग से रंजित होकर, पाँच समिति तीन गुप्ति युक्त साध्वाचार में तत्पर हुआ। प्रवर्धमान वैराग्य से भाग्य की प्रकर्षता के संचय से कलल में आसक्त भ्रमर की तरह वह तप में रत होकर शरीर से निराकांक्ष हो गया। गच्छवास को स्वीकार करके सिद्धवास को पाने के लिए प्रतिदिन साधु की वैयावृत्य का अभिग्रह ग्रहण किया। बिना थके बिना विश्रान्ति लिए वह सतत अन्न-पानी, भेषज, शरीर की विश्रांति आदि क्रियाओं द्वारा साधुओं की वैयावृत्य करने लगा। संतोष रूपी अमृत

से युक्त होकर नन्दीषेण मुनि बेले से छः मासी तप करने तक सदैव शुद्धात्मा के रूप में तत्पर रहते थे। अपने तप तथा वैयावृत्य द्वारा सभी जगह वे प्रसिद्धि को प्राप्त हुए।

एक बार शक्रेन्द्र ने अवधिज्ञान से भरत क्षेत्र में उपयोग लगाया, तो नन्दीषेण मुनीन्द्र की वैयावृत्य देखकर विस्मित रह गया। अपने वैयावृत्य आदि कृत्यों से प्रसिद्ध नन्दीषेण मुनि को कराम्बुजों द्वारा प्रणाम करके सभा के मध्य सिर हिलाते हुए देवेन्द्र ने मुनि की भूरि-भूरि प्रशंसा की। अहो! मुनि नन्दीषेण द्वारा कृत उद्यम! महाभाग, महासत्त्व रूप वे मुनि देवों द्वारा क्षुभित होने में भी समर्थ नहीं है। शक्रेन्द्र के उन वचनों को नहीं मानता हुआ कोई देव परीक्षा करने के लिए नन्दीषेण मुनि के पास आया।

उसने जंगल में जाकर एक रूप तो अतिसार से पीड़ित मुनि का बनाया व दूसरा रूप मुनि का बनाकर साधुओं के उपाश्रय में गया। अक्षि गोलकों को ललाट पट पर चढ़ाकर देखने में कठिन रूप बताकर कहा - कहाँ है? कहाँ है वह नन्दीषेण? नन्दीषेण मुनि ने बेले के पारणे के लिए क्षुधा से मुँह खोलकर हाथ में कवल लिया ही था, कि उन को उस रूप में देखकर वह मुनि कठोर स्वर में बोला - अरे! तुम नन्दीषेण हो? तुम वैयावृत्य करने वाले हो? अभिग्रह ग्रहण करके भी तुम पेटु, खावैये हो। भुक्खड़ की तरह पात्र भरकर खाने के लिए बैठे हो। भोजन में अनासक्त नन्दीषेण मुनि मिच्छा मि दुक्कडं कहकर संभ्रान्त होते हुए कवल को छोड़कर उठ खड़े हुए। सुधा-मधुर वाणी में उस साधु को कहा - आज्ञा कीजिए। मुझे आपके प्रयोजन का पता नहीं था, अतः भोजन करने के लिए बैठ गया था। उसने कहा - गाँव के बाहर अतिसार से पीड़ित एक ग्लान साधु है। वैयावृत्य करने वाले के अभाव में प्यास से वे मर जायेंगे। नन्दीषेण ने कहा - भद्र! आप मुझे उन मुनि को दिखाइये। जिससे मैं पथ्य, औषध, चिकित्सक आदि द्वारा उनकी प्रति-जागरणा कर पाऊँ।

फिर एक-एक घर में जाकर उन्होंने पानी की गवेषणा की। मुनि को विचलित करने के लिए उस देव ने हर जगह अनैषणा कर दी। फिर भी मुनि के तप प्रभाव से शुद्ध जल प्राप्त हुआ। फिर शीघ्र ही उन ग्लान साधु के पास गये। साधु ने उन पर रोष प्रकट करते हुए कहा - देखो! मेरी यह अवस्था है। तुम तो भोजन में आसक्त हो। तुम्हें तो ग्लान की चिन्ता ही नहीं है। जैसे-जैसे तुम को लोग वैयावृत्य करनेवाला अभिग्रही बताते हैं, वैसे-वैसे तुम प्रशंसा से फूल-फूल जाते हो। खुद वैयावृत्य करते नहीं, करने वाले अन्य का निषेध करके अभिग्रह ग्रहण करके तुम ग्लान के गले पर बैठ जाते हो।

क्षुधा के अन्तस्ताप से तप्त भी उन साधु के मर्मभेदी वचनों को सुनकर भी नन्दीषेण मुनि में कोई प्रतिक्रिया नहीं हुई। मानो उन्होंने क्रोध को कभी छुआ ही नहीं हो। अति प्रसन्न होकर सुकुमार वाणी द्वारा उन्होंने मुनि को कहा - हे मुने! मेरा अपराध क्षमा करें। मैं आपको नीरोग बनाऊँगा। इस प्रकार कहकर उनको शुद्ध करके वह पानी उन्हें पिलाकर के उनका हाथ पकड़ कर कहा - आप अब वसति में पधारें। उन मुनि ने कुपित होकर कहा - हे मूढ़! तुझे धिक्कार है। हे अज्ञानी! मेरी इस प्रकार की अशक्त काया भी क्या तुम्हें दिखायी नहीं देती?

तब नन्दीषेण मुनि उनको अपने कन्धे पर बिठाकर बसति की ओर चले। वह मुनि ऊपर बैठा-बैठा क्रोधित होते हुए पग-पग पर कहने लगा - मुझे मत हिलाओ। उसके कन्धे पर यत्नपूर्वक आरुढ़ छद्म-व्रत-वेशी देव ने नाक को फोड़ने वाली अति दुर्गन्ध युक्त विष्टा छोड़ी। फिर कहने लगा कि तुम वेगपूर्वक चलते हुए मुझे पीड़ा प्रदान करते हो। हाय! हे शैक्षक! क्या मुझ रोगी को तुम मार ही डालोगे। नन्दीषेण मुनि ने मल से लिप्त हो जाने पर भी अपनी शुद्ध मति से जुगुप्सा नहीं कि, बल्कि विचार करने लगे कि यह तो शरीर-तत्त्व है। उस मुनि के नीम से भी ज्यादा कड़वे दुर्वचनों को सुनकर उन्होंने विचार किया कि यह रोग से पीड़ित होने के कारण कुछ भी बोल देते हैं। उनके दुःख से दुःखार्त्त होकर नन्दिषेण मुनि विचार करने लगे कि ये नीरोगी कैसे होंगे?

इस प्रकार महान् कष्ट में भी उनको शुद्ध अभिप्राय युक्त जानकर श्रेष्ठ जाति के सोने की तरह उनको कस के पत्थर पर सफल कसौटी मिली। उनके सत्त्व से रंजित होकर अशुचि पुद्गलों का संहार करके सौगन्धी से आकृष्ट भँवरों की तरह देवों ने पुष्प वृष्टि की। फिर मुनिवेश को त्यागकर अपना स्वरूप प्रकाशित किया। नन्दीषेण मुनि की तीन प्रदक्षिणा करके नमस्कार करके उनको कहा - शक्रेन्द्र द्वारा की हुई आपकी प्रशंसा से भी कहीं ज्यादा आपका वैयावृत्य के लिए किया गया उद्यम है। अतः आप धन्य हैं। आपने सुलब्ध नर जन्म को कृतार्थ किया है। हे स्वामी! मेरे अपराधों को माफ करें। हे क्षमामय! हे तपोमय! हे महासत्त्व! मेरे पुण्य के लिए आप किसी भी वरदान का वरण करें।

नंदीषेण मुनि ने कहा - मैंने अतिदुर्लभ जिनधर्म को पा लिया है। मेरे लिए इतना ही काफी है। मुझे अन्य किसी से कोई प्रयोजन नहीं है। तब उनके निस्पृह भाव से विशेष रूप से प्रसन्न होता हुआ देव उनके गुणों की स्तुति में तत्पर होता हुआ देवलोक को चला गया। नन्दीषेण मुनि भी अपने उपाश्रय में चले गये। साधुओं द्वारा पूछने पर उन्होंने घटित हुआ सारा वृतान्त बतला दिया। इस प्रकार संयम योग के द्वारा स्व को भावित करते हुए तथा पर की वैयावृत्य करते हुए उन्होंने बारह हजार वर्ष बिता दिये। तब उन श्रेष्ठ मुनि ने अपना अन्तिम समय जानकर अनशन ग्रहण किया और अपनी कुरूपता रूपी दुर्भाग्य का स्मरण करके निदान किया कि यदि मेरे तव-नियम-ब्रह्मचर्य आदि का फल मिले, तो मैं मरकर रूपवान, धनी तथा स्त्रियों का वल्लभ बनूँ। इस प्रकार निदान करके वे महाशुक्र स्वर्ग में शक्रेन्द्र के सामानिक देव हुए। वहाँ से च्युत होकर सौर्यपुर में अन्धकवृष्णि राजा की सुभद्रा महादेवी की कुक्षि में पुत्र रूप से अवतरित हुए। समुद्र की तरह अक्षुभित, विजय प्राप्त होने पर भी शान्त सागर की तरह पूरण, तथा हिमवान पर्वत की तरह धरण युक्त चन्द्र की तरह शीतल निर्मल यदुवंश में नौ मास तथा कुछ दिन व्यतीत होने पर उत्पन्न हुए। उनका नाम वसुदेव रखा गया।

उसके सौभाग्य सौरभ के बारे में क्या कहा जाय? वह तो अद्भुत था। तीन जगत में भी उसके नमूने के समान कोई नहीं हो सकता। कन्याएँ ऐसे पति की याचना करती थी। मध्यम उम्र की स्त्रियाँ भी वैसा ही पति चाहती थी। वृद्धा स्त्रियाँ तो इस प्रकार से याचना करती थी कि मरकर अगले भव में इसी की पत्नी बनें। मैं पहले इनकी पत्नी बनूँ इस प्रकार विद्याधरों तथा नरेन्द्रों की सैंकडों कन्याएँ विवाह के लिए चिंतन करती थी। इस प्रकार उस दिव्य श्री को भोगकर श्री कृष्ण के पिता बनकर क्रम से कर्म विनिर्मुक्त होकर सिद्धि-सुख को प्राप्त करेंगे।

विद्याधरियों व नृपकन्याओं में जो पहले पत्नी बनने की होड़ थी, वह वसुदेव के पूर्वभव में आचीर्ण तप का प्रभाव था। उस नन्दीषेण की तरह नित्य तप से दुःकृत कर्म जाल का क्षय करना चाहिए। निदान रहित तथा भावप्रधान होकर ही तप करने से शीघ्र ही यथेष्ट सिद्धि प्राप्त होती है।

इस प्रकार तप में नन्दीषेण की कथा पूर्ण हुई।

अब भाव पर इलाचीपुत्र की कथा को बताते हैं -

॥ इलाचीपुत्र की कथा ॥

इलावर्द्धन नामक एक नगर था। वहाँ का जन समुदाय श्रीफल के ऊपर की छाल की तरह ऊपर से कठोर तथा अन्दर से सरल था। वहाँ इभ्य नामक श्रेष्ठि रहते थे। जैसे - समुद्र की जल बूंदों को गिना नहीं जा सकता, वैसे ही उस सेठ के घर रत्न-राशि की कोई गिनती ही नहीं थी। उस सेठ की प्रिया का नाम धारिणी था, जो गुणों में आदर भाव रखती थी तथा दोषों की अवज्ञा करने के कारण दोष उससे दूर ही रहते थे। सुख सागर में निमग्न होकर उन दोनों के दिन बीत रहे थे। केतु ग्रह के समान उनकी अपुत्रता दुःख का कारण थी। उस नगर में इला

नामकी देवी नगर देवता थी। उससे जो भी माँगो, वह मिलता था, अतः पूरे नगर में उसकी ख्याति थी। इस प्रकार के लोक प्रवाह के कारण श्रेष्ठि ने भी अपनी प्रिया के साथ आदरपूर्वक पुत्र की याचना की। सेठ ने कहा - अगर मेरा पुत्र हुआ, तो मैं उसे तुम्हारा नाम दूँगा। तुम्हारी यात्रा करवाऊँगा। और तुम्हारा बहुत बड़ा भवन बनवाऊँगा।

भवितव्यता से सेठानी गर्भवती हो गयी। समय आने पर शुद्धतम दिवस पर पुत्र-जन्म हुआ। तब सेठ ने इलादेव का धाम करवाकर बहुत बड़ी यात्रा करवायी। बारहवें दिन पुत्र का नाम इलापुत्र रखा। पर्वत राज की कन्दरा के अंदर स्थित श्रेष्ठ चम्पक वृक्ष की तरह वह अपने पिता के घर में बिना विघ्न बड़ा होने लगा। क्रमशः कला शास्त्रों आदि सभी को थोड़े ही दिनों में पूर्ण रूप से पढ़कर वह उसमें कलासृष्टा की तरह विज्ञ बन गया। तारुण्य अवस्था प्राप्त होने पर वह जनों को आनन्दमय करता हुआ बुरे विलासी मित्रों के साथ स्वेच्छा वृत्ति से खेलने लगा।

एक दिन उसने नगर के अंदर नाचती हुई लंख पुत्री को देखा। अपने ज्ञान की अतिशयता से एवं उस नट कन्या में रहे हुए गुणों को जानकर उसने विचार किया कि इसके रूप की तुलना जगत में असंभव है। अहो! इसकी लावण्य रूपी दुग्ध-समुद्र की लहरें आकाश का स्पर्श कर रही है। अहो! इसकी विज्ञान लीला का प्रकर्ष अंतिमपद की ओर है। ज्यादा क्या कहा जाय? इसको बनानेवाला विधाता ही कोई और था। यह नृत्य करते हुए अप्सराओं को भी नीचा दिखा रही है। इन्द्र भी अगर इसको नृत्य करते देखें, तो प्रशंसा करते हुए उसकी दृष्टि भी निर्निमेष हो जायगी। इस प्रकार विचार करते हुए परमार्थ की तरह उसके उद्दाम गुणों से वह नटी के अंदर ही नियन्त्रित हो गया। उसको चित्र की तरह निश्चल देखकर उसके मित्रों ने उसका हाथ पकड़कर कहा - हे मित्र! क्या सोच रहे हो? पर उसने उदीरित भद्र की तरह कुछ भी नहीं सुना। मूक की तरह वह मूढ़-धी कुछ भी नहीं बोला। कुल की मर्यादा का त्यागकर, अपकीर्त्ति के भय से उत्पन्न होने वाली लज्जा का त्यागकर उसके नृत्य में लीनात्मा होता हुआ मन में विचार करने लगा - मैं इस पद्माक्षी नटी से विवाह करुँगा। अगर नहीं कर पाया तो जीवित ही जलती अग्नि में प्रवेश करके अपने प्राण त्याग दूँगा।

उसके व्याकुल मित्रों द्वारा किसी तरह उसे घर ले जाया गया। घर पर भी वह चिन्ताज्वर से युक्त रोगी की तरह बैठ गया। उसके माता-पिता ने उसे अन्यमनस्क देखकर उसके मित्रों से पूछा - यह अव्यवस्थित क्यों है? तब मित्रों द्वारा आग्रहपूर्वक पूछे जाने पर उसने निर्लज्जता पूर्वक कहा - उस नटी से शादी करने के लिए मुझे धन चाहिए। यह सुनकर उसके पिता एकदम वज्राघात की तरह हो गये। फिर उसके पास जाकर कहा - वत्स! तुम यह क्या सोच रहे हो?

सुशीतमपि चाण्डालं जलं विप्रः किमिच्छति?

अत्यधिक शीतल होते हुए भी चण्डाल के जल को क्या कभी ब्राह्मण पीता है?

हे कुपुत्र! क्या इभ्य सेठों की रूपवती पुत्रियाँ खत्म हो गयी है? यह तुम्हारा कहना ही अयोग्य है कि तुम नटी में मोहित हो। तब इलापुत्र ने कहा - तात! मैं भी यह जानता हूँ। पर इस स्त्री का काम मुझमें ऐसी हिम्मत पैदा करता है। कामबाण से पीड़ित महान व्यक्ति भी क्या कृत्य-अकृत्य की गणना करता है? अतः आप यह सभी जानकर भी क्या आदेश देते हैं? श्रेष्ठि ने उसको चिकित्सा के अयोग्य जाना। कुधी होने से यह शास्त्र वचनों के स्मरण की भी उपेक्षा कर रहा है।

इलापुत्र ने मित्रों द्वारा नट को इस प्रकार कहलवाया कि मुझे तुम्हारी कन्या दे दो। इसके बदले मैं तुम्हें उतना ही स्वर्ण तोलकर दे दूँगा। उन्होंने भी कहा - बहुत से धन से भी हमसे यह कार्य नहीं हो सकता। क्या हमारी यह नटी हमारे द्वारा बेचने के लिए लायी गयी है? और भी धन, निष्ठा, भोगादि तो बहुत ज्यादा होने पर भी चले जाते

हैं, पर यह नटी तो हमारी हमेशा से अक्षय निधि की तरह है। अगर तुम्हें इससे सम्बन्ध जोड़ना है, तो नट बनकर हम में शामिल होना होगा और हमारी नट-शिल्प-विद्या को सीखना होगा। तब पूर्व भव के सम्बन्ध से उसमें अति रागवान् होता हुआ जन-अपवाद, लोक-मर्यादा आदि का तिरस्कार करता हुआ वह कुबुद्धि युक्त होकर शीघ्र ही उन नटों में शामिल हो गया। मानो उन्हीं का जाति - भाई बन गया। उनसे भी ज्यादा कुशलता पूर्वक व शीघ्र ही नट - विद्या को सीख लिया। तब नटों ने उससे कहा - इलापुत्र! अब तुम इस नटी को पाने के लिए विशाल धन राशि अर्जित करो। उसने भी उनके वचनों को स्वीकार कर लिया।

वह भी अपने नट - कला की सामग्री से युक्त पेटी उठाकर धनार्जन के उपाय के लिए वेन्नातट पुर गया। उसकी सम्पूर्ण घटना जानकर कौतुक से राजा ने भी उसे बुलाकर कहा - कल तुम मेरे सामने अपनी कला का प्रदर्शन करना। इलापुत्र भी प्रातः अपनी सामग्री के साथ वहाँ आया। राजा भी रानी के साथ नाट्य-लीला देखने के लिए बैठ गया। नटों द्वारा आकाश को छुने वाले चार बाँस चारों दिशा में गाड़े एवं उनमें चार रस्सियाँ बांधी। उसके ऊपर एक बड़ा काष्ठफलक रखा। उसके दो-दो लोह की कील लगा दी। वादित्र एक ही काल में नाट्य को देखने के लिए लोकों को बुलाने के लिए तेज स्वर में बजाया। इलापुत्र ढाल व तलवार लेकर व्यग्र हाथों वाला छिद्र सहित पादुका पैर में पहनकर उस पर चढ़ा। वह नटकन्या उस वंशमूल में स्थित गायिका-नटकन्याओं के बीच अद्भुत ग्राम राग स्वर को गाने लगी। वह इलापुत्र विशाल जन समूह द्वारा अंतःकरण सहित देखे जाते हुए वंशाग्र पर ढाल तलवार के साथ नृत्य करने लगा। उन कीलों पर पादुका छिद्रों को रखकर वह सात कदम पीछे व सात कदम सामने चलने लगा। दूसरी बार उसने और तेज गति से किया। उसके नितान्त अतिशायी नाटक को देखकर लोग इतने रञ्जित हुए कि अपना सर्वस्व दान करने के लिए तत्पर हो गये। पर राजा के द्वारा दिये जाने पर ही उस महान् आत्मा को कुछ दिया जाय। पर प्रतीक्षा करने पर भी राजा के न दिये जाने पर वे अपने-अपने धन को बलात् हाथ में धरे रहे।

राजा ने उस नटी को देखकर उसमें अनुरक्त होते हुए विचार किया कि अगर यह इलापुत्र ऊपर से गिरकर मर जाय, तो मैं इससे विवाह कर लूँगा। इलापुत्र के नीचे उतरकर राजा के सामने खड़े रहने पर राजा ने कपटपूर्वक इलापुत्र से कहा - मैंने अच्छी तरह नहीं देखा। अतः वापस करो। यह सुनकर सभी लोगों का मुख काला पड़ गया। इलापुत्र ने तो धन के लोभ से पुनः वैसा ही किया। पुनः उसके गिर जाने का आकांक्षी राजा दुसरी बार राजा के सामने खड़े रहने पर उसे वह क्रिया फिर से करने को कहने लगा। तब सभी लोक राजा की दुष्टता को समझ गये। इलापुत्र ने तो धन के लोभ से पुनः उस प्राणघातक नट-क्रिया की, कहा भी गया है -

प्राणिभिर्लोभमूर्च्छालैः किमेकं क्रियते न वा ।

लोभ से मूर्छित प्राणियों द्वारा क्या एक को [बार बार] किया जाता है या नहीं ?

राजा ने विचार किया कि इसके अभ्यास की दृढ़ता अद्भुत है। यह तीसरी बार करने पर भी नहीं गिरा। पुनः दूषित मन वाले राजा ने कहा - अगर चौथी बार करोगे, तो तुम्हारी दरिद्रता का नाश कर दूँगा। यह सुनकर सभी लोग उस प्रकार राजा की विचारधारा को जानकर राजा से विरक्त हो गये। साक्षात् क्रोध भी था। उसको देने के लिए प्रवृत्त भी थे। इलापुत्र भी जान गया कि राजा दुराशय युक्त हो गया है। यह भी नटी में लुब्ध होकर मेरी मृत्यु चाहता है।

तभी इलापुत्र ने वंश पर स्थित नृत्य करते हुए समीप ही किसी धनिक के घर में भिक्षार्थ आये हुए एक साधु को देखा। हाथों में कंगन, पाँवों में नुपुर, कमर में कटिमेखला को धारण किये, घुंघरु की आवाज के द्वारा कामदेवों के सोये हुए मन को शीघ्र ही जागृत करती हुई, भराव युक्त उन्नत वक्षस्थल को मोतियों की माला के स्पर्श से तृप्त

बनाती हुई, दान के लिए हड़बड़ाने से जिसका आँचल गिर गया हो, ऐसे घबराये हुए मुखचन्द्र से, विपुल श्रेष्ठ शृंगार से युक्त सुन्दरी द्वारा विविध प्रकार के अमूल्य आहार को देने के लिए तैयार उस स्त्री को देखकर भी मात्र पिण्ड विशुद्धि की ओर दृढ मन वाले होकर ध्यान देते हुए वे मुनि चित्त से निर्विकारी, जितेन्द्रिय की तरह थोड़े से भी चलित न हुए।

यह देख इलापुत्र ने संवेद को प्राप्त होकर विचार किया अरे! इस जीवलोक में महामोह से मैं विजृम्भित हुआ। मैं कैसे समृद्धिशाली गुणशाली कुल में उत्पन्न हुआ था। कितनी ही इभ्य श्रेष्ठि की कन्याओं द्वारा मैं चाहा गया था। पर मैं इस नटी में आसक्त हुआ। जिसके संग की स्पृहा से ही मैं इस प्रकार के अनर्थों का भाजन बन गया। हाय! अकार्यकारी पाप को ही मेरे द्वारा देखा गया। अज्ञान से अंधे होकर मैंने पिता को उस प्रकार की व्यथा पहुँचायी। मैंने न तो अपनी तुच्छता देखी, न ही स्वजनों द्वारा कथित सुना। न कुल क्रम को माना, न ही अपने गुणों की ओर ध्यान दिया। नीर के प्रवाह की तरह मैं नीचगामी बन गया। मुझसे भी ज्यादा अकार्य इस राजा ने किया है। अप्सराओं के समान अनेक राजकन्याओं से विवाह करके स्वेच्छापूर्वक विषय-सुख को भोगते हुए भी तृप्त नहीं हुआ। इस समय अस्पृश्य नाटक में अरंजित होकर यह राज्यभ्रंश और अपकीर्ति को शीघ्र ही प्राप्त करेगा। वास्तव में मोहराज की ललित आज्ञा सर्वत्र अस्खलित है। मोह के बिना एकमात्र ये साधु ही आत्मा रूपी उद्यान में एक चित्त वाले हैं। इस प्रकार श्रेष्ठ श्रृंगार युक्त स्त्री को देखते हुए भी थोड़ा सा भी मन मात्र से विकृति को प्राप्त नहीं हुए। धन्य है ये निर्मल ब्रह्मचर्य के धारी! अब मैं भी इन्हीं के उज्ज्वल मार्ग को स्वीकार करुँगा।

इस प्रकार भावना भाते हुए घाती कर्म के विगलित होने से भावचारित्र के योग से उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हुआ। वह नटी भी राजा के भाव को जानकर मन में विचार करने लगी - धिक्कार है मेरे रूप लावण्य को! धिक्कार है मेरे ललित लावण्य को। मेरे लिये एक ने तो काम से मोहित चित्तवाला होकर कुल क्रम, संपत्ति, माता-पिता आदि को छोड़ दिया और दूसरा यह राजा है, जो कुछ प्रयास कर रहा है। जिससे विवेकी मनुष्य कुछ कह नहीं पा रहे हैं। इस प्रकार विवेकचक्षु का वरणकर इस प्रकार विचार करते हुए अनर्थ रूप कन्दली के कन्द [केले की गांठ] की तरह भवों का सर्वथा त्याग करने के लिए संसार के वैराग्य से तरङ्गित मन वाली उस नटी ने भी कर्मों को क्षीण करके केवलज्ञान प्राप्त किया।

नाट्य को देखने के रंग में रंगी हुई पट्टरानी ने भी राजा के दृष्टि विकार, इंगित आदि द्वारा भावों को जानकर विचार किया - हा! हा! सम्राट होते हुए भी काम से चित्तवाले ये ग्रह के आवेश के वश में किये हुए की तरह अकृत्य को भी नहीं जानते हैं। मेरे सान्निध्य में भी इन्होंने नहीं सोचा कि कहाँ मैं महाराज और कहाँ यह लङ्ख पुत्री? कहाँ उनके ये विचार! मूढ होकर उन्होंने भव को बढ़ाने वाले इस तरह के विडम्बना फल को जानकर भी विषयों में विराग नहीं हुआ। इस प्रकार महाबुद्धि से भावना की प्रकर्षता को प्राप्त कर रानी ने भी उसी समय केवलज्ञान की सम्पत्ति को प्राप्त किया।

निजवंश को लज्जित करने वाले जनता के विगत राग को अपने प्रति देखकर राजा ने भी विरक्त आत्मा बनकर चिन्तन किया - अहो! मेरा प्रभुत्व चला गया। मेरी विवेक दृष्टि मारी गयी। मैंने इस प्रकार के लोक विरुद्ध अकृत्य को धारण किया। जैसे - वर्षा से समुद्र एवं इन्धन से अग्नि का पेट नहीं भरता। उसी प्रकार आत्मा भी सर्व वैषयिक सुख से अतृप्त ही रहती है। इस इलापुत्र ने तो इस नटी में मुग्ध होकर कुल, ऐश्वर्य आदि का त्याग कर दिया। मेरे पास धनोपार्जन के लिए आया पर मैंने भी इसके समान ही किया। इसीलिए कहा जाता है -

कोऽत्र स्वतन्त्रात्मा निवसेद् भवचारके ।
यत्राऽस्थाने स्खलन्त्येवमस्माकमपि बुद्धयः ॥

इस जगत् में कौन ऐसी स्वतन्त्रात्मा है जो अस्थान में स्खलित नहीं होती? इसी तरह हमारी बुद्धि भी स्खलित हो गयी।

इत्यादि भावना के द्वारा एकाग्र वह राजा भी भाव व्रत को प्राप्त करके क्षपक श्रेणी पर आरुढ होकर केवलज्ञान को प्राप्त हुआ।

उन चारों आत्माओं को केवलज्ञान प्राप्त हुआ। इस स्थिती को जानकर शासन देवता ने साधु वेष अर्पित किया। पास में रहे हुए व्यन्तर देवों ने उनके चारित्र से चमत्कृत होते हुए जिस बांस पर इलापुत्र स्थित था, उसे स्वर्ण-कमल के रूप में, परिवर्तित कर दिया। उस कमल पर लोकों को प्रतिबोध देने के लिए केवली इलापुत्र ने आसीन होकर उपदेश दिया एवं अपना पूर्वभव बताया।

वसन्तपुर पत्तन में अग्निशर्मा नामक ब्राह्मण था। उसने एक बार धर्म-श्रवणकर गुरु के पास में व्रत ग्रहण किया। उसकी पत्नी ने भी उसके अनुराग से प्रवर्तिनी के पास व्रत ग्रहणकर अध्यापन किया, पर जातिमद नहीं छोड़ा। अग्निशर्मा ने भी स्थविर के पास सिद्धान्त पढ़ा। पर पूर्वाभ्यास से भार्या पर अनुराग को नहीं छोड़ पाया। उन दोनों ने ही अपने-अपने उस महा-अतिचार की आलोचना - प्रतिक्रमण किये बिना ही चिरकाल तक व्रत पालकर अनशन करके मरकर देवलोक को प्राप्त किया। वहाँ से च्यवकर अग्निशर्मा का जीव मैं इलापुत्र बना तथा मेरी पत्नी यह नटी बनी। अनालोचित कर्म के कारण मेरे लिए पत्नी का स्नेह दुःखद हुआ। उनका चरित्र सुनकर बहुत से जन प्रबुद्ध हुए। वे चारों भी भावना के प्रभाव से पाप से निर्मल बनकर केवली होकर धर्मव्याख्यानों द्वारा अनेक भवी जीवों को प्रतिबोधित करके सुविशदसुख रूप मोक्ष को प्राप्त किया। अतः सभी को सतत भावना में प्रयत्न करना चाहिए॥४॥६४॥

इस प्रकार भावना में इलापुत्र की कथा संपन्न हुई। अब धर्म के दायक व ग्राहक के अल्पत्व को कहते हैं-

रयणत्थिणो ति थोवा तद्दायारो ति जहव लोगंमि ।
इय सुद्धधम्मरयणत्थि दायगा दढयरं नेया ॥५॥ (६५)

रत्न आदि को ग्रहण करने व देने वालों की तरह धर्मरत्न ग्राही भी लोक में बहुत थोड़े ही होते हैं।

तत्त्वार्थ यह है कि जैसे - तृण, इन्धन, कण, लवण आदि असार द्रव्यों के ग्राहक व दाता बहुत होते हैं, वैसे ही कुधर्म ग्राही उस तरह के भव के अभिनन्दी आदि से प्रचुर होते हैं। पुनः धर्मरत्न को ग्रहण करने वाले बहुत थोड़े होते हैं।

अब धर्मरत्न-योग्य को तीन गाथाओं से कहते हैं -

धम्मरयणस्स जुग्गो अक्खुद्दो रुववं पगइसोमो ।
लोगप्पिओ अकूरो भीरु असढो सुदक्खिन्नो ॥६॥ (६६)
लज्जालुओ दयालू मज्झत्थो सोमदिट्ठी गुणरागी ।
सक्कहसुपक्खजुत्तो सुदीहदंसी विसेसन्नू ॥७॥ (६७)
वुड्ढाणुगो विणीओ कयन्नुओ परहियत्थकारी य ।
तह चेव लद्धलक्खो इगवीसगुणेहिं संजुत्तो ॥८॥ (६८)

धर्मरत्न के योग्य गुण इस प्रकार है -

१. *अक्षुद्र-अतुच्छ अर्थात् गम्भीर आशयवाला।*
२. *रूपवान।*
३. *प्रकृति सोम्य अर्थात् स्वभाव से ही चन्द्रमा के समान आनन्दकारी।*

४. *लोक प्रिय अर्थात् लोगों को वल्लभकारी।*
५. *अक्रूर।*
६. *भीरु अर्थात् जन-अपवाद से भयभीत।*
७. *अशठ अर्थात् सरल आशयवाला।*
८. *सुदाक्षिण्य अर्थात् अच्छी चतुराई से युक्त।*
९. *लज्जालु अर्थात् प्राण जाने पर भी प्रतिज्ञा नही छोड़नेवाला।*
१०. *दयालु।*
११. *मध्यस्थ अर्थात् राग-द्वेष रहित।*
१२. *सोमदृष्टि अर्थात् शान्तदृष्टि। दूसरों की वृद्धि देखकर ईर्ष्या न करनेवाला।*
१३. *गुणानुरागी अर्थात् गुणों का बहुमान करनेवाला।*
१४. *सत्कथ अर्थात् परपरिवाद में आत्मोत्कर्ष रहित और वह सुपक्ष युक्त सन्मार्ग का पक्षपाती।*
१५. *कार्य को करते हुए सुदीर्घकाल में होनेवाले अर्थ या अनर्थ को देखने के स्वभाववाला-सुदीर्घदर्शी।*
१६. *विशेषज्ञ अर्थात् कृत्य-अकृत्य को जानने वाला।*
१७. *वृद्धानुग-वृद्धानुगामी अर्थात् वृद्ध बुद्धि से उपजीवी।*
१८. *विनीत।*
१९. *कृतज्ञ अर्थात् थोड़े से उपकार को भी बहुत माननेवाला।*
२०. *परहित को करने वाला।*
२१. *लब्धलक्ष अर्थात् सर्वक्रियाओं में सुकुशल।*

इस प्रकार इन इक्कीस गुणों से युक्त धर्मरत्न के योग्य होता है। यहाँ मध्यम एवं जघन्य एक, दो या तीन गुणों का अभाव होने पर भी धर्मरत्न के योग्य जानना चाहिए।।६-७-८।।६६-६७-६८।।

।। इस प्रकार पूज्य श्री चक्रेश्वर सूरी द्वारा प्रारम्भ तथा उनके प्रशिष्य श्री श्री तिलकाचार्य द्वारा निर्वाहित सम्यग् वृत्ति में समर्थित द्वितीय **धर्मतत्त्व** पूर्ण हुआ। ।।

न ते नरा दुर्गतिमाप्नुवन्ति, न मूकतां नैव जड स्वभावम् ।
न चान्धतां बुद्धिविहीनतां च, ये लेखयन्तीह जिनस्य वाक्यम् ॥१॥
लेखयन्ति नरा धन्या ये जिनागमपुस्तकम् ।
ते सर्वं वाङ्मयं ज्ञात्वा सिद्धिं यान्ति न संशयः ॥२॥

वे मनुष्य न तो दुर्गति को प्राप्त होते हैं, न मूकता को, न जड़ता को, न अन्धता को और न बुद्धिहीनता को प्राप्त होते हैं, जो जिन - वाक्यों को लिखते हैं। और विशेषरूप में जो जिनागम पुस्तक को लिखते हैं वे मनुष्य धन्य हैं। वे सभी वाङ्मय को (सर्व जिनागमों को) जानकर सिद्धि को प्राप्त करते हैं, इस में संशय नहीं है। (केवल कथा ग्रन्थाग्र ४४२६ सर्वतो ग्रन्थाग्र ४८०८)

।। ३।। मार्गतत्त्व ।।

द्वितीय धर्मतत्त्व की व्याख्या कर दी गयी। अब यह मार्गतत्त्व का अवसर है। इन दोनों में सम्बन्ध स्थापित करते हुए कहा जाता है कि धर्म सन्मार्ग के अनुसार होना चाहिए। अतः मार्ग का प्रतिपादन करने के लिए उसी कड़ी

में उसकी प्रस्तावना को कहते हैं -

दुलहा गुरु कम्माणं जीवाणं सुद्ध धम्मबुद्धी वि ।
तीए सुगुरुं तंमि वि कुमग्गठिइ संकलाभंगो ॥१॥ (६९)

भारी कर्म वाले जीवों को शुद्धधर्म की बुद्धि भी दुर्लभ है। बुद्धि होने पर सुगुरु तथा सुगुरु मिलने पर कुमार्ग स्थिती रूपी व्यवस्था की श्रृंखला का भंग दुर्लभ है।

अर्थात् भारी कर्मी जीव को शुद्ध धर्म रूपी बुद्धि का मिलना दुर्लभ है। अतः काया से अनुष्ठान करना चाहिए। फिर कदाचित् भवितव्यता के योग से धर्मबुद्धि मिल भी जाय तो सुगुरु मिलना दुर्लभ है। किसी भी प्रकार से कर्म क्षयोपशम से सुगुरु मिल भी जाय, तो उनके प्राप्त होने पर कुमार्ग अर्थात् मोक्ष के प्रतिपन्थी - मार्ग में स्थिती व्यवस्था रूप सांकल का भंग दुर्लभ है॥१॥६९॥

कुमार्ग को जानने पर ही उसका अच्छी तरह निषेध किया जा सकता है। अतः उसको बताने के लिए कुमार्गगामी उपदेशकों के द्वारा निम्न प्रकार से कुमार्ग का उपदेश दिया जाता है। उसे कहते हैं -

जिणभवणे अहिगारो जइणो गिहिणो वि गच्छपडिबद्धा ।
जह तह देयं दाणं सुविहियपासे वयनिसेहो ॥२॥ (७०)
जिणभवणबिंबपूयाकरणं कारावणं जईणंपि ।
आगमपरम्मुहेहिं मूढेहिं परुविओ मग्गो ॥३॥ (७१) ॥युग्मम्॥

जिनभवन में सर्वसावद्य विरत यति का भी अधिकार होता है अर्थात् जिनभवन में वस्तु जिनद्रव्य आदि का विचार करने के लिए यति का भी अधिकार होता है। उस प्रकार से यतियों के न होने पर सावद्य - आरम्भ में रत गृही का भी अधिकार होता है। वह गृहस्थ गच्छ प्रतिबद्ध स्व-स्व आचार्य के वशवर्त्ती होना चाहिए। यथा तथा - जैसे-तैसे किये हुए, खरीदे हुए लाये हुए आदि दोष की तरह पात्र-अपात्र आदि का विचार किये बिना यति वेषधारियों को दान देना चाहिए। उस प्रकार से सुविहित पार्श्व में व्रत का निषेध अर्थात् 'तुम मेरे गच्छ के हो' इस प्रकार बोलते हुए मूढ़ लोगों को सुगुरु के पास व्रत लेने नहीं देता है।

मुग्ध जन को वे किस प्रकार विप्रतारणा करते हैं उसे बताते हैं -

जा जस्स ठिइ जा जस्स संतई पुव्वपुरिस कयमेरा ।
सो तं अईक्कमंतो अणंतसंसारिओ होई ॥१॥

अर्थात् जो जिसकी स्थिती है, जो जिसकी संतति पूर्वपुरुषों द्वारा बतायी गयी है, वह उसका अतिक्रमण करता हुआ अनंत संसारी होता है। अर्थात् तुम मेरे गच्छ के हो अतः तुमको मेरे पास ही दीक्षा लेनी चाहिए।

जिन भवन में रहे हुए बिम्ब की पूजा करने व कराने में यति भी अधिकारी है। तथा आगम से पराङ्मुख मुद्दों के लिए भी यह मार्ग प्ररूपित किया गया है॥२-३॥७०-७१॥

इनकी कुमार्गता जिन वचन के अधःकरण [विपरीत आचरण] से होती है। इसको दिखाने के लिए कहते हैं-

समणाणं को सारो छज्जीवनिकायसंजमो एअं ।
वयणं भुवणगुरुणं निहोडियं पयडरुवंपि ॥४॥ (७२)

श्रमणों का क्या सार है अर्थात् क्या प्रधान है? छः जीवनिकायों का संयम यानि रक्षा। अर्थात् यह भुवन गुरु अर्थात् अर्हन्तों के वचन का प्रकट रूप यानि स्पष्ट स्वभाव रूप है।

इसके विपरीत कहना छ जीवनिकाय की रक्षा के विपरीत प्ररूपणा करनी व आचरण करना यह जिनेश्वर का अनादर है यानि यह कथन अधःकृत के लिए है। क्योंकि वे सर्वप्रकार से जिन मन्दिर के व्यापार में रहते हुए,

अनेषणीय भक्त-पान आदि को ग्रहण करते हुए और गृहस्थों को "मेरे गच्छ के हो" इस प्रकार ममत्व करते हुए तथा अन्य भी ज्योतिष, निमित्त, मन्त्र, तन्त्र आदि का प्रयोग करते हुए छः जीव निकाय का उपमर्दन करते हुए कैसे भगवान के वचन को नीचा नहीं करते हैं? अर्थात् भगवद् वचन की अवहेलना करते हैं।।४।।७२।।

अब सुगृहीत नामधारी आर्यरक्षित द्वारा चैत्य निवास अनुज्ञात होने पर भी कैसे आगम से पराङ्मुख प्ररुपित हुआ? इस प्रकार कहनेवालों को उत्तर देते हुए कहते हैं -

मन्नंति चेइयं अज्जरक्खिएहिमणुनायमिह केई ।
ताण मयं मयबज्झं जम्हा नो आगमे भणियं ।।५।। (७३)

आर्यरक्षित ने चैत्य को मानते हुए चैत्य में रहने का अनुज्ञात होने पर भी उनके मत को मत बाह्य अर्थात् आगम के बहिर्भूत कैसे कहते हो? उत्तर में कहा कि उन्होंने ऐसा नहीं कहा।।५।।७३।।

तो फिर क्या कहा? इसे बताते हैं -

एयं भणियं समए इन्देणं साहुजाणणनिमित्तं ।
जक्खगुहाए दारं अन्नमुहं ठावियं तइया ।।६।। (७४)

सिद्धान्त में प्रभु द्वारा साधु को यक्ष व्यंतर की गुफा अर्थात् व्यंतर आदि किसी देव के चैत्य में ठहरने का कहा है। जिन चैत्य में ठहरने का नहीं कहा।

यह अर्थ एक कथानक से जानना चाहिए, जो इस प्रकार है -

आर्यरक्षित आचार्य की कथा

लवण समुद्र में रहे हुए पोत के समान जम्बू के उपपद के समान एक जंबूद्वीप है। मेरु पर्वत के आधार से घूमते हुए ज्योतिषी चक्र की तरह जहाँ कूप स्तम्भ से लिपटी हुई श्वेत पताका थी। वहाँ अत्यधिक धान्य से मनोरम भरतक्षेत्र है।

समृद्धि के त्राण हेतु रूप राजाओं की जन्मभूमि वाला पारावार की तरह अपार अवन्ती देश वहाँ स्थित था। उस अवन्ती देश में अप्रतिम भूति वाला दशपुर नामक नगर था। जिसकी दसों ही दिशाएँ सार रूप पदार्थों से निर्मित थी। अनन्त सामन्तों के झुके हुए मस्तक रूपी मालाओं से अर्चित हतशत्रु के यथार्थ नाम वाला वहाँ का राजा था। निष्कलंक वाली, सुवृत्ति वाली, सदा कांति से उद्यत रहने वाली, नित्य नयी विधि की मूर्त्ति की तरह धारिणी उसकी वल्लभा थी।

उस-नगर में सोमदेव नामक ब्राह्मण हुआ। राजा के द्वारा मान्य पुरोहित वह पुरजन का वत्सल एवं प्रख्यात था। उसकी पत्नी रुद्रसेना गुण रत्नों की महोदधि थी। करुणा रूपी जल की तरंगिणी के समान वह अर्हत् धर्म के पथ की पथिका थी। भावि में तत्त्व के ज्ञाता एवं पवित्र क्रियावान् होनेवाले के रूप में उसने दो पुत्रों को जन्म दिया। पहले का नाम आर्यरक्षित तथा दूसरे का नाम फल्गुरक्षित था। आर्यरक्षित ने ब्राह्मणों का तीन सेर का मुंज का जनेऊ धारण किया, तब से पिता के पास से, जो कुछ भी वे जानते थे, वह सारा ज्ञान पढ लिया। वड़वानल की तरह शास्त्र रूपी महासमुद्र को पीने के लिए उसने पिता की आज्ञा से पाटलिपुत्र जाकर अध्ययन किया। षट् अंगी, चार वेद, मीमांसा, न्याय के विस्तार को, पुराण व धर्मशास्त्र को - इस प्रकार १४ प्रकार की विद्या पढ़कर महाप्रज्ञ होकर स्रष्टा की तरह उसमें रहे हुए रहस्यों को भी संपूर्ण रूप से चिरकाल के लिए शीघ्र ही उसने संचित कर लिया।

शास्त्र आदि को पार करके आया हुआ उसको जानकर राजा ने स्वयं पूरे नगर में पताकाएँ लहरवायीं। स्वयं

सामने जाकर उसको हाथी पर बैठाकर महा उत्साह पूर्वक उसे नगर में प्रवेश कराया। पहले उस ब्राह्मण पुत्र को बाह्य-शाला में उतारा। वहाँ राजा ने उसे महादान दिया। उसके बाद अन्य नागरिक जनों ने भी दिग्जय करके आये हुए राजा की तरह उसको आ-आकर वस्त्रादि अनेक उपहार भेंट किये। राजा ने उसके आगमन से सभी लोगों को तोरण बाँधने का आदेश दिया था, जिसे देखकर ऐसा लगता था कि अपनी-अपनी गरदन में आभरण धारणकर गृहश्री भी मुस्कुरा रही है। छोटी-छोटी मुक्ताओं की लड़ियों हार की तरह घरों के दरवाजों को पहनायी गयी थी। मानो मंगल स्वयं उसे देखने के लिए साक्षात् वहाँ आया हो। दूसरे भाइयों द्वारा भी द्रव्यमांगलिक आदि किया गया। इस प्रकार की श्री-दशा को ग्रहण करते हुए उसे कुछ दिन व्यतीत हो गये। राजादि द्वारा अभ्यर्चमान उसको देखकर उसके भाई भी उसे अपने गोत्र का अलंकार मानते थे। तभी उसने विचार किया कि - हाय! मैंने अभी तक माता का अभिवादन तो किया ही नहीं। मैं इतने समय तक कैसे प्रमाद रूपी मदिरा के वश हो गया। वत्स! वत्स! इस प्रकार से मेरे प्रति अनवरत बोलते हुए जिसके होठ भी सूखते नहीं थे। विचित्र प्रकार का अत्यधिक स्नेह मेरे प्रति उसके मन में भरा रहता था। उस अम्बा के पास इतने बिलम्ब से जाने के कारण वो मेरी राह देख रही होगी। अहो! मैं दुष्पुत्र हूँ। परभाग अर्थात् उत्कर्षता को प्राप्त होकर उस स्नेहवल्ली को मैंने भुला दिया।

इस प्रकार विचारकर के शीघ्र ही उठकर आर्यरक्षित दिव्य अंग राग, सुगन्धित परिजान पुष्पों से आयुक्त होकर, महामूल्यवान पर अल्प, पुरुषोचित आभूषणों से अलंकृत होकर ताम्बूल द्वारा मुख के अग्रिम दाँतों को माणिक की तरह लाल बनाता हुआ, सूर्य के ताप को रोकनेवाले अपने यश द्वारा उज्ज्वल छत्र को धारण करके वह गृही शीघ्र ही अपने घर की ओर चला। स्नेह से तर नयनों वाले उसने प्रीतिपूर्वक माता को नमस्कार किया। माता ने भी प्रत्यक्ष में कहा - वत्स! अजर-अमर बनो। तब पुत्र-प्रेम, वात्सल्य युक्त उल्लाप आदि को संभ्रम युक्त न जानकर अपनी माता को उस प्रकार से विपरीत जानकर उसने कहा - माता! मेरे अध्ययन से पूरा नगर विस्मित है। लेकिन तुम स्नेह से क्यों नहीं बोलती हो? सर्वविद्यामय मुझको साक्षात् ब्रह्मा की तरह मानते हुए राजा मेरा सत्कार करता है। फिर माँ! तुम्हें संतोष क्यों नहीं है? रुद्रसोमा ने कहा-वत्स! तुम्हारे द्वारा ऐसे शास्त्र पढ़ने से क्या? हिंसा-शास्त्रों को पढ़कर तो नरक में ही जाया जाता है। अतः इस अध्ययन से तुम्हें भावी नरकगामी मानकर मैं दुःखी हूँ। अतः तुम्हारी यह भूति भी मुझे अभूति की तरह लगती है। अगर तुम दृष्टिवाद पढ़कर आये होते, तो मेरा हर्ष कहीं नहीं समाता। मिथ्यादृष्टियों को दुर्लभ जिसका श्रवण मात्र भी स्वर्ग व अपवर्ग प्रदान करने वाला है, उसके पठन का तो कहना ही क्या! तब आर्यरक्षित ने विचार किया कि अन्य जनों के खुश होने से क्या फायदा? मेरी मां जिससे खुश होती है, अब उसी अध्ययन (शास्त्र) को मैं पढ़ूँगा। दृष्टिवाद का नाम व अर्थ भी मुझे अच्छा लग रहा है। जिसके द्वारा देखा जाता है वह दृष्टि है उसका तत्त्व निर्णय - वह वाद है। इस प्रकार विचारकर वह बोला - माता! मुझे गुरु का नाम बताओ, जो दृष्टिवाद का ज्ञानप्रदान करते हो। मैं उसे भी पढ़कर आऊँगा। यह सुनकर अमृतबूँदों से सिञ्चित के समान माँ ने उल्लसित-प्रेमपूर्वक आर्यरक्षित से कहा - हे वत्स! अपने ईख के बाड़े में दृष्टिवाद का प्रदान करने वाले शिष्य-वत्सल तोसलिपुत्र नामक आचार्य हैं। उनके पाद-पद्मों में भ्रमर की तरह होकर भक्ति करना। तब वे तुम्हें दृष्टिवाद का अध्ययन करवायेंगे। तब आर्यरक्षित ने माता से कहा - दृष्टिवाद पढ़ने के लिए उनके पास विद्यार्थी की तरह कल प्रातः जल्दी ही चला जाऊँगा।

इस प्रकार दृष्टिवाद के नामार्थ को पुनः-पुनः चिन्तन करते हुए सम्पूर्ण रात्रि बिना नींद लिये ही व्यतीत हो गयी। प्रातः उठकर माता को प्रणाम करके आर्यरक्षित "माँ! जाता हूँ" इस प्रकार कहकर घर से निकल गया। अपने पुत्र के हित की आकांक्षा करती हुई माता ने भी आशा व्यक्त की कि हे वत्स! शीघ्र ही दृष्टिवाद के पारगामी बनो। पुर के पास ही के गाँव में एक उत्तम ब्राह्मण उसके पिता का मित्र था। वह हाथ में नौ अखण्ड इक्षु-यष्टि एक

खण्डित इक्षुयष्टि लेकर आया। वह आर्यरक्षित से मिलने के लिए उसी के पास आ रहा था। उसके घर से निकलते ही वह सामने ही मिल गया। अंधकार की वजह से तथा बहुत समय से उसे नहीं देखा हुआ होने से आर्यरक्षित को नहीं पहचान पाने के कारण पिता के मित्र ने उसी से पूछा - तुम कौन हो? आर्यरक्षित ने कहा - मैं सोमदेव का पुत्र हूँ। उसने भी शीघ्र ही सुनकर प्रमुदित होते हुए कहा - भ्राता-पुत्र! कल तक तो तुम्हें छोटे से तालाब के पानी की तरह उछलते कूदते देखा था। बुरा मत मानना इस प्रकार प्यार से उसे गले लगाकर स्वागत पूर्वक वार्तालाप किया। फिर कहा - वत्स! ये इक्षु खण्ड मैं तुम्हें उपहार में भेंट करने के लिए लाया था। उसने कहा - तात! मेरी माता को आप ये इक्षु खण्ड दे देना। मैं बाहर जा रहा हूँ। ऐसा कह देना।

तब उस द्विज ने जाकर आर्यरक्षित की माँ से कहा - माता! तुम्हारा पुत्र मुझे सामने मिला। सुबह-सुबह ही हाथ में इक्षुदण्ड लेकर मैं सम्मुख आया। उसने कहा कि माँ को कह देना कि तुम्हारा पुत्र चला गया। इस प्रकार आर्यरक्षित का कहा हुआ द्विज ने कहा। रुद्रसोमा ने भी आनन्दपूर्वक विचार किया कि जाते हुए मेरे पुत्र को यह शुभ शगुन हुआ है। निश्चय ही वह नौ पूर्व का ज्ञान ग्रहण करेगा। अथवा दृष्टिवाद के अध्याय के साथ अंगों में नौ पूर्व का तथा दसवें पूर्व का खण्ड रूप ज्ञान अर्जित करेगा।

उधर आर्यरक्षित ने इक्षु वाटिका में जाकर क्षणभर विचार किया कि बिना जाने मैं गुरु के पास कैसे जाऊँ? उनके पास जाने की उपचार-विधि तो मैं जानता नहीं। अगर चला भी जाऊँ तो गुरु-गृह में रहे हुए लोगों द्वारा उपहास का पात्र बनूँगा। अतः कुछ क्षण यहीं बाहर ही ठहर जाता हूँ। कार्यवशात् किसी वन्दना करनेवाले के साथ ही अन्दर जाऊँगा। इस प्रकार विचारकर वह द्वार पर ही द्वारपाल की तरह रुक गया। कहा भी है -

अविमृश्य न विद्वांसः कुर्वते किञ्चनापि यत् ।

विद्वान् जन बिना विचारे कुछ भी कार्य नहीं करते।

वहाँ पर खड़ा होकर उन सुसाधुओं के स्वाध्याय रूपी सुधी-रस को वह बुद्धिमान खुले कानों द्वारा तृष्णा से आर्त्त व्यक्ति की तरह पीने लगा। तभी वहाँ पर ढड्ढर नामक एक श्रावक वन्दना करने के लिए आया। जिस प्रकार मकर संक्रांति में सूर्य उत्तर दिशा का संग करता है उसी तरह उस श्रावक ने उत्तरासङ्ग किया। तीन बार नैषेधिकी करके वह प्रविष्ट हुआ। फिर उच्च स्वर में ईर्यापथिकी का प्रतिक्रमण किया। फिर गुरु व सुसाधुओं को विधिपूर्वक वन्दन करके अंचल से आसनकर प्रतिलेखन करके गुरु के सामने बैठ गया। आर्यरक्षित ने भी उसी के साथ प्रवेश करके देख-देखकर अपनी तीव्र प्रज्ञा से उसी-उसी विधि को उसके साथ किया। फिर वह सोम-पुत्र ढड्ढर श्रावक को बिना वन्दन किये वहीं बैठ गया। उसे देखकर गुरु ने जाना कि यह कोई नया श्रावक है। आदरपूर्वक धर्मलाभ का आशीर्वाद देकर गुरुदेव ने पूछा - तुम्हें धर्म की प्राप्ति कहाँ से, किससे हुई है? उसने विस्मित होकर यथातथ्य कहा कि अभी इन श्रावक से हुई है परंतु आपको यह कैसे मालुम हुआ? यह मैं जानना चाहता हूँ। क्योंकि मैंने तो रेखामात्र भी विधि इन श्रावक से कम नहीं की। गुरु ने कहा - हे भद्र! तुमने जो देखा, बिल्कुल वही किया। मैंने तुम्हारी महाप्रज्ञा को जान लिया है, इसमें कोई शक नहीं। लेकिन अपने से बड़े श्रावक को भी वन्दन करना चाहिए। लेकिन यह तुमने देखा नहीं, अतः किया भी नहीं। इसी से ज्ञात हुआ कि तुम नये हो। मुनियों ने गुरु से कहा कि- प्रभो! यह आर्यरक्षित है। रुद्रसोमा का यह पुत्र वेद रूपी समुद्र का पारगामी हो गया है। यह चौदह विद्यास्थानों को पढ़कर जब आया, तो राजा ने इसे हाथी पर आरुढ करवाकर नगर-प्रवेश करवाया था।

फिर आर्यरक्षित ने कहा कि - प्रभो! मेरी माता ने आपके पास दृष्टिवाद पढ़ने के लिए भेजा है। दृष्टिवाद से रहित अन्य सभी विद्याओं को पढ़ने के बावजूद भी मेरी माँ मुझे सुरूप होते हुए भी दृष्टिहीन पुरुष की तरह मानती है। अतः कृपा करके मुझे शीघ्र ही दृष्टिवाद का ज्ञान प्रदान करें। अतः माता के वचन का अनुष्ठान करके

उन्हें खुश कर सकूँ। बालक-पालन में स्नेहपूर्वक कष्ट को सहते हुए सुख दुःख को समान रूप से माता ही मानती है, अन्य नहीं। अतः सभी शरीर धारी माता के कर्जदार हैं। उसके सैकड़ों उपकारों की अर्पणा कैसे हो सकती है। अतः आराध्य की तरह उसके विचारों के अनुकूल बनकर पुरुषार्थ करके ही कदाचित् उसके प्रति कृतज्ञ बन सकूँ।

गुरुदेव ने कहा - महाभाग! इस प्रकार का दृष्टिवाद तो साधुवेश में तथा साधु-आचार का पालन करने पर ही पढ़ाया जाता है। हे श्रेष्ठ द्विज! साधु का वेष लेने के बाद भी क्रमशः सूत्र पढ़ाया जाता है। आर्यरक्षित ने कहा - प्रभो! फिर मुझे साधु वेष प्रदान कीजिए। विलम्ब करने से क्या फायदा! दृष्टिवाद पढ़ने के लिए मन में गहरी उत्कण्ठा है। पर व्रत लेकर यहाँ रहने पर राजा व नागरिक आदि अत्यन्त अनुराग के कारण मेरे व्रत का त्याग करवा देंगे।

तब गुरुदेव ने मन में विचार किया कि यह अपनी प्रज्ञा द्वारा भविष्य में शीघ्र ही अध्ययन करके समस्त श्रुतों का पारगामी होगा। अतः गुरुदेव महारत्न के निधान की तरह उसको लेकर शीघ्र ही अपने शिष्य-परिवार सहित वहाँ से अन्यत्र चले गये। श्रीमद् वीरप्रभु के तीर्थ में श्रमणों में सर्वप्रथम शिष्य निष्फेटिका (चोरी) हुई। अर्थात् बिना आज्ञा से दीक्षा देने का कार्य सर्वप्रथम हुआ। यानि प्रथम ग्यारह वर्ष के उस बालक आर्यरक्षित को दीक्षा दी। सामायिक चारित्र को उसने निश्चल होकर यावज्जीव तक ग्रहणकर उस व्रत में उसी समय से दृढ़ीभूत हो गया। किसी ने ठीक ही कहा है -

मिषापेक्ष्येव बोधः स्यात् प्रायो हि लघुकर्मणाम् ।

प्रायः करके लघुकर्मी लोग किसी बहाने से ही बोध को प्राप्त होते हैं।

उभयशिक्षा ग्रहण करके आर्य रक्षित मुनि शीघ्र ही गीतार्थ होकर अनेक प्रकार के तप से तपित होते हुए परीषह रूपी शत्रुओं को जीतते रहे। ग्यारह अंग का अध्ययन उन्होंने एक श्लोक को याद करने की तरह लीला मात्र में कर लिया। गुरु देव के पास में रहते हुए दृष्टिवाद भी मानो कुछ ही क्षणों में ग्रहण कर लिया। गुरु ने भी शिष्य की प्रज्ञा के महासागर को जानकर कहा कि तुम आगे का अध्ययन वज्र गुरुदेव के पास जाकर करो।

आर्यरक्षित ने कहा - प्रभो! वज्रगुरु कौन हैं? अभी कहाँ हैं? तब गुरुदेव ने कहना प्रारंभ किया, क्योंकि -

पुण्याय सतां कथा ।

श्रेष्ठ जनों की कथा पुण्य के लिए ही होती है।

इसी जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में सर्व देशों का शिरोमणी अवन्ती नामक देश है। वहाँ तुम्बवन नामक मनोरम सन्निवेश है। वहाँ की लक्ष्मी युक्त धरती दिव्य स्त्रियों तथा पुरुषों रूपी रत्नों की खान है। उसी नगर में परम आर्हत् इभ्य पुत्र श्रावक धनगिरि नाम व अर्थ से तादात्म्य रूपवाला था। युवा होने पर भी उसका हृदय शम रूपी सिन्धु से आप्लावित था। वैराग्य रूपी लहरों के उद्यत होने से वह कामदेव से भी पराधीन नहीं था। निर्वृति रूपी लक्ष्मी की चाहना करता हुआ वह अन्य स्त्रियों से पराङ्मुख था। कहा भी गया है -

न हि कल्पद्रुमाकाङ्क्षी करीरे कुरुते रतिम् ।

अर्थात् कल्पवृक्ष की इच्छा करने वाला कंटीले वृक्ष की आकांक्षा नहीं करता।

उसके माता पिता उसे मोह श्रृंखला में बाँधने के लिए जिस-जिस कन्या से उसकी सगाई करने की बात करते, वह धनगिरि स्वयं जाकर उस-उस कन्या के पिता को कह देता कि मैं दीक्षा लूँगा, अतः आप अपनी कन्या मुझे न दें।

इधर महा-इभ्य श्रेष्ठि धनपाल की आत्मजा सुनन्दा रूप-गर्व से अति गर्वित होती हुई अपने पिता से बोली - धनगिरि मेरे वे हो चुके हैं - अतः आप मुझे उनको दे देवें। अबला होने पर भी मैं अपने चातुर्य बल से उन्हें रोक

लूँगी। धनपाल श्रेष्ठि ने भी अपनी पुत्री की स्वयं वरण की लालसा जानकर महा-उत्साह पूर्वक अपनी पुत्री का विवाह उसके साथ करवा दिया। सुनन्दा के ज्येष्ठ भ्राता तथा धनपाल के पुत्र समित सिंहगिरि गुरु के पास पूर्व में ही दीक्षा ले चुके थे। सुनन्दा ने दीक्षा लेते हुए धनगिरि को अपनी चातुर्यता के योग से अर्ज करके रोक लिया। भोगावली कर्म के विपाक से पत्नी की प्रार्थना के कारण धनगिरि ने कितना ही काल अपनी प्रिया के साथ बिताया।

इधर पूर्व में अष्टापद पर्वत पर श्री गौतम स्वामि के पास जिसने पुंडरीक अध्ययन सुनने का लाभ प्राप्त किया था, उस वैश्रमण यक्ष का सामानिक जृम्भक देव च्युत होकर सुनन्दा की कुक्षि में अवतरित हुआ। अपनी पत्नी को गर्भवती जानकर धनगिरि ने उससे कहा - हे कान्ते! अब तुम्हें भविष्य के आलम्बन स्वरूप पुत्र रत्न की प्राप्ति हुई है। भोग्य कर्म के सम्बन्ध भी तुम्हारे साथ घटित हो चुके हैं। कहा भी है -

नाऽदत्त्वा स्वफलं कर्म व्यपयात्यर्हतामपि ।

स्व-फल को भोगे बिना अरिहन्तों के कर्म भी नष्ट नहीं होते। और मुझे चारित्र रूपी लक्ष्मी जीवन से भी ज्यादा प्रिय है। अतः उसकी प्रीति से मोक्ष रूपी लक्ष्मी का संबंध घटित होगा।

यह कहकर उसकी अनुमति लेकर धनगिरि ने सर्प के समान कञ्चुकी रूपी प्रिया को छोड़कर सिंहगिरि गुरु के पास जाकर दीक्षा ले ली। उनके साथ ग्रामानुग्राम पुरानुपुर विहार करने लगे। परीषहों को सहन करते हुए तीव्र तपस्या से आत्मा को तपाने लगे। वृक्ष रूपी उद्यान के सहोदर की तरह विनय गुण आदि वृक्षों से युक्त जीवन उद्यान था। रत्नगिरि से रत्नों को ग्रहण करने की तरह उन्होंने श्रुत सागर से श्रुतरत्नों को ग्रहण किया।

इधर समय आने पर सुनन्दा ने भी एक अद्भुत पुत्र को जन्म दिया। रोहण पर्वत पर अंकुरित रत्नों की कान्ति के समान कान्तिवाला वह पुत्र था। सुनन्दा की सखियों ने आनन्दपूर्वक बालक को देखते हुए वाक् पटुता से तत्काल बालक को उद्देश्य करके कहा - अगर आज इसके पिता ने दीक्षा न ली होती, तो वैसा कोई बहुत बड़ा जन्मोत्सव मनाया जाता। अगर घर में पुरुष न हो, तो वह उत्सव भी निरुत्साह युक्त होता है। क्योंकि -

छन्नादित्यं किमाऽऽभाति दिवसेऽपि नभोऽङ्गणम्?

अर्थात् दिन होने पर भी क्या आच्छादित सूर्य गगनांगन को प्रकाशित करता है? अर्थात् पूर्ण रूप से नहीं कर सकता।

शुरुआत में ही प्रायः क्षीणकर्मी होने से बालक ने एकाग्रमन वाले संज्ञी रूप से उस कथा को सुन लिया। उसने विचार किया कि मेरे पिता व्रती हो गये हैं। इस प्रकार तत्क्षण प्रबुद्ध होने से सद्य-प्रसूत बालक को जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हुआ। पूर्व भव में भवभ्रमण कि विषमता को सुना हुआ होने से उसे याद करके वह पिता के मार्ग पर जाने की सोचने लगा। उस बाल मन वाले बालक ने विचार किया कि मेरी माता आलम्बन हीन हो जाने से व्रत की अनुमति प्रदान नहीं करेगी। कदाचित् मेरे प्रति गाढ़ उद्विग्नता पैदा हो जाय, तभी अनुमति प्रदान कर सकेगी। अतः माता में उद्वेग पैदा करने के लिए वह शिशु पूरी रात रोता रहा। उसने माता को न सुख से सोने दिया और न खाने दिया। नये-नये मधुर स्वर में गाये जानेवाले गानों से, झूला झूलाने से, पालना हिलाने से, खेल आदि की वस्तुएँ दिखाने से, बाहों में लेकर पुचकार ने से, हँसाने से, मुख चूमने से, गले लगाने से उसका रोना किसी भी तरह से नहीं रुका। इस प्रकार लगातार छः महीने तक रोते रहने से सुनन्दा ही नहीं उसके परिजन पड़ोसी आदि भी उद्विग्न हो गये।

उसी समय उस नगर में धनगिरि आर्य आदि से युक्त सिंहगिरि गुरु पधारें। धनगिरि तथा आर्य समित ने पूछा - यहाँ हमारे स्वजन है। अगर आपकी आज्ञा हो, तो उनके घर पर जाकर उनकी वन्दना ग्रहण करे। इस प्रकार के वचन सुनकर उस समय के शुभ शकुन व्यवहार को जानकर गुरु ने दोनों को कहा - आज महान् भावी लाभ

का योग है। अतः सचित्त या अचित्त जो भी मिले, वह सभी बिना संशय के मेरी आज्ञा से ग्रहण कर लेना।

वे दोनों मुनि सुनन्दा के घर की ओर आये। उसके समीप ही रहने वाली स्त्री ने शीघ्र ही उसके घर आकर कहा - प्रिय सखी! तेरे पतिदेव आये हैं उनका पुत्र उन्हें ही अर्पित कर दो। इसकी देखभाल तुम अकेले कैसे करोगी? खेदखिन्न हुई सुनन्दा ने भी पुत्र हाथ में लेकर अपने घर आये मुनि से कहा-मैंने इसे छः मास तक बड़े ही कष्ट से पाला है, अब आप इसे ग्रहण करें। इसने मुझे बहुत सताया है। जन्म से लेकर आज तक इसने रोना नहीं छोड़ा। **इसके जैसे पुत्र की अपेक्षा तो पुत्र नहीं होना ही श्रेष्ठ है।** कहा भी है -

अञ्जनेनाऽपि किं तेन चक्षुः स्फोटयतीह यत् ।

ऐसे अंजन से क्या? जो आँखों को ही फोड़ डाले।

आर्य धनगिरि ने भी कहा - ठीक है। मैं अपने पुत्र को ग्रहण कर लूँगा। पर बाद में तुम्हें पश्चात्ताप होगा। तुम्हारे खुद के द्वारा दिया हुआ यह पुत्र तुम्हें फिर वापस नहीं मिलेगा, अतः तुम एक बार सोच लो। उसने कहा - हे मुनि! मुझे कुछ नहीं सोचना है। मैंने यह आपको दे दिया है। उस समय उसके परिजन, पड़ोसी आदि भी कहने लगे - हे मुनि! देर मत करो। आपके द्वारा इस बालक को ग्रहण करने पर सुनन्दा भी प्रसन्न होगी कि इसने अपनी निधि को एक अच्छे स्थान पर स्थापित कर दिया है। देखो! तुम्हारे पुत्र ने इसकी क्या स्थिती कर दी है। यह चर्म व अस्थियों का ढाँचा मात्र रह गयी है। भूख लगने पर यह खाने नहीं देता और नींद आने पर सोने नहीं देता।

तब उसके सभी परिजनों की साक्षी से उसके द्वारा अर्पित पुत्र को मुनि ने पात्र में बाँध लिया। उस बालक ने भी शीघ्र ही रोना बन्द कर दिया। **संसार में रहे हुए भय के दूर होते ही साध्य की सिद्धि से वह प्रमुदित हो गया।** तब वे दोनों मुनि सचित्त की भिक्षा लेकर गुरु-आज्ञा का विचार करते हुए गुरु के पास आये।

निधान के कलश की तरह उस बालक के अत्यधिक भार से मुनि के हाथ के कोहनी तक के भाग को नीचे झुका हुआ देखकर गुरुदेव ने धनगिरि आर्य से कहा - मुनि! अत्यधिक भार के परिश्रम से आयी हुई स्वेद-बिन्दुओं से आर्त्त दिखायी देते हो। अतः उस भार को वहन करने के लिए गुरुदेव ने हाथ फैलाये। तब **धनगिरि** ने पात्र की झोली में बाँधे हुए शिशु को देवदुष्य वस्त्र से देवकुमार की तरह बाहर निकाला। फिर प्रयत्नपूर्वक रत्न की तरह गुरु को अर्पण किया। गुरुदेव के करकमल भी उसके भार से झुक गये। झुके हुए हाथों से विस्मित होते हुए गुरु ने मुनि से कहा - अहो! वज्र जैसा भारी यह कैसे उठाकर लाये? तब उसके अति पुण्यवान् पात्र की प्राप्ति से आनंदित हुए ऐसे गुरुदेव ने उसी समय उस बालक का नाम वज्र रखा। यह पुण्यवान महान प्रवचन धारी होगा। अतः चिन्तामणि रत्न की तरह आदरपूर्वक प्रयत्न से इसकी रक्षा करनी चाहिए।

तब सिंहगिरी आचार्य ने वृद्धावास में स्थित अपनी साध्वियों की शय्यातरी को बुलाकर उस वज्र-शिशु की कार्य चिन्ता की अधिकता से उस बालक को उसे अपने सर्वस्व की तरह पालने के लिए अर्पित किया। फिर गुरुदेव शिष्य परिवार सहित अन्यत्र विहार कर गये। क्योंकि -

मुनीनां शकुनीनां च न यदेकत्रचारिता ।

अर्थात् मुनियों व पक्षियों का निवास एक जगह रहने का नहीं होता।

वह शय्यातरी भी उस बालक को अपने पाप-पुत्र से (स्वयं के पुत्र से) भी ज्यादा धर्म-पुत्र की नित्य पालना-लालना करने लगी। सभी शय्यातरीजनों ने उस बालक का उपचार गुरुओं के बहुमान से गर्वपूर्वक किया। श्राविकाओं द्वारा एक हाथ से दूसरे हाथ में दिये जाते हुए, वह पालने में अथवा डोली में बहुत समय तक नहीं रह पाता था। बुलाने पर वह बोलता था, खेलने वालों के द्वारा खेलाया जाता था। बहुत बड़े कुटुम्ब पति पुत्र आदि युक्त स्त्री की तरह शय्यातरी को दिन बीतने का ज्ञान ही नहीं होता था। वह बालक भी परिणाम से वय से बड़ा

होते हुए वृद्ध की तरह हो गया। वह यति की तरह स्थिर होकर कुछ भी चपलता नहीं करता था। प्रायः प्रासुक अशन-पान आदि द्वारा प्राण-यात्रा का निर्वाह करता था। जाति-स्मृतिज्ञान से सब कुछ जानकर वह अपने आप को मुनि की तरह मानता था। निहार आदि की इच्छा होने पर वह ज्ञान रत्न निधि की तरह अपनी धात्री-जनों को इशारा कर दिया करता था। अपने चारों ओर शय्यातर-पुत्रों के खेले जाने पर भी वह सामायिक ग्रहण किये हुए की तरह सभी के मध्य समभाव में आसीन होकर रहता था। आर्यिकाओं के उपाश्रय में वह पुस्तक आदि को ग्रहण करता हुआ ही खेलता था। वह प्रतिदिन बाल लीलाओं द्वारा साध्वियों को प्रमुदित करता था। साध्वियों के उपाश्रय में वस्त्र के झूले में झूलते हुए भी साध्वियों को पढ़ते-गुणते हुए सुनकर उस महामति वाले ने ज्ञानावरणीय कर्म की लघुता से (क्षयोपशम से) ग्यारह अंगों का अध्ययन उसी प्रकार किया जिस प्रकार मातृका अक्षर के उच्चारण मात्र से भगवान् द्वारा गणधरों को चौदहपूर्व का ज्ञान होता है।

सुनन्दा ने भी अपने आत्मज को सर्वांगीण गुणों से उज्ज्वल देखकर लुब्ध होते हुए शय्यातरी को कहा कि मेरा पुत्र मुझे समर्पित कर दो। उन्होंने कहा कि हम नहीं जानतीं कि यह पुत्र किसका है। गुरुदेव ने इसे हमारे पास धरोहर के रूप में रखा है। अतः गुरुदेव की आज्ञा बिना हम इसे अन्य किसी को नहीं देंगे। वज्र की माता रूपी बुद्धि से तुम हमारे घर पर भी मत आना। जैसे गरीब स्त्री दूर से भोजन को देखती है, वैसे ही वह भी अपने पुत्र को दूर से ही देखकर खेदपूर्वक विचार करती कि हा! मुझ दुर्बुद्धि ने यह रत्न हार-दिया है। फिर उन शय्यातरियों को अनुरोध करके वह भी श्रमणियों को वन्दना करने आयी हुई श्राविकाओं की तरह वहाँ रहकर बालक को खिलाने लगी। वह सोचती थी कि जब गुरुदेव पधारेंगे तो कर्जदार से प्राप्ति की तरह अपने पुत्र को ग्रहण कर लूँगी।

वज्र जब तीन वर्ष का हुआ, तो गुरुदेव सपरिवार वहाँ पधारे। सुनन्दा ने गुरु से अपने पुत्र की याचना की। गुरुदेव ने कहा - हे विवेकिनी! तुम्हारा यह कहना कैसे उचित हो सकता है? दान देकर पुनः भाव से पश्चात्ताप करना भी योग्य नहीं है, तो फिर पुनः प्राप्त करने की इच्छा करना कैसे योग्य है? साधुओं के बिना माँगे ही तुमने इसे दिया था। और मुनियों ने भी साक्षीपूर्वक पुनः न लौटाने की शर्त पर इस बालक को ग्रहण किया था। यह सभी तुम कैसे भूल गयी? सुनन्दा ने कहा - मैं भूली नहीं हूँ। किन्तु इसके रोने से उद्विग्न होकर अज्ञानतापूर्वक ही मैंने यह सब किया है।

उनके इस प्रकार के विवाद से लोगों ने कहा - इस वाद का निर्णय राजा के बिना नहीं हो सकता। तब सुनन्दा नागरिकों व स्वजनों के साथ राजा के पास आयी। गुरुदेव भी समस्त संघ से घिरे हुए वहाँ गये। राजा का उचित सत्कार करके सुनन्दा बायीं तरफ बैठी व दाहिनी तरफ आर्य सिंहगिरि संघ युक्त होकर बैठे दोनों के विवाद को सुनकर धर्म की तुला की उपमा वाले राजा ने मन से विचार करके सम्यग् निर्णय धारण किया। दोनों पक्ष के बीच में वज्र को बैठाया जाय। जिसके बुलाने से वह जिसके पास आ जाय, उसी को पुत्र दिया जायगा। दोनों ने यह बात स्वीकार कर ली, क्योंकि राजा के कथन का उल्लंघन कौन करे? लेकिन यह प्रश्न खड़ा हुआ कि पहले बालक को कौन बुलाये? पक्षपात रहित राजा ने तत्क्षण कहा कि सर्वत्र पुरुष मुख्य है। अतः पहले गुरुदेव बुलायेंगे।

यह सुनकर सुनन्दा के पक्षवाले नागरिकों ने कहा - देव! साधुओं के चिर संसर्ग से यह उन्हीं में स्नेहवान् है। पति एवं पुत्र रहित यह माँ क्या अनुकम्पा का स्थान नहीं है? तब करुणायुक्त राजा ने भी यह बात मान ली। राजा के द्वारा आदेश मिलने पर सुनन्दा ने हर्षोल्लासपूर्वक अपने मनुष्यों द्वारा खेलने व खाने का बहुत सारा सामान मँगवाया। फिर राजा की परिषद के मध्य वज्र को समस्त रत्नों के सार की तरह बिठाया गया। सुनन्दा ने दोनों भुजाओं को फैलाकर खुश होकर सुधा-सिक्त वाचा द्वारा सुन्दर स्नेह का अभिनय किया। आओ! आओ! वत्स! मेरी गोद को अलंकृत करो। पद्मा के प्रद्युम्न की तरह तथा इन्द्राणी के पुत्र जयदत्त की तरह मेरी गोद में

आओ। हे वत्स! मैं चकोर की तरह उत्सुक हूँ। मुझे अपना मुख दिखाओ। चन्द्रमा की तरह पूर्ण रूप से धरातल पर अवतीर्ण होओ। मेरे सम्मुख देखकर मुझे थोड़ा सा तो अनुगृहीत करो। हे पुत्र! क्या सुन्दर आलाप की भी संभावना नहीं है? अपनी माँ को अधीर न बनाओ। हे मेरे जीवन! आओ! आओ! अपने वियोग की अग्नि के ताप से दुःखी मुझे जीवन का आलिंगन प्रदान करो। इस प्रकार मुझ विलाप करती हुई को हे पुत्र! उत्तर दो। क्या मुझ मात को भी तुम वैरिणी के समान मानते हो? मैं तुम्हें इन्द्र के समान मानती हूँ। अतः आओ! चन्द्रकान्त मणि के समान यह ऐरावत हाथी छोटा होकर तुम्हारे साथ खेलने के लिए आया है। हे पुत्र! यह स्वर्णमय घोड़ा किस तरह से बनाया हुआ है। वेगपूर्वक समुद्र तट पर दौड़ता हुआ यह प्रतीत होता है। देखो! इधर अनेक रत्नों से बनें इस क्रीड़ा रथ को देखो। पांचों इंद्रियों रूपी अश्व के मनरूपी सारथी की तरह प्रतीत होता है। देखो लकड़ी से बनी हुई इस ढाल व तलवार को हाथ में लिये हुए योद्धाओं को देखो कीलिका के प्रयोग से सजीवों की तरह युद्ध करते हुए प्रतीत होते हैं। नीलम के रंग वाले शरीर तथा पद्मराग के रंग वाली चौंच से युक्त यह खेलनेवाला तोता तुम्हें कुछ कहता हुआ दिखायी देता है। देखो! गुण का संचार करती हुई नाचती हुई इस लकड़ी की नर्त्तकी को देखो। यह गायकों के आधार से बना हुआ संस्थान मानो तुम्हारें गुण गाने के लिए ही है। देखो! इस काष्ठमय वंश-वीणा आदि कलात्मक वादकों को देखो। ये तुम्हें अपनी कला दिखाने के लिए ही आये हैं। इन सिंह, हाथी, बैल, वानर आदि को ग्रहण करो। हे वत्स! क्या इन्हें देखकर तुम्हें थोड़ा भी कौतुक नहीं होता? हे वत्स! इस स्वच्छ हार को अपने कण्ठ स्थान पर धारण करो। तुम्हारे मुखरूपी चन्द्र के पास यह हार तारों की शोभा को प्राप्त करेगा। हे वत्स! कानों में स्वर्ण कुण्डल को धारण करो। झूलते हुए ये कुण्डल सुन्दर शोभा को धारण करेंगे। अपनी अंगुलियों को इन अंगुठियों से अलंकृत करो। हे सुभग अग्रिम! तुम्हारी भुजाएँ लताओं की तरह शोभित होंगी। इस बाजुबन्ध को राखड़ी अथवा तावीज की तरह धारण करो। हे पुत्र! चुपचाप क्यों बैठे हो? सिर पर साफा धारण करो। इस दिव्य वस्त्र से बने हुए पट्ट को धारण करो। स्वर्ण तंतुओं से बने इस अंगरखे (कुर्ते) को अपने अंग पर धारण करो। हे पुत्र! इस वल्कल से बने हुए पट्ट से जो तुमने शरीर ढक रखा है, इसे दूर करो। इस रत्न-कन्दुक को स्वीकार करो। हे कुमार! मन को प्रमुदित करनेवाले इन मोदकों को स्वीकार करो। अमृत के समान शक्कर से एकत्रीभूत होकर बने हुए ये मोदक हैं। यह खजूर, सिंघोड़े आदि के द्वारा बनाये हुए ये मोदक हैं। तिल के लड्डु आदि के एक-एक दाने में अद्‌भुत रस रहा हुआ है। ये पीली उजली खजूर की अंकुरित शाखाएँ है। यह सुखादि देनेवाली किसमिस है। इसकी तरफ मुख करो। सत्कवि के काव्य की तरह यह चबाने में आनंददायक है। नारियल के गोलक को ग्रहण करके हे पुत्र! मुझे अनुग्रहित करो। और भी दाड़म, नारंगी, आम, केले आदि को देखो। ये सभी रसों के बीज रूपी उच्च फल है। हे पुत्र! कुछ तो ग्रहण करो। मुझे निराश मत करो। अन्यथा मेरी लाघवता से छाती फट जायगी।

इधर वज्र बालक होते हुए भी खाने, खेलने, चाटने आदि में अनासक्त आत्मा वाला था। पर माँ की दीनता देखकर वह कुछ-कुछ दयार्द्र हो गया। उसने विचार किया कि यह संघ तो क्रम पूर्वक तीन जगत् से वन्दित है। इधर मेरी माँ निरालम्ब है, अतः मेरा मन दोलायमान होता है। यदि गुरु के पास जाता हूँ, तो माता का सब कुछ नष्ट हो जायगा। और अगर माता के पास जाता हूँ, तो संघ का अपमान होता है। पर माता अभी अत्यधिक दीन अवस्था में है, अतः इसे छोड़ना युक्त नहीं है। माता का त्याग करके मैं उसके उपकारों से कैसे उऋण हो पाऊँगा। इस प्रकार विचार करते हुए पुनः उसके मन में दूसरी चिन्तन धारा स्फुटित हुई - ओह! यह मैंने अनन्त संसार के कारण को क्यों सोचा? मेरे लिए ही तो यह संघ राज-भूमिका पर आरूढ़ हुआ है। मुझ ग्यारह अंग के ज्ञानी को भी यह भ्रम पैदा हो गया। मैं कुबुद्धिवाला इस संघ का अपमान करके किस गति में जाऊँगा? कहा भी है -

नाऽपमान्यस्तत: सङ्घो जिनेन्द्रेणापि योऽर्च्यते ।

जिस संघ की जिनेंद्र भी अर्चना करते हैं, उसका अपमान कदापि नहीं करना चाहिए।

माता-पिता, पुत्र-पुत्री, भ्राता, पत्नी, बहन, मित्र ये सभी अपने-अपने कर्म की अवधि तक ही रहते हैं, बाद में कुछ भी नहीं है। अनंत भवों में जीव को अनन्त बार अनन्त माताएँ प्राप्त हुई हैं, फिर संघ का अपमान करके उस माता के प्रेम से क्या? माता का तिरस्कार करने पर तो उसे थोड़ा ही दुःख होगा। फिर हो सकता है, मेरे प्रेम से वह भी दीक्षा ले लेगी। इस प्रकार विचार करके वह महात्मा वज्र चित्र की तरह स्थिर बैठा रहा। क्षीण मोह वाले के समान स्नेह-रहित होते हुए उसने माता को देखा भी नहीं।

तब राजा ने सुनन्दा से कहा - हे भद्रे! तुम अब बस करो। क्योंकि तुम्हारा यह पुत्र तुमसे अंश मात्र भी नहीं माना। फिर राजा ने गुरु से कहा कि अब आप उसे बुलाइये। गुरुदेव ने भी धनगिरि आर्य को पुत्र को बुलाने के लिए आदेश दिया। धनगिरि ने भी आचार्य के आदेश को मानकर हाथ फैलाकर रजोहरण को दिखाते हुए कहा - हे वज्र! अगर धर्म ध्वज को फहराने का अध्यवसाय है तो ध्वज ग्रहण करो। दुष्कर्म को निवारण करने वाले इस रजोहरण को ग्रहण करो। शीघ्र ही उस हलुकर्मी वज्र ने प्रसन्न होकर धनगिरि के हाथ से उस धर्म ध्वज को लेकर निज वंश में ध्वजा स्थापित की। संघ ने विचार किया निश्चय ही जिनेन्द्र-धर्म की जीत हुई है। वज्र धर्म ध्वज के बहाने से जयध्वज को उन्नत बनायगा। राजा भी सैकड़ों प्रलोभन से मोहित हुए बिना उस बालक को महात्मा की तरह धर्म ध्वज लेते हुए देखकर उसके विवेक से अत्यधिक खुश होते हुए परम आर्हती बन गया। अन्य बहुत से लोग भी यह देखकर जिनधर्मी बन गये।

सुनन्दा दुःखित होती हुई अपने कर कमलों में मुँह छिपाकर शीघ्र ही दिन के चन्द्रमा की तरह कान्ति-विहीन हो गयी। उसने विचार किया कि मैं अधन्य हूँ कि पति व सुत के द्वारा त्यागी गयी हूँ या फिर धन्य हूँ कि मेरी कुक्षि से ऐसा रत्न पैदा हुआ। मेरे भाई व पति ने तो पूर्व में ही व्रत अंगीकार कर लिया था। मेरा पुत्र भी दीक्षा लेने की इच्छा रखता है। फिर मैं क्यों नहीं दीक्षा ग्रहण कर लूँ? अब मेरे द्वारा अकेले घर में रहने से क्या फायदा? इस प्रकार की चिन्ता-परायणा होकर वह घर के प्रति विरक्त सी हो गयी। वज्र की उम्र तीन वर्ष की होने पर भी गुरुदेव द्वारा समस्त लोगों की साक्षीपूर्वक उसे प्रव्रजित किया गया। फिर उस नन्हे वज्रमुनि को वज्र-निधान की तरह लेकर कृत-कृत्य होते हुए मुनि अपने उपाश्रय में आ गये। सुनन्दा ने भी पुत्र-प्रेम के वशीभूत होकर अपना धन सात क्षेत्रों में नियोजित करके उनके पास दीक्षा ग्रहण कर ली। विहार करने में असमर्थ होने से बाल मुनि वज्र को स्थिरवासी मुनियों के पास वहीं छोड़कर गुरुदेव अन्यत्र विहार कर गये। आठ वर्ष के होने पर गुरु ने उन्हें अपने साथ ले लिया।

एक बार उन्होंने उज्जयिनी नगरी की ओर विहार किया। विहार करते हुए बीच में ही पृथ्वी पर मूसल धार बरसात हुई। बादलों ने अखण्डधार से वर्षा करके पृथ्वी पर प्रलय की रचना कर दी। बरसात के उपद्रव से डरते हुए गुरुदेव बरसती बरसात में कहीं भी यक्षादि के आयतन में सपरिवार रहे। तभी उस प्रदेश में से जाते हुए जृम्भक देव ने अपने पूर्व भव के मित्र रूपी वज्र-स्वामी को देखा। वज्र मुनि के सत्त्व की परीक्षा करने के लिए उस देव ने संपूर्ण इच्छाओं की पूर्त्ति करने वाले एक वणिकों के सार्थ को वहाँ स्थित किया। वृष्टि की निर्वृत्ति करते हुए उन जृम्भक देवों ने क्षमाश्रमण गुरुदेव के पाद-युगल में नमस्कार करके कहा - प्रभु! वज्र नामक क्षुल्लक मुनि को अभी हमारे संविभागव्रत की अनुपालना के लिए भेजिए। गुरुदेव ने आज्ञा दी - वत्स! वज्र! शीघ्र ही जाओ। इनकी समाधि को धारण करो। दान से ये श्रेयस् का अर्जन करें। आवश्यकी क्रिया करके पात्र लेकर वज्र मुनि समिति-गुप्ति में सम्यग् उपयोगपूर्वक निकल गये। बाहर निकलते ही आकाश से अति सूक्ष्म परिमाण वाली लीख से भी छोटी-छोटी जल बूँदों को आकाश से गिरते हुए देखा। तब अप्काय की विराधना के भय से श्रृंगार से प्रशान्त तथा

अंगार से चेतन की तरह डरते हुए वे शीघ्र ही अपने स्थान पर लौट गये। कुबेर के भंडार रक्षक देवों ने उस सूक्ष्म वृष्टि का भी उपसंहार करके पुनः वज्र मुनि को अत्यधिक आदर के साथ बुलाया। तब उनके अनुरोध से वे सिद्धि मार्ग के सार्थवाह बाल-ऋषि सार्थ के आवास की ओर चले। अत्यन्त आदरपूर्वक प्रतिलाभित होते हुए उन्हें देखकर द्रव्यादि के द्वारा पिण्ड आदि विशुद्धि को जानने वाले प्रज्ञावान् बाल मुनि ने उन-उन द्रव्यों में उपयोग लगाया। वर्षा के प्रारम्भिक समय में ही यह पेठा आदि द्रव्य कैसे हुआ? अवन्ती का क्षेत्र तो कठोर है, फिर हे श्रावकों! हमें देने के लिए यह कहाँ से लाये? भाव से हृष्ट-तुष्ट, पाँवों से भूमि को स्पर्श किये बिना, निर्निमेष दृष्टि आदि को देखकर मुनि संभ्रमित हो गये। निश्चय ही ये देव हैं। मायापूर्वक वणिक् बने हैं। इसलिए भिक्षा ग्रहण नहीं करूँगा। यह भिक्षा अकल्पनीय है। इस प्रकार विचारकर बोले - "साधुओं के लिए देवपिण्ड निषिद्ध है, अकल्पनीय है।" तब चमत्कृत होते हुए देव प्रकट होकर बोले - हे वज्रर्षि! हम तुम्हारे पूर्वभव के मित्र जृम्भक देव हैं। हम सौहार्द्र भाव से तुम्हारी परीक्षा करने के लिए ही यहाँ अवतीर्ण हुए हैं। बालक होते हुए भी तुम्हारी महामति-क्रियाओं से हम प्रसन्न हुए हैं। अतः हमारी वैक्रिय लब्धि नामकी विद्या को प्रसन्न होकर धारण करो। वज्र ऋषि को अनुरोधपूर्वक वह विद्या देकर वे देव चिरकालीन स्नेह वृक्ष पर आरुढ़ फल वाले होकर लौट गये।

एक बार जेठ के महीने में वज्र मुनि बाह्य-भूमिका में गये। पुनः उन देवों ने वणिकों का रूप धारण करके (घृत से परिपूर्ण) घेवरों द्वारा उन्हें निमन्त्रण दिया। पर उसको भी देवपिण्ड जानकर वज्र मुनि ने ग्रहण नहीं किया। क्योंकि -

मुनयो मुनिचर्यासु न प्रमत्ताः कदाऽपि यत् ।

मुनि लोग अपनी मुनिचर्या में कभी भी प्रमत्त नहीं होते।

तब पुनः वे मित्र देव विशेष प्रीतिवान् होकर मुनि को आकाश-गामिनी विद्या देकर अपने स्थान को चले गये।

गच्छवास में रहते हुए अन्य साधुओं को पढ़ते हुए सुन-सुनकर वज्र मुनि के ११ अंग पहले ही पढ़े हुए के समान स्थिर हो गये। पूर्वगत ज्ञान भी किसी-किसी साधु द्वारा पढ़े जाने पर वह भी सुनकर अध्ययन किये हुए की तरह पा लिया। स्थविर साधु जब वज्र मुनि को पढ़ने के लिए कहते, तो वे मुण-मुण करते हुए आलसी की तरह पाठ पढ़ते। अन्य मुनियों द्वारा पढ़े जाने पर एकाग्र मानस द्वारा तृष्णा से पीड़ित की तरह उस श्रुत रूपी अमृत को पीने के लिए अत्यधिक उत्सुक रहते।

एक बार मध्याह्न के समय कुछ मुनि गोचरी के लिए चले गये। गुरुदेव सिंहगिरि अन्य-मुनियों के साथ बहिर्भूमि को चले गये। वज्र मुनि अकेले वसति-रक्षक की तरह उपाश्रय में रह गये। वज्र मुनि ने बाल-सुलभता से साधुओं की उपधी के द्वारा मुनियों की पंक्तियों की तरह गोल घेरा बनाया। उस घेरे के मध्य में स्वयं गुरु की तरह बैठ गये। परिपाटी के क्रम से सभी मुनियों के प्रति पूर्ण ग्यारह अंगों की तथा कुछ पूर्वगत ज्ञान की गर्जना-युक्त ध्वनि में वज्र मुनि ने अस्खलित वाचना दी। उपाश्रय के समीप आये हुए गुरुदेव ने मेघ की गर्जना के समान वाचना-ध्वनि को सुनकर विचार किया - क्या मुनिश्रेष्ठ भिक्षा लेकर शीघ्र ही आ गये हैं? हमारी प्रतिक्षा करते हुए क्या स्वाध्याय कर रहे हैं? एक क्षण विचार करके गुरु ने स्वयं जाना कि यह तो वाचना देते हुए वज्र मुनि की ध्वनि है। ग्यारह अंग कहाँ पढ़े? पूर्वगत श्रुत भी इसने कहाँ पढ़ा? अहो! आश्चर्य है! महान् आश्चर्य है! कि यह वाचना दे रहा है। उपयोग पूर्वक गुरुदेव ने जाना कि वज्र मुनि ने अपनी पदानुसारी मति द्वारा सूत्र सब धारण कर लिये हैं। और इसी कारण हमारे द्वारा नित्य पढ़ाये जाने पर यह आलसी के समान बैठा रहता है। हमें देखकर यह लज्जित न हो जाय कि हमने इसे वाचना देते हुए सुन लिया है। अतः जोर से नैषेधिकी का उच्चारण करते हुए प्रवेश किया।

वज्र मुनि भी गुरुदेव के शब्द सुनकर शीघ्र ही चतुराईपूर्वक आसन छोड़कर साधुओं की उपधी को यथास्थान रखकर गुरु के समीप आया। प्रसन्नता पूर्वक गुरु के हाथ से दण्डक लेकर उनके पाद-पद्मों से रज का प्रमार्जन करके प्रभु के चरणों को अपने कौतूहल से कृत निर्मल मन द्वारा प्रक्षालित किया। गुरुदेव ने विचार किया कि बालक होते हुए भी यह मुनि श्रुतसागर का पान करने वाले अगत्स्य ऋषि की तरह सीमातीत प्रज्ञावान् होगा। इस मुनिपुंगव का कोई अन्य मुनि पराभव न करने पाये। अतः भुवन में अतिशायी इसकी महत्ता का सभी मुनियों को बोध कराऊँगा। इस प्रकार विचारकर रात्रि में सभी मुनियों को बुलाया और कहा - मैं अमुक गाँव में जाऊँगा। वहाँ मुझे दो-तीन दिन लग जायेंगे। तब साधुओं ने गुरुदेव को ज्ञापित करवाया - आपके जाने के बाद हमारे वाचनाचार्य कौन होंगे? गुरुदेव ने कहा - वज्रमुनि तुम्हारे वाचनाचार्य होंगे। उन विनीत शिष्यों ने भी गुरु के वचनों को बिना किसी शंका के, बिना किसी अन्य विचार से 'तहत्ति' कहकर स्वीकार किया।

प्रातःकाल गुरुदेव के ग्राम चले जाने पर शेष मुनियों ने गुरुदेव की ही तरह वज्र मुनि का आसन बिछाया। वज्र मुनि भी गुरुदेव के आदेश से महामति रूप से वहाँ विराजे। गुरु के स्थान पर बैठे हुए बालक होते हुए भी वे गुरु के समान शोभित होने लगे। काल-प्रवेदन आदि सभी कृत्य प्रातःकाल में गुरु की तरह ही उनके सामने सभी तपोधनी मुनियों ने किया। फिर सभी मुनि पढ़ने के लिए बैठे। वज्र मुनि ने भी स्पष्ट तथा अस्खलित वचनों द्वारा वाचना दी। वज्र मुनि की कुशलता-युक्त जोरदार वाचना सुनकर जो मन्द बुद्धि साधु थे, उन्होंने भी पढ़ना शुरु कर दिया। वज्रमुनि ने जड़ बुद्धि वालों के जड़ता रूपी पर्वत का भेदन किया। उनका अतिशय देखकर सारा गच्छ विस्मित रह गया। पहले के पढ़े हुए ज्ञान में जो कुछ संदिग्ध रह गया था, वह सभी भी वज्रमुनि से पढ़कर उन्होंने निःशंकित कर लिया। जो ज्ञान उन्होंने गुरुदेव के पास अनेक वाचनाओं द्वारा प्राप्त किया था। वह सभी ज्ञान वज्र मुनि ने एक ही वाचना द्वारा मुनियों को समझा दिया। संतुष्ट होते हुए मुनि परस्पर कहने लगे कि अगर गुरुदेव कुछ दिन और ठहरकर पधारें, तो उनके आने से पहले ही हम यह श्रुतस्कन्ध वज्रमुनि के पास ही पढ़कर पूर्ण कर लें।

इस प्रकार वज्रमुनि साधुओं में अत्यन्त सम्मान के पात्र बन गये। गुण किसको प्रमुदित नहीं करते और जब गुणी सतीर्थिक हो, तो प्रसन्नता की तो बात ही क्या? उधर गुरुदेव ने विचार किया कि इतने दिनों में वज्रमुनि के गुणों ने साधुओं के दिल में अपनी जगह बना ली होगी। मुनियों का भी जो कुछ अध्ययन शेष रह गया होगा, वह सभी अब मैं पूरा करवा दूँगा - ऐसा विचार करके गुरुदेव उस गाँव से वापस आये। वज्र-प्रमुख साधुओं द्वारा आनन्दपूर्वक वन्दना की गयी। गुरु ने पूछा - क्या आपका स्वाध्याय हो गया? उन्होंने कहा - बहुत सारी विज्ञप्ति (वाचना) हो गयी है। अब से हमारे वाचनाचार्य वज्र मुनि ही रहें, यह हमारी आपसे विनती है। इतने दिनों तक हम इनके गुण से अज्ञात थे, पर अब ज्ञात हो गये हैं। अब आपके चरण कमलों की ही तरह हम इनकी आराधना करेंगे।

गुरुदेव ने कहा - हे भद्रों! अब यही तुम्हारे गुरु होंगे। बालक होने पर भी ज्ञान से वृद्ध होने से तुम लोग कदापि इनकी अवमानना न करना। तुम लोगों को इनके गुणग्राम का ज्ञान कराने के लिए ही इन्हें वाचनाचार्य बनाकर हमलोग गाँव को गये थे। अन्यथा तो इनकी वाचना-आचार्यता कल्पनीय नहीं है, क्योंकि इन्होंने यह श्रुतज्ञान कर्ण-श्रुति से पाया है, गुरु द्वारा दत्त ज्ञान नहीं है। अब मैं इन्हें संक्षेप में ही श्रुत का सूत्रार्थ-वाचना दूँगा। जिससे ये आचार्यपद की योग्यता को प्राप्त करेंगे। पढ़ा हुआ अथवा बिना पढ़ा हुआ सभी श्रुत गुरु ने वज्र मुनि को दिया। कहा भी है -

भूतिं स्वां पात्रसात्कुरुते न कः ।

अर्थात् अपनी विभूति को कौन पात्र-सात् नहीं करता? (अपने सत्पात्र को कौन ज्ञानदान नहीं देता? अर्थात्

देता ही है।)

गुरु द्वारा अर्पित समस्त श्रुत को वज्र मुनि ने स्वामी द्वारा अर्पित द्रव्य को सम्भालकर रखने वाले भण्डारी की तरह ग्रहण किया। तब से वे वज्रमुनि सन्देह रूपी पर्वत को बड़ा होने पर भी उस दुर्भेद सन्देह को लीलामात्र में वज्र की तरह पीसकर चूर्णपिष्टि बना देते थे। गुरु द्वारा अर्पित दृष्टिवाद को पाकर गुरु होते हुए वज्र ने एक पुत्र की भाँति पिता के सर्वस्व को ग्रहण किया।

एकबार सपरिवार गुरु अपने चरणों से धरातल को पावन करते हुए दशपुर नगर पधारे वहाँ पर उन्होंने स्थविर कल्प में रहे हुए मुनियों से सुना कि अवन्ती में दस पूर्वधारी आचार्य भद्रगुप्त स्वामी विराज रहे है। दसपूर्व के ज्ञान के ग्राहक के अभाव में यह ज्ञान उन्हीं के साथ चला जायगा। भव्य (अच्छा) होता, अगर कोई उदात्त मति वाला उस ज्ञान को ग्रहण कर लेता। अथवा इसमें चिन्तन करने से क्या! पदानुसारी मति के धारी प्रकर्ष प्रज्ञा संपन्न वज्रऋषि उस ज्ञान को ग्रहण कर लेंगे।

यह जानकर गुरुदेव ने वज्र मुनि से कहा - हे वत्स! तुम दो साधुओं के साथ अवन्ती जाओ। भद्रगुप्त गुरु के पास दस पूर्व का ज्ञान ग्रहण करो। तुम्हारे बिना अन्य कोई भी यहाँ इस कार्य के लिए कर्मठ नहीं है। दसपूर्वधारी की सिर्फ तुममें ही सम्भावना है क्योंकि अभी तक भद्रगुप्त स्वामी के पास से किसी ने भी दस पूर्व का ज्ञान ग्रहण नहीं किया है। अतः तुम शीघ्र ही पढ़कर वापस आकर मुझे अभिनन्दित करो। तुम जैसे प्रज्ञा-समुद्र के लिए कुछ भी दुष्कर नहीं है। तब शासन देव की तरह वज्र मुनि गुरु-आज्ञा से क्षण भर में ही रवाना हुए और सुख पूर्वक उज्जयिनी नगरी के सम्मुख पहुँचे।

भद्रगुप्त स्वामी ने उसी दिन स्वप्न देखा कि मेरा पात्र खीर से भरा था। किसी आगन्तुक ने उसे पीकर प्रसन्नता को प्राप्त किया। उन गुरु ने उस स्वप्न को यतियों को कहा। सभी ने अपने-अपने विचार से उस स्वप्न का अन्य-अन्य फल कहा। गुरु ने कहा - यह नहीं है, पर इसका फल यह है कि आज कोई ग्राहक आयगा। और मेरे पास से सूत्रार्थ सहित संपूर्ण श्रुतज्ञान ग्रहण करेगा। वज्र मुनि भी पुरी के बाहर विराजे। सूर्योदय होने पर भद्रगुप्त आचार्य से सुशोभित उपाश्रय में गये। उसे देखकर आचार्य भी सूर्य को देखकर कमल की तरह प्रफुल्लित हुए। उन्होंने सोचा - आँखों को शीतलता प्रदान करनेवाले चन्द्रमा की तरह यह बाल ऋषि कौन है? इसे देखने मात्र से कृपा की परमानन्द रूपी सम्पदा प्राप्त होती है। मेरा चित्त इससे जुड़ा जाता है। यह अत्यधिक इष्ट व्यक्ति कौन है? इस प्रकार का तो वज्र मुनि सुना जाता है, तो क्या यह वही हो सकता है अथवा -

नृत्यानि किं केकी विनापि जलदोदयम् ।

क्या मयूर बरसात के बिना नृत्य करता है?

तब प्रणाम के अभिमुख पुत्र की तरह वल्लभ उसको गोद रूपी पलंग पर बैठाकर आचार्य अत्यन्त प्रमुदित हुए। फिर कहा - तुम्हारा विहार सुखपूर्वक तो हुआ? शरीर की भव्यता तो है? हे वत्स! तुम धन्य हो! हे वज्र ऋषि! तुमने इस वय में संयम स्वीकार किया। इस बीतती हुई अवसर्पिणी में तुम्हारे जैसा व्रत का इच्छुक दूसरा कोई पैदा होना भी शक्य नहीं है। इस समय तुम कहाँ से आये हो? तुम्हारे गुरु कौन है? तुम्हारे यहाँ आगमन का क्या प्रयोजन है? निवेदन करो। इस प्रकार के वार्त्तालाप रूपी अमृत के छींटों को गुरु द्वारा छांटे जाने से पथ का श्रम दूर हुआ और वज्रमुनि आनन्दित हुए। वज्र ने भी उठकर प्रसन्न मन से वन्दन करके उनके प्रश्नों का उत्तर विनय पूर्वक प्रदान किया। मैं गुरु की आज्ञा से आप के पास दस पूर्वों का अध्ययन करने आया हूँ। अतः हे निष्पाप आत्मा! प्रसन्न होकर मुझे पढ़ायें। तब भद्रगुप्त आचार्य ने दस पूर्वों का श्रुत सूत्रार्थ सहित कलश-निधान की तरह अपने आत्म सर्वस्व की तरह वज्र मुनि में उड़ेल दिया। वज्र मुनि भी उस ज्ञान को सम्यक् पूर्वक लेकर के दस-पूर्वधर बन गये।

मानो लक्ष्मी को प्राप्तकर विष्णु श्रीधर बन गये हों। भद्रगुप्त आचार्य ने उन्हें कहा कि तुम आगे यह ज्ञान जिसमें योग्यता हो और जिसे सीखने की इच्छा हो, उसे श्रुतज्ञान देना - इस प्रकार भद्रगुप्त आचार्य का कहना स्वीकारकर उनको पूछकर वज्र मुनि गुरु की सन्निधि में आये। गुरु सिंहगिरि उस समय दशपुर नगर में थे। दसपूर्वी वज्र मुनि के लिए पूर्व में अनुज्ञा प्राप्त जृम्भक देवों ने दिव्य चूर्ण आदि लाकर पुष्प वृष्टि आदि से दिव्य महिमा की। फिर सिंहगिरि गुरु वज्रमुनि को गण समर्पित करके अनशन करके समाधिपूर्वक देवलोक में गये। तब वज्रमुनि ५०० साधुओं के परिवार के साथ सूर्य की तरह भव्य जीव रूपी कमलों को बोधित करते हुए विहार करने लगे।

जहाँ-जहाँ भी पुर आदि में वज्र-स्वामी पधारे, वहाँ-वहाँ चन्द्रमा की किरणों की तरह उनके गुणों की कीर्ति परिव्याप्त हुई। अहो! वज्र गुरु का शील! अहो रूप! अहो श्रुत! अहो सौभाग्य! अहो लावण्य! अहो गुणातिशयता!

इधर पाटलीपुत्र नगर में अद्‌भुत गरिमा युक्त धन नामक श्रेष्ठि नाम से व अर्थ से धनसंपन्न था। उसके सर्व गुण सम्पन्न रुक्मिणी नामक पुत्री थी। उसके रूप से ईर्ष्या करती हुई अप्सराएँ पृथ्वी पर भी नहीं आती थी। उस श्रेष्ठि से पूछकर उसकी यानशाला में श्री वज्र स्वामी की साध्वियाँ ठहरीं। वे साध्वाचार में अतितत्पर थीं। नित्य ही वे वज्र गुरु के गुणों का कीर्तन किया करती थी। अति प्रचुरता से उनके गुण उन साध्वियों के वक्ष में समाहित थे। वज्र मुनि के अनन्य गुण-ग्राम को सुनकर रुक्मिणी को वज्र मुनि में पति के समान प्रेम हो गया। वह स्वयं को कहती - यदि वज्र प्रभु मेरे भर्त्ता बनेंगे, तो ही मैं भोगों का भोग करुँगी, अन्यथा भोगों का परित्याग कर दूँगी। उसके लिए वर उपस्थित किये जाने पर वह उनका प्रतिषेध करते हुए कहती - मैंने वज्र को पति रूप में स्वीकार कर लिया। अब अन्य को कैसे वरुँ? उसे साध्वियाँ कहती - हे मुग्धे! वज्र आचार्य तो नीराग-पुंगव व्रती हैं। वे स्त्रियों से पाणिग्रहण की इच्छा नहीं करते। वह कहती अगर व्रती वज्र मेरे साथ परिणय नहीं करेंगे, तो मैं भी व्रती बन जाऊँगी, क्योंकि -

तन्वार्यो हि पतिर्वर्त्मगाः ।

सती नारियाँ पति के मार्ग का अनुसरण करने वाली ही होती हैं।

इधर एक देश से दूसरे देश में सर्वत्र विहार करते हुए देशना के सागर भगवान वज्र पाटलिपुत्र आये। वज्र स्वामी को आये हुए जानकर महान विभूति के साथ सुनन्दानन्दन मुनिराज को वन्दन करने जाते हुए राजा ने मुनि वृन्द के अनेक वृन्द पथ पर आते हुए देखें। उन्हें देखते हुए राजा ने विचार किया - बहुत से चमकती कांति वाले हैं। बहुत से रूप-संपन्न है। बहुत से संयत-इन्द्रिय हैं। बहुत से शुभ संस्थानवाले हैं। बहुत से शम-शाली हैं। बहुत से साम्य-संलीन हैं। बहुत से प्रिय वचन बोलने वाले हैं। अतः अत्यधिक दिव्य श्री से युक्त इन अनेक महर्षियों में से वज्रस्वामी को कैसे जानुँगा? क्योंकि मैंने उन्हें पहले कभी नहीं देखा है। तब राजा ने मुनियों से पूछा - हे मुनियों! मुझे बतायें। आप में इन्द्र के सामानिक की तरह वह वज्र नाम के मुनि कौनसे हैं? उन्होंने कहा - महाराज! हम वज्र मुनि के शिष्य हैं। वे साधुओं में सुखपूर्वक लक्ष्य किये जाने वालें नक्षत्रों में चन्द्रमा की तरह है। इस प्रकार समस्त वृन्दों में पूछते-पूछते राजा ने सब से पीछे के साधु-समूह में वज्रस्वामी को देखा। तब प्रसन्न होकर प्रभु को वंदन करके अपने आपको धन्य मानते हुए अपने हर्षाश्रुओं के छींटे प्रभु के सामने बरसाये। फिर नगर के बाहर उद्यान में बहुत बड़े प्रासाद में भगवान् पाँचसो मुनियों के साथ पधारें। राजा पुरजनों के साथ सभा में बैठा। द्राक्ष के माधुर्य को भी जीतनेवाली मधुर शिरा में वज्र विभु ने व्याख्यान दिया। श्री वज्रस्वामी की क्षीरासुख लब्धि रूपी धर्मव्याख्या से राजा का चित्त-हरण हो गया, तो अन्य का तो कहना की क्या! व्याख्या समाप्त होने पर प्रमुदित होता हुआ राजा घर पर आया।

अन्तःपुरी वर्ग को संभ्रम सहित कहा - हे सुभ्रुमे! वज्र ऋषि के अंगों की सुन्दरता के दर्शन से, पंचांग द्वारा

प्रणाम करने से, पांच अभिगमपूर्वक वंदन करने से, मोक्ष द्वार में प्रवेश देनेवाली देशना सुनकर, उनकी अद्‌भुत, लोकोत्तर यश-सौरभ सूँघकर तथा मेरी जिह्वा से उनके उद्दाम गुणग्राम का स्तव कर-कर के मेरी पाँचों इन्द्रियाँ कृतकृत्य हो गयी हैं। हे रानियों! पूर्व उद्यान में प्रभु विराजित हैं। लोगों को प्रतिबोध देने के लिए स्वयं धर्म के अंग रूप हैं। अतः ऐसे मुनिपुंगव को आप भी वन्दन करके, व्याख्यान सुनकर मनुष्य रूपी वृक्ष के फल को प्राप्त करें। उन रानियों ने कहा - हम स्वयं नमन की इच्छुक हैं। हमें आपकी अनुमति चाहिए। सुनने में उत्कंठित ऐसे हमको आपकी अनुमति मयूर के आलाप के समान है। जैसे विरह पीड़ित कामिनियों के लिए मयूर का आलाप। तब रानियाँ यान पर आरुढ होकर उस उद्यान में गयी। वहाँ विमान पर सवार देव भी वज्र स्वामी को नमन करने आये। रुक्मिणी ने भी जब लोगों द्वारा वज्र मुनि का आगमन सुना, तो अरुण के उदय होने पर पद्मिनी की तरह उसका मुख कमल खिल गया। उसने पिता से कहा - जगत्काम्य मेरे संकल्पित पति वज्रस्वामी अब यहाँ आ गये हैं। मेरा विवाह करके उन्हें मुझे सोंपकर आप निवृत्त हो जायँ। हे तात! मेरे चिर मनोरथ को पूर्ण करें। आप विलम्ब न करें, क्योंकि मुनियों का निवास स्थायी नहीं होता। नदी की तरह मुनि क्षण-क्षण में आते-जाते रहते हैं।

तब धन श्रेष्ठि ने पुत्री का विवाह करने के लिए मनुष्यणी होते हुए भी भूचर देवी की तरह विपुल श्रृंगार से सजाकर एक करोड सुवर्ण रत्न वर के लिए साथ में लेकर समस्त स्वजनों से युक्त वह भी उद्यान में गया। संपूर्ण नगरी के लोग वज्र मुनि के व्याख्यान में रञ्जित होकर मदान्ध गन्धहस्ती की तरह मस्तक हिला रहे थे। वे परस्पर कह रहे थे कि इनकी परिपक्व वाणी की मिठास अमृत को भी व्यर्थ साबित करती है। फिर खीर, गुड आदि का तो कहना ही क्या? अथवा इनकी धर्मदेशना सुननेवाले भव्यों के समूह को मोक्ष सुख का उदाहरण ही प्राप्त होता है। लेकिन इनका रूप गुणों के अनुरूप नहीं है अथवा सारी सुन्दरता एक जगह एकत्र होने से होगा भी क्या!

अपने अतिशय से यह सब जानकर प्रभु ने दूसरे दिन हिरण्यमय सहस्रदल कमल की रचना की। जब स्वामी ने नगरप्रवेश किया था, तब अपना रूप वैक्रिय लब्धि द्वारा गोपित कर लिया था, ताकि अतिशय रूप से पुर क्षोभ को प्राप्त न हो। पर अब उस कमल में आसीन होते हुए कमला की तरह अपने स्वाभाविक रूप को पुनः यथावस्थित किया। उनके उस रूप को देखकर सभी नागरिक अत्यधिक प्रसन्न हुए और कहा - निश्चय ही प्रभु का यही स्वाभाविक रूप है। केवल स्त्रियों की प्रार्थना के भय से ही प्रभु विरूप रूप में प्रतिष्ठित रहते हैं। राजा ने भी विस्मय भरी दृष्टि से देखते हुए कहा - अहो! प्रभु की वैक्रिय लब्धि देव-योनि की तरह है। उस समय वज्र प्रभु ने अनगार के गुणों की व्याख्या करते हुए बहुत सी आख्याएँ तथा व्याख्याएँ बतायी। व्याख्या के अन्त में धन श्रेष्ठि ने वज्र स्वामी को कहा - भगवान्! मेरी यह पुत्री आपसे पाणिग्रहण करने के लिए उत्सुक है। इसने आपको पति मानते हुए अन्य वरों का निषेध किया है। इतने काल तक वह आपकी तरह आपके नाम में ही स्थिर रही। हे सौभाग्यनिधि! आपके लिए दीर्घकाल से खेदित इस बाला का शीघ्र पाणिग्रहणकर इस पर अनुग्रह कीजिए। प्रभो यह आपके अनुरूप नहीं है, फिर भी यह आप में स्नेहवती हैं। अतः हे कृत्यविद्! दया करके इसे स्वीकार कीजिए। हे प्रभो! विवाह के मंगल फेरे के समय वेदी के अंत में पत्नी युक्त आपको एक करोड़ सुवर्ण रत्न मेरे द्वारा दिये जायेंगे।

वज्र प्रभु ने कहा - श्रेष्ठि! तुम्हारे हृदय से मेरा व्याख्यान - अर्ध भरे हुए घड़े से जल बाहर निकलने की तरह बाहर निकल गया है। जो कि अज्ञ होकर जानते हुए भी मुझ निर्लोभी को कन्या व धन के प्रलोभन से निमन्त्रित कर रहे हो। हे भद्र! जो बाल्यकाल में माता के प्रलोभनों से लुब्ध नहीं बना, वह इस समय संपूर्ण तत्त्व ज्ञान को जानकर कैसे लुब्ध बनेगा? और भी, स्त्रियाँ तथा धन का विषय विष के समान हैं। मुख में देखने (चबाने) पर मधुर तथा विपाक में कटुक है अथवा विष से भी ज्यादा जहर विषयों का प्रकोप है। कहा भी गया है -

विषयाणां प्रकोपस्तु यायाज्जन्मान्तरेष्वपि ।

विषयों का प्रकोप तो जन्मांतर में भी साथ ही जाता है।

संज्ञा आदि के विषयों के सहारे तो मैं सदा ही रहा हूँ। अब सन्मार्ग में संचरण करते हुए कैसे इन विषय रूपी चोरों द्वारा पकड़ा जाऊँ? हे श्रेष्ठि! अगर तुम्हारी पुत्री मुझमें अनुरक्त है, तो वह भी मेरे ही मार्ग का अनुसरण करे। विवेकी जनों द्वारा निन्दित विषयों की आकांक्षा न करे। दुष्ट की सेवा की तरह विषय अनेक महा-अनर्थों का कारण है। अतः चारित्र-वाहिनी द्वारा अपने हित को साधती हुई तुम्हारी दुहिता मेरे साथ भव रूपी समुद्र का शीघ्र ही पार पा लेगी। यह सुनकर रुक्मिणी शीघ्र ही प्रतिबुद्ध हुई। सिद्धिसौद्ध पर ले जानेवाली परिव्रज्या को स्वीकार किया। उस प्रकार की वज्र प्रभु की निर्लोभता देखकर अत्यधिक विस्मित होते हुए लोगों ने मन में इस प्रकार विचार किया - लोभी तो सैकड़ों बार माँग-माँगकर ग्रहण करते हैं, और ये दिये जाने पर भी लोभवर्जित होकर ग्रहण नहीं करते हैं। निर्लोभी होने से इनमें ही निश्चय ही तात्त्विक धर्म है। कहा भी है -

लोभमूलानि पापानीत्याख्यान्ति शिशवोऽपि यत्।

शिशु होते हुए भी ये कहते हैं कि लोभ पाप का मूल है।

इस प्रकार प्रतिबुद्ध होते हुए लोगों ने जिनधर्म स्वीकार किया। राजा भी उनके अतिशय से एकाग्रमना हुआ।

पदानुसारी लब्धि द्वारा वज्र स्वामी ने आचारांग में स्थित महा-परिज्ञा अध्ययन से आकाश-गामिनी विद्या द्वारा आकाशमार्ग से जम्बूद्वीप से मानुषोत्तर पर्वत तक भ्रमण करने की शक्ति प्राप्त की। प्रभु ने विचार किया कि यह विद्या अन्य किसी को देना योग्य नही है, क्योंकि भविष्य में प्राणी मन्दसत्त्व वाले होंगे।

एक बार भगवान् वज्रस्वामी प्रश्न किये हुए मनुष्य की तरह (प्रश्न किये हुए को जैसे उत्तर मिलता है वैसे वे उत्तर दिशा में गये) पूर्व दिशा से उत्तर दिशा को अलंकृत किया। वहाँ सभी जगह अत्यन्त भीषण दुर्भिक्ष पड़ा। जैसे कामुक कामिनी में आसक्त रहते हैं, वैसे ही मनुष्य आहार की लालसा वाले हो गये। अन्न के अभाव में थोड़े-थोड़े अन्न को खाने से लोग रोगी की तरह लंघन क्रिया करते हुए जीने लगे। धनाढ्य लोग भी जीर्ण हाथी की तरह कालयोग से उस समय अ-दान-शाली हो गये। जगत के शत्रु रूप कराल उष्णकाल से गाँवों के मार्ग भी दुःसंचार युक्त हो गये अर्थात् भूमि पर पत्थर ढेले आदि की बहुलता हो गयी। सैन्य के कोलाहल की तरह त्राहि-त्राहि मच गयी। गरीब एक दूसरे से फलादि छीन-छीनकर पदाती सेना की तरह लड़ने लगे। भस्मक रोग से ग्रसित की तरह दुर्भिक्षा से मनुष्य आकुल हो गये। दो गुने-तीन गुने आहार को खाने वाले भक्षक के समान बन गये। अगर भिक्षा के लिए साधु घर में आते, तो माता बच्चों को सिखाकर बाहर भेजती। वे निश्छल बालक आकर साधुओं को कहते कि मेरी मां बोलती है कि मैं घर पर नहीं हूँ। तब समस्त संघ दुःकाल रूपी जंगली पशुओं की मार से प्रताड़ित हो गया। समस्त संघ ने शरणार्थियों के शरण स्वरूप वज्र मुनि को सभी समाचार कहलवाये। दुष्काल रूपी बादलों ने समुद्र के प्रलय की रचना पृथ्वी पर की है। हम सभी आप्लावित हो गये हैं। हे नाथ! कृपा करके हमें तारों। तब वज्र मुनि ने संघ-अनुग्रह की कामना से विद्याशक्ति द्वारा पृथ्वी के तल की तरह विशाल पट वाले विमान की रचना की। उस पर संपूर्ण संघ को देवों के पालक सौधर्मपति की तरह आरुढ करवाया। जिस प्रकार कूणिक द्वारा वैशाली भंग किये जाने पर अपने नाना चेटक सहित नगरजनों को सत्यकी ने निर्भय स्थान पर लाया था, वैसे ही विद्या का स्मरण करके प्रभु अखिल जनों को आकाश मार्ग से अन्यत्र ले जाने लगे। प्रभु को आकाश मार्ग से संघ युक्त जाते देखकर प्रभु का भूचारी शय्यातर पीछे भागा। अपने केशों को उखाडते हुए बोला - प्रभो! आपका शय्यातर हूँ। साधर्मिक भी हूँ, अतः प्रभो! इस समय मेरा निस्तारण कीजिए। अभ्यर्थना से दीन वचन सुनकर तथा लुंचित मस्तक वाले शय्यातर को देखकर प्रभु ने श्रुत का चिन्तन किया -

ये साधर्मिकवात्सल्ये स्वाध्याये संयमेऽपि च ।
तीर्थ प्रभावनायां च प्रयतास्तान् समुद्धरेत् ॥

जो साधर्मिक वात्सल्य में, स्वाध्याय में और संयम में निमग्न हैं, और तीर्थ प्रभावना में प्रयत्नवान् है तो उनका भी उद्धार करें।

श्रुत के इस वचन का विचारकर उसे भी पट पर आरोपित किया। कृत्य-अकृत्य को जाननेवाले विवेकी रूप वाले प्रभु के लिए क्या कहा जाय? प्रभु के प्रभाव के माहात्म्य से विद्यामय पट पर आसीन वे पृथ्वीतल को देखते हुए जा रहे थे। ज्योतिषी, व्यन्तर, विद्याधर तथा आकाशचारियों द्वारा प्रभु के विद्या अतिशय को देखकर विस्मित मानस होकर, स्थान-स्थान पर मार्गस्थ राजा तथा क्षत्रियों द्वारा, वन्द्यमान, प्रशंसित, पूजित प्रभु को देखकर - क्या यह बादल है या पक्षी है, या पहाड़ है या फिर देव द्वारा कुछ उठाकर ले जाया जा रहा है। इस प्रकार वितर्क करते हुए विकसित कमल-नयनों से भूचरों द्वारा गर्दन ऊँची करके देखे जाते हुए स्तूयमान, पट पर स्थित मनुष्य समूहों के द्वारा गुणगान करने में मुख जिनका (मानवों का) बंध नहीं हो रहा है ऐसे सुनन्दा-नन्दन प्रभु पुरी नामकी नगरी में आये। सुभिक्षा से युक्त सौराज्य से उन्मत्त वह पुरी थी। वहाँ पर बहुत से आर्हत थे, तो बहुत से बौद्ध मतावलम्बी भी थे। आर्हतों तथा सौगतों द्वारा परस्पर स्पर्द्धा में आबद्ध होकर अपने-अपने चैत्यों में नित्य चित्र-विचित्र पूजा की जाती थी। बहुत मूल्य वाले पूजा उपकरणों द्वारा प्रभूत मूल्य से पहले भी सभी श्रावक पूजा करते थे। उस प्रकार का द्रव्य-व्यय कृपण बौद्ध करने में समर्थ नहीं थे। अतः उनके चैत्यों में उस प्रकार की पूजा नहीं होती थी। तब सुगत उपासकों ने ईर्ष्यापूर्वक श्रावकों के कुसुम-पूजा आदि को राजा द्वारा निषेध करवाकर अपने आप को विजित मान लिया। राजा की आज्ञा से अवश वे उस पूजा विधि के लिए तथा शिर पर बाँधने के लिए भी फूलों को कहीं नहीं पाते थे।

तभी परमार्हत पर्युषण पर्व उपस्थित हुआ। सभी ने वज्रमुनि के पास जाकर पुष्पों के निषेध की कथा बतायी। प्रभु! आप प्रवचन के आधार है। विद्या लब्धि के सागर है। आप ही त्राण रूप हैं। अतः हम परिभूत जनों को तारो। सभी जिन-बिम्ब बिना पुष्प पूजा के हो गये है। फिर हम क्यों जी रहें हैं? प्रभो! हम क्या करें? यह राजा कुदृष्टि वाला है। अतः यह वचन द्वारा साध्य नहीं है। पुकार के लिए अंगद की तरह आप ही समर्थ है। नहीं तो पर्युषण पर्व के दिनों में हम भी निर्ग्रन्थों की तरह सिर्फ भाव-अर्चना करके ही रह जायेंगे।

तब भगवान ने कहा - हे भद्रो! आप अब खेद न करें। मैं पराभव की लत्ता को क्षणभर में ही कदलीछेद की तरह छिन्न करुँगा। इस प्रकार कहकर वज्र प्रभु आकाश में छलांग लगाकर पक्षी की तरह उड़कर क्षण भर में ही महा ऐश्वर्य युक्त महेश्वरी पुरी नगरी में गये। दिव्य नन्दीश्वर द्वीप की तरह पहाड़ों से घिरे हुए हुताशन नामक देव के उपवन में भगवान् उतरे। वहाँ पर उनके पिता का मित्र उद्यानपालक था। उसका नाम ताड़ित था। वह वसन्त के समान पुष्पलक्ष्मी से अति विख्यात था। वह भी मित्र-पुत्र को देखकर शीघ्र ही समीप आया और बोला - बिना बादल के बरसात हुई है। यह बिना फूल के ही फल उत्पन्न हुआ है। आज ही सभी समृद्धि आयी है। आज मेरे क्या-क्या नहीं हुआ? आज जैसा श्रेष्ठ दिन मेरे जीवन में कभी नहीं आया। क्योंकि सकल श्रेयों के पात्र रूप आप आज मेरे अतिथि हुए हो। अतः हे भगवन्! आपका क्या आतिथ्य करूँ। आपकी क्रियाओं को नहीं जानता हुआ मैं किंकर्त्तव्यमूढ़ हूँ।

वज्र स्वामी ने कहा - हे भद्र! मुझे पुष्पों से प्रयोजन है। उसने कहा - मैं अनुगृहीत हुआ। कहिए, कितने चाहिए। प्रभो! यहाँ प्रतिदिन बीस लाख पुष्प होते हैं। जिनके सौरभ के उत्कर्ष के कारण देवता भी इन्हें सिर पर धारण करते हैं। प्रभु ने कहा - तुम उन सभी पुष्पों को एकत्रित करो, तब तक मैं आगे जाकर शीघ्र ही वापस आता

हूँ। यह कहकर आकाशचारी की तरह आकाश मार्ग से उड़कर प्रभु क्षण भर में क्षुद्र हिमवत् पर्वत पर गये। गंगासिन्धु नदी की तरह प्रवाहित मद-निर्झर वाले, किन्नरियों के गीतों की तरह बहती हुई मधुकरों की ध्वनि से युक्त, समृद्ध भूमि के बहाने से, विविध वर्णों से चित्रित, सैकड़ो गायों से युक्त, अद्‌भुत हाथियों की गर्जना वाले, रुद्राक्ष, भोज, सुर-पुन्नाग तगर, आदि वृक्षों से युक्त, उठी हुई कांति वाले, उत्तम ध्वज से शोभित पर्वत पर बने हुए योद्धा के समान हिम पर्वत पर बहती हुई हवा के बीच एक सुन्दर आयतन को देखा। तब उस सिद्धायतन में जाकर शास्त्र श्रुत (दर्शित) अर्हत्-प्रतिमा को देखकर प्रभु ने स्वयं मुदित होते हुए वन्दना की। नर्त्तकों के समान कल्लोल करती हुई नाचती हुई सरोजिनी को देखा, मानो उसे देखने के लिए समीर भी मन्थर गति से बह रहा है। उस सरोजिनी के सहस्रपत्र सुगन्ध रूपी दलिका से निर्मित की तरह संपूर्ण जल को सुवासित बना रहे थे। जल के महान निधान रूपी कुम्भ के समान पद्म हद में श्रीदेवता के घर में विस्तृत श्रृंगार धारिणी कमलिनी के पास प्रभु आये। उस समय पभ-हद की अधिष्ठात्री श्री नाम की देवी जिन अर्चना के लिए, उस सरोजिनी को लेकर चैत्य में जा रही थी। वज्र ऋषि को देखकर शीघ्र ही भक्ति युत् प्रणाम करके कहा - हे भगवान्! मुझे अनुगृहीत कीजिए। कार्यादेश कीजिए। धर्मलाभ की आशीष देकर भगवान् ने कहा - अभी यही आदेश है कि यह पद्म मुझे अर्पित करो। तब श्री ने वह सहस्रदल प्रभु को समर्पित कर दिया। स्वामी! और भी आदेश कीजिए मैं आपकी चरण-किंकरी हूँ। बस! इतना ही कार्य है - यह कहकर स्वामी शीघ्र ही लौटकर आकाश मार्ग से हुताशन-वन को पुनः आये। बीस लाख पुष्पों को उस पिता मित्र ने उपहार स्वरूप भेंट किया। प्रभु ने वहाँ देव-विमान की तरह एक विमान की रचना की। श्री देवी द्वारा अर्पित सहस्रदल कमल उसके अन्दर रखा। उसके पास में पुष्प बिखेर दिये। अपने मित्र देव जृम्भक देवों को वज्र ऋषि ने याद किया। स्मृति मात्र से ही चक्रवर्ती के चक्ररत्न की तरह वे सभी वहाँ आ गये। उस कमल रूपी छत्र के नीचे प्रभु विराजे। उन व्यन्तर देवों के द्वारा आगे-आगे चलते हुए संगीत गाया जाने लगा। जृम्भक देवों ने अपने-अपने विमान से वज्र स्वामी के विमान को घेर लिया। फिर देवों द्वारा गुणों का बखान किये जाते हुए वज्र मुनि इन्द्र की तरह चले।

निमेष मात्र में आकाश मार्ग से चलते हुए श्री वज्र महामुनि पुरी नामकी नगरी में आये। विमानों के समूह को देखकर संभ्रान्त होते हुए सौगतों ने कहा - निश्चय ही बुद्ध की अर्चना करने के लिए देव आये हैं। अहो! बुद्ध के प्रतिहार्य निश्चय ही अनुपम है। इस प्रकार उनके बोलते-बोलते ही विमान उनके विहार को उल्लंघनकर आगे बढ़ गये। उन अद्‌भुत विमानों के समूह के साथ वज्र स्वामी अर्हत् चैत्य में गये। श्रेय प्राप्त मनुष्यों को मानो उन्होंने स्वर्ग दिखाया हो। तब बौद्धों ने विषाद रूपी तमस् से आवृत होकर विचार किया कि हमारे द्वारा अर्चना का निषेध किये जाने पर भी अब देवों ने चैत्य अर्चना की है। तब जृम्भक देवों द्वारा प्रत्येक तीर्थंकर चैत्य घरों की महिमा वहाँ कुछ समय तक अतिशायी की गयी। देवों द्वारा कृत अर्हत्प्रभावना को देखकर राजा ने सौगत धर्म छोड़कर प्रजा सहित आर्हत धर्म स्वीकार किया। **संघ का पराभव हरने के लिए वज्रस्वामी ने सावद्य भी यह कार्य किया - यह उनकी शासन प्रभावना थी।**

इस समय वे वज्रस्वामी पुरी नगरी में ही विराजते हैं। अतः हे वत्स! दृष्टिवाद पढ़ने के लिए तुम उनके पास जाओ। तब अपने गुरु तोसलिपुत्र की अनुज्ञा से भगवान् आर्यरक्षित जाने के लिए प्रवृत्त हुए। चलते हुए रास्ते में उज्जयिनी पुरी को प्राप्त हुए। वहाँ पर अति ज्येष्ठ भद्रगुप्त नामक गुरु को वन्दन किया। उन्होंने भी आर्यरक्षित को प्रज्ञा रत्न का महासागर जानकर प्रेमपूर्वक चिर-दृष्ट आत्मज की तरह व्यवहार किया। अन्धकूप के समान इस मिथ्यात्व से बाहर निकालने में हे वत्स! तुम्हारे सिवाय अन्य कौन समर्थ हो सकता है? हे वत्स! मेरे अनशन रूपी जहाज द्वारा आयुशेष रूपी समुद्र से तिराने में तुम निर्यामक बनने के योग्य हो। 'ऐसा ही होगा' - इस प्रकार

आर्यरक्षित द्वारा स्वीकार किये जाने पर मुदित होकर गुरु ने अपने शरीर पर भी ममत्व का त्याग करते हुए अनशन स्वीकार किया। उन्होंने आर्यरक्षित को शिक्षा दी कि वज्र स्वामी के साथ एक ही वसति में मत रहना। अलग रहकर ही अध्ययन करना। सोपक्रम आयु वाला जो कोई भी उनके साथ एक रात्रि भी वास करेगा, तो वह निश्चय ही उन्हीं के साथ काल को प्राप्त हो जायगा। 'तहत्ति' कहकर उन गुरु के आदेश को स्वीकार करके उनका अखिल कृत्य करके पुरी नाम की नगरी में आर्यरक्षित मुनि आये। शाम को वहाँ पहुँचने से उन्होंने गाँव के बाहर की वसति में ही निवास किया।

उधर वज्र प्रभु ने रात्रि में स्वप्न देखा - दूध से पूर्ण मेरे पात्र से कोई अत्यन्त तृष्णालु दूध पी गया, परंतु थोड़ा सा दूध उसने छोड़ दिया। प्रातः होने पर मुनियों से अपना स्वप्न और स्वप्न-फल कहा कि कोई भी आगन्तुक मुझसे श्रुत पढ़ने के लिए आयगा। पूर्वगत बहुत सारा श्रुत तो पढ़ लेगा, पर कुछ अल्पतर ज्ञान मेरे पास ही रह जायगा।

तभी आर्यरक्षित ने आकर शीघ्र ही द्वादश आवर्तन द्वारा वंदना करके अभिवन्दन किया। वज्र प्रभु ने उससे पूछा - कहाँ से आये हो? रक्षित मुनि ने भी कहा - तोसलि पुत्र नामक गुरु के पास से आया हूँ। वज्र प्रभु ने संभ्रान्त होते हुए कहा- क्या आप आर्यरक्षित है? उसने प्रणामपूर्वक कहा - हाँ! वह मैं ही हूँ। हे पूर्वधारी! आपसे पूर्वों का ज्ञान पढ़ने के लिए आया हूँ। हे प्रभो! अन्य आचार्यों के पास दस पूर्वों का समस्त ज्ञान नहीं है। उसको संतोष का पात्र जानकर वज्र स्वामी ने स्वागत पूर्वक कहा - हे वत्स! क्या रहने के लिए पवित्र स्थान है? उसने कहा - भगवान्! गाँव के बाहर ठहरा हूँ। स्वामी ने कहा - बाहर रहे हुए कैसे अध्ययन कर पाओगे? उसने कहा - भद्रगुप्त नामक क्षमाश्रमण पुंगव की आज्ञा से बाहरी उपाश्रय में ही उत्तीर्ण हूँ। वज्र प्रभु ने श्रुत उपयोग से उस कारण को जानकर कहा - वत्स! ऐसा ही हो। क्योंकि -

पूज्यादेशो वृथा न हि ।

पूज्यों के आदेश वृथा नहीं होते।

फिर अन्य उपाश्रय में रहते हुए भी वज्र स्वामी ने आर्यरक्षित को अपने अन्ते वासी की तरह आदर सहित पढ़ाना शुरु किया। उस सोम-पुत्र ने एक लीला की तरह नौ पूर्व तो पढ़ लिये। श्रुत-अध्ययन की लालसा से दसवाँ पूर्व भी शुरु कर दिया। दसवें पूर्व के अति सूक्ष्म तथा बहुत ही विषम यमक आदि को आर्यरक्षित पढ़ने लगा। इधर उसके माता-पिता ने शोक विह्वल होते हुए वाक्य निष्पादित संदेश भेजा - वत्स! क्या तुम हमें भूल गये हो? हमने तो सोचा था कि तुम पढ़कर आओगे, तो हमारे उद्योत के लिए होगा। पर तुम्हारे न आने से हमारा सोचा हुआ तत्त्व विशेष रूप से अंधकार के लिए ही साबित हुआ। इस प्रकार पिता के बहुत से सन्देशों की अवमानना करके आर्यरक्षित गीत में आसक्त मृग की तरह अध्ययन में आसक्त होकर स्थित रहा। तब माता-पिता ने उसके छोटे भाई फल्गुरक्षित को भेजा ताकि यह अपने ज्येष्ठ बंधु को बुलाकर अपने साथ ले आ सके।

वह भाई के समीप आकर भ्राता को नमस्कार करके स्नेहपूर्वक बोला - हे भाई! मैं आपसे पूछता हूँ कि क्या आपने जन्मान्तर प्राप्त कर लिया है? हे बन्धु! यदि निर्ममत्व रूपी असि द्वारा प्रेम के बन्धन काट डाले हैं, तो क्या अपने कुटुम्ब का उद्धार करने के लिए आपकी कृपा भी नहीं है? भाई के इस प्रकार कहने पर शुद्ध मति द्वारा रक्षित स्वामी ने निर्बन्ध प्रभु से पूछा - यह मुझे बुलाने आया है। तो मैं क्या करूँ? स्वामी ने कहा - तुम अध्ययन करो। इस प्रकार की सामग्री में मोहित मत बनों। तब गुरु की दक्षता से वह पुनः अध्ययन करने लगा। पुनः फल्गुरक्षित ने आर्य रक्षित से कहा - तुम्हारे वहाँ आने पर सभी परिजन व्रत ग्रहण करने की इच्छा रखते हैं। पर तुम पठन में व्यग्र होते हुए कुछ भी विचार नहीं करते हो। भरे हुए पेट वाले की तरह तुम अपने ही स्वार्थ में तत्पर नजर आते

हो। आर्यरक्षित ने कहा - अगर तुम्हारे वचन सत्य हो तो तुम ही जगत्-पूज्या, जगत्-हितकारिणी इस प्रव्रज्या को ग्रहण करो। ऐसा ही होगा - यह कहकर शीघ्र ही अपने सहोदर के पास में विभूति के अंश की तरह चारित्र को फल्गुरक्षित ने ग्रहण किया। उसने भी अध्ययन प्रारंभ किया। कुछ दिनों बाद आर्यरक्षित ने अध्ययन करते हुए अनेक यमकों का अध्ययन करने के पश्चात् गुरु से जाने के लिए पूछा। पुनः गुरु द्वारा निषेध किये जाने पर वह खेद खिन्न हुआ कि एक को जोड़ने जाता हूँ, तो दूसरा मेरा टूट जायगा। एक तरफ स्वजनों का आह्वाहन है, तो दूसरी तरफ गुरु-आज्ञा है। तो मैं क्या करुँ? इस प्रकार दुविधा में पड़कर वह पाठ से पराभग्न हो गया। एक बार उसने वज्र प्रभु से भक्ति द्वारा विनयपूर्वक पूछा - मैंने दसवें पूर्व का कितना ज्ञान पढ लिया है और कितना बाकी है। गुरुदेव ने मुस्कराकर कहा - बिन्दु जितना पढा है, सिन्धु जितना बाकी है अथवा सरसों जितना अध्ययन किया है, सुमेरु जितना बाकी है। यह सुनकर उस भीतात्मा रक्षित ने कहा - प्रभो! मैं अभागा समग्र दसवें पूर्व को पढ़ने के लिए समर्थ नहीं हूँ। गुरु ने कहा- तुम जैसे प्रज्ञावान गम्भीर व्यक्ति के लिए यह दसवाँ पूर्व रूप समुद्र दुस्तरणीय नहीं है। इस प्रकार उत्साहित किये जाने पर भी बीमारी से आक्रान्त की तरह आलसी होकर वह गुरुभक्ति के बल से कुछ दिन और अध्ययन करते हुए रुका रहा। वज्र स्वामी ने भी उसे गाढ़ रूप से पाठ से पराजित जानकर श्रुतज्ञान में उपयोग लगाकर यह निश्चित किया कि यह दसवाँ पूर्व मेरे साथ ही व्यवच्छेद को प्राप्त हो जायगा। मेरा आयुष्य अल्प है और यह पुनः वापस नहीं आयगा। तब वज्रस्वामिजी ने दशपुर जाने की अनुमति दी। फिर वज्र गुरु से अनुमति पाकर सोम सुत तथा उसके अनुज मुनि दोनों शीघ्र ही दशपुर नगर की ओर गये। वज्रस्वामी भगवान् तो मास-मास से संक्रमित होते हुए सूर्य की तरह कर्क-सङ्क्रांति में दक्षिण-पथ को प्राप्त हुए। स्वामी को व्याख्यान नाद द्वारा मेघ के समान गरजते हुए देखकर दक्षिण के सभी जन कदम्ब की तरह खिल गये। धर्मोपदेश रूपी रत्नों को विविध रूप से प्रदान करते हुए प्रभु जंगम कल्पवृक्ष की तरह विहार करने लगे।

एक बार भगवान् वज्र स्वामी कफ की पीड़ा से आर्त्त बने। किसी साधु को पास के घर से सौंठ का गांठिया लाने को कहा। उस संस्कारी शिष्य ने शीघ्र ही लाकर गुरु को अर्पित किया। आहार ग्रहण करने के बाद गांठिया घीस कर ले लुँगा - इस प्रकार विचारकर कान पर उसे अटका लिया। फिर भूल गये। सायंकाल आवश्यकी क्रिया करते हुए मुखवस्त्र से युक्त सूंठ का टूकड़ा हाथ लगने से खट् आवाज पूर्वक शीघ्र नीचे गिर गया। तब वज्र प्रभु ने याद करके विषाद ग्रस्त होकर स्वयं की निन्दा करने लगे - हा! हा! मैंने प्रमादवश इस महा-औषध को विस्मृत कर दिया। प्रमाद में संयम नहीं है और संयम बिना जीवन व्यर्थ है। अतः अब मुझे अनशन करना ही उचित है - इस प्रकार विचार करने लगे।

उस समय सभी जगह बारह वर्ष का दुर्भिक्ष हुआ। उस दुर्भिक्ष के आदि में ही वज्र प्रभु ने अपने शिष्य वज्रसेन को कहा - जहाँ पर भिक्षा के लिए जाते हुए तुम को लाख रुपये के मूल्यवाले चावल प्राप्त होंगे, वहाँ ठहरते हुए अगले दिन तुम्हें सुभिक्ष तथा विद्या प्राप्त होगी। यह कहकर गुरु द्वारा सूत्रार्थ में पारंगत वज्रसेन को पृथ्वी तल पर विहार करवा दिया गया। कहा भी है -

गुर्वाज्ञा हि बलीयसी ।

गुरु-आज्ञा महान होती है।

प्रभु भी पुनः साधुओं को घर-घर में घूम-घूमकर बिना भिक्षा प्राप्त किये आये हुए को विद्या-पिण्ड का भोजन कराने लगे। कुछ दिनोंतक वज्र प्रभु मुनियों को इस प्रकार आहार करवाते रहे फिर एक दिन उनसे कहा - क्या बारह वर्ष विद्यापिण्ड द्वारा बिताओगे? उन्होंने कहा-धातु युक्त इस शरीर को अशुद्ध पिण्डदान द्वारा पोषित करने से क्या? धर्म देह तो घायल हो रहा है। तब भगवान् वज्र अपने साधु परिवार सहित जहाज के तारक की तरह

पर्वत की ओर प्रयाण कर गये। करुणायुक्त साधुओं द्वारा एक लघु क्षुल्लक मुनि को वहीं रहने के लिए कहा गया, पर गुरु के प्रति अति स्नेह वाला वह नहीं माना। ग्राम के अन्त में किसी भी प्रकार से सह-साधुओं द्वारा उसे व्यामोहित करके सिद्धि प्रसाद पर आरुढ होने के लिए प्रभु पर्वत पर चढ़े। क्षुल्लक मुनि ने यह जानकर प्रभु को असुख (दुःख) न हो ऐसा सोचकर उसने भी पर्वत के नीचे रहते हुए ही अनशन स्वीकार कर लिया। मध्याह्न के आतप से क्लान्त वे क्षुल्लक मुनि नवनीत की तरह पिघलकर आत्मा में ध्यान लीन होते हुए सूर-सम्पदा को प्राप्त हुए। तब उसके सत्त्व से संतोष को प्राप्त होते हुए देवों ने उनके शरीर की महा-ऋद्धि पूर्वक महिमा की।

उन साधुओं ने प्रभु वज्र से पूछा - देव! ये क्षुल्लक मुनि कहाँ अवतार लेंगे? स्वामी ने कहा - क्षुल्लक मुनि ने अपनी आत्मा का स्वार्थ साध लिया है, इसिलिए देवताओं ने यह महात्म्य किया है। यह सुनकर मस्तक हिलाते हुए, मुनि की प्रशंसा करते हुए वे मुनि विशेष रूप से दृढ होकर स्वार्थ - साधन में तत्पर बनें। उस पर्वत की अधिष्ठात्री मिथ्यादृष्टि देवता ने श्राविकारूप बनाकर प्रत्यनीका की तरह मुनि से कहा - खण्ड-खाद्य आदि सम्पूर्ण अमृत के समान इस खाद्य को शीघ्र ही प्रसन्न होकर ग्रहण करके हे पूज्य पारणा कीजिए। उस देवी को अप्रीतिकर जानकर वे उस पर्वत को छोड़कर ध्यान- विघ्न के भय से उसके समीपवाले पर्वत पर चले गये। वहाँ के देव की आज्ञा लेकर वे तपोधनी कायोत्सर्ग में लीन बने। उस देवता ने भी प्रीतिपूर्वक वहाँ आकर उनको कृत अंजलि नमस्कार करके कहा - हे पूज्य! तीर्थ पर्वतों के शिरोमणी! मैं कृतकृत्य हुआ। वज्र स्वामी की महिमा तो अष्टापद आदि तीर्थों से स्पर्धा करती है। तब वे प्रभु वज्र उस समय शिष्य परिवार सहित भक्त व देह का त्याग करके समाधिपूर्वक स्वर्ग में गये। तब रथ-वाहन युक्त इन्द्र ने आकर गुरु भक्ति की प्रेरणा से उस पर्वत की तीन प्रदक्षिणा दी। वज्र स्वामी आदि की देहों को अतिशय महिमा की। तीर्थंकर की तरह वज्र स्वामी के सम्मान में वृक्ष भी झुक गये। आज भी उस पर्वत पर वे वृक्ष उसी प्रकार हैं। तब से उस विराट पर्वत का नाम रथावर्त्त संज्ञा को प्राप्त हुआ।

वज्र स्वामी के स्वर्ग में चले जाने से दसवें पूर्व का विच्छेद हो गया। साथ ही चौथे संहनन अर्द्धनाराच का भी विच्छेद हो गया। अपने शिष्य वज्रसेन को, जो स्वामी ने पहले ही भेज दिया था, वे मुनि विहार करते हुए सोपारिक नगर में आये। वहाँ का राजा जितशत्रु एवं रानी धारिणी थी। उसी नगर में जिनदत्त नामक श्रावक तथा ईश्वरी नामकी उसकी प्रिया थी। वहाँ पर दुर्भिक्ष की प्रकर्षता से धान्य का अभाव होने से सभी निर्जल में मीन की तरह हो गये। तब सेठानी ईश्वरी ने लाखों रुपये के मूल्य वाले धान्य को लाकर पकाकर एक थाली में रखकर अपने कुटुम्ब से कहा - अब तक बहुत सारा धन देकर भी हमने धान्य प्राप्त किया है एवं आज तक सारा कुटुम्ब सुख से जीया है। पर अब धान्य के अभाव में जीवन नहीं है। बहुत सारा द्रव्य होने पर भी वह खाने के लिए शक्य नहीं है। अतः इस भोजन में विष डालकर, पंच-नमस्कार का स्मरणकर, आराधना करके इसे खाकर सुसमाधिपूर्वक मरण को प्राप्त कर लेवें। उन सभी ने भोजन में विष मिलाकर खाना स्वीकार कर लिया। विष मिलाने के पूर्व ही विहार करते हुए वज्रसेन स्वामी उनके घर पर आये। ईश्वरी सेठानी भी उन मुनि को देखकर प्रमुदित होते हुए विचार करने लगी की अहो! हमारा धन्य भाग्य! कि हमारे यहाँ अतिथि के रूप में साधु आये हैं। अतः इस सत्पात्र में शुभचित्त पूर्वक मैं परलोक के मार्ग के पाथेय रूप सुवित्त (इस आहार) को देऊँगी। इस प्रकार विचार करके संतुष्ट होकर मुनि को प्रतिलाभित किया। फिर लक्षान्न पाक वृत आदि सारी बात मुनि को बतायी। वज्रसेन ने कहा इस प्रकार यम के मुख में प्रवेश मत करो। प्रातः सुभिक्ष प्रवर्तित होना ही चाहिए - इसमें कोई संशय नहीं है। उसने पूछा - आप कैसे जानते हैं? अपने ज्ञान से या ज्ञानी पुरुष से? उन्होंने कहा - अपने गुरु वज्र-स्वामी की वाणी द्वारा यह जानता हूँ। मेरे गुरु ने कहा था कि - वत्स! जहाँ तुम भिक्षा में लक्षौदन प्राप्त करोगे, उसके दूसरे दिन वहाँ सुभिक्ष काल प्रवर्तित होगा। तब उनकी वाणी से कुटुम्ब सहित जीवन दान पाकर ईश्वरी सेठानी ने जहर फेंक दिया और

उसके साथ ही दुष्काल भी खत्म हो गया।

प्रातःकाल वहाँ बड़ा पोत धान्य से परिपूर्ण अवतीर्ण हुआ। चलते हुए महाकोष की तरह सुकाल की घोषणा राजा ने की। नागरिकों के गले में आये हुए प्राण जीवित हो गये। वज्रसेन मुनि भी वहाँ कितने ही दिनों तक रूके तब ईश्वरी शेठानी ने कहा - हे स्वजनों! मरते-मरते जीकर भी हम क्या उसका फल ग्रहण न करें। तब उन्होंने अपना धन सप्तक्षेत्र में देकर ईश्वरी, जिनदत्त, उनकी पुत्री चन्द्रा आदि सभी ने वज्रसेन के पास में अपार भव-कान्तार से निकालने वाले पताका के समान संयम को ग्रहण किया।

इस प्रकार शिष्य-प्रशिष्य आदि द्वारा श्री वज्र स्वामी की सन्तति भगवान की कीर्त्ति के मूर्त्तिमन्त रूप की तरह सभी दिशाओं में फैल गयी।

उधर भगवान् वज्र स्वामी के पास से रवाना हुए आर्यरक्षित स्वामी गुरु की सन्निधि में पहुँचे। गुरु ने प्रसन्न होकर उसे अपने पद पर स्थापित किया। उसे गच्छ समर्पित करके वे स्वयं देवलोक में चले गये। तब आर्यरक्षित सर्व परिवार से युक्त होकर अपने बन्धु जनों को प्रतिबोधित करने के लिए दशपुर गये। दृष्टिवाद पढ़कर आये हुए उसे सुनकर राजा, माता-पिता तथा नागरिकों ने आकर हर्षसहित उसे वन्दन किया। चिर काल से सोम - पुत्र मुनि के अतिथि - भाव को स्वीकार करके नेत्रों द्वारा बाष्पाश्रुओं से सभी ने उन्हें अर्घ्य चढ़ाया। उनके हृदय के तम का हरण करके अपने उपदेश रूपी किरणों से नव्य सूर्य की तरह शाश्वत उद्योत किया। धर्म व अधर्म का सम्यग् निरीक्षण करके राजा ने गृहीधर्म ग्रहण करके जैसे आये थे, वैसे ही चले गये। आर्यरक्षित की माता ने तो बहुत से स्वजनों के साथ सुखों की एकमात्र शय्यारूपी प्रव्रज्या को खुशी-खुशी स्वीकार किया। आर्यरक्षित के पिता सोमदेव भी उनके प्रेम के वश से उनके साथ ही रहने लगे, पर उनके साथ लिंग स्वीकार नहीं किया। वे कहते थे कि व्रत के लिए कहे हुए नग्नत्व जैसे वस्त्र परिधान को धारण करने में मैं समर्थ नहीं हूँ। पुत्रियाँ, बहुएँ, दोहित्रियाँ के रहते हुए मुझे लज्जा आती है। अगर छत्री, कमण्डल, जूते, यज्ञोपवीतसूत्र तथा वस्त्रों का त्याग न करना पड़े, तो व्रत ग्रहण कर सकता हूँ। श्रुत-उपयोग से आचार्य श्री ने जाना कि युक्तिपूर्वक समझाये जाने पर इन सब का ये क्रमपूर्वक त्याग कर देंगे। इस प्रकार विचार करके छत्रिका आदि का त्याग न किये जाने पर भी पुण्यात्मा पिता को अतिशय ज्ञानी आचार्य ने दीक्षा प्रदान की। उस वेष में भी वे सोमदेव महामुनि बिना खाये नवमानस अर्थात् अपूरितनये उत्साह से पिण्डैषणा आदि पढ़ने लगे।

एक बार आचार्य आदि चैत्यवंदना के लिए बाहर गये। श्रावकों के कुमारों को संकेत कर दिया कि छत्री मुनि को छोड़कर सभी को वंदन करना। तथा इन आर्य के सन्मुख एक साथ खूब आवाज करना। उनके द्वारा कहा हुआ बालकों ने किया। तब उन्होंने कहा कि मेरे पुत्र-पौत्र आदि को तो तुमने नमन किया, पर मुझे क्यों नहीं किया? क्या मैं प्रव्रजित नहीं हूँ। उन बालकों ने कहा - हे आर्य! क्या व्रतियों के भी छत्रिका आदि होती है? तब सोमदेव मुनि ने विचार किया कि इस छत्री से क्या प्रयोजन, अगर बालक भी इससे दूर भागते हैं। पुत्र आर्यरक्षित के पास जाकर कहा - वत्स! मुझे छत्री नहीं चाहिए। गुरु ने कहा - आर्य! छोड़िये! इसे छोड़ दीजिए। अगर ताप लगेगा तो हम आपके शिर पर ताप का निवारण करने के लिए कपडे का पर्दा कर देंगे यह हमारा कल्प है।

एक दिन पुनः वे बालक परस्पर इस प्रकार कहने लगे - इन कमण्डल धारी यति को हम प्रणाम नहीं करेंगे। आचार्य ने भी कहा - उच्चार भूमि में पानी ले जाने के अलावा इस कमण्डल का भी त्याग कर दीजिए।

कितने ही दिन बीत जाने पर बालकों ने पुनः कहा - इन ब्रह्मर्षि को वन्दना नहीं करेंगे, क्योंकि इन्होंने यज्ञोपवीत पहना हुआ है। तब गुरु ने भी कहा - आर्य! इस सूत्र से हमें क्या प्रयोजन? क्या ब्राह्मण सूत्र पहने बिना हमें कोई ब्राह्मण नहीं जानेगा? इस प्रकार सब कुछ छोड़ देने पर भी उन शिशुओं ने कहा - इन लंबे वस्त्रधारी साधु

को छोड़कर बाकी सभीको वंदन करेंगे। यह सुनकर आर्य ने क्रोधित होते हुए रोषपूर्ण कठोर वाणी में उनसे कहा - तुम पिता, दादा, पडदादा होकर भी चाहे कभी मुझे वन्दन मत करना। किसी के वन्दन किये जाने या न किये जाने पर भी मैं ऐसे ही रहूँगा। मैं निर्लज्ज होकर इस कमर के वस्त्र का त्याग नहीं करूँगा।

एक बार एक साधु अच्छी समाधि द्वारा अंतिम आराधना करके शुद्ध अंतःकरण से मृत्यु को प्राप्त हुआ। तब आचार्य ने अपने पिता के वस्त्र मोह (कटी-पट) को छुड़वाने के लिए उनके समक्ष सभी साधुओं से कहा - साधु के चारित्र के पात्र रूपी इस शरीर को जो वहन करता है, उसकी अतीव महती कर्म-निर्जरा होती है। तब पूर्व में सांकेतिक मुनियों ने विनय से उद्यत पहले मैं-पहले मैं इस प्रकार आगे बढ़ते हुए देह को वहन करने के लिए उपस्थित हुए। सोम ऋषि ने भी उनको देखकर बहु-निर्जरा की स्पृहा करते हुए कहा - वत्स! यदि ऐसा है, तो मैं इसको वहन करुँगा। गुरु ने भी कहा - युक्त है, बहुत श्रेयस्कर है। पर बच्चों आदि के द्वारा बहुत उपसर्ग निर्मित होंगे। हे आर्य! अगर उनको सहन करने में पार पा सकते हो, तो वहन करो अन्यथा वे मेरे अनर्थ का ही कारण बनेंगे। मैं सम्यक् प्रकार से सहन करुँगा इस प्रकार कहकर वहन करने में लग गये। तब साधु आगे चले फिर संघ और साध्वियाँ आदि भी पीछे चले। पूर्व में संकेतित बालकों ने उनके कटी-पट का हरण कर लिया। तब बहुओं आदि द्वारा देखे जाने से अति लज्जित होते हुए भी "मेरे पुत्र को यह उपसर्ग अनर्थकारी न हो" यह सोचकर पुत्र-स्नेह से उसको आँख बन्द करके सहन किया। फिर अन्य साधुओं द्वारा उसके सामने परदे के रूप में चोल पट्टा बाँधने पर मौनपूर्वक शबको वहन कर परठकर उपाश्रय में आने पर गुरु ने कहा-आर्य! यह क्या है? तब उसने यथावृत्त कह दिया, क्योंकि-

नास्त्यकथ्यं गुरोर्यतः ।

गुरु को कुछ भी अकथ्य नहीं होता।

किसी मुनि के पास से सुगुरु ने वस्त्र लाकर उनको कहा - आर्य! इसे ग्रहण कीजिए। इस वस्त्र को धारण कीजिए। उन्होंने भी कहा - वत्स! जो दिखा, सो देख लिया गया। अब चोलपट्टा ही अन्य साधुओं के समान होने से ठीक है। तब गुरु ने विचार किया कि पिता ने मुनि भेष तो धारण कर लिया है, पर अभिमान वश भिक्षा के लिए अब भी नहीं जाते हैं और भिक्षाचर्या के बिना अत्यधिक निर्जरा कैसे होगी अथवा कदाचित् एकाकी रहने पर यह खायेंगे कैसे?

तब संकेत करके साधुओं को कहा - आज अमुक ग्राम जाकर हम शीघ्र ही आ जायेंगे। अतः मेरे पिता का मेरी ही तरह खयाल रखना। उन्होंने भी गुरु आज्ञा स्वीकार कर ली। फिर गुरु गाँव को चले गये। भोजन का समय होने पर सभी अलग-अलग जाकर अपना-अपना आहार ले आये और संन्यासी की तरह खाने बैठ गये। किसी ने भी सोमदेव मुनि को निमन्त्रण नहीं दिया। उन्होंने मन में सोचा कि गुरु की आज्ञा का लोप करनेवाले इन पापी मुनियों को धिक्कार है! म्लेच्छ की तरह इन क्रूरों को क्या साधु कहा जाय? मेरे भूखे रहने पर भी इन सभी अधर्मों ने आहार कर लिया। इस प्रकार दुःखार्त्त होकर आर्त्त ध्यान करते हुए भूख से अशक्त पेट द्वारा जैसे-तैसे उन्होंने एक रात्रि एक युग के समान व्यतीत की। प्रातः गुरु के आने पर क्रोध से गद्‌गद् होते हुए अश्रुयुक्त लोचनों द्वारा आर्य ने साधुओं के असाधु-व्यवहार को बताया। तब गुरु ने क्रोधी की तरह सिर पर नेत्र चढ़ाते हुए उन सभी साधुओं की निर्भर्त्सना करते हुए अपने पिता से कहा - हे तात! आपके लिए भिक्षा मैं स्वयं लेकर आऊँगा। इन बिना दया वाले पापी साधुओं के बिना ही हमारा काम सर जायगा। अब से मैं भी इन कुशिष्यों द्वारा लाया हुआ भोजन नहीं ग्रहण करुँगा। यह कहकर गुरु ने उनके पात्रों को ग्रहण किया।

सोम ऋषि ने विचार किया कि मेरा पुत्र विश्व श्रुत है। अगर जगत् पूज्य यह भिक्षा के लिए जायगा, तो उचित

नहीं होगा। अतः गुरु को कहा - वत्स! तुम रूको। मैं जाता हूँ। तुम्हारे द्वारा भिक्षा के लिए घुमने से धर्म की लाघवता होगी। तब वे आर्य पात्र ग्रहण करके भिक्षा के लिए गये। किसी घर में किये गये अपद्वार से उन्होंने प्रवेश किया। तब उस घर के श्रेष्ठि ने कहा - तपोधने! यह क्या? अपद्वार से प्रवेश कर रहे हैं। इस द्वार से प्रविष्ट होवें। सोमदेव मुनि ने उस गृहपति को कहा - कदाचित् घर में लक्ष्मी आती है, तो क्या वह द्वार या अपद्वार देखती है? उनके मंगल वचन सुनकर श्रेष्ठि उनसे बहुत प्रसन्न हुआ। उन्हें विनायक की तरह मानते हुए बत्तीस दिव्य मोदक प्रदान किये। महर्षि ने भी हर्ष पूर्वक उन आनन्द प्रदान करने वाले मोदकों को ग्रहणकर स्मित मुख द्वारा गुरु के पास आकर आलोचना की। आचार्य ने भी कहा - तात! निश्चय ही आपके वंश में आवलि के क्रम से बत्तीस शिष्य-प्रशिष्य होंगे। पर इन मोदकों को हे आर्य! आप इन किन्हीं को भी मत देना, क्योंकि इन पेटुओं ने कल आपको कुछ भी नहीं दिया था। उन हलुकर्मी आर्य ने कहा - वत्स! ऐसा करना मेरे लिये योग्य नहीं है। ये तुम्हारे शिष्य होने से मेरे पोते हैं। पुत्र भले ही कुपुत्र हो जाय, पर माता कभी कुमाता नहीं होती। अतः मेरे मन में ऐसा कुछ नहीं है कि मैं इनको कुछ न दूँ। अतः वह सारा आहार मुनियों को प्रदानकर पुनः अपने लिये गोचरी गये। शीघ्र ही खाण्ड तथा घी युक्त खीर लाकर भोजन किया। तब से सोमदेव मुनि विशिष्ट लब्धि संपन्न संपूर्ण गच्छ के उपकारक हुए। उनके गच्छ में अन्य तीन साधु भी लब्धिमन्त हुए, जिनका नाम वस्त्रपुष्य, घृतपुष्य तथा दुर्बलिकापुष्य था।

वस्त्र पुष्य जब भी गच्छ में वस्त्रों का प्रयोजन होता तो द्रव्य से-जितना चाहे, उतने वस्त्र स्वयं प्राप्तकर ले आते थे। क्षेत्र से-मथुरापुरी में नित्य ही दुर्लभ वस्त्रों को वे प्राप्त कर लेते थे। काल से-शीत से पीड़ित लोगों के वस्त्र खरीदने में कसाकसी होने पर भी उनको प्राप्त हो जाते थे। भाव से - अत्यधिक कष्ट-वृत्ति द्वारा बुरी गति में रहे हुए भूख से मरते हुए बहुत-बहुत दिनों तक सूत को कातकर उत्सव आदि में पहनने के लिए जो वस्त्र बनाते थे, उस वस्त्र को भी वस्त्रपुष्य को जरुरत होती, तो वे सहर्ष प्रदान करते थे।

घृत पुष्य भी जब-जब घी की जरुरत पड़ने पर जाता था, तो द्रव्य से-वह जितना चाहिए, उतना घी अपनी लब्धि द्वारा प्राप्त कर लेता था। क्षेत्र से - स्वभाव से ही अवन्ती नगरी में घी की अल्पता होने पर भी उन्हें यथेच्छित घी मिल जाता था। काल से-तो अति रुक्ष जेठ-आषाढ आदि महीनों में भी वे अपनी लब्धि द्वारा घी प्राप्त कर लेते थे। भाव से-गर्भवती ब्राह्मण अपने गरीब पति को बोली - प्रिय! मेरे प्रसवकाल में घी की जरुरत पड़ेगी। तब वह समस्त देश में आछे-जूते पाँवों में पहने हुए अर्थात् एडियों के घिस जाने पर भी छःमास तक माँग-माँगकर घड़े के घट को पूर्ण करता है। ऐसा दुर्लभ वह घी भी उसके घर आये हुए घृतपुष्य मुनि को पत्नी द्वारा सर्व घी संतोषपूर्वक दे दिया जाता था।

दुर्बलिका - पुष्य प्रशस्त ज्ञान - लब्धि से संपन्न थे। उन्होंने चक्रवर्ती के निधि की तरह नौ पूर्व का ज्ञान अधिगत कर रखा था। सूत्रार्थ विषयक ध्यान में व्यग्र होने से वे आहार नहीं प्राप्त करने पर अथवा पीड़ित हुए रोगी की तरह दुर्बल हो गये थे। परावर्त्तन नहीं करने पर उसका श्रुत तत्क्षण छिद्रयुक्त भाजन में रहे हुए पानी की तरह शीघ्र ही नष्ट हो जाता था। अतः इस प्रकार दुर्बलता की प्राप्ति से समस्त श्रुत को प्राप्त पुष्यमित्र नाम होने पर भी दुर्बलिका पुष्य के नाम से ख्यात हुए।

एक बार दशपुर में रहनेवाले उसके बंधुओं ने बौद्धों द्वारा सिखाये जाने पर कहा - प्रभो! ध्यान की एकाग्रता बौद्धों के सिवाय अन्यत्र कहीं नहीं दिखायी पड़ती। अन्यों के वेष की कल्पना तो सिर्फ जीविका के लिए ही हैं। गुरु ने कहा - ऐसा नहीं बोलो। तुम्हारा भाई ध्यान-योग से ही चन्द्र की तरह दुबला हुआ है। उन्होंने कहा - प्रभो! यह तो प्रान्त आहार से दुर्बल हुआ है। पहले अत्यन्त स्निग्ध भोजन करने के कारण यह अत्यन्त मांसल था। गुरु ने उनको कहा - अगर ऐसा ही है, तो जिस प्रकार माता अपने अभीष्ट आत्मज को खिलाती है, उसी प्रकार घृतपुष्य

अभी भी इन्हें अति स्निग्ध भोजन से पोषित करता है। परन्तु यह मुनि शुद्ध - ध्यान में निरन्तर आसक्त रहने के कारण बकरे को सिंह दिखाये जाने के समान शरीर से बल को प्राप्त नहीं कर पाते। अगर इस अर्थ में विश्वास नहीं है, तो अभी भी घर ले जाकर पहले की तरह इसे स्निग्ध - भोजन से पोषित करो। तब उन्होंने भी वैसा ही किया। दुर्बलिका पुष्य ने भी रात-दिन एकाग्र होकर श्रुत - ध्यान रूपी अग्नि से आहार को भस्मसात् किया। जैसे दुष्ट का बहुत सारा सत्कार भी विफल होता है, वैसे ही दुर्बलिका पुष्य को सरस आहार देना भी फलित नहीं हुआ। उसका पोषण कर-कर के वृक्ष को सींच-सींचकर फल के अनावलोकन की तरह देखकर निर्विघ्न होते हुए उनके गुरु को कहा। तब गुरु ने कहा - अब इसे प्रान्त आहार देवें। दुर्बलिका पुष्य को कहा कि वह कुछ दिन तक ध्यान आदि न करे। इस प्रकार किये जाने पर वह थोड़े ही दिनों में सर्वांग से मांसल होकर बैल की तरह यौवन को प्राप्त हुआ। उनका विश्वास देखकर तथा देशना को सुनकर वे बौद्ध कुवासना का त्यागकर परम आर्हत हुए।

उनके गच्छ में चार साधु शरीरी के दान, शील, तप व भाव की तरह अधिगत सूत्र वाले थे। उनमें पहला तो यही दुर्बलिका पुष्यमित्र था। दूसरा गुरु का छोटा भाई फल्गुरक्षित, तीसरा गुरु का मामा गोष्ठामाहिल तथा चौथा विन्ध्य नाम के गुणी हाथी की तरह विन्ध्य नामक ऋषि था। विन्ध्य मुनि अति मेधावी होने से वाचना के क्रम से खिन्न होते हुए गुरु ने अपने लिए अन्य वाचनाचार्य की माँग की। तब आचार्य ने उनके वाचनाचार्य के रूप में दुर्बलिका पुष्य को नियुक्त किया। कितने ही दिनोंतक उन्होंने वाचना दी। फिर उन्होंने वाचना देते हुए कहा - प्रभो! मेरा शेष श्रुत बिना स्मरण किये रुष्ट की तरह चला जाता है। बन्धु के घर पर रहते हुए मेरे द्वारा कुछ दिनोंतक ज्ञान का पुनरावर्त्तन नहीं किया गया। अतः अब मेरा श्रुत दोलायमान है। यह सुनकर गुरुने विचार किया कि अगर इस महामति का श्रुत भी स्मरण करते हुए भी नष्ट हो रहा है, तो अन्य की तो गिनती ही क्या। तब उन्होंने श्रुत उपयोग से जाना कि श्रेष्ठ गणधरों की अपेक्षा उनके शिष्यप्रशिष्य क्रमशः अपकृष्ट मति वैभव वाले होंगे। अतः आर्यरक्षित स्वामी ने उनके अनुग्रह के कारण से चार अनुयोगों का अलग से उपदेश दिया। पहला चरणकरणानुयोग कालिक सूत्र में, गणितानुयोग सूर्य प्रज्ञप्ति आदि में निवेशित है, धर्मकथानुयोग तो ऋषि-भाषित विषय है तथा द्रव्यानुयोग रूप चौथा अनुयोग दृष्टिवाद में नियोजित है।

एकबार भगवान् ग्रामानुग्राम, पुरानुपर पृथ्वी पर विचरण करते हुए मथुरा नगरी पधारें। वहाँ विशाल एवं सुनसान यक्षगुहा - चैत्य में आर्यरक्षित सूरि विराजे। इधर सुधर्मा - अधिपति महाविदेह क्षेत्र में सीमन्धर स्वामी की वन्दना के लिए अवतीर्ण हुआ। वहाँ उसने प्रश्न किया - प्रभु! निगोद किस प्रकार के होते हैं? भगवान् ने भी उसके सम्पूर्ण स्वरूप का कथन किया। पुनः इन्द्र ने पूछा - स्वामी! क्या भरतक्षेत्र में भी कोई ऐसा है, जो कुशाग्र बुद्धि द्वारा इस प्रकार निगोद के बारे में पूछे जाने पर विश्लेषण कर सकता है। अर्हत प्रभु ने कहा- हाँ! है। आर्यरक्षित सूरि श्रुतज्ञानी हैं। वे बुद्धिशाली मेरे जैसी ही व्याख्या करते हैं। तब इन्द्र को अतिविस्मिय हुआ कि जिनकी तीर्थंकर स्वयं प्रशंसा करते हैं, वे दिव्य ज्ञानी सूरि कैसे होंगे? अतः वह इन्द्र ब्राह्मण का रूप बनाकर वहाँ आया। साधु संघाटक द्वारा गोचरी के लिए वसति में चले जाने पर पृथ्वी पर आकर प्रभु आर्यरक्षित को वन्दनाकर कहा - प्रभो! मैं व्याधि से पीड़ित हूँ। दयानिधे! कृपाकर बतायें कि मेरी कितनी आयु शेष है? जैसे भवभ्रमण से मोक्षार्थी खिन्न होता है वैसे ही मैं भी जीवन से खिन्न हुआ हूँ। जिससे अनशन करना चाहता हूँ। मेरे प्राण दुःख को लेकर चले जाये।

यह सुनकर आचार्य ने उनकी आयु का विचार किया। प्रार्थित के मनोरथ की तरह उनकी आयु को अधिकाधिक बढ़ती हुई देखकर विचार किया कि - यह मनुष्य न तो भरतक्षेत्र का है और न ही महाविदेह का। व्यन्तर देव भी यह नहीं हो सकता, क्योंकि इसकी आयु रेखा तो बढ़ती ही जा रही है। पल्योपम आदि का उल्लंघन

करके भी यह दो सागरोपम की स्थिती में ही ठहरती है। तब उन्होंने जाना कि इतनी आयु वाला तो यह निश्चय ही इन्द्र है। तब अपनी भौहों के केशों को ऊपर उठाते हुए कहा - हे भद्र! वृद्ध ब्राह्मण के वेश में आप समर्थवान् इन्द्र हैं। इन्द्र ने उनके ज्ञान से चमत्कृत होते हुए दिव्यालंकार व श्रृंगार से युक्त इन्द्र के स्वरूप को प्रकट किया। श्रेयस भक्ति द्वारा उन्हें नमस्कार करके सीमन्धर स्वामी के पास किये गये प्रश्नोत्तर आदि को समस्त रूप से गुरु को निवेदन किया। फिर इन्द्र ने उत्कण्टित होकर श्रुति पुर के द्वारा उस वाणी - सुधारस को पीने के लिए निगोद के स्वरूप को पूछा। आचार्य आर्यरक्षित ने निगोद का कथन करने के बहाने से मानो सीमन्धर जिनेन्द्र का कहा हुआ व्याख्यान ही अनुवादित किया। इन्द्र ने विशेष रूप से आनन्दपूर्वक उस अद्‌भुत श्रुतज्ञान की प्रशंसा करते हुए वन्दना करते हुए कहा - प्रभो! वह क्षेत्र धन्य है, जहाँ सर्वज्ञ के प्रतिनिधि के रूप में आप तत्त्व रूपी ज्ञान लोचनों को उद्योतित करते हैं। यह सुनकर आर्यरक्षित स्वामी के बहुमान के कारण उनके मन का हरण हो गया। इन्द्र जब वन्दनाकर देवलोक लौटने लगा, तब गुरु ने शक्र से कहा - मेरे साधु आनेवाले हैं। तुम्हें देखकर वे धर्म में सुदृढ़ आशय वाले बनेंगे। पहले भी साधुओं द्वारा हे शक्र! पुनःपुन प्रार्थित हो! अतः हे इन्द्र! तुम्हारे द्वारा उनके दर्शन के लिए रुकना चाहिए। इन्द्र ने कहा - प्रभो! मुझे देखकर कोई अल्प सत्त्वशाली निदान कर लेंगे। अतः उन्हें मेरा दर्शन न होना ही श्रेष्ठ है। तब गुरुदेव ने कहा - हे इन्द्र! अगर ऐसा है, तो अपने आगमन के प्रतीक रूप कोई चिह्न बताकर तुम जाओ। तब उस वसति में रहे हुए यक्ष - गुहाचैत्य के द्वार को विपरीत दिशा में करके इन्द्र देवलोक में चला गया। वसति से विहार करके लौटे हुए साधु प्रतिद्वार को न देखकर मूढ की तरह संभ्रमित चित्त वाले हो गये। अपने ज्ञान से उन्हें आया हुआ जानकर गुरु ने कहा - हे मुनियों! इस मार्ग से आओ। द्वार इधर है। साधुओं ने आकर प्रभु से पूछा - यह कैसे हुआ? उन्होंने कहा - शक्रेन्द्र ने आकर यह किया और चला गया। तब मुनियों ने कहा - हमारे दर्शन के लिए वह क्यों नहीं रूका! गुरु ने भी इन्द्र द्वारा कथित सारा वृतान्त कह दिया।

एक बार गुरु अपने चरणों से पृथ्वी को सूर्य की तरह पावन करते हुए दशपुर पधारें और वहाँ वृद्धावास के लिए ठहर गये। उधर मथुरा पुरी में कोई नास्तिकवादी आया। उसने पुर के लोगों को सूचित किया कि उसे जीतने में कोई समर्थ नहीं है। तब मथुरा के श्री संघ ने शासन की उत्सर्पणा के लिए युगप्रधान आर्यरक्षित सूरि को दशपुर बुलाने के लिए दो मुनि भेजे। उन्होंने आकर विनयावनत होकर संघ प्रणीत कहा। गुरु वृद्ध होने से वहाँ जाने के लिए स्वयं शक्त नहीं थे। अतः उन्होंने अपने मामा वादी कुंजर गोष्ठामाहिल मुनि को भेजा उन्होंने वहाँ जाकर राजसभा में उस नास्तिक को जीतकर जैनशासन की महती प्रभावना की। उसी समय वहाँ गर्जना युक्त, नवांकुरों को उत्पन्न करनेवाले बादलों से, जगत को आनंद प्रदान करने वाली वर्षारात (चौमासे की रात) पृथ्वीतल पर प्रवृत्त हुई। तब प्रसन्नता के साथ राजा, पुरजन तथा संघ ने गोष्ठामाहिल ऋषि का चातुर्मास वहीं करवाया।

इधर आर्यरक्षित ने अपना अन्तिम समय जानकर अपने संपूर्ण गच्छ को बुलाकर कहा - हे महाभाग! हम मुमुक्षुओं के समूह रूप हैं। अतः आप कहें कि आपके आचार्य कौन होने चाहिए? गुरु के प्रति बहुमान पूर्वक उन गच्छ - साधुओं ने कहा - [1]फल्गुरक्षित अथवा आर्य गोष्ठामाहिल को आचार्य बना दीजिए। गुरु ने गुणग्राही एवं मध्यस्थ चित्त वृत्ति के द्वारा बहुश्रुत दुर्बलिका पुष्य को गुणों द्वारा संपन्न मानकर कहा - हे मुनियों! हे श्रमण पुंगवों! मैं आपको दूध, तेल तथा घी के भरे हुए घट का दृष्टान्त सुनाता हूँ। दूध के घड़े को उलटा किये जाने पर दरिद्र की थाली में भोजन रखने के समान उसमें कुछ भी शेष नहीं रहता। तेल के घड़े को उल्टा करने पर कुछ-कुछ चिकनाई के अवयव अन्दर रह ही जाते हैं क्योंकि स्नेहशालियों का स्नेह शीघ्र नहीं जाता। पर घृत-घट में तो शून्यस्थान में

1. आर्यरक्षित सूरि के सगे भाई को आचार्य बनाने के लिए मुनिपुंगवों के कहने पर भी गच्छ हित के लिए उनको आचार्यपद न देकर दूसरे मुनि को आचार्यपद दिया। वर्तमान में पदेच्छा एवं स्नेह के कारण पदवी प्रदान की प्रथा की क्या दशा हुई है? सुज्ञजन विचारें।

दिखते हुए लाल-लाल बिंदुकों के जाल की तरह तथा आकाश में बादलों की तरह बहुत सारा घी घट को उलटा करने पर भी रह जाता है। दुर्बलिका पुष्य के लिए मैं दूध के घड़े के समान हूँ, मुझसे उसने सारा श्रुत ग्रहण कर लिया है। फल्गुरक्षित को ज्ञान देने में मैं तेल के घड़े के समान हूँ। उसने मुझसे सविशेष श्रुत ग्रहण कर लिया है। पर अभी भी थोड़ा बाकी है। गोष्ठामाहिल के प्रति मैं घृत के घड़े के समान हूँ। उसने अभी तक भी मुझसे बहुत सारा श्रुत ग्रहण नहीं किया है। अतः सूत्रार्थ उभय से युक्त दुर्बलिकापुष्य ही गुणों की एकमात्र निधि रूप होने से आपका आचार्य होना चाहिए। गच्छ ने उसके वचनों को स्वीकार कर लिया, क्योंकि गुरुवचन कदापि उल्लंघनीय नहीं है। गुरु ने अपने पद पर दुर्बलिकापुष्य को आरूढ किया एवं कहा - वत्स! फल्गुरक्षित आदि सभी सतीर्थिकों को तुम मेरी तरह ही देखना। फिर फल्गुरक्षित आदि मुनियों को कहा कि तुम लोग भी इन मुनिशेखर को मेरे जैसा या मुझसे भी ज्यादा मानना। इनके वचनों के प्रतिकूल कभी भी न जाना, क्योंकि ये अब आचार्यों में युगप्रधान आचार्य हैं।

इस प्रकार आर्यरक्षित सूरि ने सभी को शिक्षा देकर पञ्च नमस्कार युक्त अनशनकर के श्रीवीतराग चरणों की शरण प्राप्त करके, ध्यान से प्रधान सुख के निधान में लीन होकर संपूर्ण विशिष्ट आराधना विधि को धारणकर दिव्य निर्मल श्री को प्राप्त किया।

इस प्रकार आर्यरक्षित की कथा पूर्ण हुई।।६।।७४।।

साधुओं का चैत्यवास योग्य नहीं है। इसे विशेष स्पष्ट करते हैं।

उनकी (जिनेश्वर की) अनाज्ञा न हो, पर आधाकर्म आदि दोष रहित में निवास करते हुए कोई क्षति न हो, इसलिए कहते है -

दुगंधमलिणवत्थस्स खेलसिंघाणजल्लजुतस्स ।
जिणभवणे नो कप्पई जइणो आसायणाहेऊ ॥७॥ (७५)

दुर्गन्ध युक्त, अस्नान के कारण मलिन वस्त्र युक्त अर्थात् बाहरी रज आदि के संसर्ग से जिसके वस्त्र मलिन हो गये हों - वह श्लेष्म-युक्त नाक से पानी गिरते हुए यति का जिन भवन में रहना नहीं कल्पता है - यह जानना चाहिए। क्यों?

इसका उत्तर देते हुए कहा गया है - आशातना के कारणभूत होने से। कहा भी है -

दुब्भिगंधमलस्साऽवि, तणुप्पेसण्हाणिया ।
दुहा वाउवहो वावि, तेणट्ठन्ति न चेइए ॥१॥ (प्रव. सा. गा. ४३८)

स्नान करने के बाद भी यह शरीर दुर्गंध का श्राव करनेवाला है। तो साधु तो नित्य अस्नानि है। और शरीर में से दो प्रकार की वायु-ऊर्ध्व तथा अधःवायु बहती है अतः साधु को चैत्य में न खड़े रहना चाहिए, न ही बैठना चाहिए।

तिन्नि वा कड्ढई जाव थुईओ तिसिलोईया ।
ताव तत्थ अणुन्नायं कारणेण परेण वा ॥१॥ (प्रव. सा. गा. ४३९)

[1]तीन स्तुतियाँ तीन श्लोक द्वारा अर्थात् सिद्धाणं, बुद्धाणं आदि तीन गाथा द्वारा करते हैं। इस प्रकार पूर्ण चैत्यवंदना करते हैं ऐसा जाना जाता है। और चैत्यवन्दना जब तक यति करता है, तब तक चैत्य में अवस्थान करना आज्ञा युक्त है। कारण शब्द से स्नात्र, व्याख्यान आदि जानना चाहिए। परेण से परतः अर्थात् चैत्यवन्दना के बाद भी स्नात्र-व्याख्यानादि कारणों से चैत्य में रुकना कल्पता है।

1. इस सूत्र की रचना के समय में भी जिनमंदिर में तीन स्तुति यानि सिद्धाणं बुद्धाणं सूत्र तक ही देववंदना थी।

जइ वि न आहाकम्मं भत्तिकयं तह वि वज्जयन्तेहिं ।
भत्ती खलु होई कया इहरा आसायणा परमा ॥१॥

यद्यपि चैत्य आधाकर्म रूप नहीं है अर्थात् साधुओं के निमित्त नहीं बनाया गया है। तो फिर क्यों बनाया गया? तो कहते हैं कि भक्तिकृत है अर्थात् अर्हत् भक्ति के निमित्त से बनाया गया है।

फिर भी वहाँ निवास का त्याग करने वालों के द्वारा अर्हत में निश्चय रूप से कृत भक्ति होती है। अन्यथा तो वहाँ निवास करते हुए परम आसातना को करता है।।७।।७५।।

अतः चैत्य में वास नहीं करना चाहिए। यहाँ तक का वर्णन कुमार्गगामियों ने जो चैत्य बनाने के विषय में कहा था उनको प्रत्युत्तर के रूप में कहकर अब सुमार्ग की प्ररूपणा करते हैं।

भावत्थयदव्वत्थयरुवो सिवपंथसत्थवाहेणं ।
सव्वन्नुणा पणीओ दुविहो मग्गो सिवपुरस्स ॥८॥ (७६)

शिव-पथ के सार्थवाह रूपी सर्वज्ञ द्वारा भाव स्तव तथा द्रव्य स्तव रूपी दो मार्ग शिवपुर के बताये गये हैं। यहाँ विशेषता यह है कि केवल भाव से स्तवपूजा-भाव-स्तव रूप यतिधर्म है। भगवान के आज्ञा की पालना से चारित्र भी भगवान की ही पूजा है।

जो कहा गया है -

अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यमसङ्गता ।
गुरुभक्तिस्तपोज्ञानमष्टपुष्पी प्रचक्षते ॥१॥
अष्टपुष्पी समाख्याता, स्वर्गमोक्षप्रसाधिका ।
अहर्निशं तु साधूनां देवपूजाऽनया मता ॥२॥

अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्म, अपरिग्रह, गुरु भक्ति, तप व ज्ञान - ये अष्ट पुष्पी कहे जाते हैं।

यह अष्टपुष्पी स्वर्ग व मोक्ष को सिद्ध करने वाली है। अतः साधुओं को अहर्निश इसी अष्टपुष्पी द्वारा देवपूजा मानी गयी है।

द्रव्य से स्तव यानि पूजा-यह द्रव्य स्तव है और यह श्रावक का धर्म है।।८।।७६।।

अब भावस्तव तथा द्रव्यस्तव का स्वयमेव स्वरूप कहते हैं -

जावज्जीवं आगमविहिणा चारित्त पालणं पढमो ।
नायज्जियदव्वेणं बिओ जिणभवण करणाइ ॥९॥ (७७)

यावत् जीवन आगम विधि द्वारा चारित्र का पालन करना प्रथम भाव स्तव है।

न्याय से अर्जित धन द्वारा जिन भवन करवाना यह दूसरा द्रव्य स्तव है।।९।।७७।।

अब 'जिन भवन करण' आदि - इस पद का वर्णन करते हुए कहते हैं -

जिणभवणबिंबठावण-जत्तापूआय सुत्तओ विहिणा ।
दव्वत्थउ त्ति नेयं भावत्थय कारणत्तेण ॥१०॥ (७८)

जिन भवन अर्थात् मन्दिर में बिम्ब-स्थापना, यात्रा-रथ निकालना, अष्टाह्निक आदि पूजा, सूत्र से आगम को आश्रित करके विधि द्वारा किया जाना-यह द्रव्यस्तव जानना चाहिए। भाव स्तव का कारणरूप अर्थात् यह भाव - स्तव का जनक होता है।।१०।।७८।।

अब यह द्रव्य - स्तव सावद्य - रूप होने से यति के योग्य नहीं है। इसी के प्रतिपादन के लिए कहते हैं -

छण्हं जीवनिकायाण संजमो जेण पायए भंगं ।

तो जइणो जगगुरुणो पुप्फाइयं न इच्छंति ॥११॥ (७९)

छह जीवनिकायों का संयम जिससे नाश को प्राप्त होता है, इस कारण यति जगद् गुरु तीर्थंकरों की पुष्पादि से अर्चना नहीं करते हैं। उपलक्षण से संपूर्ण द्रव्यस्तव की इच्छा नहीं करते है। अर्थात् द्रव्य स्तव की उनको भगवान् की आज्ञा नहीं है।[1] *॥११॥७९॥*

विशिष्ट भाव स्तव का हेतु द्रव्यस्तव रूपी पूजा है। वह पूजा यति के लिए क्यों निषिद्ध है? इसी को बताते हैं -

तं नत्थि भुवणमज्झे पूआकम्मं न जं कयं तस्स ।
जेणेह परमआणा न खंडिआ परमदेवस्स ॥१२॥ (८०)

भुवन अर्थात् जिन मंदिर के मध्य साधु को द्रव्य पूजाकर्म की आज्ञा नहीं है। जो उसको नहीं करता है, उसके द्वारा प्रवचन में परम देव अर्थात् तीर्थंकर भगवान् की परम आज्ञा खंडित नहीं होती है॥१२॥८०॥

अतः द्रव्य स्तव से भाव स्तव बड़ा है - यह निश्चित हुआ। पर इनमें कितना अन्तर है, उसे कहते है -

मेरुस्स सरिसवस्स य जत्तियमितं तु अंतरं होई ।
भावत्थय दव्वत्थयाण अंतरं तत्तियं नेयं ॥१३॥ (८१)

मेरु का तथा सरसों के दाने का जितना अंतर होता है, उतना ही अंतर द्रव्य स्तव तथा भावस्तव का जानना चाहिए॥१३॥८१॥

यह कैसे होता है, उसे बताते हुए कहते हैं -

उक्कोसं दव्वथयं आराहिय जाइ अच्चुयं जाव ।[2]
भावत्थएण पावइ अंतमुहुत्तेण निव्वाणं ॥१४॥ (८२)

द्रव्यस्तव की आराधना करने वाला जीव उत्कृष्ट यावत् अच्युत देवलोक तक जा सकता है। भाव स्तव का आराधक जीव अंतर्मुहूर्त्त में निर्वाण को प्राप्त कर सकता है॥१४॥८२॥ इस प्रकार होने पर -

मुत्तूणं भावथयं दव्वथए जो पयट्टए मूढो ।
सो साहू वत्तव्वो गोअम! अजओ अविरओ य ॥१५॥ (८३)

भाव स्तव को छोड़कर जो मूढ़ द्रव्य-स्तव में प्रवृत्त होता है, हे गौत्तम! वह साधु अयति तथा अविरति है।

गौतम शब्द से भगवान् गौतम गोत्रीय इन्द्र भूति को सम्बोधन करते हैं। इसी के द्वारा यह महानिशीथ सूत्र को सूचित करता है।

भयवं! जो भावत्थयं गहाय दव्वथयं कुज्जा सो किमालविज्जा?
गोयमा! अस्संजइ वा, अविरएइ वा, अप्पडिहयपच्चक्खायपावकम्मेइ वा निद्धम्मेइ वा, भट्ठपइन्नेइ वा, देवच्चएइ वा, देवभोइए वेत्यादि ॥

जैसे - भगवन्! जो भाव स्तव को छोड़कर द्रव्यस्तव को करता है, उसे क्या कहा जाता है?

हे गौतम! असंयति, अविरति, अप्रतिहत अप्रत्याख्यात, पापकर्मी, अधर्मी, भ्रष्ट प्रतिज्ञ, देवपूजक(पूजारी), देवभोई (देव का खानेवाला) इत्यादि जानना चाहिए।

---

1. वर्तमान में तीर्थ संस्थापक बननेवाले भगवंत की आज्ञा की आराधना करते हैं या विराधना? वे स्वयं सोचें! उनको सहायक बननेवाले भी सोचें।
2. काउण जिणायणेहिं मण्डियं सयलमेइणीवट्टं दाणाइचउक्केण वि सुट्ठु वि गच्छिज्ज अच्चुअं न परओ त्ति (महानिशीथ)
जिनमंदिरों से संपूर्ण पृथ्वी भूषित करने से एवं दानादि चारों प्रकार के धर्म का सेवन कर लेने पर भी श्रावक अच्युत देवलोक से ऊपर नहीं जा सकता।

यहाँ अयतः का मतलब छः जीवनिकाय की विराधना के कारण संयम से भ्रष्ट कहा गया है। अविरत अर्थात् श्रावक भी नहीं है तथा लिंगधारी होने से दोनों मार्गों से च्युत है। यह भाव हुआ।।१५।।८३।।

जो मूढ़ शब्द कहा गया है, उसको दृष्टान्त से दृढ़ करते हैं -

मंसनिवित्तिं काउं सेवइ 'दंतिक्कय' ति धणिभेया ।
इय चइऊणाऽऽरंभ परवयएसा कुणइ बालो ।।१६।। (८४) (पंच वस्तु गाथा ९९)

कोई अविवेकी मांस का त्यागकर शब्द भेद से (यज्ञ का मांस पवित्र मानकर) मांस का सेवन करते है। उसी प्रकार अज्ञानीजीव आरंभ परीग्रह का त्याग करके देवादि के बहाने से आरंभ परिग्रह करते है।।१६।।८४।।

चैत्य की विचारणा में प्रवर्त्तमान धर्मार्थी रूप होने से वे कैसे बाल - (अज्ञानी) हैं - ऐसा जो मानते हैं, उन्हें अनुशासित करने के लिए कहते हैं -

तित्थयरुद्देसेण वि सिढिलिज्ज न संजमं सुगइमूलं ।
तित्थयरेण वि जम्हा समयंमि इमं विणिद्दिट्ठं ।।१७।। (८५)

तीर्थंकर के उद्देश्य से भी सुगति के मूल संयम को शिथिल न करे। इसीलिए सिद्धान्त में तीर्थंकरों के द्वारा विशेषरूप से निर्दिष्ट है।।१७।।८५।। इसी को कहते हैं -

सव्वरयणामएहिं विभूसियं जिणहरेहिं महिवलयं ।
जो कारिज्ज समग्गं तउ वि चरणं महिड्ढियं ।।१८।। (८६)

यदि सर्व रत्नों से युक्त जिन घरों द्वारा इस पृथ्वी वलय को विभूषित कर दिया जाय, तो भी सन्मार्ग रूपी चारित्र उससे भी महर्द्धिक है अर्थात् मेरु - सर्षव की उपमा द्वारा महान् है।।१८।।८६।।

यदि ऐसा है, तो मकड़ी के जालों आदि को हटाने के लिए के साधु के लिए आज्ञा दी है वह कैसे? यह बताते हैं -

अन्नाभावे जयणाइ मग्गनासो हविज्ज मा तेण ।
पुव्वकयाऽऽययणाइसु ईसिं गुणसम्भवे इहरा ।।१९।। (८७)

अन्य श्रावक जैसे कि भद्रक आदि के अभाव में मार्गनाश अर्थात् तीर्थ का नाश न हो - इस कारण से पूर्वकृत आयतन आदि में, चिरन्तन जिन भवनों में, आदि शब्द से बिम्बों में इषद्गुण संभव होने पर अर्थात् किसी के द्वारा जिन धर्म की प्रतिप्रत्ति आदि थोड़े से गुण का सम्भव होने पर ही यतना पूर्वक यानि आगम में कही गयी क्रिया द्वारा मकड़ी के जाले आदि को हटाना चाहिए।।१९।।८७।।

इहरा अर्थात् अन्य था। मतलब यह है कि पूर्वोक्त से विपरीत होने पर क्या होता है, उसे बताते हुए कहते हैं-

चेइअकुलगणसंघे आयरियाणं च पवयणसुए य ।
सव्वेसु वि तेण कयं तवसंजममुज्जमंतेण ।।२०।। (८८)

आचार्यों के चैत्य, कुल, गण, संघ तथा प्रवचनश्रुत इन सभी में उन साधुओं के लिए तप संयम में उद्यमवंत होना ही उनका कृत्य है।

यहाँ एक आचार्य की सन्तति को कुल तथा तीन कुलों के समुदाय को गण कहा है। 'तेण कयं' अर्थात् साधुओं के लिए किया गया कृत्य जानना चाहिए। तप संयम रूप से उद्यत साधु के लिए।।२०।।८८।।

अब कलिकाल के वश में रहे हुए शिथिल जनों के अभिप्राय को कहकर उसका निराकरण करते हैं -

केइ भणन्ति भन्नइ सुहुमयियारो न सायगाण पुरो ।

तं न जओ अंगाइसु सुव्वइ तव्वन्नणा एवं ॥२१॥ (८९)

कुछ भवाभिनन्दी कहते हैं कि सूक्ष्मविचार अर्थात् द्रव्यस्तव-भावस्तव के अधिकारियों की विचारणा आदि श्रावकों के सामने न पढ़नी चाहिए, न ही कहनी चाहिए। क्योंकि संपूर्ण समाचारी जानकर, शिथिल यतिजन को देखकर कदाचित् श्रावक मन्दधर्मी हो जायेंगे। क्योंकि अंग-उपांग आदि में वर्णित जो सुना जाता है, उसका आचरण नहीं करना है॥२१॥८९॥

ऐसी मान्यतावालों को आगमोक्त श्रावकों का स्वरूप समझाया गया है।

लद्धट्ठा गहिअट्ठा पुच्छियअट्ठा विणिच्छियट्ठा य ।
अहिगयजीवाईया अचालणिज्जा पवयणाओ ॥२२॥ (९०)
तह अट्ठिअट्ठि मज्जाणु रायरत्ता जिणिंदपन्नत्तो ।
एसो धम्मो अट्ठो परमट्ठो सेसगमणट्ठो ॥२३॥ (९१)
सूत्ते अत्थे कुसला उस्सग्गववाइए तहा कुसला ।
ववहारभावकुसला पवयणकुसला य छट्ठाणा ॥२४॥ (९२)

निरन्तर श्रवण से लब्ध अर्थवाले, सम्यग् अवधारण से गृहीत अर्थ वाले, कुछ संशय होने पर पूछने वाले, तत्त्व का अर्थ प्राप्त होने से विनिश्चित अर्थवाले, जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, संवर, बंध, निर्जरा, मोक्ष तत्त्वों को जानने से अधित जीवादि वाले प्रवचन से अचलित होते हैं।

उस प्रकार से अस्थि, उसके अन्दर रहा हुआ होने से अस्थिमज्जा, प्रस्तावित जिन मत के प्रेमरूपी अनुराग से वासना की साधर्मिता होने से रक्तरंजित की तरह, वे अर्थात् अस्थि, अस्थिमज्जा, अनुराग - रक्त उनके द्वारा साक्षात् आसेवित होने से जिनेन्द्र प्रज्ञप्त धर्म - अर्थ है। वस्तुरूप से उपादेय होने से परमार्थ - तत्त्वरूप है अर्थात् परम गति का हेतु है। शेष शिव, शाक्य आदि प्रणीत तो अनर्थ वस्तुरूप है।

स्व-अध्ययन योग्य अच्छी तरह व्यक्त सूत्र के उच्चारण में कुशल होने से सूत्र कुशल, निरन्तर सिद्धान्त के अर्थ का श्रवण करने से अर्थ कुशल उत्सर्ग - अपवाद आदि कार्यों में कुशल होने से उत्सर्ग - अपवाद कुशल, धर्म, अर्थ, काम व लोक - इन चार प्रकार के व्यवहार में कुशल होने से व्यवहार कुशल, बाह्य - आभ्यन्तर चेष्टाओं के अभिप्राय को जानने के साथ अभिनव धर्मों के स्थिरीकरण को करने में भावकुशल - इस प्रकार इन छः स्थानों को आश्रित करके जो कुशल होते हैं, वे प्रवचन कुशल हैं॥२२-२३-२४॥९०-९१-९२॥

जो सिद्धान्त का लोप करके उन्मार्ग का उपदेश देते हैं, साधुओं की निन्दा करते हैं, उनके विश्वासघात को कहते हैं -

पुच्छंताणं धम्मं तंपि य न परिक्खिउं समत्थाणम् ।
आहारमित्तलुद्धा जे उमग्गं उवइसंति ॥२५॥ (९३)
सुगइं हणंति तेसिं धम्मियजणनिंदणं करेमाणा ।
आहारपसंसासु य निंति जण दुग्गइं बहुयं ॥२६॥ (९४)

भव्यों द्वारा प्रश्न पूछे जाने पर गृहस्थ तथा यति के भेद से भिन्न धर्म को कहते हुए मुग्ध बुद्धि से परीक्षा करने में समर्थ नहीं होते हैं। इससे उनकी अत्यन्त अनुकम्पा कही गयी है। अशन आदि आहार तथा उपलक्षण से वस्त्र, पात्र, पूजा आदि में लुब्ध होकर सिद्धि सुख से विमुख होते हुए जो यथाछन्दी साधु अशुद्ध दान आदि रूप उन्मार्ग का उपदेश करते हैं। जैसे - ये विवेकी है, इनको शुद्ध मार्ग का उपदेश सुनाऊंगा तो ये मुझे आधाकर्म आदि दोष से दूषित आहार आदि नहीं देंगे।

इसके द्वारा उनकी अत्यधिक क्लिष्टता कही गयी है। जो कि कहा गया है -

जह सरणमुवगयाणं जीवाण निकिंतइ सिरे जो उ ।
एवं आयरिओ वि हु उस्सुतं पन्नवंतो उ ॥१॥

अर्थात् जैसे शरण में आये हुए जीवों के सिर को कोई काटता है, उसी प्रकार आचार्य भी उत्सूत्र की प्ररूपणा करते हुए उनके धर्म रूपी मस्तक का छेदन करते हैं।

पूछे जाने वालों को उन्मार्ग में स्थापित करते हुए उनकी (सुननेवालों की) सुगति का नाश करते हैं। शुद्ध आहार, वस्त्र, पात्र, उपाश्रय आदि ग्रहण करने वाले यति आदि धार्मिक जनों की, 'ये मायावी हैं' इस प्रकार से निन्दा करते हुए आहार आदि की प्रशंसा द्वारा अर्थात् तुम आहार के लिए कल्पवृक्ष के समान हो-इस प्रकार श्रावक की प्रशंसा द्वारा तथा "आहार-दान ही उत्तम है" इस प्रकार कहते हुए मनुष्यों को बहुत सी दुर्गतियों में ले जाते हैं॥२५-२६॥९३-९४॥

अब जो शरीर-सामर्थ्य आदि से रहित होने से क्रिया में शिथिल है, पर चित्त की थोड़ी सी भी शुद्धि से परलोक के अभिमुख है, उनको उपदेश देते हुए कहा जाता है -

हुज्ज हु वसणपत्तो सरीर दोबल्लयाइ असमत्थो ।
चरणकरणे अशुद्धे शुद्धं मग्गं परुविज्जा ॥२७॥ (९५)

*भले ही शरीर व्यसन प्राप्त हो अर्थात् दुःख मय रहा हो, इन्द्रिय अर्थ में अशक्त हो, वृद्धता रोग आदि के द्वारा शरीर की दुर्बलता से क्रिया करने में असमर्थ हो। **व्रतादि चरण क्रिया तथा पिण्डविशुद्धि आदि करण क्रिया में स्वयं अतिचार सहित स्थित रहने पर भी ज्ञानादिरूप शुद्ध मार्ग की प्ररुपणा करे।** किसकी तरह? तो कहतें हैं कि श्रेणिक-पुत्र नन्दीषेण की तरह शुद्ध प्ररुपणा करे। उनकी कथा इस प्रकार है -*

॥ नन्दीषेण की कथा ॥

जम्बू द्वीप के भरत क्षेत्र में मगध नामक देश था। उसमें राजगृह नामक नगर था। वहाँ राजा श्रेणिक राज्य करता था। सुनन्दा उसकी प्रिया थी। (न्याय) विक्रमशाली अभयकुमार आदि उसके पुत्र थे। एक बार वहाँ तीन छत्र की अतिशय कान्ति से युक्त त्रैलोक्य ऐश्वर्य पर शासन करनेवाले श्रीमान् वीर जिनेश्वर पधारें। भगवान गुणशील चैत्य में विराजे। बारह प्रकार की पर्षदा वहाँ यथास्थान बैठी। श्री वीर प्रभु का समवसरण सुनकर श्रेणिक राजा भी पुत्रों सहित सर्वसामग्री के साथ प्रभु को नमन करने आये। प्रीतिपूर्वक प्रदक्षिणा करके स्वामी को प्रणिपात करके व्याख्यारूपी अमृत का पान करने के लिए प्रभु के सामने राजा श्रेणिक बैठ गये। भगवान ने मेघ-गर्जन युक्त गम्भीर सर्व भाषानुगामी वाणी में धर्मोपदेश दिया। अहो! संसार रूपी कान्तार अपार व अति दारुण है। जिनधर्म रूपी रथ के बिना भव से भरे हुए लोगों का तारण कठिन है। मनुष्य कुएँ को खोदने वाले की तरह कुकर्मों द्वारा नीचे जाता है और महल को बनाने वाले की तरह सुकर्मों द्वारा ऊपर जाता है। अतः विद्वानों द्वारा संसार के कारण रूप कर्मों का उच्छेदन करके प्रयत्नपूर्वक संसार के तिराने वाले कर्मों को करना चाहिए। भव्य - प्राणियों द्वारा भव के हेतु रूप प्राणिवध, मिथ्याभाषण, स्तेय, अब्रह्म तथा परिग्रह-इन पाँच आश्रवों का सर्वथा त्याग करना चाहिए। इनका सर्वथा त्याग करना शक्य न हो, तो देश से त्याग करना चाहिए, जिससे निर्वाण रूपी पदवी दूर न रहे।

यह देशना सुनकर श्रेणिक राजा के पुत्र नन्दीषेण के मन में आश्रव के सर्वथा त्याग की भावना उद्‌भुत हुई। अपने आवास - स्थान पर आकर व्रताकांक्षी नन्दीषेण ने स्वच्छ मन से श्रेणिक राजा से पूछा। पिता से अनुमति पाकर संसार से उद्विग्न मन वाले उसने अनित्य विभूति का त्यागकर सनातनी विभूति को प्राप्त करने की इच्छा की।

सिद्धि रूपी लक्ष्मी का आकांक्षी बनते हुए अपनी अन्तःपुरियों को छोड़कर द्रव्यस्तव करके भाव स्तव करने के लिए वह कुमार प्रस्थित हुआ। उस समय अन्तरीक्ष में रहे हुए देवता ने कहा - वत्स! वत्स! व्रत-इच्छा के तुम इस प्रकार उत्सुक मत बनो। हे राजपुत्र! तुम्हारा भोगावली कर्म अभी तक शेष है। चारित्रावरणीय कर्म को उल्लंघन करने में अर्हंत भी समर्थ नहीं है। अतः कुछ समय तक यहीं ठहरकर कर्मों का उपभोग करो, फिर दिक्षा ग्रहण करना, क्योंकि-

काले फलन्ति तरवोऽपि यत् ।

वृक्ष भी समय पर ही फलित होते हैं।

साधुओं के मध्य रहते हुए वह कर्म मेरा क्या करेगा? - इस प्रकार देवता के वचन का अनादर करते हुए वह प्रभु के पास में गया। स्वामी ने भी कहा - यह तुम्हारी प्रव्रज्या का निरवद्य समय नहीं है। फिर भी उसने तीव्र इच्छापूर्वक शीघ्र ही व्रताग्रही होकर व्रत ग्रहण कर लिया। वीर प्रभु के साथ जगतीतल पर विहार करने लगे। उस महासत्त्वशाली ने निर्ममत्व होकर परीषहों को पराजित किया। वे तपस्वी कठिनतम अनेक तपों से तपे। उन तपों के प्रभाव से उन्हें विचित्र लब्धियाँ प्राप्त हुई। नित्य ही महाकष्टपूर्वक महा-आतापना आदि लेते हुए उन्होंने सर्वथा रूप से इन्द्रियों के विषयों को जीत लिया, जिससे कोई विकार पैदा न हो सके। तब नन्दीषेण मुनि ने देवता द्वारा कहे हुए कर्म-फल-भोग को सर्वथा भस्मसात् किया हुआ मान लिया। पर पूर्व के भगवान् एवं देव द्वारा कहे उस कर्म से डरते हुए उन्होंने साधुओं का सान्निध्य नहीं छोड़ा। तप की मुद्रा में अपने आपको एकाकि रूप से दृढ़ बना लिया। फिर सेनापति की तरह एकाकी विहार की इच्छा से नन्दीषेण ने अपने पौरुष बल से भाव - शत्रुओं की अवमानना करके बेले के पारणे के दिन भिक्षा के लिए एकाकी निकले। अनजाने में वेश्या के घर में प्रवेश किया। महामुनि ने धर्मलाभ शब्द का उच्चारण किया। तब वेश्या ने हंसकर विलास युक्त मीठी वाणी में कहा-मुनि जिस प्रकार व्यभिचारियों को विरागरस इष्ट नहीं है, उसी प्रकार यहाँ धर्मलाभ उचित नहीं है, बर्फ को पिघलानेवाली अग्निकी तरह यहाँ द्रव्यलाभ ही मूल्यवान् है। प्रशम भाव में एकान्त रूप से निवास करने वाले भी मुनि क्रोधित हो गये कि यह तुच्छ स्त्री भी मेरी हंसी उड़ा रही है। उन्होंने एक तृण हाथ में लेकर उसे तेज फूँक से उड़ा दिया। उनकी तपोलब्धि से उस के घर में रत्नराशि की वर्षा कर दी। यह द्रव्य लाभ है-इसकी कीमत आँक लो - क्रोधित होते हुए यह कहकर वह महान तपोलब्धि से युक्त मुनि उसके घर से निकलने लगे। यह देखकर वेश्या ने सोचा - यह तो अक्षय महानिधि है। तब उनके पीछे-पीछे दौड़ते हुए कपट का श्रृंगार करते हुए कहा - हे प्राणनाथ! तुम भाड़ा देकर अन्यत्र कहाँ जा रहे हो? तुमने मेरे प्राणों को खरीद लिया है, अब मैं तुम्हें ही खोज रही हूँ। और भी तुम सुकुमार हो तथा यह व्रत अत्यन्त कठिन है। क्या कदली के पत्ते आरे का वार सहन कर सकते हैं? अतः तप का त्याग करके मेरा भोग करना ही उचित है। नागवल्ली की तरह मैं पूगीफल के वृक्ष रूपी तुमको पाकर सुभगसंयोग रूप से अन्योन्य सुख में विलास करेंगे। अर्थात् वृक्ष के आतापना आदि ताप से जैसे लता का सौन्दर्य बढ़ता है वैसे ही हम दोनों का साथ भी सुख के लिए होगा। उसके इस प्रकार अति आर्द्र होकर स्नेह - युक्त वचन से मुनि का चित्त समुद्र से पर्वत की तरह क्षुभित हो गया। उसके भोगावली कर्मों का उस समय उदय हो गया। प्रायः समय आने पर सभी अभ्युदय को प्राप्त होते हैं। अर्हत् - तत्त्व के ज्ञाता होकर भी, मेरु की तरह निष्प्रकम्प होने पर भी चारित्र से रंगित होने पर भी उसके रूई-पिंजने की तरह चाल में चलायमान हो गये। विषयों को विष का स्थान जानकर भी भोगावली कर्म की परवशता के कारण नन्दीषेण मुनि ने उसके वचनों को मान लिया।

उन्होंने प्रतिज्ञा की कि प्रतिदिन मैं दस या उससे अधिक लोगों को प्रतिबोधित करुँगा। जिस दिन दस व्यक्तियों को प्रतिबोधित नहीं कर पाऊँगा, उस दिन पुनः दीक्षा ग्रहण कर लूँगा। इस प्रकार काम से प्रेरित वह

उसके घर में गृहस्थ वेष धारण करके रहने लगा। कितने ही काल तक उस वेश्या के साथ नन्दीषेण ने भोगों को भोगा। वह रोज जिनेश्वर वीर प्रभु तथा देवता की वाणी को याद करता था, जिन्होंने उस समय उसे प्रव्रज्या लेने से निषेध किया था। तब वह प्रतिदिन दस भव्यों को व्याख्या द्वारा प्रतिबोधित करके प्रव्रज्या के लिए प्रभु के पास भेजकर फिर भोजन ग्रहण करता था, अन्यथा नहीं। एक बार उसके कर्म क्षीण हो जाने के कारण नौ व्यक्ति तो प्रतिबुद्ध हो गये, पर दसवाँ अष्टक्क देश का व्यक्ति अंशमात्र भी प्रतिबुद्ध नहीं हुआ। भोजन का समय हो जाने पर उस विलासिनी ने कहा - स्वामी! रसोई तैयार हो गयी है। अतः अब उठिये। यह सुनकर भी वह नहीं उठा तथा उसे प्रबोधित करते हुए बैठा रहा। उसने सोचा कि अभिग्रह पूर्ण हुए बिना भोजन कैसे करुँगा उस वेश्या ने पुनः कहा - नाथ! एक रसोई तो निरस हो गयी दूसरी रसोई करवायी है। फिर पुनः देर क्यों कर रहे हैं? नन्दीषेण ने कहा - क्या करूँ? आज दसवाँ व्यक्ति प्रतिबोधित नहीं हो रहा है। तब उस मूर्खा वेश्या ने गुस्से में आकर कहा - दसवाँ व्यक्ति आप खुद ही बन जाइए, मूर्खता को छोड़िए। अब उठकर आकर भोजन ग्रहण करें। देर न करें। यह सुनकर नन्दीषेण ने कर्म को भुक्त जानकर वेश्या से कहा - अब भोजन नहीं करना है। व्रत लेकर ही भोजन करूँगा। इस प्रकार उसी समय प्रभु-चरणों में जाकर अपने सर्व-दुष्कृत्य की आलोचना, निन्दा तथा गर्हा करके पुनः चारित्र ग्रहण करके प्रभु के साथ विहार करते हुए व्रत का सम्यक् पालन करके वे देवलोक में गये।

इस प्रकार नन्दीषेण भग्न - व्रती होते हुए भी सद्दर्शन में दृढ थे। दैवयोग से व्रतविलुप्त होने पर भी उस प्रकार से दूसरों को व्रत ग्रहण करवाया।

यह नन्दीषेण की कथा संपन्न हुई।।२७।।९५।।

इसके [शुद्ध प्ररूपणा के] विपर्यय में दोष बताते हैं -

परिवारपूअहेउं पासत्थाणं च आणुवित्तीए ।
जो न कहेइ विसुद्धं तं दुल्लहबोहियं जाण ।।२८।। (९६)

परिवार तथा पूजा के निमित्त से जो पार्श्वस्थों का अनुसरण करके विशुद्ध रूप से धर्म स्वरूप नहीं कहता है अर्थात् विशुद्ध-खरतर, अति कठिन मार्ग को कहूँगा, तो कोई भी हमारी सम्भाल नहीं करेगा, कोई भी हमारी पूजा नहीं करेगा। अतः लोगों को कोमल मार्ग कहता है, उसे दुर्लभ - बोधि जानना चाहिए।।२८।।९६।।

यहाँ शंका होती है कि अगर इस प्रकार महान् दोष है, तो फिर कैसे कहना चाहिए? इसे बताते हैं -

मुहमहुरं परिणइ-मंगुलं च गिण्हंति दिंति उवएसं ।
मुहकडुयं परिणइसुंदरं च विरला च्चिय भणन्ति ।।२९।। (९७)

बोलने में मधुर और परिणति में असुन्दर उपदेश को तो सभी देते व ग्रहण करते हैं, पर मुख में [प्रथम] कटुक और परिणति में सुन्दर उपदेश तो विरले ही कहते हैं।।२९।।९७।।

अब यथावस्थित हितवादी वक्ता के परोपकार को कहते हैं -

भवगिहमज्झम्मि पमायजलणजलियंमि मोहनिद्दाए ।
उट्ठवइ जो सुयंतं सो तस्स जणो परमबन्धू ।।३०।। (९८)

प्रमाद रूपी अग्नि से जलते हुए भव रूपी घर में मोह रूपी निद्रा में सोये हुए प्राणी को जो उठाता है, वह उसका परम बन्धु है।

इसके दृष्टान्त रूप से अभयकुमार के द्वारा आर्द्रक कुमार को जगाने की तरह है। किस प्रकार अभय कुमार के द्वारा आर्द्रक कुमार को प्रमाद रूपी अग्नि से जलते हुए, भवरूपी घर के अन्दर मोह निद्रा में सोये हुए को जागृत किया? यह कहानी के माध्यम से कहा जाता है। वह आर्द्रककुमार की कथा इस प्रकार है -

।। आर्द्रककुमार की कथा ।।

द्वीप की तरह समुद्र के बीच में रहा हुआ आर्द्रक नामक देश था। लक्ष्मी के रत्नाकर कोष की तरह वहाँ आर्द्रकपुर नामक नगर था। प्रथम मेघ की तरह अपने चित्त सलिल सार से इच्छुकों में बार-बार बरसते हुए नित्य ही सार्द्र की तरह वहाँ का राजा आर्द्रक था। पवित्र मार्ग का अनुगमन करने वाली आर्द्र की तरह ही आर्द्रा उसकी रानी थी। सर्व गुणों के आलय रूप उनका आर्द्रक कुमार नामक पुत्र था। एकबार आर्द्रक राजा के पास श्रेणिक राजा का मन्त्री स्नेह - वृक्ष का सिंचन करने वाले उपहार लेकर आया। उसका उचित प्रतिपत्ति द्वारा औचित्य करके निम्बदल, संचल आदि उपहारों को ग्रहण किया। प्रेम से आरुढ़ पुलकित रोम राशि द्वारा उसको पूछा - हमारा बन्धु! मगधेश्वर श्रेणिक कुशल पूर्वक है? उसने कहा - देव! बलीवर्द की तरह महाबली आप जैसा मुक्तारत्न रूपी वृक्ष जैसा मित्र जिन्हें मान देता हो, वह तो कुशल ही होंगें। आपके कुशल समाचार रूपी बादल के लिए उत्कण्ठित मोर की तरह केवल आप में स्नेह होने के कारण ही मुझे यहाँ भेजा है। आर्द्रक राजा ने भी कहा - मन्त्रीवर! क्या कहते हो? श्रेणिक जैसा अन्य कोई स्निग्ध बन्धु हमारा नहीं है। यह सुनकर आर्द्रककुमार ने कहा - तात! श्रेणिक राजा कौन है। जिनमें हमारा यह सर्वस्व प्रेम अनन्य सदृश है।

राजा ने कहा - इस पृथ्वीतल पर मगध नामक देश है। वहाँ राजग्रह नामक नगर साक्षात् राजाओं का घर हैं। उस राज्य-चक्र के शिरोमणी श्रेणिक नामक राजा है। हमारी उनके साथ प्रीति कुल-क्रम से आयी हुई है। हे पुत्र! उन्हीं का यह मन्त्री हमारे लिए उपहार लेकर आया है। यह सुनकर आर्द्रक कुमार ने पूछा - प्रभो! क्या उनका पुत्र है? उस मन्त्री ने हर्षित होकर कहा - कलासागर में पारंगत बुद्धि से उज्ज्वल पाँचसो मन्त्रियों में मुख्य मंत्री रूप उनका पुत्र है। चारनीति रूपी लता द्वारा आश्रित वृक्ष की तरह है। चतुरंगिणीसेना के अध्यक्ष है। चारों प्रकार की बुद्धि के निधान रूप हैं। चारवर्णों के एकमात्र शास्ता रूप है। महारानी सुनन्दा का वह पुत्र लोगों के आनन्द रूपी कन्द में अंकुरों को उत्पन्न करने वाले मेघ की तरह है। ज्यादा क्या कहूँ। वस्त्र की तरह वे गुणरूपी धागों से निर्मित हैं। श्री वीर प्रभु जिनके देवता हैं। उनके गुरु सुसाधु हैं। साधर्मिकों में सौहार्द्र रूप प्रीति उनके हृदय में जिनेश्वर द्वारा प्रेरित है। जिसके बुद्धि - प्रपंच से श्रेणिक राजा निश्चिन्त हैं। निडर होकर वे जगत पर चक्रवर्ती की तरह राज करते हैं। ऐसे अभयकुमार का नाम सर्वत्र ख्यात है, फिर आप कैसे नहीं जानते?

कस्मिन्नपि प्रदेशे किं ज्ञायते नांऽशुमानपि ।

क्या सूर्य किसी भी प्रदेश में अज्ञात रहता है?

यह सुनकर अत्यधिक प्रसन्न होता हुआ कुमार राजा को बोला- देव! आपकी तरह मैं भी राजा श्रेणिक के आत्मज के साथ मैत्री का इच्छुक हूँ। राजा ने कहा - वत्स! मेरा पुत्र कुलीन है क्योंकि क्रम से आयी हुई प्रीति को पालने का मनोरथ तुम्हारे मन में जागा है। पिता की आज्ञा से वह विशेष रूप से प्रमुदित हुआ। उसने मंत्री से कहा - तात! उन्हें मुझसे मिलने के लिए भेजना। उसके वचनों को स्वीकार कर वह भी नृप द्वारा आदिष्ट स्थान पर चला गया। राजा ने उसको मित्र-वत्सल की तरह बहुत आतिथ्य सत्कार के साथ रखा। कुछ दिनों बाद दिव्य रत्न आदि से युक्त उपहार समर्पित करके राजा ने उस मंत्री का विशिष्ट सम्मान करके विदा किया। वह आर्द्रक कुमार से भी मिला। कुमार ने भी श्रेणिक - पुत्र में प्रीति युक्त होकर उसके हाथ में महामूल्यवाले उपहार समर्पित किये। फिर अपना संदेश कहा - मंत्रीवर! मेरे वचन उससे कहना कि हे सौनन्देय! आपके साथ आर्द्रक कुमार मैत्री की इच्छा करता है।

राजग्रह जाकर राजपुरुष व मंत्री ने राजा के उपहार राजा को तथा कुमार के उपहार अभय को समर्पित किये। शक्कर सहित आम्ररस की तरह स्नेह - गर्भित वाक्यों द्वारा अनेक संदेश कहे। श्रेणिक राजा उन संदेशों से

अत्यधिक खुश हुआ। सौनन्देय (अभय) के लिए भी मंत्री ने आर्द्रक कुमार का संदेश कहा। जिनधर्म के रहस्य को जाननेवाले अभय ने अपनी बुद्धि से विचार किया - निश्चय ही व्रत की विराधना से इसकी आत्मा ने अनार्य देश में जन्म धारण किया है। आसन्न-सिद्धि होने के कारण ही मेरे साथ प्रीति करने की उसकी इच्छा है। अभवी, दूरभवी या कोई भारे कर्मी जीव मेरे साथ किसी भी प्रकार से मैत्री की स्पृहा नहीं कर सकता। पापी अथवा पुण्यशाली जीवों की प्रीति समान व्यक्तियों से ही होती है। प्रायः समान स्वभाव वाले होने से एक ही कर्म की इच्छा करते हैं। अतः किसी भी उपाय से भवसागर में गिरते हुए उसे जिन धर्म में प्रतिबोधित करके परम मित्रता निभाऊँ। जिनबिम्ब के दर्शन से कदाचित् उसे जाति - स्मृति ज्ञान हो जाय। अतः उपहार के बहाने से उसे जिन बिम्ब भेजूँ। इस प्रकार विचार करके आदि जिनेश्वर की सर्व रत्नमयी दिव्यता को प्रगुणीकृत करने वाली प्रतिमा बनवायी। ढक्कन वाली पेटी के अन्दर मञ्जूषा में उस प्रतिमा को रखकर घण्टी, धूप यन्त्र आदि पूजा के उपकरण को रखकर, अंग वस्त्र तथा संपूर्ण अंगों के आभूषण आदि रखकर अन्दर ताला लगाकर उसे स्वयं अपनी मुद्रा से मुद्रित किया। फिर जब श्रेणिक राजा ने आर्द्रक राजा के विशिष्ट दूत को राजा के योग्य बहुत सारे उपहार देकर भेजा गया, तो अभय ने भी वह पेटी उसे समर्पित करके और उसका वस्त्रादि से सत्कार करके मधुर अक्षरों में कहा - भद्र! तुम यह मंजूषा ले जाकर मेरे मित्र को देना और यह सन्देश कहना कि यह मेरा सुन्दर स्नेह है। स्नान करके, एकान्त में रहकर, स्वयं ही इस पेटी को खोलना। मंजूषा खोलकर उसके मध्य रही हुई एकमात्र वस्तु को देखना। ऐसा ही होगा - यह कहकर वह अपने पुर को चला गया। श्रेणिक के समस्त उपहार आर्द्रक राजा को भेंट किये। फिर कुमार के महल में जाकर वह पेटी उसे समर्पित करके जैसा संदेश कहा गया था, वह सभी कहा।

तब आर्द्रक कुमार ने भी स्नान करके महल के मध्य खण्ड के भी मध्य खण्ड में प्रवेश किया। एकान्त में स्थित होकर पेटी को मुद्रा रहित करके उसे खोला। उसमें दिव्य - अंग - वस्त्रों को देखकर उन्हें धारण किया। प्रत्येक अंग के प्रसाधन उसमें से निकाले। जब उस पेटी के अन्दर आदरपूर्वक रखी हुई एक मंजूषा को देखा तो उसे खोल कर उसमें अत्यन्त तेजमयी अर्हत् प्रतिमा को देखा। अहो! यह अद्‌भुत भूषण कहाँ धारण करुँ? शिर पर, कानों में, कण्ठ में, भुजाओं पर, वक्ष पर या हाथों पर कहाँ धारण करुँ? यह पहले देखी हुई प्रतीत होती है, पर मेरे द्वारा कब देखी गयी? इस भव में या पर भव में? इस प्रकार विचार करते हुए मूर्च्छा से वह गिर गया। फिर कुछ क्षण बाद स्वयं ही उठकर, थोड़ा आश्वस्त होकर उसने विचार किया, उस समय उसे पूर्व भव का ज्ञान करानेवाला जातिस्मृति ज्ञान उत्पन्न हुआ।

मेरा जीव पूर्व भव में मगध देश में वसंतपुर नामक नगर में सामायिक नामक कुटुम्बी था। उसकी बन्धुमती नामकी भार्या प्राणों से भी प्रिय थी। किसी दिन सुस्थित आचार्य से धर्म सुनकर दोनों ने संसार से निर्विग्न होते हुए संपूर्ण सम्पदा को पात्रसात् करके उसी गुरु की सन्निधि में प्रव्रज्या को स्वीकार किया। श्रुतज्ञान को पढ़ते हुए वह गुरु के साथ विहार करने लगा। उसकी पत्नी भी अन्य प्रवर्तिनी के साथ कहीं अन्यत्र विहार करने लगी। किसी समय बहुत काल के पश्चात् एक ही नगर में गुरुदेव व प्रवर्तिनी का आगमन हुआ। सामायिक नामक साधु चिरकाल बाद अपनी प्रिया को देखकर पूर्व प्रेम को याद करके पुनः उसमें अनुरक्त हो गया। अपने मन को अनेक उच्च निदर्शनों द्वारा मोड़ने का प्रयास किया पर मोड़ने पर भी उसका मन मत्त हाथी की तरह वश में नहीं हुआ। तब उसने दूसरे मुनि से कहा - हे मुने! मेरा यह दुर्दान्त मन रोकने पर भी प्रेयसी की ओर दौड़ता है। उन्होंने कहा - यह क्या मुनिवर! गीतार्थ होने पर भी आपकी यह विपरीत क्रिया कैसे? उसने कहा - क्या करूँ, मुनि! मेरा मन रूपी हाथी वश में नहीं होता। तब उस मुनि ने यह सारी बात प्रवर्तिनी से कही और प्रवर्तिनी ने बन्धुमती को कही। तब उसने शुद्ध बुद्धि से विचार किया -

धिग् धिक् कर्मगतिं हहा ।

हाय! हाय! कर्मगति को धिक्कार है।

तब उस भगवती साध्वी ने कहा - कदाचित् ये मुनि रूपी हाथी मर्यादा रूपी आलान - स्तम्भ को जड़ से उखाड़ देंगे, तो निश्चय ही हम दोनों का व्रत भंग हो जायगा। मेरे अन्यत्र चले जाने पर भी उनका मन मेरा ही अनुगमन करेगा। यह विचारकर बन्धुमती साध्वी ने व्रत की रक्षा के लिए अनशनकर तृणवत् प्राणों का परित्याग करके देवलोक को प्रयाण किया।

सामायिक मुनि ने भी यह सब सुनकर विचार किया - मेरी प्रिया धन्य थी! अविराधित व्रतवाली होते हुए भी उसने मेरे लिए प्राणों का त्याग किया। तो फिर मैं व्रत का विराधित होकर भी जीवित रहूँ-यह तो उचित नहीं है। इस प्रकार विचार करके उस दुष्कृत्य की बिना आलोचना किये अनशन करके मरकर देव-श्री को भोगकर अनार्य कर्म के कारण अनार्य क्षेत्र में मैं आर्द्रक कुमार हुआ हूँ। अनार्य रूप में होते हुए भी मुझे महान् आत्मा, सुहृद, बन्धु और गुरु रूप सौनन्देय ने प्रतिबोधित किया। अगर मैंने श्रेणिक - पुत्र के साथ मित्रता न की होती, तो अधर्म से दुर्गति में जाते हुए मुझे कौन बचाता? अतः अब आर्य देश में जाकर उस सद्गुरु से मिलकर परिव्रज्या ग्रहण करूँगा। इस प्रकार चित्त में विचार करके उस अर्हन्त बिम्ब की पूजा करके जाकर पिता को कहा - तात! मेरी अभय के साथ अतिशय प्रीति हो गयी है। अतः हे तात! मुझे आज्ञा दीजिए कि हम एक दूसरे का दर्शन कर के प्रीति को शीघ्र ही उच्च कोटि पर ले जा सकें। राजा ने कहा - हमारी परस्पर प्रीति विशिष्ट उपहारों द्वारा है, लेकिन दर्शन से नहीं। अतः कभी भी वहाँ मत जाना।

तब एक तरफ गुरु (पिता) की आज्ञा थी और दूसरी तरफ मित्र का प्रेम था। अतः न तो जाया जाता था, न ही रहा जाता था। झूले पर आरुढ होने जैसी स्थिती हो गयी थी। संपूर्ण कर्त्तव्यों को छोड़कर दुःख के कारण केवल अन्न मात्र खाता था। वह नारक से निकलने की तरह वहाँ से निर्गमन का विचार करता था। राजा ने उसकी उस स्थिती को देखकर विचार किया कि यह उद्विग्न मनवाला निश्चित ही किसी दिन बिना बताये चला जायगा। तब उसकी रखवाली के लिए ५०० सामन्तों की श्रेणी कुमार के चारों ओर जंगम प्राकोट की तरह खड़ी कर दी। वे कुमार के पार्श्व को उसकी देह की छाया के समान नहीं छोड़ते थे। कुमार ने भी उनके द्वारा स्वयं को बन्दी किये हुए की तरह माना। अतः इस अश्व सवार सैनिकों की पंक्तियों को प्रतिदिन विश्वास में लेकर किसी दिन इनको ठगकर निकल जाऊँगा। ऐसा सोचकर कुमार घोड़े पर सवार होकर रोज अधिक-अधिक दूर जाता था और अधिक-अधिक समय बाद वापस मुड़कर आ भी जाता था। कुमार द्वारा एक प्रहर काल तक दूर-दूर जाकर आने पर वे विश्वस्त होकर वृक्षों की छाया में विश्रान्ति के लिए बैठ जाते थे।

इधर कुमार ने विश्वस्त जनों द्वारा एक पोत बनवाया। उस पोत में असंख्य रत्न तथा उस जिन-बिम्ब को रखा। एक बार उन ५०० सैनिकों के विश्वस्त होकर बैठने के बाद आर्द्रककुमार वेग पूर्वक समुद्रतट पर जाकर पोत पर आरुढ होकर आर्य देश को चला गया। पोत से उतरकर व्रत काल में विलम्ब हो जाने की आशंका से उस बिम्ब को अभय के समीप किसी के साथ भिजवा दिया, पर स्वयं नहीं गया। बहुत से रत्नों का सप्त क्षेत्र में दान करके कितने ही रत्न उन विश्वस्त जनों को भी दिये। यतिवेश को ग्रहणकर समभाव से जब वह सामायिक व्रत का उच्चारण करने लगा, तो आकाश से देवता ने कहा-व्रत ग्रहण मत करो। अभी तुम्हारे भोगावली कर्म बाकी है। ये कर्म तो तीर्थंकरों द्वारा भी भोगने पर ही क्षय को प्राप्त होते हैं। ऐसे व्रत को प्राप्त करने से क्या? जिसका बलपूर्वक त्याग करना पड़े। अतः हे वीर! तभी व्रत ग्रहण करना जब किसी के द्वारा न छुड़वाया जाय।

पर आर्द्रककुमार ने उसके वचनों की अवमाननाकर वीर-वृत्ति द्वारा "मुझे कौन व्रत छुड़वायगा" इस प्रकार

विचारकर व्रत ग्रहण किया। तब क्रमपूर्वक विहार करते हुए महाव्रतों के महाधनी प्रत्येक बुद्ध भगवान आर्द्रककुमार आत्मा के दुष्कृत का हरण करते हुए अन्य किसी दिन वसन्तपुर पत्तन में आये। बाहर किसी देवकुल में कायोत्सर्ग के लिए स्थित हो गये।

इधर उनकी पूर्व भव की भार्या बन्धुमती ने देवलोक से च्यवकर इसी पुर में महा-इभ्य देवदत्त के घर में पुण्यकर्म से युक्त उसकी भार्या धनवती की कुक्षि से श्री-युक्त लज्जायुक्त, वागेश्वरी तथा बुद्धिमती श्रीमती पुत्री के रूप में जन्म लिया। वह श्रीमती आर्द्रक ऋषि से विभूषित उसी देवकुल में हर्षयुक्त होकर वर-वरण क्रीड़ा करने के लिए आर्द्रक मुनि के सुख भोग रूपी कर्मों के द्वारा बुलायी गयी के समान नगर की कन्याओं के मध्य रही हुई आयी। सभी ने अपने-अपने अभीष्ट वर के रूप में अन्य-अन्य का वरण किया। उन्होंने श्रीमती को कटाक्षपूर्ण लहजे में कहा कि तुम वर का वरण क्यों नही करती। तब उसने कहा - हे सखियों! मेरे द्वारा यह साधु वरण कर लिया गया है। तभी आकाश से देवों ने कहा - हे बाले! तुमने बहुत अच्छा वर वरण किया है।

उस समय आकाश-पाताल के खाली जगह को स्फुटित करती हुई गर्जना करती हुई धारा बद्ध वर्षा के समान ओलों की तरह रत्नों की वृष्ठि हुई। तब किधर जायें - इस प्रकार कन्याओं द्वारा मार्ग - नाश होने पर डरती हुई श्रीमती उन्हीं मुनि के पाँवों से लिपट गयी। उस काँपति हुई कन्या के सर्पिणी के समान पाँवों से लिपट जाने से आर्द्रक मुनि अनुकूल उपसर्ग जानकर शीघ्र ही त्वरित गति से वहाँ से निकल गये। तब देवता के वचन से आशंकित घबराये हुए उन्होंने विचार किया कि इस वसति में तथा यहाँ के विपिन में एक रात्रि भी निवास नहीं करूँगा।

उधर रत्नवृष्टि को सुनकर कौतुक के अधीन मन वाला राजा नागरिकों के साथ वहाँ आया। अस्वामी का धन राजा का होता है - इस प्रकार चित्त में विचारकर राजा के आदेश से सैनिक उन रत्नों को इकट्ठा करने में लग गये। तब मर्त्यलोक को देखने की इच्छा से आये हुए नागलोक के देवों ने उन रत्नों को नाग की तरह ग्रहण करते हुए राजपुरुषों को रोकते हुए कहा - मेरे द्वारा ये सारे रत्न श्रीमती के वरण - उत्सव के लिए दिये गये हैं। अतः ये रत्न इसके पिता के हैं। तब उसने सभी के देखते-देखते रत्न श्रीमती के पिता को दे दिये। बहुत सारा मिलने पर भी जिसके द्वारा लभ्य है, वही प्राप्त करता है। तब अदृश्य, अश्रुत उस आश्चर्य का विचार करते हुए सभी नाटक के समाप्त होने की तरह अपने-अपने स्थान पर चले गये।

श्रीमती के लिए बहुत सारे वर लाये जाने पर श्रेष्ठी ने श्रीमती से कहा - तुम अपना पति वरण कर लो। उसने कहा-तात! मैंने अपनी रुचि से उसी समय मुनि को वर के रूप में ग्रहण कर लिया था, जब वरण द्रव्य उसके लिए ग्रहण करते हुए आपके द्वारा मुझे दिया गया था। इसके साक्षी नगर के मनुष्य है, राजा है तथा आकाश के देवता है। अतः मुझे अन्य किसी को प्रदान न करें। इसमें नीति भी बाधिका होती है। क्योंकि कहा गया है -

सकृज्जल्पन्ति राजानः सकृज्जल्पन्ति साधवः ।
सकृत् कन्याः प्रदीयन्ते त्रीण्येतानि सकृत् सकृत् ॥

राजा एक बार ही बोलते हैं, साधु भी एक ही बार बोलते हैं। कन्यायें भी एक ही बार दी जाती है। इस प्रकार ये तीनों ही कार्य एक-एक बार ही किये जाते हैं।

तब श्रेष्ठी ने उससे कहा - वत्स! वह कैसे जाना जायगा? अथवा वह साधु कैसे खोजा जायगा, क्योंकि वे तो सर्वत्र वायु की तरह भ्रमण करते हैं। उसने कहा - उस समय रत्न - वृष्टि की गर्जना के भय से जब मैं उनके पाँवों से लिपटी थी, तो मैंने उनके दाहिने पाँव में एक निशान देखा था, उससे मैं उन्हें जान जाऊँगी। तब श्रेष्ठि ने उससे कहा - पुत्री! अपनी दानशाला में तुम ही जाकर दान दो। कदाचित् वह साधु भी वहाँ आ जाय। तब वह भी

वहाँ दान देते हुए भिक्षा के हेतु आये हुए मुनियों को प्रतिलाभित करके उनके पाँवों पर चिह्न देखती थी।

एक बार भाग्य योग से बारह वर्ष बाद आर्द्रक कुमार मुनि वसन्तपुर नगर में पुनः पधारें। कर्मों द्वारा लाये गये के समान वे वहाँ भिक्षा लेने के लिए आये। तत्क्षण उनके चिह्न को देखकर श्रीमती ने उन्हें पहचान लिया। तब वह उतावली होकर जल्दी से उठकर संभ्रमित होते हुए बोली - हे नाथ! चिरकाल से दिखायी दिये हैं। उस समय तो कर्जदार की तरह गायब हो गये थे। कृपालु होते हुए भी नाथ! आप मुझ पर अकृपालु कैसे हो गये? आपके द्वारा त्यक्ता मैं इतने दिनों तक आपके ही आने के इन्तजार में बैठी हूँ। वह आशा आज फलित हुई। मेरे दिवस फिर गये हैं, क्योंकि मुझ अनाथ को सनाथ बनाने के लिए मेरे नाथ आ गये हैं। यह सुनकर श्रेष्ठि, श्रेष्ठिपुत्र, परिजन आदि सभी ने राजा के अंगरक्षकों की तरह आकर मुनि को चारों तरफ से घेर लिया। राजा भी कौतुक से उसे देखने के लिए आया कि ऐसा वह कौन है, जिसके वरण में देवता ने भी रत्नवृष्टि की। उसे देखकर विचार किया कि निश्चय ही यह साक्षात् कामदेव हैं। श्रीमती के अनुराग - स्थान को देवता ने भी उचित ही कहा है। मुनि ने उनसे कहा - वह मैं नहीं हूँ। मेरा व्रत नष्ट मत करो। श्रेष्ठि पुत्री ने कहा - आप वही हैं। मैंने चिह्न से पहचान लिया है। तब राजा ने कहा- हे मुनि! यहाँ कुछ भी आपके अयोग्य नहीं है। यौवन को सफल करके बाद में पुनः व्रत स्वीकार कर लेना। क्या आप केवल सूक्ष्म जीवों की ही रक्षा करते हैं, स्थूल जीवों की रक्षा नहीं करते? अब आपके द्वारा यह त्यागी गयी, तो निश्चित ही अपने प्राण दे देगी। किसी ने कहा - हे मुनि! तुम्बक छोड़कर कुटुम्ब को ग्रहण करो। पात्र को छोड़कर हमारे साथ नातृ संबंध अर्थात् नाता जोड़ो। मुनि पलायन के उपाय को नहीं देखकर दुःखित होते हुए देवता के वाक्य का स्मरण करके उनके वचनों को मान लिया। तब उनके आग्रह से उसने श्रीमती के साथ परिणय-सूत्र जोड़ लिया। कहा भी है -

नाऽदत्वा स्वफलं कर्म येन याति निकाचितम् ।

अर्थात् अपना कर्मफल दिये बिना निकाचित कर्म नष्ट नहीं होते।

श्रीमती के साथ विषयों का भोग करते हुए आर्द्रककुमार के संपूर्ण संपदा का पात्र रूप पुत्र पैदा हुआ। क्रम पूर्वक घर में उसके चलने में समर्थ होने पर तथा कुछ-कुछ अस्पष्ट शब्दों का उच्चारण करने पर आर्द्रककुमार ने श्रीमती को कहा - अब तुम्हारे अद्वितीय पुत्र हो गया है। मुझे छोड़ दो, जिससे तुम्हारी आज्ञा से मैं चारित्र ग्रहण कर सकूँ। बिना उत्तर दिये उसने कुछ सोचकर कहीं से भी सामग्री लाकर सूत कातना प्रारम्भ किया। तब पहले से सिखाया हुआ पुत्र माता को इस प्रकार बोला - हे माँ! तुम भी अन्य जनों की तरह यह बुरा कार्य क्यों करती हो? उसने कहा - बेटा! तुम्हारे पिता व्रतार्थी है। अतः कभी भी चले जायेंगे। तब पति के अभाव में स्त्रियों का यही भूषण है। उसने कहा - माँ! मेरे पिता कहाँ जायेंगे? मैं उन्हें रोक लूँगा। इस प्रकार बोलते हुए माँ के हाथ से चरखा छीनकर तत्क्षण उन तन्तुओं से किसी कठिन श्रृंखला की तरह पुत्र ने अपने पिता को साक्षात् मोह की तरह लपेट दिया। फिर माँ से कहा - अब मत डरो। मैंने पिताजी को बाँध दिया है। अब ये कहीं नहीं जायेंगे। उसके पिता ने कहा - वत्स! मैं निश्चित ही बांधा गया हूँ। तुम्हारे द्वारा जितने लपेटे सूत्र के दिये गये हैं, उतने ही वर्ष तक मैं तुम्हारे द्वारा बंधा हुआ नहीं जाऊँगा। वे लपेटे बारह थे, अतः आर्द्रक कुमार बारह वर्ष तक घर में रहे। अवधि पूर्ण होने पर एक दिन रात के अंत में जागृत होकर सोचा कि-भवोदधि को पार करने के लिए पोत की तरह व्रत को प्राप्तकर भी मैंने मूढ़ होकर प्रमाद में मग्न होकर उसे छोड़ दिया। पहले भी भग्नचारित्री होकर मैंने अनार्यत्व को प्राप्त किया था। अब सर्वथा व्रत भंग करके मैं किस गति में जाऊँगा। जो जिनेश्वर के वचन नहीं जानते हैं, उनकी अवस्था शोचनीय है। पर -

शोच्यानामपि ते शोच्या ये ज्ञात्वाऽपि न कुर्वते ।

पर उन शोचनीय लोगों से उनकी अवस्था ज्यादा शोचनीय है, जो जानकर भी जिन वचनों का आचरण नहीं करते हैं।

अतः संताप करने की अपेक्षा अभी ही प्रव्रज्या ग्रहण कर लेता हूँ। फिर तप अग्नि द्वारा स्वर्ण की तरह अपनी आत्मा को निर्मल बनाता हूँ। जिनको तप, क्षमा, ब्रह्मचर्य व्रत क्रिया आदि प्रिय होते हैं, वे बाद में चलकर भी शीघ्र ही अमरालय को पहुँच जाते हैं। प्रातःकाल प्रिया को पूछकर तथा अपने स्वजन व राजा आदि को पूछकर सिंह की तरह गुफा से निकलकर व्रत रूपी वेष को प्राप्त हुआ।

फिर आर्द्रककुमार ऋषि राजग्रह की ओर प्रस्थित हुए। मार्ग के अन्तराल में उन्होंने उन ५०० सामंतों को देखा। वे भी अचानक कुमार को देखकर पहचानकर विस्मित रह गये। उनके द्वारा प्रणाम किये जाने पर आर्द्रकमुनि ने पूछा - आपलोग वन में कैसे? उन्होंने कहा - स्वामी! आप तो हमें विश्वास दिलाकर भाग गये। तब लज्जित होते हुए हम राजा के पास नहीं गये। अपितु पृथ्वी पर घूम-घूमकर आपको खोजते हुए निर्विग्न होकर चोरी की चर्या द्वारा जीवन जी रहे हैं। मुनि ने उनको प्रतिबोधित करने के लिए कहा - अहो! तुमलोगों ने यह पाप की आजीविका क्यों धारण की? महान् कष्ट आ जाने पर भी करने योग्य कार्य ही करना चाहिए। दोनों लोक में विरोधी अकर्त्तव्य कभी भी नहीं करना चाहिए। उन्होंने भी कहा - कुमार! वनवास से निर्विग्न होकर हम कुटुम्ब से मिलने के लिए राजा के पास जायेंगे। तब आर्द्रकमुनि ने कहा - वनवास करते हुए क्या कष्ट है? संसार वास में रहते हुए होनेवाले कष्टों का चिन्तन क्यों नहीं करते हो? और भी, नरकों में, तिर्यंचों में, मनुष्यों में तथा अधम ऋद्धि में (देव भव में) भी अनेक कष्ट भोगें है। यह जीव उन कष्टों रूपी लुटेरों द्वारा कई बार लुटा जा चुका है। स्वार्थ निष्ठ कुटुम्ब कितने ही किये और कितने ही छोड़ दिये। कुछ कर्म की लघुता से ही हमें मनुष्य जन्म मिला है, तो फिर स्वर्ग-अपवर्ग के फल को प्रदान करनेवाले धर्म को क्यों न ग्रहण करें? जैसे मैं पहले भी तुम्हारा स्वामी था, वैसे ही अब भी हूँ। अतः मेरे समान संयम को ग्रहण करो। हलुकर्मी होने से उन्होंने भी आर्द्रक महामुनि के उपदेश से धुल-धुलकर स्वच्छ हुए वस्त्र को धूप से वासित करने के समान अन्तर को वासित किया। फिर अभ्यर्थना करके सभी सामन्तों ने प्रव्रज्या स्वीकार की। स्वामी के पास स्वामी के सेवक की तरह वृत्ति का आचरण करने लगे। इस प्रकार उनको प्रबोधित करके प्रव्रजित करके आर्द्रक मुनि उनके साथ प्रभु वीर को वन्दन करने के लिए राजगृह की ओर जाने लागे। जाते हुए बीच मार्ग में गोशालक उनके सम्मुख आया। प्रबोधित करके अपने मत में शामिल करने के लिए उसने उनसे वाद प्रारंभ किया। उनके साक्षी अनेक सभ्य हुए। पृथ्वीचर व नभचर कौतूहल से उत्तान नेत्र वाले हो गये। गोशालक ने कहा - हे साधु! तपस्या से क्यों खेदित होते हो? शुभ-अशुभ से भरे हुए भव में सब कुछ नियति से होता है। तब आर्द्रकमुनि ने कहा - भद्र! ऐसा मत बोलो। केवल नियति ही नहीं है, दूसरा पौरुष भी है। अगर तुम ऐसा नहीं मानते, तो फिर वाद क्यों करते हो? (क्योंकि वाद करना भी तो पुरुषार्थ ही है।) फिर कवल भी मुख में मत रखो। (शबवद्) पर्वत की तरह निश्चल हो जाओ। सभी का मूल नियति है, तो सभी वही देगा। लेकिन नियति भी प्रायः पौरुष के बिना फलीभूत नहीं होती। और भी, जैसे आकाश से पानी बरसता है वैसे ही भूमि के खनन से भी होता है। अतः नियति और पौरुष दोनों को कैसे नहीं मानते हो?

इस प्रकार आर्द्रक ऋषि द्वारा गोशालक पर विजय प्राप्त की गयी। उनके पास में रहे हुए सभीने उनकी जय-जयकार की।

जहाँ हाथी के दाँतों की कीलें गाड़ी गयी है, तथा हाथी की चर्म ही बिछायी हुई है, ऐसे हस्ति - तापस आश्रम में आर्द्रकऋषि आये। वे एक हाथी को मारकर वहाँ निवास करनेवाले तापस बहुत काल तक उसे खाते थे,

अतः हस्ति-तापस नाम से विख्यात हुए थे। वे लोग बहुत जीवों के क्षय के भय से अपने आप को धार्मिक मानते हुए वे लोग हरिण, तीतर, मत्स्य आदि - जंगली जंतुओं को तो क्या चावल के कणों को भी नहीं खाते थे। उन भूखे तापसों द्वारा मारने के लिए एक पर्वत के समान बड़ा हाथी भारी साँकलों से बाँधकर लाया था। उस हाथी ने ५०० साधुओं से युक्त आर्द्रक मुनि को लोगों द्वारा भक्तिपूर्वक भूमि पर मस्तक रखकर वन्दन किये जाते हुए देखा तो लघु कर्मी होने से हाथी को विवेक उत्पन्न हुआ। उसने विचार किया कि अगर मैं बन्धन रहित हो गया तो, मैं भी इन्हें वन्दन करुँगा। मुनि के प्रभाव से शीघ्र ही उसके बन्धन टूट गये। अर्गला रहित हाथी मुनि को वन्दना करने के लिए दौड़ा। उसको आता हुआ देखकर लोग इधर-उधर भाग गये। पर उठे हुए वृक्ष की तरह महासत्त्वशाली मुनि वहीं ठहर गये। तब उस हाथी ने अपना कुम्भस्थल भूमि पर रखकर भक्ति से नमन किया। श्रावक की तरह हाथों से पाँव स्पर्श करने के समान सूँड से चरणस्पर्श किया। फिर उठकर वह गजेन्द्र निर्निमेष नयनों द्वारा बार-बार गर्दन मोड़कर देखते हुए जंगल में प्रवेश कर गया। उन मुनि के अतिशय को देखकर वे तापस भी असहिष्णु होकर महावाद में उपस्थित हुए। पर मुनि द्वारा वे क्षण भर में ही जीत लिये गये। तब मुनि ने उन्हें धर्मदेशना द्वारा प्रतिबोधित किया। क्योंकि -

सर्वजनीनाः स्युः साधवः साम्यमास्थिताः ।

साधु सभी जनों में साम्यस्थिती वाले होते हैं।

फिर दमन चित्त वाले तापसों को प्रभु वीर के चरणों में भेज दिया। उन्होंने वहाँ जाकर अरिहन्त के पभहस्त से दीक्षा ग्रहण की।

तब हाथी की बेड़ियाँ टूटना, तापसों को बोधित करना तथा गौशालक पर विजय प्राप्ति सुनकर राजा श्रेणिक उन मनहारी मुनिवर से आकृष्ट होकर तत्क्षण अभयकुमार के साथ वन्दना करने आया। आर्द्रक कुमार ऋषि को देखकर भक्ति रूपी शिखर से युक्त होकर तीन प्रदक्षिणा देकर स्तुति करते हुए नमन किया। हे सर्वसंसार त्यागी! हे गुणरूपी नागरिकों के महानगर! कुतीर्थ रूपी हाथियों के बीच केसरी की तरह दम! आपको नमस्कार हो। सभी का कल्याण करनेवाले, संपूर्ण पापों का हरण करने वाले धर्मलाभ रूपी आशीष को प्रीतिपूर्वक देकर साधु ने उनकों आनंदित किया। फिर सामने बैठकर राजा ने कहा - प्रभो! उस प्रकार हाथी के बंधन का टूटना मुझे बहुत प्रभावित करता है और विचित्र लगता है। मुनि ने भी कहा- राजन्! हाथी का छूटना दुष्कर नहीं है। चरखे के सूत के बन्धन से छुटकारा पाना मुझे दुष्कर लगता है। राजा के पूछने पर मुनि ने शुरु से अपना चरित कहा। यह सुनकर राजा ने सपरिवार स्तुति की। जो पतित हैं, प्रायः वे ही रण-आँगन में पतित होते हैं। और वीर वही है, जो गिरकर भी शस्त्र लेकर पुनः खड़ा होता है। प्रभो! आप ही एक वीर हैं, जिन्होंने सभी शत्रुओं को जीत लिया है। केवल श्री अब आपके अति निकट है और मोक्ष भी दूर नहीं है।

फिर आर्द्रक कुमार मुनि ने सौनन्देय को कहा - तुम मेरे अकारण वत्सल रूप धर्म बन्धु हो। तुम्हारे द्वारा उपहार के बहाने से जो पहले अर्हत् प्रतिमा भेजी गयी थी, उसको देखने से उसी समय मुझे जाति - स्मृति ज्ञान की योग्यता प्राप्त हुई। जो किसी के द्वारा किसी को भी कभी भी नहीं दिया गया, ऐसा अर्हत्-धर्म तुम्हारे द्वारा मुझे उपाय पूर्वक दिया गया। अनार्यता के अन्धकूप से बुद्धिशाली तुम्हारे द्वारा मेरा उद्धार किया गया है। हे महाभाग! इसी कारण मैं आर्य मण्डल देख रहा हूँ। संसार रूपी समुद्र में जो इस प्रव्रज्या रूपी भाव को मैंने पाया है, उसमें हे अभय! निश्चय ही तुम्हारा प्रतिबोध ही कारण है। धर्मसर्वस्व के दान से मैं तुम्हारा कर्जदार हूँ, पर तुम्हें आशीर्वाद से बढ़कर और क्या दूँ? अभी भी हे महाभाग! तुमसे यही आशा है कि मेरी तरह तुम बहुत से जीवों का भवसागर से उद्धार करोगे।

फिर श्रेणिक राजा, उनका पुत्र अभयकुमार तथा अन्य जन उन साधु को नमन करके जैसे आये थे, वैसे ही चले गये।

फिर विनय गुण के सागर मुनि आर्द्रक ने राजगृह आकर चरम तीर्थेश को नमन करके [प्रभु के पास विधिवत् चारित्र ग्रहणकर] विमल ज्ञान को प्राप्त करके, चिर काल जगती पर विहारकर सकल कर्मों को निर्मूलकर शिवपद को प्राप्त किया।

इस प्रकार आर्द्रककुमार का कथानक पूर्ण हुआ।।३०।।९८।।

अब पूर्व में प्ररुपित शुद्ध प्ररूपक का ही विस्तार करते हुए कहते हैं -

जइ वि हु सकम्मदोसा मणयं सीयंति चरणकरणेसु ।
सुद्धप्परूवगा तेण भावओ पूअणिज्जत्ति [णिज्जंति] ।।३१।। (९९)

यद्यपि स्वकर्मदोष से चरण-करण में थोड़ा सा भी खेदित होते हैं, फिर भी ***शुद्ध प्ररुपक रूपी गुण होने से वे भाव से पूजनीय होते हैं।।३१।।९९।।***

इस प्रकार मार्गशुद्धि के प्ररुपित होने पर विवेकी जन जो करते हैं, उसको कहते हैं -

एवं जिया आगमदिट्ठिदिट्ठ सुन्नायमग्गा सुहमग्गलग्गा ।
गयाणुगामीण जणाण मग्गे लग्गंति नो गड्डरीयापवाहे ।।३२।। (१००)

इस प्रकार उक्त न्याय से जीव अर्थात् भव्यप्राणी आगम दृष्टि से दृष्ट सामान्य रूप से सुज्ञात तथा विशेष रूप से उत्सर्ग मार्ग-अपवाद मार्ग के द्वारा शुभमार्ग में लगे हुए प्राणी गतानुगामी लोगों के मार्ग में गड्डरीया के प्रवाह के समान नहीं लगते हैं। अर्थात् आगमोक्त मार्ग का ही अनुसरण करते हैं।।३२।।१००।।

अब "जिस पथ से महापुरुष गुजरे, वही पथ है" इस प्रकार जो लोक प्रवृत्ति को ही श्रेयसी मानते हैं, उनके प्रति कहते हैं -

नेगंतेणं चिय लोगनायसारेण इत्थ होअव्वं ।
बहुमुंडाइवयणओ आणा इतो इह पमाणं ।।३३।। (१०१)

एकान्त रूप से अर्थात् सर्वात्मना रूप से लोगों का अर्थात् अधिक जनों का ज्ञात दृष्टान्त ही सार युक्त है, प्रधान है - ऐसा नहीं जानना चाहिए, क्योंकि मोक्ष मार्ग के विचार में बहुत सारे मुनियों के वचन से ही यदि लोक-प्रवृत्ति बलवती होगी, तो यह आगम वचन भी नहीं होगा। जैसे कि -

कलहकरा डमरकरा असमाहिकरा अनिव्वुइकरा य ।
होहिंति भरहवासे बहुमुंडे अप्पसमणे य ।।१।।

कलहकारी, उपद्रवकारी, असमाधिकारी, अनिवृत्तिकारी मुण्डित इस भारत वर्ष में बहुत होंगे, पर श्रमण अल्प होंगे। अतएव इस कारण से तीर्थंकर की कही हुई आज्ञा ही प्रामाण्य के विचार में प्रमाण है।।३३।।१०१।।

और भी - कुछ लोग ऐसा कहते हैं -

बहुजणपवित्तिनिमित्तं इच्छंतेहिं इह लोईओ चेव ।
धम्मो न उज्झियव्वो जेण तहिं बहुजणपवित्ती ।।३४।। (१०२)

बहुजन की प्रवृत्ति के निमित्त से यहाँ धर्म विचार में लौकिक शैव आदि अन्य की सत्ता वाले की इच्छा करते हैं। लेकिन उस कारण से बहुत जनों की प्रवृत्ति रूप धर्म का त्याग नहीं करना चाहिए।।३४।।१०२।।

इस प्रकार स्थित होने पर उनको कहते हैं -

ता आणाणुमयं जं तं चेव बुहेहिं सेवियव्वं ।
किमिह बहुणा जणेणं हंदि न से अत्थिणो बहुया ॥३५॥ (१०३)

जो आज्ञानुमत है अर्थात् आगम के अनुक्रम से आया हुआ अनुष्ठान है, वही बुधजनों द्वारा सेवन किया जाना चाहिए। यहाँ पर बहुत जनों से क्या?

अर्थात् बहुत जनों की प्रवृत्ति का आलम्बन लेने से क्या फायदा? क्योंकि प्रभु की आज्ञा के अनुगत रहे हुए धर्म के अर्थी, श्रेय के अर्थी अथवा मोक्षाकांक्षी बहुत नहीं होते। क्योंकि पूर्व में ही कहा गया है -

सम्प्रति बहवो मुण्डा अल्पाश्च श्रमणाः ।
वर्तमान में बहुत मुण्ड और श्रमण अल्प हैं॥३५॥१०३॥

इस प्रकार अनेक प्रकार से विधि मार्ग के समर्थन को सुनकर महा मोह से उपहत बुद्धिवाले जो बोलते हैं। उसको कहते हैं -

दूसमकाले दुल्लहो विहिमग्गो तंमि चेव कीरंते ।
जायइ तित्थुच्छेओ केसिंची कुग्गहो एसो ॥३६॥ (१०४)

दुःषम आरे में विधिमार्ग दुर्लभ है अर्थात् भारे कर्मी जीवों के लिए कठिनाई से प्राप्त करने योग्य है। उसी काल में विधि मार्ग किये जाने पर तीर्थ का विच्छेद हो जायगा।

ऐसा कितने ही कुग्रही लोग मानते हैं क्योंकि उनके अनुसार बहुत लोगों के द्वारा विधिमार्ग का अनुष्ठान शक्य नहीं है। इसका खंडन करते हुए कहा गया है कि विवेकियों को कुग्रह नहीं करना चाहिए॥३६॥१०४॥

जम्हा न मुक्खमग्गे मुत्तूणं आगमं इह पमाणं ।
विज्जइ छउमत्थाणं तम्हा तत्थेव जइयव्वं ॥३७॥ (१०५)

जिस कारण से आगम प्रमाण को छोड़कर छद्मस्थ मोक्षमार्ग में स्थित नहीं रहता है, उसी कारण से उसे मोक्ष मार्ग में यत्न करना चाहिए॥३७॥१०५॥

अब आगम में कही हुई संसार व मोक्ष मार्ग की संख्या को कहते हैं -

गिहिलिंग-कुलिंगिय-दव्वलिंगिणो तिन्निहुंति भवमग्गा ।
सुजइ-सुसावग-संविग्गपक्खिणो तिन्नि मुक्खपहा ॥३८॥ (१०६)

गृहस्थ, पाखण्डी, पार्श्वस्थादि - ये तीनों संसार मार्गी हैं। द्रव्यलिंगि अर्थात् पार्श्वस्थ तो उभय भ्रष्ट होते हैं। सुयति, सुश्रावक, संविग्न पाक्षिक अर्थात् सुसाधुओं के पक्षपात से विचरण करनेवाले - ये तीनों मोक्षमार्गी हैं।

यहाँ शंका होती है कि मोक्ष मार्ग की द्विविधता पूर्व में कह दी गयी है। फिर अब मोक्ष मार्ग की त्रिविधता कहने से पूर्वापर विरोध नहीं होगा? नहीं। यह प्ररूपणा सत्य ही है, तृतीय मार्ग की अप्रधानता अर्थात् अल्पता होने से और कदाचित् होने से वहाँ वह अर्थात् पहले विवक्षा नहीं की गयी। यहाँ पर संसार मार्ग की त्रिविधता का प्रस्ताव होने से उसका कथन करने से अविरोधी है। उसका लक्षण इस प्रकार जानना चाहिए। जैसे कि -

संविग्गपक्खियाणं लक्खणमेयं समासओ भणियं ।
ओसन्न चरणकरणा वि जेण कम्मं विसोहंति ॥१॥
सुद्धं सुसाहु धम्मं कहेइ निंदइ य नियमायारं ।
सुतवस्सियाण पुरओ होइ य सव्वोमरायणि ॥२॥
वंदइ न य वंदावइ किइकम्मं कुणइ कारवे नेय ।
अत्तट्ठा न वि दिक्खइ देइ सुसाहूण बोहेउं ॥३॥ (संबोध प्रकरण गुर्वधिकारे ३०७, ३०८)

संविज्ञपाक्षिक का यह लक्षण, गणधरादि ने संक्षेप में इस प्रकार बताया है कि जिससे शिथिलाचारी प्रमादी बनने पर भी कर्ममल को दूर करता रहे।

संविज्ञ पाक्षिक निर्दोष साधु धर्म का प्ररूपक, स्वयं के शिथिलाचार का निंदक, अपने आपको सदाचारियों से लघु मानने वाला और स्वयं सुसाधु को वंदन करता है परंतु उनसे वंदन करवाता नहीं है। उनकी सेवा करता है उनसे अपनी सेवा करवाता नहीं। स्वयं अपने शिष्य बनाता नहीं है, प्रतिबोधितकर सुसाधुओं को सुपर्द करता है। (उपदेशमाला ५१४-१६) ॥३८॥१०६॥

अब कैसे सुयति आदि में मोक्षमार्ग होता हैं, दूसरे में नहीं। इसे कहते है -

सम्मत्तनाणचरणा मग्गो मुक्खस्स जिणदरुद्दिट्ठो ।
विवरीओ उम्मग्गो नायव्वो बुद्धिमंतेहिं ॥३९॥ (१०७)

मोक्ष का मार्ग जिनवर द्वारा उपदिष्ट सम्यग् ज्ञान व सम्यग् चारित्र है और वह सुयतियों में ही होता है, गृहीलिंग आदि में नहीं। उसके विपरीत उन्मार्ग होता है - यह बुद्धिमानों द्वारा जानना चाहिए॥३९॥१०७॥

अब ज्ञानादि के स्वरूप को कहते हैं -

सन्नाणं वत्थुगओ बोहो सद्दंसणं च तत्तरूई ।
सच्चरणमणुट्ठाणं विहिपडिसेहाणुगं तत्थ ॥४०॥ (१०८)

सद्ज्ञान-वस्तु में जीव-अजीव आदि तत्त्व हैं उसमें रहा हुआ ज्ञान तद्गत बोध है। सद्दर्शन सम्यक्त्व है और वह तत्त्व रुचि अर्थात् तत्त्व की अभिलाषा है। उपादेय में विधि और हेय में प्रतिषेध-रूप से रहा हुआ अनुष्ठान अर्थात् क्रिया कलाप सच्चारित्र है॥४०॥१०८॥

सच्चारित्र का अनुष्ठान कहा गया। अब सुयति सुश्रावक के विषयी रूप से उसको दिखाते हैं -

जीव म वहह म अलियं जंपह म अप्पं अप्पह कंदप्पह ।
नरह म हरह म करह परिग्गह ए हु मग्गु सग्गह अपवग्गह ॥४१॥ (१०९)
पूआ जिणिंदेसु रई वएसु जत्तो य सामाईयपोसहेसु ।
दाणं सुपत्ते सवणं सुतित्थे सुसाहुसेवा सिवलोयमग्गो ॥४२॥ (११०)

जीवों का वध मत करो। झूठ मत बोलो। आत्मा को काम में अर्पित न करो। मनुष्यों को मत लूटो। परिग्रह मत करो। यही मार्ग स्वर्ग व अपवर्ग का हैं। विशेषता यह है कि प्राणिवध-विरमण आदि पंच अणुव्रत कहे गये हैं। व्यतिक्रम से कहने पर बंध के कारण हैं।

जिनेन्द्रों में पूजा। स्थूल प्राणातिपात विरमण आदि व्रतों में रति। सामायिक पौषध में यत्न। यहाँ पर इन दोनों को पृथग् लेने का कारण यह है कि सावद्य का परिहार मोक्ष का प्रधान अंग है। ज्ञान आदि के आधार रूप साधु आदि सुपात्र में दान देना मोक्ष का अंग है, इससे विपरीत अपात्र में दान अनर्थ फल को सूचित करता है। प्रज्ञप्ति में कहा गया है -

"समणोवासगस्स णं भंते! तहारूवं असंजयं, अविरय, अपडिहयपच्चक्खायपावकम्मं, फासुएण वा अफासुएण वा एसणिज्जेण वा, अणेसणिज्जेण वा असणपाणखाइमसाइमेणं पडिलाभेमाणस्स किं कज्जइ?"

हे भगवन्! तथारूप के असंयती, अविरति, अप्रतिहत प्रत्याख्यात पापकर्म वाले को प्रासुक या अप्रासुक, एषणीय या अणेषणीय अशन, पान, खादिम, सादिम आदि से प्रतिलाभित करता हुआ श्रमणोपासक क्या करता है?

"गोयमा! एगंतसो पावे कम्मे कज्जइ, नत्थि से कावि निज्जरति।

एवं तर्हिदीनादीनां दानं न देयमित्यापन्नम्, असङ्गं चैतदर्हताऽपि सांवत्सरिकदानस्य पात्राऽपात्रविचारपरिहारेण प्रवर्तितत्वात्। सत्यम्, मोक्षार्थं दानमाश्रित्याऽयं विधिरुक्तः। कृपादानं तु न क्वाऽपि जिनैर्निवारितम्।।"

गौतम! एकान्त पाप कर्म करता है। उसको कुछ भी निर्जरा नहीं होती।

इस प्रकार तो दीन आदि को दान नहीं देना चाहिए-यह सिद्ध होता है, पर यह तो असंगत है। क्योंकि अरिहंत आदि भी पात्र-अपात्र के विचार का परिहार करके सांवत्सरिक दान में प्रवृत्त होते थे। सत्य है, मोक्ष के लिए दान को आश्रित करके यह विधि कही गयी है। (अनुकंपा) कृपा दान तो किसी भी जिनेश्वर द्वारा निवारित नहीं है। कहा भी है -

सव्वेहिं पि जिणेहिं दुज्जयजियरागदोसमोहेहिं ।
सत्ताणुकम्पणट्ठा दाणं न कहिं चि पडिसिद्धं ॥१॥

अर्थात् दुर्जित राग, द्वेष, मोह को जीतने वाले सभी जिनेश्वरों ने प्राणीयों की अनुकम्पा के लिए कहीं भी दान का निषेध नहीं किया है।

धर्म सुनना श्रवण है। जिसके माध्यम से भवोदधि के पार सुखपूर्वक उतरा जाय, वह सुतीर्थ है। उसमें अर्थात् सुगुरु के पास में - यह अर्थ हुआ। सत्संगति अर्थात् सुसाधु की सेवा है। ये सभी शिवलोक के मार्ग है - यह इन दो रूपकों द्वारा बताया गया है।।४१-४२।।१०९-११०।।

इस प्रकार अनेक प्रकार से सन्मार्ग की प्ररूपणा किये जाने पर भी रागादि से आक्रान्त चित्तवाले बहुत से जीवों के उन्मार्ग-गम्यता को देखकर खेदपूर्वक रागादि की महत्ता को कहते हैं -

रागोरगगरलभरो तरलइ चित्तं तवेइ दोसग्गी ।
कुणइ कुमग्गपवित्तिं महामईणं पि हा मोहो ॥४३॥ (१११)

राग रूपी सर्प विष से भरा हुआ द्वेष रूपी अग्नि से चपल चित्त रूपी मणि को तपाता है। महामतिसंपन्न होते हुए भी मोह के वशीभूत होकर कुमार्ग में प्रवृत्ति करता है। यह महामोह का साम्राज्य है।।४३।।१११।।

और ऐसा होने पर -

अन्नाणंधा मिच्छत्तमोहिया कुग्गहुग्गहगहिया ।
मग्गं न नियंति न सद्दहंति चिट्ठंति न य उचियं ॥४४॥ (११२)

सन्मार्ग के अनावलोकन से अज्ञान से अन्धे हुए, मिथ्यात्व से मोहित अर्थात् अन्धा भी किसी मनोविज्ञान के द्वारा मार्ग को पार नहीं करता है? वैसे ही मिथ्यात्व रूपी मोह से दिग्मूढ़ भ्रान्त चित्तवाला वह भी कदाचित् समयान्तर से वह सचेतन हो जावे! इसी का प्रत्युत्तर कहा है। वह क्रूर ग्रह से ग्रसित होने से मोक्ष मार्ग के अनुरूप अर्थात् उचित मोक्षमार्ग को न देखता है, न श्रद्धा करता है, न प्रवृत्ति करता है। अतः ये तीनों (उपरोक्त कहे गये) मोक्षमार्ग के अनुरूप हैं।।४४।।११२।।

इस प्रकार मोक्षमार्ग को जानता हुआ कोई सर्वविरति को स्वीकार करता है और कोई उसमें अशक्त होने से केवल उसकी भावना ही भाता है। जैसे कि -

ता कइया तं सुदिणं सा सुतिही तं भवे सुनक्खत्तं ।
जंमि सुगुरुपरतंतो चरणभरधुरं धरिस्समहं ॥४५॥ (११३)

कब वह सुदिन, सुतिथि, सनुक्षत्र होगा, जब मैं सुगुरु को परतन्त्र रहकर चारित्र रूपी धुरा को धारण करूँगा। यहाँ परतन्त्र का मतलब गुरु की आज्ञा में रहकर प्राप्त की हुई सर्व सम्पदा है।

जो कहा गया है -

नाणस्स होइ भागी थिरयओ दंसणे चरित्ते य ।
धन्ना आवकहाए गुरुकुलवासं न मुंचंति ॥१॥ (विशेषा. भा. गा. ३४५९. एकादश पंचा. गा. १६)
छट्ठट्ठमदसमदुवालसेहिं मासद्धमासखवणेहिं ।
अकरिंतो गुरुवयणं अणंतसंसारिओ होइ ॥२॥ (पञ्चमपंचाशके ४६)

गुरुकुलवास में रहने से ज्ञान का भागी होता है। दर्शन व चारित्र में स्थिरतर होता है। जो यावत्कथ (जीवनभर) गुरुकुल वास को नहीं छोड़ता है, वह धन्य है।

बेला, तेला, चौला, पंचोला, पखवाड़ा या मास-मासखमण की तपस्या करके भी जो गुरुवचन को नहीं करता है, वह अनंत संसारी होता है॥४५॥११३॥

अब प्रस्तुत अर्थ के समर्थन होने पर अभीष्ट देवता की स्तुति युक्त संबोधन द्वारा मध्य मंगल को प्रकट करते हुए मुग्धजन के प्रवाद का तिरस्कार करते हुए कहते हैं -

सव्वत्थ अत्थि धम्मो जा मुणियं जिण! न सासणं तुम्ह ।
कणगाउराण कणगं व ससियपयमलभमाणाणं ॥४६॥ (११४)

हे जिनेश्वर! आपका शासन व धर्म सर्वत्र है, पर जैसे धतूरा खाये हुए व्यक्ति को शक्कर युक्त दूध पीला दीखायी देता है, वैसे ही जो तुम्हारे शासन में नहीं है अर्थात् तुम्हारी आज्ञा में नहीं है, उन्हें सभी सोना भी पीतल के समान ही लगता है॥४६॥११४॥

इस प्रकार श्री चक्रेश्वर सूरि द्वारा प्रारम्भ तथा उनके प्रशिष्य श्री तिलकाचार्य द्वारा निर्वाहित सम्यक्त्व वृत्ति में तीसरा मार्ग तत्त्व समाप्त हुआ।

॥ ४ ॥ साधु तत्त्व ॥

मार्ग तत्त्व की व्याख्या कर दी गयी है। अब मूल द्वार गाथा के क्रम से प्राप्त हुआ तत्त्व का वर्णन करते हैं। यह इसका पूर्व विषय से सम्बन्ध है। पूर्व में मार्गतत्त्व कहा गया और वह साधुओं द्वारा आवेदित है। अतः साधुतत्त्व को कहते हैं। उसकी आदि गाथा इस प्रकार है -

अट्ठारस जे दोसा आयारकहाइ वन्निया सुत्ते ।
ते वज्जंतो साहू पन्नत्तो वीयरागेहिं ॥१॥ (११५)

सिद्धान्त में अथवा आचार कथा में साधु आचार की विचारणा में दशवैकालिक के छट्ठे अध्ययन के रूप में जो अट्ठारह दोष कहे गये हैं, वे वीतराग द्वारा प्रज्ञप्त हैं, अतः साधु उनका त्याग करे॥१॥११५॥

वे अट्ठारह दोष कौन से हैं? तो कहते हैं -

पढमं वयाण छक्कं कायछक्कं अकप्पगिहिभायणं ।
पलियंक निसिज्ज वि य सिणाणसोहविवज्जणयं ॥२॥ (११६)

प्रथम छ व्रत, छ काय की रक्षा, अकल्प, गृहस्थ का भाजन, पलंग, निषधा, स्नान एवं विभूषा का वर्जन करना चाहिए।

प्रथम पञ्च महाव्रत तथा रात्रि भोजन विरमण व्रत रूपी छट्ठा व्रत है। यहाँ कथन की विशेष प्रतिपत्ति है। यह व्रतों की विराधना आदि दोषरूप जानना चाहिए। इसी प्रकार छः काय - पृथ्वी आदि रूप छः काय की विराधना

है।

अब प्रश्न उठता है कि प्रथम व्रत की विराधना के कथन में छः काय के जीवों की विराधना का भी समावेश हो जाता है। फिर अलग से क्यों कहा गया है? तो यह सत्य ही है। परलोक (अन्य धर्मवालों में) में पृथ्वी आदि में जीव अप्रसिद्ध है। अतः उसकी सिद्धि के लिए विशेष रूप से कथन किया गया है।

अकल्प दो प्रकार का है - शिक्षक स्थापना कल्प तथा अकल्प स्थापना कल्प। उसमें पहला इस प्रकार है-

अणहीया खलु जेणं पिंडेसणसिज्जवत्थ पाएसा ।
तेणाणि याणि जइणो कप्पंति न पिंडमाईणि ॥१॥
उउबद्धम्मि न अनला[1] वासावासासु दो वि नो सेहो ।
दिक्खिज्जंती सेहट्ठवणाकप्पो इमो होइ ॥२॥

जो पिंडेषणा अनधीत है, नहीं पढ़ा है उसके हाथ का पिंड शय्या, वस्त्र, पात्र आदि साधु को नहीं कल्पता है।

अकल्पस्थापना कल्प तो स्वयं ही कहेंगे। इसके विपर्यय का सेवन करने से तो दोष है।

गृहस्थ का भाजन थाली आदि है। उसमें खाते हुए जो दोष है, उसे कहते हैं -

कंसेसु कंसपाएसु कुंडमोएसु वा पुणो ।
भुंजंतो असणपाणाइं आयारा परिभस्सइ ॥१॥ (दशवै. अध्य. ६ गा. ५१)

कांसी के थाल, कांसी की कटोरी, कुंडी आदि मिट्टि के बर्तन अथवा हाथी के पग के आकार का कुंदमोद नामक कुंडे में, इस प्रकार गृहस्थ के बर्तन में अशन - पान आदि को करता हुआ साधु आचार से परिभ्रष्ट होता है।

पलंग - आदि के सछिद्र होने से उस पर सोना या बैठना साधु को अकल्पनीय है। उपलक्षण से (माँचा) मञ्च आदि भी जान लेना चाहिए। सिद्धान्त की भाषा में निषद्या का मतलब भिक्षा के लिए गये हुए साधु के बैठने की क्रिया है और वह कल्पनीय नहीं है। स्नान तथा उपलक्षण से उबटन भी देश से अथवा सर्व से कल्पनीय नहीं है। कहा भी गया है -

वाहीओ वा अरोगी वा सिणाणं जो उ पत्थए ।
वुक्कंतो होइ आयारो जढो हवइ संजमो ॥१॥ (दशवै. अध्य. ६ गा. ६०)

व्याधि से पीड़ित हो अथवा रोग रहित हो, वो मुनि अगर स्नान की इच्छा करता हैं, तो संयम की विराधना से आचार से भ्रष्ट होता है। यहाँ उपलक्षण से स्नान के साथ शौच अर्थात् विभूषा, दन्त शौच, नख-काटना, रोमकल्पन, केश संवारना, अकाल में वस्त्र धोना आदि भी शामिल हैं।

इनका भी विवर्जन करना चाहिए। अविवर्जन में दोष है। कहा भी गया है -

निगिणस्स वावि मुंडस्स दीहरोमनहंसिणो ।
मेहुणा उवसंतस्स किं विभूसाइ कारियं ॥१॥
विभूसा वत्तियं भिक्खू कम्मं बंधइ चिक्कणं ।
संसारसायरे घोरे जेणं भमइ दुरुत्तरे ॥२॥ (दशवै. अध्व. ६ गा. ६४, ६५)

साधु नग्न हो अथवा मस्तक मुंडाये हुए हो, जिसके लम्बे बाल या नख हो, (इसका अर्थ यह है कि जिनकल्पी के बिल्कुल कपड़े नहीं होते, स्थविर कल्पी को परिमाण वाले वस्त्र होते है।) जिनके मैथुन उपशान्त

1. अनला अयोग्यत्वेन निषिद्धा नपुंसकादयः।

हो गया हो, उसे विभूषा से क्या मतलब?

विभूषा करता हुआ साधु चिकने कर्म बाँधता है, जिससे कठिनाई से उतरने योग्य (पार होने योग्य) घोर संसार सागर में भ्रमण करता है।

यहाँ आद्य षटक् द्वय से मूलगुण तथा अकल्पादि षटक् से उत्तरगुण कहे गये हैं।।२।।११६।।

अब अकल्प-स्थापना कल्प का वर्णन करते हैं -

पिण्डं सिज्जं वत्थं पत्तं चारित्तरक्खणट्ठाए ।
अकप्पं वज्जिज्जा गिण्हिज्जा कप्पियं साहू ।।३।। (११७)

साधु को पिण्ड, शय्या, वस्त्र, पात्रादि चारित्र की रक्षा के लिए अकल्पनीय को छोड़कर कल्पनीय को ग्रहण करना चाहिए। यहाँ शय्या का मतलब वसति या उपाश्रय से हैं। अकल्पनीय का अर्थ आधाकर्म आदि दोष से दूषित जानना चाहिए।।३।।११७।।

यहाँ जो आधाकर्मादि दोष से युक्त पिण्डादि को कहा, उसी को कहने के लिए प्रस्तावना को कहते हैं -

जीवा सुहेसिणो तं सिवंमि तं संजमेण सो देहे ।
सो पिंडेण सदोसो सो पडिकुट्ठो इमे ते य ।।४।। (११८)

जीव सुख के अभिलाषी हैं और वह एकान्तिक सुख शिव में है। वह शिव संयम से प्राप्त होता है। संयम देह में है, वह देह पिण्ड पर आधारित है। वह पिण्ड आधाकर्म आदि दोष से दूषित होने पर सभी जिनेश्वरों द्वारा निषिद्ध है।।४।।११८।।

इन्हीं पिण्डदोषों के विभाग से संख्या बताते हैं -

सोलस उग्गमदोसा सोलस उप्पायणाए दोसा उ ।
दस एसणाइ दोसा बायालीसं इइ हवंति ।।५।। (११९)

सोलह उद्गम के, सोलह उत्पाद के तथा दस एषणा के ये ४२ दोष पिण्ड के कहे गये हैं।।५।।११९।।

उद्गम के सोलह दोष इस प्रकार है -

आहाकम्मुद्देसिय पूईकम्मे य मीसजाए य ।
ठवणा पाहुडियाए पाओअरकीय पामिच्चे ।।६।। (१२०)
परियट्टिए अभिहडुब्भिन्न मालोहडे इ य ।
अच्छिज्जे अणिसट्ठे अज्झोयर एय सोलसमे ।।७।। (१२१)

इनका अर्थ इस प्रकार है -

१. *यति को उद्देश्य करके छः काय के जीवों के आरम्भ - पूर्वक जो पकाना-पकवाना आदि किया जाता है, वह 'आधाकर्मी' दोष है।*
२. *पूर्व में बनाये हुए चावल, मोदक आदि में साधुओं के उद्देश्य से दही आदि द्वारा अथवा गुण-पाक आदि द्वारा सुधारना, संस्कृत करना औद्देशिक दोष है।*
३. *थोड़ी सी अशुचि की तरह आधाकर्मी आहार के अंश मात्र से विशुद्ध अन्नादि की पवित्रता को अपवित्र करना पूतिकर्म है। अर्थात् शुद्ध आहार में आधाकर्मी आहार का अंश मिलाना।*
४. *अपने लिए तथा साधु के लिए शुरु से ही मिश्र बनाया हुआ आहार मिश्रजात है।*
५. *साधु के लिए कुछ काल तक दूध आदि रखना स्थापना दोष है।*
६. *थोड़ा भी उपहार अर्पित करना प्राभृतिका दोष है। गुरु आदि आये हैं अथवा आयेंगे - इस प्रकार गुरुओं*

के आने के समाचार मिलने पर विवाहादि उत्सव आगे पीछे रखना प्राभृतिका दोष है।

७. *अन्धकार आदि में रहे हुए आहार को साधु के लिए बाहर रखना अथवा गवाक्ष आदि को प्रकाश के लिए खोलना प्रादुष्करण दोष है।*

८. *साधु के लिए मूल्य देकर कोई वस्तु खरीदना - क्रीत दोष है।*

९. *प्रमाण, प्रमित, प्रमेय ये तीन नाम हैं। साधु योग्य वस्तु को दान देने के लिए किसीसे छीनकर ग्रहण करना प्रमित्य नामक दोष है।*

१०. *शालि आदि को बाजरा आदि अन्य वस्तु से दूसरे व्यक्ति से बदल कर देना - परावर्तित दोष है।*

११. *स्व अथवा पर गाँव से साधु के लिए आहार लाना अभिहत दोष है।*

१२. *घी तेल आदि जिस पात्र में रखा हो, उस पर मिट्टि का लेप बन्द किया हुआ हो, वह साधु के लिए तोड़कर अथवा जिस कपाट में अपना कोई काम न हो, उस कबाट को साधु के लिए खोलकर जो दिया जाता है, उससे उद्भिन्न दोष लगता है।*

१३. *माल पर से कठिनाई से उतारने योग्य वस्तु को उतारकर, छींके आदि पर से लेकर अथवा तल भँवरे में से साधु के निमित्त लाना मालापहृत दोष है।*

१४. *दूसरे की वस्तु अथवा पुत्र-पत्नी आदि पारिवारिक जन की सत्ता में रही हुई वस्तु को बलात् छीन करके साधु को देना आच्छेद्य दोष है।*

१५. *सभी की आज्ञा के बिना बहुत जनों के लिए रांधा हुआ एक ही व्यक्ति के द्वारा साधु को देना - अनिसृष्ट दोष है।*

१६. *अपने लिए पकते हुए आहार में साधु के आगमन को श्रवणकर उनके लिए अध्यवसायपूर्वक अधिक धान्य का निक्षेप करना यह अध्यवपूरक दोष है।।६-७।।१२०-१२१।।*

ये उद्गम के १६ दोष हुए, जो कि पिण्ड उत्पत्ति में साधु के लिए गृहस्थी द्वारा किये जाते हैं। अब उत्पादन के १६ दोषों को बताते हैं -

धाई दूइ निमित्ते आजीव वणीमगे तिगिच्छा य ।
कोहे माणे माया लोभे हवंति दस ए ए ॥८॥ (१२२)
पुव्विं पच्छासंथव विज्जामंते य चुन्नजोगे य ।
उप्पायणाइ दोसा सोलसमे मूलकम्मे य ॥९॥ (१२३)

इनका अर्थ इस प्रकार है -

१. *भिक्षा के लिए दाता के बच्चों को खेलाने आदि का धात्री कर्म करते हुए साधु को धात्री-पिण्ड दोष लगता है।*

२. *परस्पर स्व पर ग्राम में प्रकट अथवा गुप्त रूप से संदेश आदि पहुँचाकर उसके द्वारा भिक्षा ग्रहण करनी दूती पिण्ड दोष है।*

३. *निमित्त ज्ञान से लाभ-अलाभ आदि का कथन करके भिक्षा प्राप्त करना निमित्त पिण्ड दोष है।*

४. *आजीविका के लिए दाता की जाति आदि को अपनें में आरोपित करने से लब्ध भिक्षा आजीवपिण्ड नामक दोष है।*

५. *याचक की तरह भिक्षा माँगकर लाना - वनीपक दोष है।*

६. *चिकित्सा द्वारा, वैद्यपने द्वारा अथवा वैद्यादि की सूचना द्वारा प्राप्त चिकित्सा पिण्ड है।*

७. क्रोध। ८. मान। ९. माया तथा

१०. लोभ से प्राप्त पिण्ड क्रमशः क्रोध, मान, माया व लोभ पिण्ड नामक दोष हैं।

इनमें किस प्रकार से दोष होता है, यह कथानकों द्वारा समझना चाहिए। वे इस प्रकार हैं।

पहले क्रोध पिण्ड पर की कथा को कहते हैं -

शुद्ध सिद्धान्त से बुद्ध अपनी मर्यादा में विहार करनेवाले ५०० साधुओं से युक्त सुस्थित नामक आचार्य थे। उनके एक शिष्य हुए, जो स्वच्छ बुद्धि से साधु के शुद्ध गुणों से युक्त तपविधि में डूबे हुए, प्रगाढ ओज से संपन्न गच्छ के भूषण रूप थे। वे महासत्त्वशाली, इन्द्रियों को वश में करके, अपने शरीर में भी निस्स्पृह, चारित्र महाराज के जंगम प्रासाद के समान थे। सकल साधु के आचार में कुशल, गीतार्थ, अनुपम श्रुतज्ञान के निधान कलश थे। सुदर्शन धारी, क्षमाधारी मुनियों के मध्य राजा के समान सज्जनों को आनंदित करनेवाले विष्णु के समान श्वेत वस्त्रधारी रहते थे।

एक बार अत्यधिक वीर्य संपन्नता द्वारा तप करने के लिए उन्होंने तप - प्रिय आचार्य के पास एकाकी चर्या के लिए आज्ञा प्राप्त की। गच्छवास में रहकर मन इच्छित उस प्रकार की तपस्या अन्य-अन्य वचन श्रुति से सम्पादित नहीं होती। अतः एकाकी विहार से पृथ्वी-तल पर विचरते हुए जिनकल्प की भावना को शुद्धात्मा रूप से भाते हुए अकेले भी अनेक दुष्कर्मों रूप अराति को हर रोज जीतने की इच्छा से उन महर्षि ने महातीक्ष्ण तप रूपी शस्त्र को ग्रहण कर किया। एक मासक्षमण के पारणे दूसरा मासक्षमण करना प्रारंभ किया। उस पारणे में भी प्रथम घर में जो मिलता था, वहीं लेते थे। अन्यत्र नहीं जाते थे। अगर प्रथम घर में भिक्षा नहीं मिलती थी, तो बिना पारणे के पुनः मासक्षमण कर लेते थे।

एक बार किसी नगर में किसी श्रीमन्त के घर में भिक्षा के समय मासखमण के पारणे की भिक्षा लेने वे मुनि गये। उस दिन उस गृहस्थ के घर में उनके मृत पुत्र का मासिक दिन था। अतः ब्राह्मण आदि को देने के लिए गृहिणी द्वारा बहुत सारी थालियाँ की माला घेवर से परिपूर्ण घर में तैयार की गयी थी। तब वे मासखमण के तपस्वी वहाँ गये। उन्हें देखकर उस गृहिणी ने भारी दानान्तराय कर्म के उदय से कुबुद्धि वाली ने कहा - देव! अभी तक ब्राह्मणों की अर्चा नहीं की गयी है। आप पहले ही आ गये हैं। अतः वापस भेजती हूँ। हे व्रती! आप चले जायें। इन्द्रियों द्वारा निमन्त्रित क्षुधा के उदय से मुनि का मन हुआ कि वे स्वयं ही जाकर वे घेवर ले लेवें। पर उस ग्रहिणी ने वैरी की तरह मुनीश्वर को अपमानित कर दिया। **महामोह रूपी क्रोधयोधा ने क्षण भर में आक्रमण कर दिया। प्रायः क्रोध तपस्वियों की निकटता को नहीं छोड़ता है।** भूत की तरह छल को प्राप्तकर शीघ्र ही वह अधिष्ठित हो जाता है। तब महामुनि ने लौटते हुए क्रुध होकर शाप दिया-हे दुरात्मिके! तुम यही उत्सव फिर प्राप्त करोगी। इस प्रकार कहकर अपने स्थान पर जाकर बिना पारणा किये कोप से कुपित होते हुए पुनः मासखमण प्रारंभ कर दिया। उस गृहिणी के घर में उस मुनि के शाप से उसका छोटा भाई उसी दिन मर गया। क्योंकि -

तपस्तेजो हि दुःसहम् ।

तप का तेज अति दुःसह्य होता है।

तब उसने अति खेदपूर्वक अपने अनुज के वियोग से पुनः उसी प्रकार मास के अन्त में मासिक दिन प्रारम्भ किया। उसी दिन उन मुनि का दूसरा मासखमण भी पूर्ण हुआ। उसी घर में मुनि पुनः पारणे के लिए गये। उस गृहिणी द्वारा उस दिन भी बिना कुछ दिये ही भेज दिया गया। जाते-जाते फिर मुनि ने मन ही मन में वही शाप दिया। क्षुधार्त्त होते हुए भी पुनः तीसरा मासखमण शुरु कर दिया। कहा भी है -

क्लेशेऽपि स्वप्रतिज्ञातं किमुज्झन्ति मनस्विनः ।

मनस्वी जन क्लेश होने पर भी क्या अपनी प्रतिज्ञा का त्याग करते हैं ?

मुनि के शाप से शीघ्र ही उसकी पुत्री भी मर गयी। क्योंकि -

उदग्रतपसां शापो निःफलः स्यान्न जातु यत् ।

उग्र तपस्वी का शाप कभी निष्फल नहीं जाता।

तीसरे महीने में भी मुनि पुनः शाप देने के लिए निकले। यह सुनकर द्वारपाल ने भयातुर होते हुए स्वामी से कहा-दान नहीं देने से कुपित हुए साधु के शाप से ही घर में दो जनों की मृत्यु हुई है। अतः हे स्वामी! इन्हें संतुष्ट कीजिए। अभी भी ये इसी प्रकार का शाप देकर वापस जा रहे हैं कि "इस प्रकार का कार्य पुनः अधम से भी अधम तुम्हारे घर में हो।"

तब उस गृहस्थ ने पत्नी सहित दौड़कर उन्हें प्रणाम करके भक्ति वाक्यों द्वारा पानी से अग्नि की तरह मुनि को शान्त किया। फिर घर लाकर साधु को उनके क्रोध का सामर्थ्य देखकर डरते हुए उन्हें यथेच्छित घेवरों से लाभान्वित किया। इस प्रकार से मुनि द्वारा प्राप्त आहार क्रोध पिण्ड कहलाता है। इस प्रकार का क्रोध अनर्थ समूह का एक अंकुर रूप है। संसार समुद्र को बढ़ानेवाला पूर्णचन्द्र है। अतः साधु को क्रोधपिण्ड नहीं कल्पता है।

इस प्रकार क्रोधपिण्ड का कथानक समाप्त हुआ।

अब मान पिण्ड पर कथा कही जाती है -

संपूर्ण संसार को भोजन कराने वाली लब्धि से युक्त ख्याति वाले, क्षमानिधि गुणाधार रूपी गुरु के भी गुरु, गुणप्रिय, गुणसूरि नामक आचार्य हुए हैं। उनके परिवार में पाँचसो साधु थे, जो गुण समूहों द्वारा एक से बढ़कर एक थे। उन गुरु के बहुत सारे क्षुल्लक शिष्य भी थे। वे सभी एक जगह रहकर एक दूसरे से आगे रह-रहकर अध्ययन करते थे। उनमें एक क्षुल्लक मान से विह्वल वाचाल था। वाग्लब्धि के कारण वह दूसरे को भी जीतकर मान रूपी हाथी पर क्षणभर में चढ़ जाता था। एक दिन उस मानी ने क्षुल्लक मंडल के मध्य में कहा - तुम सब में कोई भी मेरे समान लब्धिवाला नहीं है। अन्य क्षुल्लकों ने कहा - यदि ऐसा है! तुम लब्धि से गर्वित हो, तो हम को विश्वास दिलाने के लिए तुम किसी भी लब्धि को दिखाओ। आज घर-घर में खाने के लिए सर्वत्र अमृत के स्वाद के समान खाण्ड व शक्कर से युक्त सेव का भोजन पकाया गया है। अतः किसी भी तरह से तुम सबसे बड़े पात्र को उससे भरकर हमारे भोजन के लिए ले आओ, तो हम तुम्हारी लब्धि मान लेंगे।

वह क्षुल्लक भी भूमि पर हाथ मारकर वीर की तरह उठ खड़ा हुआ। अगर मैं नहीं लाया तो, मेरे जैसा नहीं - इस प्रकार बोलता हुआ शीघ्र ही मान में उड़ते हुए शरीर वाला वह किसी श्रीमन्त के घर पहुँचा वहाँ उस भोजन को काष्ठ पात्र में भरने के लिए उग्र पूर की तरह उसने खाण्ड के थाल तथा घृत की थाली को देखा। गृहस्वामिनी ने उस क्षुल्लक को देखकर कुपित होते हुए कहा - अरे क्षुल्लक! तुम्हें किसने बुलाया? चलो। चलो। उस क्षुल्लक ने कहा - भद्रे! क्या तुम दान धर्म नहीं जानती? क्योंकि -

दानेनैव हि भोगानां जन्तुर्भवति भाजनम् ।

दान से ही प्राणी भोगों का भाजन बनता है।

अतः तुम मुझे भोजन दो, तुम्हें धर्म होगा। मेरा अपमान करके तुम अपनी लघुता मत करो। उस गृहिणी ने क्रोध पूर्वक कहा - तुमसे मेरा लाघव कैसे होगा? अच्छा है कि मैं कौवों और कुत्तो को दे दूँगी, पर तुम्हें नहीं दूँगी। क्षुल्लक ने भी मानपूर्वक कहा - हे शुभे! ठीक है। अगर मैं कुछ हूँ तो भविष्य में तुम्हारे घर से हठपूर्वक भी यह भोजन लेकर ही जाऊँगा। यह कहकर बाहर निकलकर उसने किसी पुरुष को पूछा - हे भद्र! यह किसका घर है?

वह इस समय कहाँ मिलेगा? उसने कहा - यह घर देवदत्त का है। और वह अब उस पर्षदा में बैठा है, मैंने उसे वहाँ देखा है। तब क्षुल्लक ने वहाँ जाकर गोष्ठी में बैठे हुए लोगों से पूछा - हे भद्रो! बताओ! तुम में से देवदत्त कौन है? उन्होंने कहा - हे क्षुल्लक! तुम्हें देवदत्त से क्या कार्य है? क्षुल्लक ने कहा - मैं उस धनवान से कुछ प्रार्थना करुँगा। क्षुल्लक पर हास्यस्थान रूप से हंसते हुए उन्होंने अंगुली से उसको इशारा करते हुए बताया कि यह देवदत्त है। क्षुल्लक ने कहा- अहो! अगर तुम उन छह मनुष्यों के बीच में से नहीं हो, तो मुझे तुम से काम है। गोष्ठी में रहे हुए मनुष्यों ने कहा - वे छः मनुष्य कौन-कौन हैं। क्षुल्लक ने कथाकार की तरह गोष्ठि में कहना प्रारम्भ किया।

'श्वेताङ्गुलि, 'बगुलों को उड़ानेवाला, 'तीर्थस्वामी, 'किङ्कर, 'गृद्धअरिंखि, 'हा दैव, खेद की बात है कि ये छः अधम पुरुष हैं जिनकी कथा इस प्रकार है-

(१) किसी गाँव में अपनी पत्नी के वश में रहा हुआ एक ग्रामीण रहता था। एक बार रात्रि के अंतिम प्रहर में उसकी पत्नी ने उससे कहा - हे कान्त! अगर मैं उठुंगी, तो तुम्हारा पुत्र रोयेगा। अतः चूल्हे से राख इकट्ठी करके बाहर फेंक आओ। राजा के आदेश की तरह पत्नी के वचनों की आराधना करते हुए उसने वैसा ही किया। प्रतिदिन राख के संयोग से उसकी अंगुलि श्वेत हो गयी। रोज अंजलि भर-भरकर राख को सूपड़े में डालने से तथा उसे बाहर फेंकते हुए देखकर लोग उसे श्वेतांगुलि कहने लगे।

(२) एक पत्नी ने अपने पति से रात्रि के अन्तिम प्रहर में कहा कि यदि मैं जल लेने जाऊँगी, तो यह बालक नहीं रहेगा। इसलिए हे पतिदेव! जब तक कोई न देखे, आप ही जल्दी से जाकर दो घड़े पानी ले आओ। वह भी पत्नी के कथन को आदेश मानकर सिर पर घड़ा रखकर जल लाने के लिए गया। ठीक ही कहा गया है -

किं न कुर्यात् प्रियावशः ।

प्रिया के वश रहा इन्सान क्या-क्या नहीं करता?

घड़े से पानी भरते हुए बुड़ बुड़ की ध्वनि से समीप के वृक्ष पर नीड़ में स्थित सभी बगुले उड़ जाते थे। प्रतिदिन यह करते हुए उसे भी किसी ने देखा। उसने उसको सर्वत्र बक्कोड़ायी के नाम से प्रसिद्ध कर दिया।

(३) कोई व्यक्ति दिनभर पत्नी के वचनानुसार काम कर-कर के बार-बार पूछता था कि अब क्या करुँ? क्या करूँ? "किं करोमि" यह शब्द बार-बार कहने पर, उसको सुनकर सभी लोग उसे किंकर कहने लगे।

(४) एक बार किसी व्यक्ति ने उसकी पत्नी को नहाने की इच्छा बताकर उससे कहा - मैं पुत्र को गोद में लेकर यहाँ बैठ जाऊँगी। तुम तेल लाकर मेरे सामने रख दो। तब उसने तैल लाकर उसके पास रखा। उसकी पत्नी ने बैठे-बैठे पति के सिर में तेल लगा लिया। फिर पति को कहा- जरा अपने हाथों से मस्तक पर रगड़ दो। अंगों पर भी मसल दो, क्योंकि पुत्र हाथ में होने से मैं मसल नहीं पा रही हूँ। फिर नदी में बहुत सारे जल से नहाकर मसल-मसलकर आप गोरे हो जाना। जिससे आपके सुस्नान से तीर्थ स्नान का पुण्य प्राप्त होगा। उसकी पत्नी के वृत्त को जानकर तथा नदी में नहाते हुए देखकर उसे तीर्थस्नातक कहा। इस तरह सभी जन उसे तीर्थस्नातक कहने लगे।

(५) एक पत्नी पुत्र को गोद में लेकर थाली के समीप बैठकर भोजन करने लगी। भोजन करते-करते किसी व्यञ्जन की अभिलाषा से उसने पति को कहा - प्राणेश! तुम यहाँ आओ। जिससे मुझे जो चाहिए, वह तुम दे सको। यह तुम्हारा पुत्र मुझे उठने ही नहीं देता। उठने में लज्जा का अनुभव होने के कारण, और प्रिया के वचन का खण्डन न कर सकने के कारण गृद्ध की तरह बैठे-बैठे खिसक-खिसककर वहाँ आया और वैसे ही लौट गया। इसी प्रकार की क्रिया करते हुए किसी ने उसे देख लिया। तब से उसे गृद्ध - अरिंखी कहने लगे।

(६) किसी व्यक्ति की प्रिया रुठ गयी। तब उसने हा दैव! अब मेरा क्या होगा? इस प्रकार बोलते हुए मनुष्य को देखकर लोग उसे हादैव कहने लगे।

तब गोष्ठी में रहे हुए सभी मनुष्य जोर-जोर से हंसते हुए कहने लगे - बहुत अच्छा! हे क्षुल्लक! तुम्हारे द्वारा वे छहों भी जान लिये। यह भी वैसा ही है। तब देवदत्त ने क्षुल्लक का हाथ पकड़कर कहा - मुझसे मत छिपाओ। तुम्हें जो इच्छित है, वह दूँगा। क्षुल्लक ने भी कहा - देने के भय से शंकित नहीं हूँ। पर तुम्हारे घर में व्याघ्री की तरह भयंकरा अनार्या पत्नी है। देवदत्त ने कहा - ज्यादा क्या कहूँ। तुम मेरे साथ घर तो आओ। तब वे दोनों घर के द्वार तक आये। क्षुल्लक ने पुनः उससे कहा - तुम्हारी पत्नी मुझे नहीं देगी। मैं पहले भी तुम्हारे घर जाकर आया हूँ। अतः उसे जानता हूँ। अतः मैं एक क्षण यही ठहरता हूँ। तुम अन्दर जाकर अपनी पत्नी को किसी भी छल से माल पर चढ़ाकर वहाँ से श्रेणी हटा लेना, फिर मुझे बुलाना। देवदत्त ने अन्दर जाकर पत्नी से क्रोध पूर्वक कहा - तुमने अभी तक माल से आसन क्यों नहीं उतारा। वह तुरन्त सीढ़ी लगाकर माल पर चढ़ी, तभी उसने सीढ़ी वहाँ से हटा ली। फिर उसने क्षुल्लक को यथेच्छित देने के लिए बुलाया। क्षुल्लक ने भी प्रवेश करके जोर से धर्मलाभ कहा। यह सुनकर उसकी पत्नी जैसे ही आने लगी, तो उसने देखा कि वहाँ तो सीढ़ी ही नहीं थी। वहीं पर रहते हुए उसने क्रोधावेग से काँपते हुए शरीर द्वारा पति को कहा - अरे! अरे! इस दुर्मुख को शीघ्र ही निकालो। देवदत्त ने उस क्षुल्लक को वह घी तथा खाण्ड मिश्रित सेव का भोजन यथेप्सित दिया, तथा क्षुल्लक ने भी उस की पत्नी की आँखों के सामने रहते हुए ही ग्रहण किया। उसे देखते हुए उस क्षुल्लक ने अपनी तर्जनी नाक पर रगड़ते हुए धृष्टतापूर्वक कहा - मैंने अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण की। तब उसने उपाश्रय में जाकर सेवाखण्ड - घृत आदि से अपने मान रूपी महाधन के द्वारा क्षुल्लकों को भोजन करवाया।

पर मान से विवर्जित मुनियों को यह मान पिण्ड कल्पनीय नहीं है। कदाचित् रोष की अधिकता से वह स्त्री झंपापात भी करके मर जाती। अतः मुनि अवद्य पिण्ड ही ग्रहण करे।

इस तरह मानपिण्ड का उदाहरण कहा गया। अब **मायापिण्ड के उदाहरण** को कहा जाता है -

करोड़ों ध्वजों के समूह द्वारा सूर्य के ताप को तिरोभूत करने से जहाँ मनुष्यों को संताप उत्पन्न नहीं होता ऐसा राजगृह नामक नगर था। रोहण पर्वत पर रत्न के समान वहाँ किसी गच्छ में धर्मरुचि गुरु के शिष्य आषाढ़ाभूति हुए। जो वचन लब्धि से सरस्वती के समान, रूप से कामदेव के समान, प्रज्ञा से बृहस्पति के समान, विज्ञान से विश्वकर्मा के समान थे। ज्यादा क्या कहा जाय? उस प्रकार के कर्मों के क्षयोपशम से विज्ञान, वेष, भाषा आदि द्वारा वह सब क्या नहीं था? जो उन मुनि में न हो। एक बार वे विचरते हुए श्रेष्ठ नट के आवास को प्राप्त हुए। वहाँ मन को प्रमुदित करनेवाला आमोद सहित मोदक प्राप्त हुआ। उस घर से निकलते हुए रस की लोलुपता से मुनि ने विचार किया कि यह मोदक तो गुरुदेव के लिए ही होगा, पुनः मुझे नहीं मिलेगा। तब मायाप्रपञ्च को जाननेवाले उन मुनि ने देव के समान रूप धारण करके पुनः उस घर में जाकर एक और मोदक प्राप्त किया। द्वार के बाहर आकर पुनः विचार किया कि यह उपाध्याय को प्राप्त होगा। तब कूबड़े के वेष में अन्दर जाकर पुनः मोदक प्राप्त किया। पुनः बाहर जाकर विचार किया कि यह तो क्षुल्लक मुनि को दे दूँगा। तब वृद्ध का रूप बनाकर पुनः मोदक ग्रहण किया।

उन मुनि की इन लीलाओं को गवाक्ष में स्थित नट ने देखकर सोचा - निश्चय ही ये मुनि वैक्रिय लब्धि से युक्त है। यह किसी भी तरह नट बन जाये तो निश्चय ही मनुष्यों के आने के साथ-साथ देवता भी हमें अपना धन भेंट करेंगे। अतः उन्हें शीघ्र ही अपनी ओर मोड़ने के लिए नट ने विचार किया कि -

महान्तोऽपि बध्यन्ते लोभपाशकैः ।

महान व्यक्ति भी लोभ पाश द्वारा बाँधे जा सकते हैं।

व्रत को ग्रहण कर लेने के कारण इन्हें यद्यपि धन से कोई प्रयोजन नहीं है, फिर भी इस क्रिया द्वारा ये रसलोलुपी दिखायी देते हैं। रस में गृद्ध व्यक्ति प्रायः स्निग्ध आहार द्वारा मनाये जाते हैं। कामदेव भी स्निग्ध आहार द्वारा अग्नि में घी की आहुति की तरह भड़क उठता है। फिर मेरी दोनों पुत्रियों द्वारा हास-विलास आदि तन्तुओं द्वारा इसे मोड़कर बाँध लेने पर यह मेरे वश में हो जायगा। इस प्रकार विचारकर नट ने घर से बाहर निकलते हुए उस साधु को श्रावक की तरह भक्ति युक्त होकर ससम्मान बुलाया। फिर मोदकों से भरा संपूर्ण थाल अत्यधिक उच्च भावना से कल्पवृक्ष के फलों की व्यूह रचना द्वारा उन्हें लाभान्वित किया। फिर इस प्रकार अभ्यर्थना की - भगवन्! कृपा करके मेरे आवास में आप प्रतिदिन भिक्षा के लिए आये। फिर उस साधु के जाने के बाद उनका नट - विज्ञान संपूर्ण रूप से विस्मय सहित अपनी वल्लभा को बताया। उसने भी अपना अभिप्राय अपने पति को दर्शाया - आपने अच्छा उपचार किया। आपका यह उपचार ही कार्यकारी होगा। रति-प्रीति के समान अपनी दोनों पुत्रियों को भी कहा कि तुम दोनों इस मुनि को इस प्रकार क्षोभित-आकर्षित करो जिससे शीघ्र यह तुम्हारे वश में हो जाय। नटी भी नित्य अत्यधिक आदर के साथ वशीकरण औषधि की तरह मोदक आदि के द्वारा उस मुनि का उपचार (आकर्षण) करने लगी। दोनों पुत्रियाँ भी कटाक्ष आदि काम-अस्त्रों से विवेक रूपी कवच से रहित उन मुनि को खींचने के लिए घायल करने लगीं। वह मुनि भी व्रत रूपी प्राणों से नष्ट हुए की तरह उनके साथ मर्यादा रहित परिहास करने लगा। एक दिन आलिंगन आदि क्रियाओं में अभिलाषी जानकर काम ग्रह में आविष्ट करने के लिए नट - पुत्रियों ने उससे कहा - हे सुभग अग्रिम! अगर आपका हममें कोई प्रयोजन है, तो परिव्रज्या का त्यागकर अभी हम दोनों के साथ परिणय करें। चारित्रावरणीय कर्म के उदय से, कुल के अभिमान से नष्ट, श्रुत रत्न से विस्मृत मुनि ने उनके रूप - यौवन में आसक्त होकर उनके वचनों को स्वीकार कर लिया। एकान्त में गुरु से अपना अभिप्राय कहा। यह सुनकर गुरु ने विचार किया - अहो! काम की लीला अपरम्पार है। धिक्कार है इस कामदेव को कि इस काम लीला ने ऐसे महात्मा का भी तत्क्षण सर्वस्व हरण कर लिया। तब धर्मरुचि गुरु ने अमृत के समान वचनों से विषय आशारूपी विष के आवेग को हरने के लिए अनुकंपा पूर्वक कहा-तुम उत्तम गुरु के शिष्य हो। उत्तम कुल में उत्पन्न हुए हो। तुम्हारा उत्तम श्रुतज्ञान है। हे वत्स! तुम्हारी ऐसी बुद्धि कैसे हुई? शील रूपी सलील को तुमने दुःपाल्य होते हुए भी चिरकाल तक पाला है। तपस्याओं से तुम तपे हो। तुमने परीषहों को जीता है। इस प्रकार के धर्मवीर होकर भी क्या तुम कामदेव द्वारा जीत लिये गये हो! भुजाओं से समुद्र पार करके भी तुम गाय के पाँवों से बने हुए खड्डे में समाने वाले पानी के परिमाण में क्यों डूबना चाहते हो?

आषाढ़ाभूति ने भी गुरु को नम (आद्र) आँखों से कहा - प्रभु! मैं भी यह जानता हूँ, पर अभी मूढ़ हो गया हूँ। महामोह रूपी साँप से ग्रसित प्राणियों पर क्या तीर्थंकरों का व्याख्यामन्त्र भी काम करता है? हे प्रभो! हजारों सूर्यों का उदय होने पर भी उल्लू तो अन्धा ही रहनेवाला है। उसी प्रकार हे प्रभो! मैं अर्हत् धर्म को जानता हूँ। फिर भी दुराशय वाला होकर आपकी चरणसेवा रूपी पुण्य से हीन बन रहा हूँ। हे पूज्य! मुझे अपने कर्म फल का पात्र बनने की आज्ञा दीजिए। तब उसका अत्यधिक आग्रह देखकर गुरु ने उपदेश दिया वत्स! मोक्ष रूपी वृक्ष के बीज रूप सम्यक्त्व में दृढ़ रहना। (और मांस-मदिरा का सेवन हो वहाँ मत रहना।)

तब वह परिव्रज्या का त्याग करके नट के घर पर आया। सभी नटों का वह नाट्य शिक्षा गुरु बन गया। राजालोग उससे खुश होकर बहुत दान देते थे। उन धन के द्वारा उसने श्वसुर के घर को कुबेर के आवास की तरह बना दिया। तब प्रसन्न होते हुए नट ने अपनी दोनों पुत्रियों को शिक्षा दी - यह उत्तम प्राणी है। प्रयत्नपूर्वक इसकी परिचर्या करना। भाग्य योग से इसने किसी भी तरह अपना मार्ग त्याग दिया है, फिर भी हमारी थोड़ी सी प्रतिकूलता देखते ही शीघ्र ही यह विरक्त हो जायगा। अतः तुम अपेय का पान मत करना। अभक्ष्य का भक्षण मत करना। तुम

दोनों सदाचार रूपी पवित्रता से निवास करना। नित्य नये-नये श्रृंगारों द्वारा अंगों को अलंकृत करके सदा उसके विचारानुरूप अभीष्ट देवता की तरह उसको ध्याना। उस पिता की शिक्षा को प्राप्तकर दोनों ने विशेष रूप से उसी में तन्मय होकर उसी के चित्त में सर्वदा अपनी आराधना शुरु कर दी।

एक बार उस नगर के राजा सिंहरथ ने नट को बिना स्त्री का पात्र लिये नाटक करने की आज्ञा दी। तब आषाढ़ाभूति उन दोनों प्राण-वल्लभाओं को छोड़ करके नट समूह से युक्त होकर राज-भवन में गया। नट पुत्रियों ने जाना कि हमारे पति चिरकाल तक नहीं आयेंगे। अतः इच्छानुसार अतिशय आकंठ शराब का सेवन किया। फिर वासगृह के अन्दर ही वे दोनों भूमि पर लौटने लगी। मद के प्रभाव से उनके केश बिखर गये थे। कपड़े भी अस्त व्यस्त होकर भूमि पर लटक रहे थे। चारों ओर शराब की तीव्र दुर्गन्ध फैल गयी, जिससे मक्खियाँ भिनभिनाने लगी। उन दोनों ने मृत की तरह हाथ-पाँव इधर उधर फैला दिये थे।

इधर राजा के सामने किसी अत्यावश्यक कार्य से नाटक का अवसर प्राप्त नहीं हुआ। अतः आषाढ़ाभूति लौटकर अपने घर आ गया। वास- घर में प्रविष्ट होते ही मद्य की दुर्गन्ध से बाधित हुआ। सामने पड़ी हुई अपनी प्रियाओं की उस दशा को देखा। उसी समय उसे भव - वासना से वैराग्य उत्पन्न हो गया। उसने विचार किया - हे जीव! तुमने करोड़ों भवों में भ्रमण किया है। स्वर्ग व अपवर्ग के हेतु रूप, पूर्व में कभी प्राप्त नहीं किये हुए चारित्र को प्राप्त करके भी जिसके लिए तुमने उसे छोड़ दिया, उनके सर्व अशुचि के निधान रूप स्वरूप को देखो। अयोग्य तो है ही, एकान्त रूप से असार भी है। यह तुम्हारें ही अज्ञान का अपराध है कि तुम इनमें मोहित हुए। मोक्ष का मार्ग छोड़कर तुम नरकमार्ग पर चल पड़े। आज तक तुम जिन्हें अनुकूल मानते थे, भवितव्यता से उन्हींके द्वारा आज इस प्रकार का रूप दिखाया गया है। अब इतना जान लो कि जब तक बुढ़ापा बाधित न करे, रोग पीड़ित न करें, जब तक मृत्यु दूर है, तब तक अभी भी तुम स्वहित के लिए प्रयत्न करो। नष्ट हुआ भी सुभट वापस लौटकर अराति पर जय प्राप्त करता है।

इस प्रकार की भावना भा-भाकर वैराग्य के संग से घर से निकलते हुए उसे नट ने किसी भी प्रकार से देख लिया। चित्त देखने में दक्ष उस नट ने उसके आशय को जानकर शंकित होते हुए तुरन्त उसके वास घर में जाकर देखा। अपनी पुत्रियों को उस अवस्था में देखकर विषाद ग्रस्त होते हुए बोला - हे पापिनियों! क्या किया! तुम्हारा पति विरक्त होकर जा रहा है। उसके वचन सुनकर शीघ्र ही उनका मद उतर गया। वे संभ्रमित हो गयी। तात को पूछने लगी - वह हमारा वल्लभ कहाँ है? कहाँ जाता है? नट ने कहा - यह जानने से क्या? मैंने तो उसके आशय को जान लिया है। तुमसे उसे जो विरक्ति हुई है, वह युगान्त में भी निवृत्त नहीं होगी। किन्तु उसके पाँव पकड़कर कहो - नाथ! यद्यपि आप विरक्त हो गये हैं, फिर भी हमारी निर्वाह - चिन्ता करके हमारे स्वार्थ के लिए रुको।

वे दोनों दौड़कर उनके पाँवों में गिरकर कहने लगीं - हे नाथ! हमें अनाथ छोड़कर आप करुणानिधि कहाँ जाते हैं? आज तक मैं हमारा यह एक ही एक पाप हुआ है। अतः हे स्वामी! हमें क्षमा करें। क्योंकि -

महान्तः क्षान्तिमन्तः स्युर्जने दोषाऽऽकरेऽपि यत् ।

महान् जन तो दोषों की खान वाले मनुष्य पर भी क्षमावान होते हैं।

हे हृदयेश! एक बार लौट आओ। उसने कहा - अब तो यह प्राणत्याग करने पर भी संभव नहीं है। जैसे - हाथी विन्ध्यपर्वत को और शरु वन के सौन्दर्य को छोड़कर कदाचित् घास रहित ऐसे नीचस्थान पर चला जाय, तो क्या वे कभी उस स्थान पर प्रीति बाँधते है? अथवा विन्ध्यपर्वत याद आते ही लौटते हुए उस हाथी को किसी के द्वारा वापस उस नीचस्थान पर लौटने को बाधित किया जा सकता है? मैं भी इतने दिन नीचस्थान पर रहा। अब मुझे विन्ध्यपर्वत समान भागवती प्रव्रज्या पुनः स्मृत हो गयी है। इसलिए हाथी के समान मुझे भी लौटने से नहीं

रोका जा सकता। उसकी दृढ़ प्रतिज्ञा जानकर उन दोनों ने पिता के द्वारा सिखायी हुई बात कही "हमारी आजीविका की व्यवस्था तो करके जाइए! हमे आपके बिना किसका आधार है?" उसने भी वह स्वीकार कर लिया। क्योंकि-

सन्तो यद् दीनवत्सलाः ।

सज्जन दीन पर वत्सल भाव वाले होते हैं।

तब लौटकर उसने भरत का नाटक वीर, शान्त आदि अद्भुत रसों द्वारा सात दिन में करने का निर्णय किया। सिंहरथ राजा को उसके श्वसुर द्वारा कहा गया। राजा ने भी कहा - शीघ्र ही मेरे सामने नृत्य पेश किया जाय। तब नट ने कहा - इसकी सामग्री अति दुष्कर है। राजा ने कहा - तुम कहो। मैं संपादित करवाऊँगा। नट ने कहा - अगर पुनः यह नाटक कराया जाय तो पाँचसो गुणी पात्रों की आवश्यकता होगी। अतः पाँचसों राजपुत्र एव पाँचसो पात्र समर्पित कीजिए। प्रभो! संपूर्ण सार युक्त वस्त्र अलंकार आदि भी उनके लिए चाहिए। उनके द्वारा जो कुछ सामग्री व राजपुत्र माँगे गये, वे सभी राजा ने नाटक को देखने के कौतूहल से दे दिये। तब उन सभी पात्रों से युक्त भरत राजा के वेष में आषाढ़ाभूति ने राजा के सामने नाटक करना शुरु कर दिया।

उसने मागध, वरदाम तथा प्रभास तीर्थ को साधा तथा उसके सेनापति ने सिन्धु नदी के तट को साधा। फिर वैताढ्य गुफा तथा तमिस्र गुफा से निकलकर मेघकुमार आदि को जीतकर मध्यखण्ड को वश में किया। वृषभकूट पर्वत पर अपना नाम लिखा। फिर खण्ड प्रपात गुफा से पर्वत की ओर मुड़ा। जैसे नदी के तट को सेनापति ने वश में किया था वैसे ही उसके तट को भी स्वीकार किया। परम निधि प्राप्त की तथा बारह वर्षीय अभिषेक हुआ। फिर उस भरत चक्री ने साम्राज्य सुख से युक्त विपुल भोगों को छः खण्ड के अधिपति होकर भोगा। इत्यादि अभिनय को अत्यधिक अद्भुत रस से युक्त करते हुए को देखकर राजा परिवार सहित अत्यन्त परितोष को प्राप्त हुआ। तब राजा तथा अन्य जनों द्वारा इतना दान दिया गया कि उस प्राप्त वित्त से एक पर्वत जितना ढेर लग जाय। नाट्य रस के आवेश से राजा ने दान से सभी को परिधान व धन से युक्त कर दिया। उन दोनों नट पुत्रियों ने वह सारा धन ग्रहण कर लिया। तब आषाढ़ाभूति भरत की तरह आदर्श गृह में प्रवेश करके अभिनय क्रम से मुद्रा रत्न को गिराते हुए साधु वेष ग्रहणकर अखिल पात्रों के साथ सहसा सिर का पंचमुष्टि लोच करके धर्मलाभ आशीष राजा को देकर निकलने लगे। तब राजा आदि सभी लोगों ने कहा! यह क्या है? इस प्रकार बोलते हुए उसका हाथ पकड़कर आदर पूर्वक लौटने के लिए कहने लगे। आषाढ़ाभूति ने कहा - अगर वह भरत दीक्षा लेकर वापस लौटा हो, तो मैं भी लौट आऊँगा। तब उसके सर्वथा पारमार्थिक भाव जानकर उसके लौटने के आग्रह को छोड़कर उसे जाने के लिए छोड़ दिया। कुल के अभिमान तथा लज्जा आदि कारणों से वे राजपुत्र भी व्रत के भाव का अभाव होने पर भी व्रत को नहीं त्याग पाये। बाद में क्रम पूर्वक उनमें भी व्रत के भाव उत्पन्न हो गये।

आषाढ़ाभूति ने गुरु के पास जाकर दुष्कृत की आलोचनाकर उग्र तप करके केवलज्ञान प्राप्त किया। फिर सर्वकर्मों का क्षय करके परमार्थ रूपी शिवपद को प्राप्त किया।

बढ़ते हुए ज्ञान-विज्ञान युक्त आषाढ़ाभूति के लिए भी माया पिण्ड दोषरूप ही सिद्ध हुआ। अतः मोक्ष सुख को चाहनेवालों द्वारा इसका दूर से ही त्याग करना चाहिए।

यह माया पिण्ड का उदाहरण हुआ। **अब लोभ-पिण्ड के दृष्टान्त को कहते हैं -**

अत्यधिक माहात्म्य से युक्त श्रुत-पारंगत भावना से भावित आत्मा वाले एक धर्मसूरि गुरु हुए है। उनका एक शिष्य था, जो संपूर्ण कल्मल से कषित (कर्ममल को धोया हुआ), संपूर्ण साध्वाचार में कुशल, सुदृढ़ क्रियावान, निर्ममत्वी, निस्पृह, क्षमावान्, सरल, निरहंकारी, पवित्र, सत्यवक्ता एवं ब्रह्मव्रत पालन में तत्पर थे। दोनों ही (बाह्य-अभ्यंतर) परिग्रह से रहित तप-संयम में लीन आत्मावाले, नित्य अध्ययन में आसक्त सुसाधुओं की अग्रिम

पंक्ति में स्थित थे।

एक बार वे कहीं एकाकी गोचरी के लिए पधारें। तब लोभ नामक पिशाच द्वारा किसी तरह छल लिये गये। उसके वश में होकर मुनि ने यह प्रतिज्ञा की कि आज मेरे द्वारा सिंह केसरी मोदक ही उपादेय होगा। इप्सित मोदक के प्राप्त न होने पर दूसरा कुछ भी ग्रहण न करते हुए प्रत्येक घर में प्रवेश करके वे मुनि निकल जाते थे। लोभ ग्रह द्वारा अत्यधिक प्रबल होकर शाम का समय प्राप्तकर विकल हो गये। तब वे धर्मलाभ के स्थान पर घर के आँगन में सर्वत्र सिंह केसरी, सिंह केसरी इस प्रकार कहने लगे। इस प्रकार घूमते हुए रात्रि का एक प्रहर बीतने को आया। पर विकलता से विह्वलता के कारण उन्हें कुछ भी भान न रहा। तब शासन देवी ने उन मुनि की वैसी अवस्था देखकर विचार किया - कोई मिथ्यादृष्टि देवता आदि इन्हें छल न लेवें। अतः उन्हें जाग्रत करने के लिए शासनदेवी ने मार्ग में एक घर बनाकर मनुष्य स्त्री का रूप धारण कर लिया एवं वहाँ बैठ गयी। मुनि को आया हुआ देखकर शीघ्र ही मध्य खण्ड से उठकर सिंहकेसरी मोदकों से भरा हुआ थाल लेकर सम्मुख आयी। चार जातकों से मिश्र स्व-इच्छित मोदकों को देखकर मुनि ने कुछ समय स्वस्थता को प्राप्त किया। उसने भी थाल पृथ्वी पर रखकर उन्हें वन्दना करते हुए कहा - भगवन्! पौरुषी का प्रत्याख्यान मुझे करवाइये। मुनि ने भी कालमान को जानने की इच्छा से ऊपर देखकर निशा जानकर उससे कहा - भद्रे! क्या रात्रि हो गयी है? उसने कहा - क्या रात्रि में भी मुनि भिक्षा के लिए भ्रमण करें? तब जाग्रत होते हुए मुनि कुंजर लज्जित हुए। उन्होंने कहा - भद्रे! तुमने मुझे अच्छा चेताया। छलना आदि के द्वारा शायद मेरा व्रत भी भंग हो जाता। अतः मैं इस अतिचार की गुरु के पास आलोचना करूँगा। तब शासन देवी ने अपने दिव्य रूप को प्रकाशित करके श्रेयसी भक्ति से मार्ग पर आये हुए मुनि को वन्दना की। फिर नमन करके कहा - मेरे द्वारा आपके बोध के लिए ही यह सब किया गया। इस प्रकार कहकर क्षणमात्र में ही देवी अदृश्य हो गयी। साधु ने भी गुरु के पास जाकर अपनी शुद्धि के लिए प्रायश्चित ग्रहण किया।

इष्ट प्राप्त करने के लिए यह लोभ पिण्ड अनर्थ देने वाला है। कितने मुनियों को प्रबोध देने के लिए शासन देवता आयेंगे? अतः साधु द्वारा मन से भी लोभ पिण्ड का चिन्तन नहीं करना चाहिए, बल्कि उससे दूर ही रहना चाहिए।

यह लोभपिण्ड की कथा पूर्ण हुई। इस प्रकार चारों कथाएँ पूर्ण हुई।

११. *दान के पूर्व या पश्चात्, दाता की स्तुति से, संस्तव से, स्वजन के सम्बन्ध घटित करने से (पूर्व के जननी-जनक आदि संबंध एवं पश्चात् के सास-ससुर आदि संबंध यहाँ घटित नहीं होते) जो आहार प्राप्त हो, वह पूर्वपश्चात् संस्तव पिण्ड है।*
१२. *होमादि से साध्य विद्या, मन्त्र, चूर्ण आदि से प्राप्त पिण्ड विद्यापिण्ड कहलाता है।*
१३. *पाठ सिद्ध मन्त्र आदि से प्राप्त पिण्ड मंत्र पिण्ड है।*
१४. *चूर्ण, मञ्जन आदि से प्राप्त पिण्ड चूर्ण पिण्ड है।*
१५. *पाँवों में लेपन आदि विधि द्वारा पिण्ड प्राप्त करना योग पिण्ड है।*
१६. *यति को गर्भस्तम्भ, गर्भाधान आदि द्वारा आहार प्राप्त करना मूल दोष है। इससे मूल प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।*

उत्पादना के सोलह दोष बतायें।।८-९।।१२२-१२३।।

अब एषणा के दोषों को बताते हैं -

संकिय मक्खिय निक्खित्त पिहिय साहरिय दायगुम्मीसेय ।
अपरिणय लित्त छड्डिय एसणदोसा दस हवंति ।।१०।। (१२४)

इनका भावार्थ इस प्रकार है -

१. आधाकर्म आदि की शंका से आहार लेना शंकित दोष है।

२. सचित्त पृथ्वी आदि से हाथ खरड़े हुए हो उसके द्वारा दिये जाते समय आहार लेना म्रक्षित दोष है।

३. पृथ्वीकाय आदि पर रखा हुआ आहार लेना निक्षिप्त दोष है।

४. सचित्त फल आदि से ढका आहार लेना पिहित दोष है।

५. दान-पात्र, अयोग्य आहार, सचित्त पृथ्वी आदि पर रखकर उसी पात्र से दिया हुआ दान संहत दोष युक्त है।

६. अन्धे आदि अयोग्य दायकों से आहार लेना साधुओं के लिए अकल्पनीय होने से दायक दोष है।

७. सचित्त से मिश्र आहार लेना उन्मिश्र दोष है।

८. जो सम्यक् प्रकार से अचित्त न हुआ हो, शस्त्र अपरिणत हो, वह अपरिणत दोष है।

९. दही आदि का लेप वाला आहार लेना - लिप्त दोष है। यह बिना कारण ग्रहण नहीं करना चाहिए।

क्योंकि कहा भी है -

घित्तव्यमलेवकडं लेवकडेमाहु पच्छकम्माई ।
नय रसगेहि पसंगो न य भुत्ते बंधपीडा य ॥१॥

अर्थात् बिना लेप किया हुआ आहार ही ग्रहण करना चाहिए। लेप युक्त आहार में पश्चात् कर्म की संभावना है। लेपरहित आहार लेने से रस-गृद्धि का प्रसंग नहीं होगा और, न ही ब्रह्म पिड़ा होगी। यहाँ पश्चात् कर्म का मतलब यह है कि लेप वाला आहार लेने पर बाद में हाथ धोना आदि क्रिया होगी। अतः अलेप वाला आहार ही गुणयुक्त है।

१०. घी आदि छाँटे गिराते हुए देवे तो छर्दित दोष लगता है।

ये एषणा के दस दोष गृहस्थ व साधु दोनों से लगते हैं। सभी मिलाकर बयालीस दोष होते हैं। इन दोषों से रहित विशुद्ध पिण्ड ही ग्रहण करना चाहिए।॥१०॥१२४॥

उस विशुद्धि के विषय में विशेष रूप से कहते हैं -

एयदोसविमुक्को जईणं पिंडो जिणेहिं णुन्नाओ ।
सेसकिरियाठियाणं एसो पुण तत्तओ नेओ ॥११॥ (१२५)

इतने दोषों से विवर्जित मुनियों का पिण्ड तीर्थंकरों द्वारा आज्ञापित है। पिण्ड शुद्धि उत्तर गुण रूप होने से इसके क्रिया में स्थित मूल गुण का व्यापार अनुष्ठायी है। पुनः यह परमार्थ से ज्ञेय है क्योंकि मूल के अभाव में उत्तर अकिंचित्कर होता है॥११॥१२५॥

गृहस्थ द्वारा आधाकर्मी आहार भक्तिपूर्वक बनाये जाने पर ग्रहण करते हुए शुद्ध साधु के तीन दोष होते हैं। वे कौन से दोष है - इसी को बताते हैं -

जस्सट्ठा आहारो आरंभो तस्स होइ नियमेण ।
आरंभे पाणिवहो पाणिवहे होइ वयभंगो ॥१२॥ (१२६)

जिसके लिए आहार का आरम्भ होता है, उसके आरंभ में नियम से प्राणिवध होता है और प्राणिवध में व्रत भंग होता है।

भावार्थ यह है कि यद्यपि साधु को पकाना आदि व्यापार नहीं है, फिर भी मेरे लिए यह निष्पन्न है - यह जानते हुए भी निःशंक होकर भोगते हुए अनुमति के संभव से दोष होता है॥१२॥१२६॥

इस प्रकार उपदिष्ट होने पर भी जो आधाकर्म भोजी है, उसके महादोष को बताते हैं -

भुंजइ आहाकम्मं सम्मं न य जो पडिक्कमइ लुद्धो ।
सव्वजिणाणाविमुहस्स तस्स आराहणा नत्थि ॥१३॥ (१२७)

आधाकर्मी आहार का भोग करने के उपरान्त सम्यग् भाव शुद्धि से आलोचनापूर्वक जो प्रतिक्रमण नहीं करता है, न ही उस भोजन से निवर्तित होता है वह लुब्ध है। सर्व जिनेश्वरों की आज्ञा से विमुख होने से उसकी आराधना परलोक की साधक नहीं है॥१३॥१२६॥

यदि ऐसा है, तो आगम में दुर्भिक्ष आदि होने पर आधाकर्मी आहार की आज्ञा कैसे दी गयी है, इसे बताते हैं-

संथरणम्मि असुद्धं दुण्ह वि गिण्हंत दिंतयाण हियं ।
आउरदिट्ठंतेणं तं चेव हियं असंथरणे ॥१४॥ (१२८)

प्रासुक एषणीय आहारादि से निर्वाह हो रहा हो उस समय अशुद्ध आहार देनेवाले एवं लेनेवाले दोनों का अहित है। एवं निर्वाह न होने के समय रोगी के दृष्टांत से दोनों के लिए हितकर है।

इसका कारण देश काल आदि की अपेक्षा है। कहा गया है -

सव्वत्थ संजमं संजमाउ, अप्पाणमेव रक्खिज्जा ।
मुच्चइ अइवायाओ पुणो विसोही न वाऽविरइ ॥ (ओघ नि. गा. ४७)
काहं अच्छित्ति अदुवा अहीहं, तवोवहाणेसु अणुज्जमिस्सं ।
गणं च नीइसु य सारइस्सं, सालंबसेवी समुवेइ मुक्खं ॥ (प्रव. सा. गा. ७७९)
न वि किंचि अणुन्नायं पडिसिद्धं वा वि जिणवरिंदेहिं ।
एसा तेसिं [तित्थगराणं] आणाकज्जे सव्वेण होअव्वं ॥ (पंचवस्तु गा. २४०)

सर्वत्र संयम की रक्षा मुनि, आत्मा की तरह करे। प्राणीहिंसा का त्याग करे क्योंकि अविरति की विशुद्धि नहीं है। मैं शासन को अविच्छिन्न करूंगा। अध्ययन करूंगा, तपश्चर्यादि से उज्ज्वल बनूंगा, गच्छ का नीतिपूर्वक पालन करूंगा। इस प्रकार के आलंबन सेवी मोक्ष को पाते हैं।

जिनेश्वरों ने किसी के लिए एकांत निषेध या एकांत विधान नहीं किया है। उनकी उतनी ही आज्ञा है कि सरल बनना और दंभ से असत्य आलंबन न लेना॥१४॥१२८॥

अनेषणीय के परिभोग से अनिर्वाहित भी हित के लिए कहा गया है, वह क्या जैसे-तैसे है? तो नहीं है, यह कहते हैं -

फासुअएसणीएहिं फासुअओहासिएहिं कीएहिं ।
पूईइ मीसएण य आहाकम्मेण जयणाए ॥१५॥ (१२९)

आधाकर्मी आदि दोषों से रहित प्रासुक एषणीय आहार ग्रहण करना चाहिए। वह न मिलने पर प्रासुक आहार कहा गया है। प्रासुक की याचना में अलाभ होने पर क्रीत लाये। क्रीत नहीं मिले तो पूतिकर्म से दूषित आहार लाये। वह भी न मिले तो मिश्रजात दोष से दूषित आहार ग्रहण करे। वह भी न मिले तो आधाकर्मी दोष सहित ग्रहण करके शरीर की अवधारणा करनी चाहिए। गाढ़ प्रयोजन न होने पर यतना पूर्वक समस्त क्षेत्र में तीन बार परिभ्रमण करके पूर्व-पूर्व का अलाभ होने पर उत्तर-उत्तर को ग्रहण करे। गाढ़ प्रयोजन होने पर तो सहसा ही आधाकर्मी आहार भी ग्राह्य है॥१५॥१२९॥

यहाँ शंका होती है कि पूर्व में तो आधाकर्मी आहार के भोग में आज्ञा-भंग कहा गया है और अब आज्ञा दी

गयी है। यह परस्पर विरुद्ध है। तो, इसी को बताते हैं -

उस्सग्गेण निसिद्धाणि जाणि दव्वाणि संथरे जइणो ।
कारणजाए जाए अववाए ताणि कप्पंति ॥१६॥ (१३०)

संस्तरण आदि द्रव्यों को आधाकर्मी आदि दोष युक्त ग्रहण करना उत्सर्ग मार्ग में निषिद्ध है। अपवाद मार्ग में अर्थात् ग्लानत्व आदि कारणों का समूह होने से तो वह कल्पता है॥१६॥१३०॥

अब अपवाद का क्या स्वरूप है? इसी को बताते हैं -

पुढवाइसु आसेवा उप्पन्ने कारणंमि जयणाए ।
मिगरहियस्स ठियस्सा अववाओ होइ नायव्वो ॥१७॥ (१३१)

ग्लानता आदि कारण होने पर पृथ्वीकाय आदि में यतना पूर्वक गुरुदोष के त्याग तथा अल्प दोष के आदान रूप होने से परिभोग करना अपवाद मार्ग जानना चाहिए। किसका? इसका उत्तर देते हुए कहते है कि मूल - उत्तर गुण में स्थित साधु का - यह जानना चाहिए।

किसकी तरह? मृग की तरह अज्ञान की साम्यता होने से अगीतार्थ होते हैं। उनसे रहित यानि गीतार्थ। क्योंकि अगीतार्थ साधु उस आसेवा को देखकर, अति प्रसंग देखकर धर्म भ्रष्ट होते हैं॥१७॥१३१॥

अब उत्सर्ग व अपवाद के बहुत से विषय का परिज्ञान कराने के लिए उपदेश को कहते हैं -

बहुवित्थरमुस्सग्गं बहुविहमववाय वित्थरं नाउं ।
लंघेऊणुत्तविहिं बहुगुणजुत्तं करिज्जाहि ॥१८॥ (१३२)

बहुत विस्तार वाला उत्सर्ग है और बहुविध विस्तारवाला अपवाद जानना चाहिए। उक्त विधि को लाँघकर कार्य की उपस्थिति में बहुगुण युक्त गीतार्थ जो करते हैं, वही प्रमाण कहा गया है।

कहा भी है -

अवलम्बिऊण कज्जं जं किंची आयरन्ति गीयत्था ।
थोवावराहबहुगुणं सव्वेसिं तं पमाणं तु ॥ १॥ (धर्मरत्न प्र. ८५ पंचवस्तु २७९)

अर्थात् कार्य का अवलम्बन लेकर गीतार्थ जो कुछ भी आचरण करते हैं, वह थोड़े अपराध तथा बहुत गुणों से युक्त होने से प्रमाण है। इस प्रकार पिण्ड विचार कहा गया॥१८॥१३२॥

अब शय्या की शुद्धि को कहते हैं -

मूलुत्तरगुणसुद्धं थीपसुपंडगविवज्जियं वसहिं ।
सेविज्ज सव्वकालं विवज्जए हुंति दोसा उ ॥१९॥ (१३३)

जिसके पीठ, वंशमूल, स्तम्भ आदि साधु के लिए न किये गयें हो - वह मूल गुण विशुद्ध है और जिस के छादन लेपन आदि साधु के लिए न किये गये हो - वह उत्तर गुण विशुद्ध है। ऐसे मूल व उत्तर गुण से शुद्ध, स्त्री-पशु-पंड़ग रहित वसति अर्थात् उपाश्रय का सेवन सर्वकाल में करे। इसके विवर्जन में तो दोष है॥१९॥१३३॥

अब वसति शुद्धि को कहते हैं -

पिट्ठीवंसो दोधार-णाओ चत्तारि मूलवेलीओ ।
मूलगुणे हुववेया एसा उ अहागडा वसही ॥२०॥ (१३४)

पृष्ठ भाग वंश मूल दो पृथ्वी पर स्थित हो चार मूल किनारे हों - ऐसी मूलगुण से युक्त यथाकृत वसति होती है।

इस गाथा की विस्तृत व्याख्या इस प्रकार है -

एक पृष्टि वंश भौमिक होता है, जो लोक में प्रसिद्ध है। वह दो पृथ्वी पर प्रतिष्ठित होता है। उसके चार किनारे चारों कोनों पर रखे जाते हैं। इस प्रकार ये सातों भी मूलगुण है। ये साधु के लिए बनाये गये हों, तो वह वसति आधाकर्मी है। उत्तर गुण दो प्रकार के हैं - मूल-उत्तर गुण तथा उत्तरोत्तर गुण। मूलउत्तर गुण तो सात प्रकार के हैं -

१. दण्डक (लकड़ी),
२. कट्य आदि,
३. उक्कंवण अर्थात् दण्डक के ऊपर रहा हुआ ऊँचा उड़ने वाला,
४. छादन अर्थात् दर्भादि से आच्छादित करना,
५. लेपन अर्थात् चारों तरफ से भींत को लीपना,
६. दुपार अर्थात् घर का द्वार बड़ा करना अथवा अन्य विधान करना।
७. भूमि अर्थात् भूमिकर्म। विषम भूमि को सम करना - ये परिकर्म मूलगुण उत्तर गुण में रहते हैं।

ये पृष्टिवंश आदि चौदह ही अविशुद्ध कोटि में आते हैं। उत्तरोत्तर गुण विशुद्ध कोटि में रहते हुए वसति के उपघात कारक होते हैं। वे इस प्रकार हैं -

१. दुमिय अर्थात् पिच्छि से प्रमार्जित करना,
२. धूविय अर्थात् दुर्गन्ध होने से अगुरु आदि धूप करना,
३. वासिता अर्थात् कुसुमादि द्वारा पुटवास देना,
४. उद्यतिता अर्थात् रत्न, प्रदीप आदि से प्रकाशित करना।
५. वलिकड अर्थात् क्रूर कार्य से बलि आदि का विधान करना,
६. अवत्तत्ति अर्थात् गोबर, मिट्टी तथा जल से भूमि को उपलिप्त करना,
७. सिक्ता अर्थात् केवल पानी से भूमि को गीला करना।
८. समृष्य अर्थात् प्रमार्जित करना।

यह सर्वत्र साधु के लिए प्रक्रमिक है।

विशुद्ध कोटि में रहा हुआ अविशुद्ध कोटि में नहीं रहता है। इसी अनुसार से चारों शाल आदि में भी मूल गुण-उत्तरगुण का विभाग जानना चाहिए। यतियों का विहार प्रायः गाँवों में ही होता है। वहाँ इस प्रकार की वसति का असम्भव होने से साक्षात् नहीं कहा गया है। वसति के और भी दोष हैं जो इस प्रकार हैं -

कालाइक्कंतुवटाणा अभिकंत मणभिकंताय ।
वज्जाय महावज्जाय सावज्ज मह अप्पकिरिया य ॥

१. कालइक्कंतु अर्थात् एक मास अथवा चातुर्मास का कल्प पूर्ण हो जाने पर भी वहीं रहना कालातिक्रान्तता है।
२. उवटाणा अर्थात् मासकल्प अथवा वर्षाकाल के पूर्ण हो जाने पर अन्यत्र विहार करके क्रमशः दो मास अथवा आठ मास पूरा करके उसी में जाना उपस्थापना होती है।
३. अभिक्रंताय अर्थात् भिक्षुकों के लिए बने हुए नित्य चरक, पाखण्डी या गृहस्थ आदि द्वारा सेवन करने के बाद ग्रहण करना अभिक्रांत दोष है।
४. उनके बिना सेवन किये ग्रहण करना अनभिक्रान्त दोष है।
५. अपने लिए बनाया हुआ। साधुओं को देकर स्वयं अन्य को करते हुए वर्ज्या दोष होता है। कहा भी है-

अत्तट्ठ कडं दाउं जईणमन्नं करेइ वज्जाउ। जम्हा तं पुव्वकडं वज्जेइ तुओ भवे वज्जा ।

६. महावज्जा अर्थात् श्रमण, ब्राह्मण, पाखण्डी आदि के लिए किया गया महावर्ज्या है।

७. निर्ग्रन्थ आदि पाँच श्रमणों के लिए बनाया गया सावद्या है।

८. जैन मुनियों के लिए किया गया महासावद्या है। कहा भी है -

पासंडकारणा खलु आरंभो अहिणवो महावज्जा समणट्ठा सावज्जा मह सावज्जा य साहूणं ।।

९. ऊपर कहे हुए समस्त दोषों से वर्जित अपने लिये या जिनबिम्ब की प्रतिष्ठा के लिए जो करायी जाती है, वह अल्प क्रिया शुद्ध है। यह दोष पद्धति पढ़ी हुई होने पर भी अल्प गुण शब्द के अभाववाचक होने से कहा गया है।

स्त्री वर्जित अर्थात् जहाँ स्त्रियाँ परस्पर कथा आदि के द्वारा स्थान को दुःषित न करती हो अथवा जिस वसति में रहते हुए स्त्रियों की ध्वनि न सुनी जाती हो। और वे भी साधु के स्वाध्याय की मधुर ध्वनि न सुन पाती हो ऐसे स्थान पर मुनि को रहना कल्पता है। यहाँ पर भी गाथा इस प्रकार है -

थी वज्जियं वियाणह इत्थीणं जत्था ठाणरुवाइ। सद्दा य न सुयंति तावि य तेसिं न पेच्छंति।।

ताणं चेट्ठंति जहिं मिहो कहाइहिं न वरमित्थीओ। ठाणे नियमारुवं सिय सद्दो जेण तो वज्जे ।।२।।

इन गाथाओं का भावार्थ पूर्व में बताया जा चुका है। कदाचित् विप्रकृष्ट शब्द न भी होवे। यहाँ पर स्यात् शब्द से चलना, ठहरना, क्रीड़ा करना, विलासयुक्त होकर देखना, बहुत प्रकार के श्रृंगार में देखने के लिए भुक्त इतर दोष है। यह भुक्त इतर का मतलब भोग भोगे हुए के लिए स्मृति व नही भोगे हुए के लिए कुतूहल आदि से दोष लगता है।

श्लेष्म, मैल आदि गन्दगी तथा लावण्य श्री देह में ही आश्रित है। श्रमण भी गृहस्थ से शतगुणा रूपवान होते हैं। गीत गाते, पढ़ते हुए, हंसते हुए, मंजुल कथन करते हुए इस प्रकार भूषित शब्दों को एकान्त में सुनने से दोष होता है। गंभीर, मधुर, स्फुट व विषय - ग्राहक सुस्वर, स्वाध्याय में रत मुनि के शांत मन में भी मनहारी गायक द्वारा वासना जगा देते हैं।

पशु वर्जित अर्थात् गाय, गधी, घोड़ी आदि पशु-स्त्री रहित तथा पण्डक रहित यानि नपुंसक रहित स्थान में रहे, अन्यथा दोष लगता है और वे दोष व्यक्त है। मूल तथा उत्तर गुण से अशुद्ध आधाकर्मी आदि तथा स्त्री आदि सहित स्थान में ब्रह्मचर्य की अगुप्ति होती है। जिसे कहते हैं -

ब्रह्मचर्य की अगुप्ति होती है, लज्जा का नाश होता है, प्रीति की वृद्धि होती है। अतः तपोवन वासी साधु को तीर्थ हानि का निवारण करना चाहिए।

बार-बार परस्पर देखने से लज्जा का नाश होता है। आश्वासन आदि कथा द्वारा नित्य आलाप होता है। साधु का तप वनवास में है, लोक में तीर्थ हानि होती है क्योंकि लोक में इसकी प्रवृत्ति नहीं है।

पशु पण्डक आदि सहित स्थान भोगने से चित्त क्षोभ अभिघात आदि होते हैं। कहा भी है -

पसुपंडगेसु वि इहं मोहानलदीवायाण जं होइ ।

पायमसुहा पवित्ती पुव्वभवब्भासओ तहया ।।१।।

पशु पंडक सहित स्थान में मोह रूपी अग्नि प्रदीप्त होती है। उससे पूर्व भव के अभ्यास से अशुभ प्रवृत्ति प्राप्त होती है। अज्ञान आदि दोष तो सर्वत्र समान ही है। अतः उक्त दोषों से वर्जित वसति का ही सेवन करना चाहिए। कहा भी है -

तम्हा जहुत्तदोसेहिं वज्जियं निम्ममो निरासंसो ।
वसहिं सेविज्ज जई विवज्जए याणईणित्ति ॥१॥

इस कारण निर्ममत्वी, निःकांक्षा से यथोक्त दोषों से वर्जित वसति का साधु-साध्वी आदि सेवन करे।।२०।।१३४।।

वस्त्रशुद्धि का वर्णन -

जन्न तयट्ठा कीयं ने य युयं नेय गहियमन्नेसिं ।
आहड पामिच्चं यज्जिऊण तं कप्पए वत्थं ॥२१॥ (१३५)

जो उसके लिए प्रस्ताव पूर्वक साधु निमित्त न खरीदा हुआ हो, न बुना हुआ हो, न ही अन्य के पास से वस्त्र के बदले वस्त्र देकर बलपूर्वक अथवा छीनकर ग्रहण किया गया हो, वह वस्त्र यति को कल्पता है। आहत तथा प्रामित्य इन दो उद्गम के दोषों का उपलक्षण से यही अर्थ प्रतीत होता है।

अतः इन दोनों को छोड़कर यथासंभव पिण्ड के समान उद्गम, उत्पादन व एषणा के दोष यहाँ भी जानने चाहिए। जो क्रीत आदि दोष अलग से कहे गये हैं। उनका बाहुल्य इसी में ही संभव है। अतः विशेष रूप से कहा गया है।।२१।।१३५।।

अब पात्र शुद्धि को बतातें हैं -

तुंबय-दारुय-मट्टीपत्तं कम्माइदोसपरिमुक्कं ।
उत्तम-मज्झ-जहन्नं जईण भणियं जिणवरेहिं ॥२२॥ (१३६)[1]

कर्मादि दोष से परिमुक्त जघन्य मिट्टि के पात्र, मध्यम लकड़ी के पात्र तथा उत्कृष्ट तुंब के पात्र जिनेश्वरों ने यतियों के लिए बताये हैं।।२२।।१३६।।

अब चतुष्टय शुद्धि को समाप्त करते हुए, इन्हें करता हुआ साधु होता है, उसे कहते हैं -

एसा चउक्कसोही निद्दिट्ठा जिणवरेहिं सव्वेहिं ।
एयं जहसत्तीए कुणमाणो भन्नए साहु ॥२३॥ (१३७)

ये चार प्रकार की शुद्धि सभी जिनेश्वरों द्वारा निर्दिष्ट है। इनको यथाशक्ति करता हुआ साधु कहा जाता है।

जिसका आचरण करते हुए साधु होवे, उसे कहा गया।।२३।।१३७।।

अब जिसका आचरण करते हुए साधु नहीं होता, उसको कहतें हैं -

उद्दिट्ठकडं भुंजइ छक्कायपमद्दणो धरं कुणइ ।
पच्चक्खं च जलगए जो पियइ कहं नु सो साहू ॥२४॥ (१३८)
जे संकिलिट्ठचित्ता माइठाणंमि निच्चतल्लिच्छा ।
आजीविगभयघत्था मूढा नो साहुणो हुंति ॥२५॥ (१३९)

जो औद्देशिक भोजन करता है, उससे छः काय के प्रमर्दन को धारण करता है। प्रत्यक्ष जल में जाकर जो जल पीता है वह साधु कैसे हो सकता है।

जो संक्लिष्ट चित्तवाला नित्य दूसरों को ठगने का अभिलाषी है, वह आजीविका के भय से ग्रस्त मूढ़ साधु नहीं है।।२४-२५।।१३८-१३९।।

साधु-असाधु के स्वरूप को कहकर पुनः साधु के स्वतत्त्व को कहने के लिए उपदेश करते हैं -

सीलंगाण सहस्सा अट्ठारस जे जिणेहिं पन्नत्ता ।
जो ते धरेइ सम्मं गुरुबुद्धी तंमि कायव्वा ॥२६॥ (१४०)

1. वर्तमान में एल्युमिनियम के घड़े लाल रंग से रंगकर साथ रखनेवाले सोचें।

अट्ठारह हजार की शीलांग रथ धारा जिनेश्वर के द्वारा प्रज्ञप्त है। जो उसे सम्यक् प्रकार से धारण करता है, उसमें गुरु-बुद्धि करनी चाहिए।

यहाँ शील का मतलब विधि-निषेध रूप चारित्र से है। उसके अंश-अंग अट्ठारह हजार कहलाते हैं। उसकी निष्पत्ति इस प्रकार है -

करणे जोगे सन्ना इंदिय भोमाइ समणधम्मे य ।
सीलंगसहस्साणं अट्ठारसगस्स निप्फत्ती ॥१॥

करण, योग, संज्ञा, इन्द्रिय, पृथ्वी आदि दस एवं धर्म आदि दस इनको परस्पर गुणने से ये अट्ठारह हजार प्रकार के शीलांग होते हैं।

करण - करना, कराना तथा अनुमोदन रूप से तीन प्रकार का है।

योग- मन, वचन तथा काया रूप से तीन प्रकार का है।

संज्ञा - आहार, भय, मैथन व परिग्रह रूप से चार प्रकार की है।

इन्द्रियाँ - श्रोतेन्द्रिय, चक्षुइन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, स्पर्शनेन्द्रिय रूप से पाँच प्रकार की है।

भूमि आदि - पृथ्वी, अप्, तेउ, वायु, वनस्पति, बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय तथा अजीवरूप - ये दस पद हैं।

श्रमण धर्म - क्षान्ति, मार्दव, आर्जव, मुक्ति, तप, संयम, सत्य, शौच, आकिंचन्य, ब्रह्मचर्य रूप से दस प्रकार का है।

इन सब के द्वारा अट्ठारह हजार शीलांग की निष्पति होती है। जैसे - आहार संज्ञा से संवृत्त, श्रोत्रेन्द्रिय के संवर द्वारा क्षान्ति संपन्न होकर पृथ्वीकाय के जीवों का मन से हनन नहीं करता। यह एक शीलांग हुआ।

इसी प्रकार मार्दव आदि पद के योग से पृथ्वीकाय के कथन द्वारा दस शीलांग रूप विकल्प हुए। इसी प्रकार अप्काय आदि के कथन द्वारा दस-दस कहते हुए सौ विकल्प होते हैं। यह श्रोत्रेन्द्रिय से बनें। इसी प्रकार चक्षु आदि पाँचों इन्द्रियों के पाँचसो, आहारादि चार प्रकार की संज्ञा द्वारा कहे जाने पर दो हजार विकल्प होते हैं। ये दो हजार विकल्प मन, वचन, काया रूप तीन प्रकार से कहे जाने पर छः हजार विकल्प होते हैं। ये छः हजार विकल्प स्वयं करना, दूसरों से करवाना तथा करते हुए का अनुमोदन न करने रूप से अट्ठारह हजार विकल्प प्राप्त होते हैं।।२६।।१४०।। इसलिए-

ऊणत्तं न कयाइ वि इमाण संखं इमं तु अहगिच्च ।
जं एयधरा सुत्ते निद्दिट्ठा वंदणिज्जाउ ॥२७॥ (१४१)

इन अट्ठारह हजार की संख्या को अधिकार करके कदाचिद् भी दुःषम आदि काल में भी एक आदि गुण से भी हीन नहीं होना चाहिए। जो सूत्र रूप प्रतिक्रमण में अठारह हजार शीलांग कहे गये हैं, उन्हें धारण करने वाले यति को ही वंदन करना चाहिए।।२७।।१४१।।

इस प्रकार अर्थ कह दिया गया है। अब कुछ विशिष्ट अर्थ को कहते हैं -

पंचविहायाररओ अट्ठारसहस्सगुणगणोवेओ ।
एस गुरु मह सुन्दर भणिओ कम्मट्ठमहणेहिं ॥२८॥ (१४२)

अट्ठारह हजार शीलांग गुणों के समूह से युक्त, ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तप, वीर्य रूपी आचार में रत, अष्टकर्म की अल्पता से युक्त ऐसे सुन्दर मेरे गुरु कहे गये हैं।।२८।।१४२।।

इस प्रकार साधु के स्वरूप को कहकर अब ३६ गुणों के द्वारा आचार्य के गुणों का वर्णन करने के लिए

गाथा- समूह कहते हैं - प्रथम प्रकार से ३६ गुण -

अट्ठविहा गणिसंपय चउग्गुणा नवरिं हुंति बत्तीसं ।
विणओ य चउब्भेओ छत्तीस गुणा इमे तस्स ॥२९॥ (१४३)

गच्छ रूपी गण जिसका होता है, वह गणी अर्थात् आचार्य है। उसकी संपत्ति समृद्धि आठ प्रकार की है - आचार, श्रुत, शरीर, वचन, वाचना, मति, प्रयोग मति, संग्रह - परिज्ञा। एक-एक को चार गुणों से इनको गुणित करने पर बत्तीस भेद होते हैं। और विनय के चार भेद मिलाने से छत्तीस गुण गुरु के कहे गये हैं।

आचार-अनुष्ठान रूप संपत्ति चार प्रकार की है जैसे - १. चारित्र में नित्य समाधियुक्त रहना। २. आत्मा का जाति आदि के अभिमान रूप आग्रह का वर्जन करना। ३. अनियत विहार करना। ४. शरीर व मन की निर्विकारता।

इसी प्रकार श्रुत सम्पदा भी चार प्रकार की है - १. बहुश्रुतता अर्थात् युग प्रधान रूप से जाने जाना। २. परिचित सूत्रता अर्थात् क्रम से या उत्क्रम से वाचना आदि द्वारा सूत्र में स्थिरता होना। ३. विचित्र सूत्रता - अपने सिद्धान्त आदि के भेद का ज्ञान होना। ४. घोष विशुद्धि करना अर्थात् उदात्त-अवदात्त आदि के विज्ञान द्वारा वाणी के घोष की विशुद्धि को जानना।

शरीर सम्पदा भी चार प्रकार की है - १. आरोह - परिमाण युक्तता - उचित दीर्घता आदि विस्तार होना। २. अनवत्रप्यता-अलज्जालु अंग होना। ३. परिपूर्णइन्द्रियता - अनुपहत चक्षु आदि इन्द्रिय होना। ४. स्थिरसंहननता - तप आदि में शक्ति युक्त होना।

वचन संपदा भी चार प्रकार की है - १. वचन की आदेयता होना। २. वचन की मधुरता होना। ३. वचन की मध्यस्थता होना ४. वचन असंदिग्ध होना।

वाचना संपदा भी चार प्रकार की है - १. विदित्व उद्देशनम् - शिष्य के पारिणामिक आदि रूप को जानकर सूत्र दान करना। २. विदित्वा समुद्देशनम् - शिष्य को सम्यग् उद्देश्यपूर्वक कहना। ३. परिनिर्वाप्य वाचना - पूर्व में दिये हुए ज्ञान को आलाप आदि द्वारा शिष्य को ज्ञान कराकर पुनः सूत्रदान करना। ४. अर्थनिर्यापणा - अर्थ का पूर्वापर संगति से ज्ञान कराना।

मति-संपदा भी चार प्रकार की है - १. अवग्रह, २. इहा, ३. अपाय, ४. धारणा।

प्रयोगमति संपदा अर्थात् वादमुद्रा भी चार प्रकार की है - १. आत्मपरिज्ञानम् - वाद आदि सामर्थ्य के विषय में खुद का परिज्ञान होना। २. पुरुष परिज्ञानम् - क्या यह वादी सांख्य है या बौद्ध है? ऐसा ज्ञान होना। ३. क्षेत्र-परिज्ञान- क्या यहाँ माया की बहुलता है? साधुसे भावित है या अभावित? इस प्रकार का क्षेत्र परिज्ञान होना। ४. वस्तुज्ञानम् - क्या यह राजा है, अमात्य है, सभ्य है, भद्र है या अभद्र है?

संग्रह परिज्ञा-अर्थात् संग्रह-स्वीकार करना, परिज्ञा-अष्टमी, चतुर्दशी, पूर्णिमा, अमावस्या आदि का ज्ञान। या पीठ फलकादि विषयवाली चार प्रकार की।

१. पीठ - फलकादि द्रव्य के विषय में, २. बाल- अज्ञानी आदि योग्य क्षेत्र के विषय में, ३. यथा समय स्वाध्याय- भिक्षा आदि के विषय में, ४. यथोचित विनय आदि के विषय में।

विनय के चार भेद हैं, वे इस प्रकार है -

आयारे सूयविणए विक्खिणे चेव होइ बोद्धव्वे ।
दोसस्स य निग्घाए विणए चउहेस पडिवत्ती ॥१॥ (प्रव. सा. गा. ५४६)

आचार विनय, सूत्र विनय, विक्षेपण विनय तथा दोष-निर्घात विषयक विनय - ये चार प्रकार के विनय जानने चाहिए।

इसमें आचार विनय के पुनः चार भेद हैं - संयम-समाचारी, तप समाचारी, गण समाचारी तथा एकाकीविहार समाचारी।

पृथ्वीकाय की रक्षा आदि सतरह संयम स्थानों में करना, कराना तथा करते हुए को स्थिर करना - इस प्रकार की यतना की वृद्धि करना संयम समाचारी है।

पाक्षिक, अष्टमी, चतुर्दशी आदि में बारह प्रकार के तप में स्व-पर का व्यापार करना, करवाना तप समाचारी है। यहाँ पाक्षिक शब्द टीकाकार के पौर्णमिक गच्छ का सूचक है।

प्रत्युपेक्षणादि में बाल, ग्लान आदि वैयावृत्य के स्थानों में, विषाद प्राप्त गण के प्रवर्त्तन आदि में स्वयं उद्यमवान् स्वभाव वाला होना गण समाचारी है।

एकाकी विहार प्रतिमा को स्वयं अंगीकार करना तथा दूसरों से करवाना एकाकी विहार समाचारी है।

श्रुत विनय भी चार प्रकार का है - १. सूत्र ग्रहण करना, २. अर्थ का श्रवण करवाना, ३. हितकारी वाचना देना, ४. संपूर्ण वाचना देना। यहाँ हित का अर्थ योग्यतानुसार है। निःशेष अर्थात् अपरिसमाप्ति तक वाचना देना।

विक्षेपण विनय भी चार प्रकार का है - १. मिथ्यात्व विक्षेपण से मिथ्यादृष्टि की स्व सिद्धान्त में स्थापना करना। २. सम्यग् दृष्टि का तो आरम्भ विक्षेपण से चारित्र-अध्यासन करवाना। ३. धर्म से च्युत की धर्म में स्थापना करना। ४. चारित्र स्वीकार करने के बाद स्व अथवा पर को अनेषणीय आदि दोषों से निवारित कर हित के लिए अभ्युत्थान करना- यह लक्षण है।

दोषनिर्घात विषय विनय भी चार प्रकार का है - १. क्रुध का क्रोध हटाना। २. दूषित विषय आदि दोषवान् के दोषों को हटाना। ३. पर-सिद्धान्त में कांक्षा रखने वाले की कांक्षा का छेद करना। ४. उक्त दोषों से रहित आत्मा का स्वतः प्रणिधान करना।

इस प्रकार स्वयं को तथा पर को विनय की ओर ले जाना विनय है - यह दिशामात्र सूचन है। विशेष रूप से तो व्यवहार-भाष्य आदि से जानना चाहिए। ये सभी मिलकर छत्तीस गुण गणी के होते हैं॥२९॥१४३॥

तथा - द्वितीय ३६ गुण

दयछक्काई अट्ठारसेव आयारवाइ अट्ठेव।
पायच्छित्तं दसहा सूरिगुणा हुंति छत्तीसं ॥३०॥ (१४४)

व्रत षट्क आदि अठारह पूर्व में कहे गये हैं। आचारत्व आदि आठ तथा अपराध होने पर सम्यक् प्रायश्चित का ज्ञान आदि दस प्रकार का है। इस प्रकार ये छत्तीस गुण आचार्य के कहे गये हैं। यहाँ भावप्रत्यय का लोप होने से आचारत्व आदि आठ ही कहे गये हैं।

वे इस प्रकार हैं -

आयारव-मवहारव-ववहारु-व्वीलए-पकुव्वी य ।
निज्जव-अवायदंसी-अपरिस्सावी य बोधव्वे ॥१॥

इनका अर्थ इस प्रकार है - आचारवान् - पाँच प्रकार के आचार से तथा ज्ञान-आसेवा से युक्त यह गुण रूप से श्रद्धेय वाक्य होता है।

अवधार - आलोचक द्वारा कहे हुए अपराधों का अवधारण करना। क्योंकि वही सभी अपराधों में यथावत् शुद्धि-दान में समर्थ होता है।

व्यवहारवान् - आगम, श्रुत, आज्ञा, धारणा व जीत लक्षण वाला पाँच प्रकार का व्यवहार अभिन्न रूप से कहा गया है। वह भी यथावत् शुद्धि करने में समर्थ है।

व्वीलए - लज्जा आदि से अतिचारों को छिपाते हुए को उपदेश विशेष से विगत - लज्जा वाला बनाना। क्योंकि वह आलोचक का अत्यन्त उपकारक होता है।

पकुव्वी - आलोचित को प्रकर्ष प्रायश्चित्त देकर शुद्धि करवाता है। ऐसे स्वभाव वाला होने से प्रकुर्वी कहा जाता है।

निज्जव - निर्यापक अर्थात् आलोचक जैसा निर्वहन कर सकता है, वैसा ही प्रायश्चित्त करवाता है।

अवायदंसी - सातिचारवालों को दुर्लभ बोधी आदि अपायों को दर्शाने ने अपायदर्शी है।

अपरिस्सावी - आलोचक के कहे हुए अकृत्य को अन्य को नहीं बताने से वह अपरिस्सावी होता है।

इन गुणों से रहित आलोचना देनेवाला आलोचको को लाघवकारी बनानेवाला जानना चाहिए।

इस तरह का प्रायश्चित्त इस प्रकार है -

आलोयणपडिक्कमणे मीसाविवेगे तहा वि उसग्गे ।

तवछेयमूलअट्ठयाय पारंचिए चेव ॥१॥ (पञ्चाशक १६ गाथा. २ - ओघ. नि. गा. १४ १८)

आलोचना, प्रतिक्रमण, मिश्र, विवेक, काउसग्ग, तप, छेद, मूल, अर्थजात, पाराञ्चिक ये प्रायश्चित के दस भेद है।।३०।।१४४।।

ये सभी मिलकर आचार्य के ३६ गुण होते हैं। तथा - तृतीय ३६ गुण

आयाराई अट्ठ उ तह चेव य दसविहो य ठिइकप्पो ।
बारस तव छावस्सग सूरिगुणा हुंति छत्तीसं ॥ ३१॥ (१४५)

आचारादि सम्पदा आठ प्रकार की (जो पहले कही जा चुकी है), तथा दस प्रकार का स्थितकल्प, बारह प्रकार का तप, छः आवश्यक - ये छत्तीस गुण भी आचार्य के होते हैं। दस प्रकार का स्थितकल्प इस प्रकार है-

आचेलक्कुद्देसिय-सिज्जायर-रायपिंड-किइकम्मे ।
वयजिट्ठ पडिक्कमणे मासं पज्जोसवणकप्पे ॥

अचेलक, उद्देशक, शय्यातर, राजपिंड, कृतिकर्म, व्रत, ज्येष्ठ, प्रतिक्रमण, मासकल्प तथा पर्युषणा - ये दस प्रकार के स्थिती कल्प है।।३१।।१४५।।

तथा - चतुर्थ ३६ गुण

विगहा कसाय सन्ना पिंडो उवसग्गइंदियाण सामइयं ।
भासा धम्मो ए ए सूरिगुणा हुंति छत्तीसं ॥३२॥ (१४६)

विकथा चार प्रकार की है - स्त्री कथा, भक्त कथा, देश कथा तथा राज कथा।

संज्ञा भी चार है - आहार संज्ञा, भय संज्ञा, मैथुन संज्ञा तथा परिग्रह संज्ञा।

पिंड चार प्रकार का है - आहार, शय्या, वस्त्र और पात्र।

उपसर्ग - देव, मनुष्य, तिर्यंच द्वारा तथा आत्म-संवेदनीय रूप। यहाँ आत्म संवेदना का मतलब सिर-पेर आदि को पीड़ा पहुँचाने के समय की स्खलना होना है।

ध्यान - आर्त्त ध्यान, रौद्र ध्यान, धर्म ध्यान, शुक्ल ध्यान।

सामायिक - सम्यक्त्व, श्रुत, देशविरति तथा सर्वविरति रूप सामायिक।

भाषा - सत्य भाषा, असत्य भाषा, मिश्र भाषा तथा व्यवहार भाषा। यहाँ सत्य का मतलब "आत्मा है" इत्यादि है। असत्य का अर्थ आत्मा नहीं है। मिश्र का अर्थ उभय रूप है। जैसे - नहीं जानते हुए भी "इस नगर में दस पुत्र मर गये" इस प्रकार बोलना। व्यवहार भाषा का अर्थ है - असत्य - अमृषा। जैसे आमन्त्रण अर्थ में

हे देवदत्त! आदि।

धर्म - दान, शील, तप व भावना युक्त।

ये विकथा आदि नौ के ही चार-चार भेद होने से ३६ भेद होते हैं। ये ३६ गुण भी आचार्य के होते हैं। यहाँ पर स्थित कल्प आदि के यथा संभव सम्यग् आसेवन के परिज्ञान रूप प्ररूपणा के परिहार के आचार्य के गुणत्व को जानना चाहिए॥३२॥१४६॥

तथा - पंचम ३६ गुण

पंच महव्वयजुत्तो पंचविहायारपालणुजुत्तो ।
पंचसमिओ तिगुत्तो छत्तीस गुणो गुरु होइ ॥३३॥ (१४७)

पाँच महाव्रत से युक्त, पाँच प्रकार के आचार के पालन में युक्त, पाँच समिति - तीन गुप्ति - इन अठारह गुणो को स्वयं करना तथा दूसरों से करवाना - इस प्रकार छत्तीस गुणवाले गुरु होते हैं॥३३॥१४७॥

अब अनुयोग-प्रवर्त्तन को आश्रित करके गुरु के छत्तीस गुणों को गाथा-चतुष्ट्य से कहते हैं। छट्ठे ३६ गुण-

देसकुल जाइरूवी संघयणी धीजुओ अणासंसी ।
अविकत्थणो अमाई थिरपरिवाडी गहिय वक्को ॥३४॥ (१४८)
जियपरिसो जियनिद्दो मज्झत्थो देशकालभावन्नू ।
आसन्नलद्धपइभो नाणाविहदेसभासन्नू ॥३५॥ (१४९)
पंचविहे आयारे जुत्तो सुत्तत्थतदुभयविहिन्नू ।
आहारणहेउकारणनयनिउणो गाहणाकुसलो ॥३६॥ (१५०)
ससमयपरसमयविऊ गंभीरो दित्तिमं सिरो सोमो ।
गुणसयकलिओ जुत्तो पवयणसारं परिकहेउं ॥ ३७॥ (१५१)

देश, कुल, जाति, रूप आदि से जो अतिशायी होते है, ऐसे गुरु के उन अतिशयों को बताया जाता है -

१. *देश - मध्यदेश (आर्यदेश) रूपी जन्मभूमि हो।*
२. *उनका पैतृक कुल इक्ष्वाकु आदि हो।*
३. *जाति - मातृपक्ष उन्नत हो।*
४. *रूप - अंग-उपांग आदि संपूर्ण हो।*
५. *संघयणी - विशिष्ट संहनन के धारी हो। वाचना आदि में थकान का अनुभव न हो।*
६. *धिजूओ - धृति युक्त हो अर्थात् धैर्यशाली हो।*
७. *अणासंसी - श्रोताओं आदि से वस्त्रादि के आकांक्षी न हो।*
८. *अविकत्थणो - बहुत ज्यादा बोलनेवाला न हो अथवा आत्म प्रशंसा से युक्त न हो।*
९. *अमाई - माया रहित हो।*
१०. *थिर परिवाडी - स्थिर अर्थात् निश्चल परिपाटी द्वारा सूत्रार्थ की वाचना हो।*
११. *गहियवक्को - जिसके द्वारा वाक्य अवधारण किया जाता हो अथवा जिनके वचन आदेय हो।*
१२. *जियपरिसो - परिषद को जीतनेवाला हो।*
१३. *जियनिद्दो- निद्रा को जीतनेवाला हो।*
१४. *मज्झत्थो - शिष्यों में समानचित्त वाला हो अर्थात् मध्यस्थ हो।*
१५. *देशकाल भावन्नू - देश से क्षेत्र-भावित आदि हो, काल से सुभिक्ष आदि का तथा भाव से क्षायोपशमिक*

आदि को जाननेवाला हो। उसी औचित्य से विहार करता हो। उसी के अनुसार धर्म कथा आदि करता हो।

१६. आसन्न लद्धपइभो - प्रश्न के अनन्तर ही लब्ध प्रतिभा द्वारा उत्तर देने की बुद्धि हो।

१७. नाणाविहदेसभासन्नु - अनेक देशों की भाषाओं को जानने वाला हो।

१८. से २२. पंचविहे आयारे जुत्तो - पाँच प्रकार के आचार में ज्ञानादि से युक्त हो।

२३. सुत्तत्थतदुभय विहिन्नू-सूत्र व अर्थ दोनों का ज्ञाता हो। पद के उपादान में चतुर्भंगी है। तदुभय शब्द द्वारा यहाँ तीसरे भंग की ग्राह्यता कही गयी है।

२४. आहारणहेउकारण - उदाहरण अर्थात् दृष्टान्त, अन्वय-व्यतिरेक रूप हेतु तथा कारण-दृष्टान्तादि से रहित उपपत्ति मात्र रूपी कारण से युक्त हो।

जैसे - ज्ञान के अनाबाध प्रकर्ष से सिद्धो का सुख निरूपम है। अन्यत्र निरुपम सुख का अभाव होने से यहाँ कोई दृष्टान्त नहीं है। कहा भी है -

हेऊ अणुगमवइरेगलक्खणो सज्झवत्थुपज्जाओ ।
आहारणं दिट्ठंतो कारणमुववत्तिनिमित्तं तु ॥ (विशेषा. भा. १०७७ गा.)

अर्थात् अन्वय-व्यतिरेक लक्षण वाला हेतु होता है, जो साध्य वस्तु की पर्याय है। उदाहरण रूप दृष्टान्त कारण की उपपत्ति का निमित्त होता है।

साध्य अनित्य है। उसके आधारभूत वस्तु शब्द है और उसकी पर्याय क्रमभावी धर्म होने से कृतकत्व रूप होती है। नय निउणो - २५. नैगम २६. संग्रह २७. व्यवहार २८. ऋजुसूत्र २९. शब्द ३०. समभिरूढ तथा

३१. एवं भूत नाम के सातों नयों में निपुण हो। अगर निपुण न हो, तो वचनमात्र से बोध करने में समर्थ नहीं होगा।

३२. गाहणा कुशलो-दूसरों को ग्रहण कराने में, विश्वास दिलाने में कुशल हो।

३३. ससमय-परसमयविऊ - स्व सिद्धान्त तथा पर सिद्धान्त को जाननेवाला हो।

३४. गंभीरो - अतुच्छ हो।

३५. दीत्तिमं सिवो - प्रताप युक्त तथा विशिष्ट तपोलब्धि से कल्याण करने वाला हो।

३६. सोमो - अक्रोधी हो।

इस प्रकार मूलगुण आदि तो सेकडों है। पर बहुत्व के उपलक्षण से इतने ही ग्रहण किये गये है। इनसे युक्त होता हुआ प्रवचन सार अथवा सिद्धान्त अर्थ को कहने के लिए योग्य होता है।[1]

इस प्रकार के गुणग्राम से युक्त आचार्य आर्यखपुटाचार्य की तरह दर्शन प्रभावक होते हैं। उनका कथानक इस प्रकार है -

।। आर्यखपुटाचार्य की कथा ।।

किसी से भी अभिभूत नहीं होनेवाला, सभी द्वीपों के मध्य नाभिभूत, जम्बूद्वीप है। ऐसा सुना जाता है कि चमकते हुए जम्बुओं के कारण उसका नाम जम्बूद्वीप पड़ा। इस जम्बूद्वीप के ललाट के समान यहाँ भरत क्षेत्र है। उस ललाट पर स्वर्ण तिलक के समान लाट देश है। उसके मुक्तावलियों से विभ्रमित मध्य भाग में **भृगुपुर** नामक नगर है। उस नगर के अन्दर हीरो से बना हुआ **अश्वावबोध** नामक तीर्थ शोभित होता था। उसे देखने की इच्छुक

1. गुरु भगवंत के गुणों को विस्तारपूर्वक समझने के लिए 'गुरु गुण षट्त्रिंशिका' का वांचन करना चाहिए।

नर्मदा भी सदा उसके पास में रहती थी, जो अपनी तरंगो द्वारा हाथी की सूंड की भ्रमणा का वर्णन करती थी।

विद्यासिद्ध, बहुश्रुत, बहुत सारे शिष्य परिवार से युक्त आर्यखपुट आचार्य विहार करते हुए एक बार वहाँ पधारें। उनका एक क्षुल्लक, जो कि उनका भाणेज था, बहुत ही कुशाग्र बुद्धिवाला था। गुरु के पास में रहकर उनकी शुश्रूषा से आत्मा को पावन करते हुए गुरु के पास से कर्णाघात विद्या ग्रहणकर विद्यासिद्ध आचार्य के प्रभाव से वह भी विद्यासिद्ध हो गया।

किसी दिन कोई साधु-सिंघाड़ा वहाँ आया। गुरु चरणों को नमस्कार करके उन्हे बताया - गुडपिण्ड से प्रहार करके पर-बल को भग्न करने के कारण तब से ही विख्यात वह गुडशस्त्र नामक नगर है। पाताल-विवर में प्रवेश करके नाग-स्त्री की वेणी ग्रहण कर लेने के कारण वेणीवत्सराज नाम से ख्यात, वहाँ का राजा है। वहाँ पूर्व में आया हुआ कोई परिव्राजक जो अभिमान का पर्वत था। वह वाचाल अपनी प्रज्ञा से वागीशजनों (बुद्धिवानों) को भी अपना शिष्य बना लेता था। एक बार साधुओं द्वारा पराजित होकर नागरिकों द्वारा हीलना को प्राप्त वह अपमानित होने से साधुओं के प्रति अत्यन्त द्वेष भाव रखता हुआ मर गया। उसी नगर में वह बटुकर नामक व्यन्तर हुआ। विभंग ज्ञान से अपने पराभव का कारण साधुओं को जानकर आकाश में स्थित होकर वह विकराल-आत्मा पटह के समान गर्जना करते हुए लाल-लाल आँखो से, क्रोधित होकर काँपते हुए वह क्रुधी साधुओं को बोला - हे श्वेतवस्त्र धारियों! हे पापियों! तब वाद में मुझे जीत लिया था, अब उस वैर का बदला तुम्हें रुला-रुलाकर समाप्त करते हुए लूँगा। चाहे तुम पाताल में प्रवेश कर जाओ या स्वर्ग के परे चले जाओ। उस अपमान को याद करते हुए मैं तुम्हे नहीं छोडुंगा। यह कहकर वह गायब हो गया। तब उसके भय से हे प्रभु! उत्तम मुनि वहाँ रहने में समर्थ नहीं है। अतः वह मिथ्यादृष्टि देव वहाँ अर्हत् शासन की हीलना कर रहा है। मैं क्या कहूँ? साधुओं को तो वह भिखारी बोलता है। नागरिक लोग उस व्यन्तर के आयतन में उत्सव करते हैं। वहाँ आयतन में याचना की पूर्त्ति होने से प्रभावित लोग विस्मयपूर्वक उसकी पूजा करते हैं।

यह सुनकर खपुट आचार्य गच्छ छोड़कर अपने भानजे को वहीं छोड़कर स्वयं अल्प यतियों के साथ सायंकाल गुडशस्त्रपुर में गये। नगर के मध्य रहे हुए उपाश्रय में साधुओं को जाने का आदेश देकर गुरुदेव स्वयं बटुकर (नामक यक्ष) के आयतन में गये। जूतियों को गुरुदेव ने यक्ष के कानों का आभूषण बनाकर वस्त्र से अपने सर्वांग को ढंककर उसके सामने सोने का उपक्रम किया। प्रातःकाल देव की पूजा करने आये हुए लोगों ने यक्ष के कानों पर लटकती हुई जूतियों तथा उसके सामने गुरु को सोये हुए देखकर कोप पूर्वक विचार किया - अहो! यह कोई अनार्य प्रतीत होता है? पर यक्ष के द्वारा उपेक्षित कैसे? अथवा -

भवन्ति बलिनो देवानामपि दानवाः ।

देव से भी दानव अधिक बली होतें है।

तब वह सार वृत्त लोगों ने महाराजा को कहा, राजा भी नागरिकों के साथ कौतुक से वहाँ आ गया। जैसा लोगों ने कहा, वैसा ही अविसंवादी दृश्य देखकर राजा ने उसे आवाज दी - यह निःशंकों का पुंगव कौन है? आवाज करने पर भी वह न तो उठे, न ही जवाब दिया। क्योंकि -

सुप्तो जागर्यते जाग्रत् सुप्तस्तूत्थाप्यते कथम्?

सोया हुआ व्यक्ति तो जगाया जाता है, पर जो सोया ही न हो, वह कैसे जगाये?

उसे उठाने के लिए लोगों द्वारा उघाड़े जाने पर भी वे गुरु उससे भी नीचे स्थान पर चले गये, जिससे दूसरा कोई देख न सके। तब यह कोई भय का स्थान है - इस प्रकार विचारकर राजा को छोड़कर बाकी सभी जन उस पर प्रहार करने लगे। लोगों द्वारा लकड़ी आदि से प्रहार किये जाने पर गुरु ने विद्या द्वारा वह प्रहार राजा के अन्तःपुर

में चंक्रमित कर दिया। तभी एक कंचुकी ने आकर उच्च स्वर में कहा - हे देव! कोई आपके अन्तःपुर में स्थित नारियों पर पत्थर आदि से प्रहार कर रहा है। प्रहार करने वाला दिखायी नहीं देता, लेकिन सर्वत्र देवियों का क्रन्दन स्वर ही सुनायी दे रहा है। तब राजा ने कहा - हे लोगों! यह कोई विद्यासिद्ध है। मेरे अन्तःपुर को मारा जा रहा है, अतः इसे मत मारो। यह कहकर नृप ने कहा - अहो! अज्ञजनों द्वारा आपकी कदर्थना की गयी। हमारा वह अपराध आप क्षमा करे। क्योंकि -

सन्तो हि नतवत्सलाः ।

सज्जन तो वत्सल भाव वाले होते है।

यह सुनकर गुरु अपने वेष को यथावस्थित करते हुए खड़े हो गये। तब आर्य खपुटाचार्य को देखकर सभी लोग विस्मित हो गये। भक्तियुक्त होकर सभी ने वन्दना की। राजा ने भी बार-बार प्रशंसा की। तब राजा तथा नागरिक आदि के मध्य स्थित गुरु चले। गुरु की संभावित दृष्टि से बटुकर गुरु के पीछे-पीछे चलने लगा और वहाँ अपर रूप में दूसरे प्रतिष्ठित देव भी गुरु के पीछे-पीछे चलने लगे। तब यक्षायतन द्वार पर स्थित दो कुण्डिकाये भी गुरु के साथ पुर में जाने के लिए गुरु के पीछे-पीछे चल पड़ी। तब गेंद की तरह उनको उछलते कुदते देखकर सभी मिथ्यादृष्टि भी विस्मित रह गये। नगर का द्वार आने पर राजा आदि द्वारा कहा गया - प्रभो! इन देव रूपों को यहीं रुकने का आदेश दीजिये। तब गुरु के आदेश से वे देव अपने-अपने स्थान पर चले गये। द्वार के उभय पक्ष पर वे दो कुण्डिकायें वहीं छोड़ दी। तथा कहा - जो मेरे तुल्य है वह इसे अपने स्थान पर ले जाये। वे कुण्डिकायें आज भी वहीं स्थित हैं। आचार्य ने पुनः नगर में प्रवेश किया।

वह बटुकर यक्ष भी गुरु के माहात्म्य को देखकर उपशान्त होता हुआ जिनधर्म की प्रभावना करने लगा। राजा भी अति विस्मित होता हुआ श्रावक बन गया। अन्य बहुत से जनों ने भी जिनधर्म में रति प्राप्त की। सभी लोग जिन शासन की प्रशंसा करने लगे कि आर्हतों जैसा प्रभाव अन्य किसी भी दर्शन में नहीं है।

भरुकच्छ पुर में गुरु का वह भाणेज प्रान्त-आहार से उद्विग्न होकर गच्छ से निकल गया। आहार-रस से गृद्ध आत्मा वाला वह अपनी जीभ के वश में होकर सोगत भिक्षुओं की शरण में चला गया। ठीक ही कहा गया है -

कुर्यात किं न अजितेन्द्रियः?

इन्द्रियों से अजित क्या नहीं करता?

भोजन के लिए वह क्षुल्लक सभी पात्र विद्या प्रयोग से आकाशमार्ग द्वारा उपासकों के घर पर भेजता था। उनके आगे स्थित वह क्षुल्लक का पात्र श्वेत वस्त्र से ढका हुआ सभी में अग्रणी की तरह जाता था। यह देखकर कौतुक में आक्षिप्त चित्तवाले वे उपासक भी शालि आदि आहार-जात से उन पात्रों को भरते थे। पर उस अग्रेसर पात्र को श्रेष्ठ आसन पर रखकर विविध खण्ड-खाण्ड आदि द्वारा उसको भरते थे। तब सभी नागरिक उन्मुखी भूत हुए मेघ की तरह बौद्ध मठों की ओर जाते हुए दिखायी देने लगे। उस प्रकार के आश्चर्य को देखकर दूसरे लोग भी बौद्धों के दर्शन में लग गये। कुछ श्रावक भी बौद्ध बन गये। वे कहने लगे कि इस प्रकार का अतिशय प्रभाव सोगत दर्शन को छोड़कर अन्यत्र न कहीं देखा न पढ़ा। सर्वत्र बौद्ध संघ की मानना व जैन संघ की अवमानना होने लगी। बौद्ध मत ही मुख्य है - इस प्रकार की ख्याति लोगों में हो गयी।

जैन संघ की अवमानना देखकर संघ ने दो साधुओं को गुड़शस्त्र नगर भेजकर गुरु को यह जानकारी करवायी। तब आर्य खपुटाचार्य ने वह सब सुनकर पुर से तुरन्त भरुकच्छ आये। क्योंकि -

किं दूरं लब्धिशालिनाम्।

लब्धि-धारियों के लिए क्या दूर है?

लोगों के बिना जाने उस नगर में प्रवेश किया। मुनियों ने पुनः उस क्षुल्लक की अखिल क्रिया बतायी। तब उस पात्र के भरकर आकाश मार्ग से आने पर गुरु ने अन्तराल में एक महाशिला की रचना कर दी। फूटे हुए जहाज की तरह वह पात्र भी फूट गया तथा उसमें रहा हुआ अन्न आदि सभी कौओं की बलि बन गया। यह कहीं से भी सुनकर उस क्षुल्लक ने भिक्षुओं से कहा - हे भद्रों! मेरे गुरु आ गये हैं, क्योंकि अन्य किसी की इस प्रकार की शक्ति नहीं है। तब वह तत्क्षण द्रुत गति से वहाँ से पलायन कर गया। क्योंकि -

येनोदयास्थिते भानौ नान्यत् तेजो विजृम्भते ।

सूर्य के तेज के रहने पर अन्य तेज प्रकाशित नहीं होते।

तब गुरु दूसरे दिन नगर में रहे हुए साधुओं से समन्वित संपूर्ण तारों के मध्य परिस्कृत चन्द्रमा की तरह आर्हत् चैत्यो को वन्दन करके बौद्ध आयतन में आये भिक्षुओं ने भी कहा - आदर पूर्वक इन बुद्ध को वन्दन करो। गुरु ने भी आगे आकर बुद्ध के प्रति कहा - आओ! आओ! हे वत्स! मेरे पैरों में गिरो, बुद्ध! तब उस बुद्ध की मूर्ति ने शीघ्र ही आकर गुरु को नमन किया। गुरु ने भी उस मूर्ति की पीठ पर शिष्य की तरह प्रसन्न होकर हाथ रखा। फिर आगे रहे हुए स्तूप से कहा-अरे! तुम क्यों नहीं वन्दना करते? शीघ्र ही वह स्तूप भी आकर गुरु के चरणों में झुक गया। पुनः गुरु ने कहा - ठहरो! धनुष की कमान के समान वह वहीं ठहर गया। सिद्ध वचनों द्वारा वह आज भी वहीं और वैसे ही है। गुरु ने बुद्ध को भी कहा - वत्स! तुम भी अपने स्थान पर चले जाओ। वह मूर्ति भी पास में जाकर अपने स्थान पर खड़ी हो गयी। निर्ग्रन्थ द्वारा उस मूर्ति को झुकाये जाने के कारण तब से उस मूर्ति का नाम निर्ग्रन्थ-नामित सर्वत्र ख्यात हो गया। फिर सभी लोगों ने विस्मय से दीर्घ हुए लोचनों द्वारा गुरु की प्रशंसा की तथा जिन शासन में रंजित हुए। अहो! आश्चर्य! घोर आश्चर्य! आर्य खपुट गुरु को अजंगम देवता भी भक्ति नम अंगो द्वारा वन्दना करते हैं इत्यादि अनेक अतिशय एकान्त रूप से भावित हुए। यह समस्त जगत् मानो जिनधर्ममय हो गया।

इस प्रकार आर्यखपुट नामक आचार्य ने जिनशासन की महती प्रभावना की। आज भी तीन लोको की रंगभूमि पर उनकी विविध व अवदात प्रशंसा-कीर्ति नृत्य करती है। प्रभावना में आर्यखपुटाचार्य की कथा पूर्ण हुई।।३४ से ३७।।१४८ से १५१।।

अब गुरु के गुणों का अन्वेषण क्यों किया जाता है? उसे बताते हैं-

वूढो गणहरसद्दो गोयमाईहिं धीरपुरुसेहिं ।
जो तं ठवइ अपत्ते जाणंतो सो महापावो ।।३८।। (१५२)

गणधर शब्द गौतम आदि धीरपुरुषों के लिए कहा गया है। जो उस शब्द को खुद पर स्थापित करता है, [अपने आपको गणधर समान मानता है] उसे महापापी समझना चाहिए।।३८।।१५२।।

अयोग्य स्थापना को अयोग्य व्यक्ति को आचार्य पद पर स्थापन करने के विषय को आश्रित करके दोष कहा गया है। अब असद् देशना को आश्रित करके कहते हैं।

तिन्नि वि रयणइं देइ गुरु सुपरिक्खियइं न जस्स ।
सीसहसीसु हरंतु जिह सो गुरु वइरि उ तस्स ।
सो गुरु वइरि उ तस्स इत्थ संदेहु न किज्जइ ।
सीसहसीसु हरंतु जेम्वनरु नरह भणिजजइ ।
सुपरिक्खियइं न जस्स सच्च संसउ मणिच्छिन्नि वि ।
देइ सुदेवु-सुधम्मु-सुगुरु गुरुरयणंइ तिन्नि वि ।।३९।।१५३।।

जो गुरु शिष्य की अच्छी तरह परीक्षा न करके सुपरीक्षित सुदेव, सुगुरु, सुधर्म रूपी तीन रत्न, शिष्य को

देता है, वह शिष्य की चोटी ग्रहणकर खुश तो होता है, पर वह गुरु उस शिष्य का वैरी है। वह गुरु उस शिष्य का दुश्मन है, इसमें कोई शक नहीं है। जैसे मनुष्य जीमण प्राप्तकर खुश होता है वैसे ही वह गुरु शिष्य की चोटी लेकर खुश होता है। जिसका सत्य संशय के लिए अनिच्छिन्न है, वह गुरु सुदेव, सुधर्म, सुगुरु रूप तीनों रत्न सुपरीक्षित शिष्य को देता है।।३९।।१५३।।

अब रत्न त्रय के स्वरूप को कहते हैं -

सुज्जि धम्मु सचराचरजीवहंदयसहिउ ।
सो गुरु जो घरघरणिसुरयसंगमरहिउ ।
इंदियविसयकसाइहिं देउज्जुमुक्कमलु ।
एहु लेहु रयणत्तउ चिन्तियदिन्नफलु ॥४०॥ (१५४)

संपूर्ण जगत के जीवों पर करुणा व दया का भाव रखने वाला सुज्ञ धर्म सुधर्म है।

घर, स्त्री व मैथुन के संगम से रहित जो है, वे सुगुरु हैं तथा इन्द्रिय विषय तथा कषाय का संपूर्ण त्याग करके जो सिद्ध होने वाले हैं, वे अरिहन्त देव सुदेव हैं।।४०।।१५४।।

ये रत्न त्रय कैसे जानने चाहिए। इसी को कहते हैं।

देयं गुरुं च धम्मं च भवसायरतारयं ।
गुरुणा सुप्पसन्नेण जणो जाणइ निच्छियं ॥४१॥ (१५५)

भव सागर से तारनेवाले देव, गुरु व धर्म को सुप्रसन्न गुरु द्वारा मनुष्य निश्चित ही जान लेता है।।४१।।१५५।।

अब प्रकारान्तर से पुनः गुरु के ही स्वरूप को कहते हैं।

धम्मन्नु धम्मकत्ता य सया धम्मपरायणो ।
सत्ताणे धम्मसत्थत्थ देसओ भन्नए गुरु ॥४२॥ (१५६)

धर्म को जाननेवाले तथा धर्म का आचरण करनेवाले सर्वकाल में धर्म परायण होते हैं। द्रष्टा की अपेक्षा केवल कदाचित् ही नहीं होते, बल्कि हमेशा होते हैं। गुरु प्राणियों को धर्मशास्त्र के अर्थ देश से कथन करते हैं।।४२।।१५६।।

उन्हीं गुरु के गुणों का वर्णनकर उनकी ही महत्ता को बताते हैं -

तं सुगुरुसुद्धदेसणमंतक्खरकन्नजावमाहप्पं ।
जं मिच्छविसपसुत्तावि केइ पावंति सुहबोहं ॥४३॥ (१५७)

वे गुरु छोटे से लगाकर बड़े तक को मंत्राक्षर रूप शुद्ध देशना देते हैं, जिससे कितने ही आसन्न-सिद्धिक आदि, जो मिथ्यात्व विष में सोये हुए बेसुध बने हुए हैं, सुखपूर्वक बोध को प्राप्त करते हैं।।४३।।१५७।।

सग्गाऽपवग्गमग्गं मग्गंताणं अमग्गलग्गाणं ।
दुग्गे भवकंतारे नराण तित्थारया गुरुणो ॥४४॥ (१५८)

स्वर्ग-अपवर्ग के मार्ग को खोजने में लगे हुए, अमार्ग में लगे हुए लोगों को भव-कानन से निस्तारण करने वाले गुरु ही है।।४४।।१५८।।

और भी -

अन्नाणनिरंतर - तिमिरपूरपरिपूरियंमि भवभवणे ।
को पयडेइ पयत्थे जइ गुरुदीवा न दीप्पंति ॥४५॥ (१५९)

निरंतर अज्ञान तिमिर से परिपूरित भव रूपी भवन में गुरु रूपी दीपक के बिना कौन प्रशस्त मार्ग प्रकट कर

सकता है।

इस अर्थ में **केशी गणधर** तथा **प्रदेशी** राजा का दृष्टान्त सार्थक है, जो इस प्रकार है -

।। केशी गणधर प्रदेशी राजा की कथा ।।

गरिमा से युक्त **श्वेतवी** नाम की नगरी थी। जहाँ के लोग सदाचार युक्त ज्योति से ज्योतित थे। वहाँ का राजा **प्रदेशी** था, जिसके प्रताप का कौतुक पक्ष अर्थ में तो चन्द्रमा के समान था और विपक्ष में सूर्य के समान था अर्थात् सज्जनों में तो वह चन्द्रमा के समान शीतल था, पर शत्रुओं में वह सूर्य के समान प्रचण्ड था। सर्व नारियों में शिरोमणि उसके **सूर्यकान्ता** नामक रानी थी। उसके सूर्य की कान्ति के समान तेजवाला **सूर्यकान्त** नामक पुत्र था। प्रदेशी राजा के विचक्षण मति वाला चित्र नामक महामन्त्री था। वह राजा के रहस्यों के स्थान रूप होने से राजा का द्वितीय वक्ष था। एक बार राजा ने उस मंत्री को किसी राज्य-कार्य के लिए **जितशत्रु** राजा की सन्निधि में भेजा। वहाँ पर चित्र महामंत्री ने राजा के महल के नीचे लोगों को संभ्रान्त होकर बाहर आते जाते देखा। मंत्री ने किसी से पूछा - हे महाशय! ये लोग कहाँ जा रहे हैं, जरा बताओ। पूछकर, जानकारी करके उसने भी मन्त्री को बताया - देव! उद्यान में संपूर्ण बारह अंग को धारण करनेवाले, श्री पार्श्वनाथ के सन्तानिक शिष्य, चार ज्ञान से युक्त सर्वज्ञ के समान श्वेताम्बराचार्य आर्य **केशी** पधारे हैं। अपने संशय का निवारण करने तथा उन्हें नमन करने के लिए ये लोग आ-जा रहे हैं। महामंत्री चित्र भी कौतुक वश नोकर-चाकरों के साथ आगे जाकर उनको ऊपर से स्थित होकर देख रहा था, तभी केशी श्रमण ने अपने ज्ञान से उस महाअमात्य के बोध को जानकर मानो चित्र बनाते हुए उसे उसके चित्र नाम से पुकारा। हे मंत्रीवर! राजा के द्वारा यहाँ कार्य से भेजे गये हो? उस कार्य का पिछली रात्रि में ही राजा द्वारा निर्णय लिया गया था। यह सुनकर महाअमात्य ने विस्मित होते हुए सोचा - छलपूर्वक नाम तो जाना जा सकता है, इसमें कोई कौतुक नहीं है। पर रहस्य मन्त्र को ये कैसे जानते हैं - यही विस्मयकारी है। अतः निश्चय ही ये पाखण्डी तो नहीं है, फिर क्या है? परमार्थ के ज्ञाता? तब प्रणाम करके उसने गुरु की उपासना की। गुरु ने भी उसी को उद्देश्य करके धर्म का सर्वस्व कथन किया। धर्म के सम्यक्त्व मूल को जानकर उसने भी उसे ग्रहण किया कहा भी है -

रङ्को रत्ननिधिं प्राप्य किं न गृह्णाति जातुचित् ?

रंक रत्ननिधि को प्राप्त करने पर क्या उसे ग्रहण नहीं करता?

उन गुरु के पास आते जाते उस चित्र मंत्री ने उनके व्याख्यान रस द्वारा दृढ धर्मिता को पुष्ट किया। जाने की इच्छावाले उस सिद्ध साध्य ने गुरु को कहा - पूज्य! कभी हमारी नगरी को भी पावन कीजिए। हमारे लोग सर्वथा धर्म कर्म में अनभिज्ञ है। उन अबोधों को प्रतिबोध देने से आपको महान् लाभ होगा। हमारा नास्तिक राजा भी आपके परिपार्श्व में प्रतिबोधित होगा, क्योंकि सूर्योदय होने पर क्या कमल नहीं खिलते? भगवन्! मैं संभावना करता हूँ कि आपके आगमन से वहाँ अर्हत् धर्म का साम्राज्य होगा, क्योंकि आपकी वैसी ही लब्धि है। गुरु ने कहा - हे मंत्रीवर! वर्तमान योग से आपके देश में भी हम आयेंगे, क्योंकि -

मुनयः स्थायिनो न यत् ।

मुनि कहीं भी स्थायी नहीं होते।

इस प्रकार अभ्यर्थनाकर मंत्री श्वेतवी नगरी चला गया। दूत की तरह अपने मन को गुरु के चरणों में ही छोड़ दिया। सम्यग् ज्ञान के उपयोग से राजा सहित संपूर्ण राज्य के होनेवाले भविष्य के प्रतिबोध को जानकर प्रभु भी प्रत्येक ग्राम प्रत्येक नगर में मनुष्यों को बोधित कर-कर के मुनिराज होते हुए भी राजा की तरह दिग्विजय करने के

लिए चल पड़े। व्यापारियों के सम्पूर्ण मोह-मात्सर्य आदि मुख्यताओं का त्याग करवाकर वैराग्य, विवेक, प्रशम आदि की स्थापना की। सभी जगह सभी लोगों के आभ्यन्तर तमस को अपूर्व सूर्य की तरह हरण करते हुए वे श्वेतवी नगरी पधारें।

मन्त्री ने पूर्व में ही उद्यान-पालक को कह दिया था कि कोई भी श्वेतवस्त्र धारी, मुख व सिर पर लुंचन किये हुए, दण्ड-कम्बल धारण करनेवाले मुनि उद्यान में पधारें, तो उन्हें स्थान देकर मुझे शीघ्र समाचार देना। उस समय उन मुनियों को आये हुए देखकर उनको योग्य स्थान पर बैठाकर उनके आगमन की बधाई उद्यानपालक ने मन्त्री को दी। गुरु के आगमन को सुनकर, बादलों के आने पर मयूर की तरह हर्ष के पूर से उत्कंठित चित्र मंत्री ने उसी स्थान पर रहते हुए वहीं से भक्तिभाव युत्त, वन्दना की, पर राजा की डर से वंदना करने के लिए उद्यान में नहीं गया। उसने विचार किया कि राजा प्रतिबुद्ध हो जाये, तो मुनि निराशंक यहाँ ठहर सकेंगे। तब किसी उपाय द्वारा अश्वभ्रमण के बहाने से गुरु के उद्यान के समीप की बाहरी पंक्ति की तरफ मंत्री राजा को ले आया। अश्व सवारी द्वारा क्लान्त राजा को मन्त्री विश्राम के लिए उसी उद्यान में ले गया। पसीने से तर-बतर राजा विश्राम के लिए छाया में बैठ गया। छाया में मानो राजा को अमृत का सिंचन प्राप्त हो रहा था। तभी राजा ने मधुर गम्भीर ध्वनि सुनकर मंत्री से कहा - मंत्रीवर! क्या यहाँ कोई हाथी बंधा हुआ है? मन्त्री ने कहा - स्वामी! मैं नहीं जानता। पर पाँवों के निशान से निश्चय करता हूँ। देखिये! आगे-आगे यह उद्यान कितना रमणीय है। ये दर्शनी कौन है - इस प्रकार कौतुक से देखने के लिए आगे आये। उस समय अपने ज्ञान से राजा के आगमन को जानकर अपने लोगों को सभासदों की तरह बैठाकर वे बुद्धि निधान गुरु गंभीर वाणी की गर्जना द्वारा खड़े होकर व्याख्यान दे रहे थे। आगे चलते हुए राजा ने उन मुनीश्वर को देखकर महामात्य से पूछा - यह मुण्डा क्या रट रहा है? यह यहाँ कब आया? पाखण्डी देखते हुए हरण करनेवाला चोर है। अभी शीघ्र ही इसे यहाँ से निकालो। हमारे देश को भी यह अन्य देशों की तरह न ठग ले, क्योंकि हे मन्त्री! अंगुली पकड़ाने पर ये हाथ ही पकड़ लेते हैं। राजा की आज्ञा से मन्त्री कुछ कदम चला, पर फिर लौटकर उसने राजा से कहा - देव! इस प्रकार इसे निकाले जाने पर यह मुनि अपने देश में जाकर अपने लोगों को थोड़ी नाक सिकोड़ कर कहेगा - जानता हूँ प्रदेशी राजा को। वह निर्गुण पुंगव मूर्ख शेखर की तरह गुणियों का नाश करने के लिए अर्धचन्द्राकार हाथ की स्थापना गले में करता है। अतः हे देव! इसे वाद में जीतकर निकाल देते हैं। युद्ध में पलायित की तरह दर्प के खण्डित होने से यह स्वयं चला जायगा। हे देव! आपके साथ तो बृहस्पति भी बोलने में समर्थ नहीं है। ब्रह्मा भी आशंकित होते हैं, तो यह आपके सामने कौन होता है?

तब राजा ने स्वयं जाकर आचार्य से कहा - तुम कब आये? उन्होंने कहा - अभी ही आया हूँ। अमात्य भी गुरु को खड़ा देखकर बहुत मुद्रित हुआ। अहो! गुरु के ज्ञान का पट्टबन्ध किया जा रहा है। राजा के आने पर उठना गुरु की लाघवता होगी और न उठने पर शायद राजा का क्रोध बढ़ जाय। अतः राजा के आने से पहले ही खड़े होकर गुरु स्थित हैं अथवा इनके दिव्य अतीन्द्रिय शाली ज्ञान की क्या बात है? तब मन्त्री ने राजा से कहा - स्वामी! आसन पर बिराजिये। ये मुनीन्द्र भी बैठ जाय फिर आप दोनों में श्रेष्ठ वाद-विवाद हो जाय। गोष्ठी को करने की लालसा से दोनों ने आसन ग्रहण किया। सार-असार विचार को जाननेवाले वे युक्त को क्यो नहीं मानेंगे। कहा भी है।

को हि युक्तं न मन्यते ?

सार असार को जानने वाले युक्त बात क्यों नहीं मानेगा?

राजा ने कहा - हे आचार्य! तुम्हारी द्यूर्त विद्या स्पष्ट ही है, क्योंकि तुम्हें आये ज्यादा समय नहीं हुआ, तो भी इतने लोगों को मोहित कर लिया। हे आचार्य तुम्हारे इस राजपुत्र से प्रतीत होने वाले रूप से क्या! तुमने

भिक्षावृत्ति से अपनी आजीविका आरम्भ क्यों की? नपुंसक, कायर तथा व्यापार में अक्षम मनुष्य ही जीविका के लिए पाखण्ड को स्वीकार करते हैं, दूसरे नहीं। अतः इस पाखण्ड को छोड़ो। मेरे माण्डलिक बन जाओ। जातिवन्त घोड़े पर सवार होकर हाथ में भाला व तलवार धारण करो। मेरे दिये हुए देश को प्राप्तकर, मनोरम भोगों को भोगकर मनुष्य जन्म के फल को प्राप्त करो। क्या तुमने नहीं सुना - तप में अनेक यातनाएँ हैं। संयम भोगों की वंचना है। ये सारा क्रिया कलाप बाल-क्रीड़ा की तरह दीखायी पड़ता है। अतः हे आचार्य! मुझे दुर्दान्त-अविचारक भी मत मानना। मेरी माता श्राविका थी, पर मेरे पिता नास्तिक थे। मेरी माता मुझ से कहा करती थी - हे वत्स! सदा दया करना। जीवों की रक्षा से स्वर्ग और वध से नरक प्राप्त होती है। मैं मातृ वत्सल था, अतः माँ के सामने मैंने माता के वचन मानें। इसलिए मैं जीवन भर माता का वल्लभ रहा। पिता मुझसे इस प्रकार कहते - माँ का कथन मत सुना करो। अपनी इच्छानुसार व्यवहार करो। यहाँ कोई रक्षणीय नहीं है। मैंने पितृ-वत्सल होकर पिता के सामने पिता के वचन मानें। अतः जीवन भर उनका भी वल्लभ बना रहा। हे आचार्य! फिर मैंने अपनी माता के मृत्यु काल में उनसे कहा - हे माता! अगर धर्म से तुम्हे स्वर्ग प्राप्त हो, तो मुझे आकर बताना। फिर मैं भी धर्म करुँगा। मुझ पुत्र को इष्ट होते हुए भी माँ मुझे बोध कराने के लिए नहीं आयी, अतः मैंने यह निश्चय किया कि धर्म जन्य स्वर्ग नहीं है। पिता को भी उनके मृत्युकाल पर मैंने कहा कि अगर पाप कार्यों से आपको नरक मिले तो आप आकर बताना, जिससे मैं पाप-कार्य का त्याग कर दूँगा। पिता ने भी अपने इष्ट पुत्र मुझे आकर नहीं बताया। अतः मैंने यह निश्चय कर लिया कि पापजन्य नरक भी नहीं है।

और भी, बुध जनों ने कहा है कि देह के किसी भी भाग में कहीं भी आत्मा है। हे आचार्य! उसकी भी परीक्षा मेरे द्वारा कर ली गयी है। एक चोर को पकड़कर उसे काट-काटकर संपूर्ण शरीर के तिल जितने टुकड़े कर-कर के देखा, पर आत्मा कहीं दिखायी नहीं दी। फिर मैंने एक जीव को तोला। बाद में गले को अंगूठे से दबाकर उसे मारकर फिर तोला। जितना वजन उस जीवित प्राणी का था, उतना ही वजन उसी मरे हुए प्राणी का हुआ। जीव के जीवित रहने पर किया गया वजन थोड़ासा भी ज्यादा नहीं हुआ। अथवा मरे हुए जीव को तोलने पर थोड़ा सा भी वजन कम नहीं हुआ। एक प्राणी को कुम्भी में डालकर कुम्भी का द्वार बन्दकर उस पर लाख लगाकर चारों ओर से नीरन्ध्र कर दिया। वह उस कुम्भी में मर गया और उसकी देह में असंख्य कृमि उत्पन्न हो गये। वह शरीर उन जीवों के प्रवेश व निर्गम का द्वार बन गया। चिरकाल बाद जब उस कुम्भी के द्वार को खोलकर उन मरे हुए कीटों को देखकर मैंने निश्चित किया कि भूतों के अतिरिक्त जीव भी नहीं है। इस प्रकार अनेक-विध परीक्षाओं द्वारा सभी सुपरीक्षाएँ करके मैंने नास्तिकता को स्वीकार किया है और मेरा यह कार्य अर्थात् मेरी नास्तिकता अविचारित नहीं है। अतः हे आचार्य! मेरे द्वारा जो कुछ कहा गया है, उस सर्व ज्ञान को जानो। स्वर्ग-मोक्ष आदि के अभाव में तुम्हारा यह सारा क्लेश निष्फल है।

तब गणधर केशी ने कहा हे राजन्! मैंने तुम्हारे वचन सुनें। तुम्हारे द्वारा बोले जाने पर मैंने सावधान होकर विचार किया है। हे राजन्! मैंने भी जीविका के लिए यह व्रत स्वीकार नहीं किया है, किन्तु तत्त्वार्थ का विचारकर मोक्ष सुख की अभिलाषा से यह व्रत ग्रहण किया है। अरणी काष्ठ में अग्नि है - यह सुनकर मैंने भी उसके सैंकड़ों टुकड़े किये। लेकिन हे महाराज! मुझे किसी भी टुकड़े में अग्नि दिखायी नहीं दी। रूपवान होने पर भी जब पदार्थ दिखायी नहीं देते, तो अरूपी जीव न दिखायी पड़े, तो इसमें विरुद्ध क्या है? वह जीव रूपी आत्मा तो विशिष्ट ज्ञान का योग होने पर ही देखा जा सकता है, जैसे कि अरणी काष्ठ को परस्पर रगड़ने पर ही हे राजन्! उसमें अग्नि दिखायी देती है।

हे राजन्! एक बार मैंने मशक में हवा भरकर उसे तौला, फिर खाली करके पुनः उसी मशक को तौला। पर

उन दोनों का तोल मान एक ही था। हवा भरने अथवा खाली करने पर भी उसके तोल मान में हीनाधिकता नहीं हुई। स्पर्श से ज्ञात होने वाली रूपी हवा का भी कोई वजन नहीं होता, तो फिर अमूर्त्त जीव के तोलने पर उसका वजन-मान कैसे हो सकता है?

मैंने एक बार एक शंखवादक पुरुष को कुम्भी में बिठाकर उसका द्वार बन्द करके उस पर लाख का लेप लगा दिया. फिर उसने अन्दर से शंख बजाया। छिद्र न होने पर भी उसके शंख की ध्वनि बाहर निकल गयी। तो जीव तो ध्वनि से भी सूक्ष्म है, फिर वह बन्द कुंभी में से गमनागमन क्यों नहीं कर सकता? इसलिए सभी शरीरधारियों के देह से अतिरिक्त यह जीव आत्मा है, जो स्व-ज्ञान के अनुभव का प्रत्यक्ष विषय है। जैसे - पताका के हिलने से हवा का ज्ञान होता है, हे राजन्! वैसे ही चैतन्य का भी ज्ञान, गति आदि चेष्टाओं के चिह्न से जानना चाहिए। जीव के होने पर उसकी परलोक गम्यता भी जाननी चाहिए। हे राजेन्द्र! धर्म-अधर्म का उद्भव होने पर स्वर्ग व नरक लोक में उसका गमन भी जानना चाहिए। स्वर्ग से तुम्हारी माता नहीं आयी (हे राजन्! इसका कारण यह है कि सुन्दर स्वर्ग में देव नैसर्गिक सुख का अनुभव करते हैं। वे प्रेम के पाश के वश में रहे हुए कर्त्तव्य में स्वतन्त्र होते हैं। नाटक आदि देखने में आसक्त हो जाने से उनके यहाँ नहीं आने का प्रयोजन समाप्त ही हो जाता है। तिर्यग् लोक की दुर्गन्ध आदि के कारण सिर्फ अरिहंत के कल्याणक को छोड़कर कदाचित् भी यहाँ आना नहीं चाहते। जैसे कि अद्भुत श्रृंगारवाले, दिव्य विलेपन आदि किये हुए नर भी दुर्गन्धयुक्त अशुचि स्थान में नही जाते हैं। तुम्हारे पिता भी वापस तुम्हे बताने के लिए नहीं आये। इसका कारण यह है कि वे नरक की व्यथा को वेद रहे हैं। परमाधार्मिक देवों द्वारा पकड़े हुए वे यहाँ आने में समर्थ नहीं है। जैसे कोई अपराधी निग्रह करने के लिए पकड़कर बैठाया गया है। वह अपने स्वजनों को अनुशासित करने के लिए आरक्षकों से छूटकर जाने में समर्थ नही है। अतः हे राजा! इसी प्रकार स्वर्ग व नरक की स्थिती है। धर्म व अधर्म के क्षय से मोक्ष होता है, यह जानो। मोहित मत बनो।

यह सुनकर महाराज का रोम-रोमांचित हो गया। कर कमलों को मस्तक पर लगाकर भक्तिपूर्वक गुरु से कहा - स्वामी! मेरा प्रबल मोह रूपी पिशाच आज नष्ट हो गया है। आप जैसे मांत्रिक की मन्त्र रूपी वाणी से आज वह पिशाच ताड़ित हुआ। अज्ञान तिमिर से आक्रान्त मेरे अन्तर-लोचन प्रभु की व्याख्या रूपी अंजन शलाका से उद्घाटित हुए हैं। हे स्वामी! मैंने जान लिया है कि -

धर्मो जैनधर्मात् परो न हि ।

यथा आदित्यात् परो नान्यः प्रत्यक्षस्तेजसां निधिः ।

जैसे सूर्य से परे अन्य कोई तेज की निधि नहीं है, वैसे ही जैन-धर्म से परे अन्य कोई धर्म नहीं है।

लेकिन मेरी नास्तिकता क्रमानुगत है। अतः हे स्वामी! सहसा कैसे छोड़ दे? स्वजनों से लज्जा महसूस होती है। गुरु ने कहा - हे राजन्! क्या परम्परा से आयी हुई दरिद्रता, मान्दता, मूर्खता आदि पुरुषों द्वारा नहीं छोड़ी जाती? यह पिता का कुआँ है - इस प्रकार मूढ़ मन वाले होकर क्या विवेकी भी उसी कुएँ का पानी खारा होने पर भी पीते हैं। अगर इस अवसर पर भी हे राजन्! तुम धर्म को स्वीकार नहीं करोगे, तो बाद में जड़बुद्धि वाले कुशलवित्त की तरह पछताओगे। उसकी कहानी इस प्रकार है -

कौशलापुरी में चार मित्र थे। धनोपार्जन करने के लिए वे लोग देशान्तर को रवाना हुए। शीघ्र ही लोह की खान आने पर सभी ने कुशों को ग्रहण किये। वर्षा काल का आरम्भ होने पर यह मूल्यवान् होने पर लाभ प्राप्त करायेगा। आगे से आये हुए एक व्यापारी ने उनको कहा - कुश का क्या करोगे? आगे चाँदी की खान है। तब उन्होंने कुश को छोड़ दिया व रजत की खान में गये। देय व उपादेय को जानने वाले उन्होंने वहाँ से चाँदी ग्रहण की। आगे

स्वर्ण की खान सुनकर उन्होंने चाँदी मात्र को छोड़कर आगे जाकर सोना ग्रहण किया। क्योंकि -

कस्येच्छा नाऽधिकाऽधिके?

अधिक-अधिक ग्रहण करने की किसकी इच्छा नहीं होती?

रत्न पर्वत को आगे जानकर अपने पास में जो कुछ भी स्वर्ण था, उसे खुशी-खुशी छोड़कर रत्नों की लिप्सा से वे आगे गये। उन्होंनें खानें खुदवाकर सवा लाख मूल्य के रत्न प्राप्त किये। खान खुदने वालों को प्राप्त धन का दसवाँ भाग दिया। शेष धन का नौवाँ भाग राजपुरुषों को दिया। फिर उन्होंनें रत्नपर्वत को खोदना शुरु किया। उन मित्रों में से एक मित्र ने कुशों का त्याग नहीं किया। उन दूसरे मित्रों द्वारा उसे बार-बार कुशों का त्यागकर अन्य-अन्य उत्तरोत्तर अन्य-अन्य वस्तु लेने का आग्रह किया। पर उसने नहीं माना और कहा कि मैं तुम लोगों की तरह अपने आशय से विचलित होनेवाला नहीं हूँ। कुछ छोड़कर अथवा ग्रहण करके मैं कुशों से निवृत्त हूँ। तुमलोग लोभ के मारे धूल में मिल रहे हो। मैं तो कुश का तकिया बनाकर आराम से सोता हूँ। अन्य सभी ने पाँच-पाँच रत्न प्राप्त किये। फिर लौटकर वे अपने नगर में आ गये। जो मित्र अन्य-अन्य वस्तु छोड़कर रत्नों को लेकर आये थे, हे राजन्! वे उस रत्न-द्रव्य से सुखों के पात्र बने। कुशवित्त ने रत्नों से प्राप्त उनकी प्रवृत्ति को देखकर चिरकाल तक शोक करता हुआ, पश्चाताप करता हुआ दुःख का पात्र बना। इसी प्रकार हे राजन्! परम्परा से आये हुए तुम्हारे कदाग्रह को तुम भी कुशवित्त की तरह त्याग नहीं करोगे, तो सौख्य को प्राप्त नहीं कर पाओगे।

यह सुनकर प्रदेशी राजा ने अंधकार रूपी रज को झाड़ डाला। गुरु के उपदेश रूपी शस्त्र से मिथ्यात्व के बन्धन छिन्न कर दिये। नास्तिकता का त्यागकर तथा सम्यक्त्व को स्वीकार करके श्रावक के बारह व्रतों को स्वीकार किया। फिर राजा ने कहा - हे मंत्री! तुम भी सम्यक्त्व रूपी धर्म ग्रहण करो। तब मंत्री ने कहा - हे राजन्! मैंने इन्हीं गुरु के पास श्रावस्तीनगरी में धर्म स्वीकार कर लिया है। आपको बोध कराने के लिए ही मैंने इन गुरु को यहाँ पर बुलाया था। यह सुनकर राजा ने मंत्री से कहा - मंत्रीवर! तब तो तुम मेरे धर्म-बन्धु हो। अथवा गुरु का दर्शन करवाने से तुम मेरे गुरु भी हो। हे मंत्री! तुम मेरी धर्म-प्रवृत्ति के हेतु रूपी कर्ता हो।

तब वह प्रदेशी राजा परम-श्रावक बन गया। उसके प्रबोध से सम्पूर्ण राज्य आर्हती बन गया। उस देश में अरिहंत धर्म का एकछत्र साम्राज्य फैल गया। मन्त्री के मनोरथ रूपी महा तरुवर में फल आये। संपूर्ण देश की भूमि को अरिहन्त चैत्य करवाकर भर दिया गया। सभी जगह महा-प्रभावनापूर्वक रथ-यात्रा करवायी गयी। साधुओं की पूजा होने लगी। साधर्मिक जनों की भक्ति होने लगी। राजा स्वयं अन्य-अन्य को बोध देकर धर्म में प्रवृत्ति कराने लगा। गुरु के अभाव में भी गुरु की तरह धर्म देशना देने लगा। ब्रह्मचर्य व्रत को चाहने की इच्छा से विषयों को विष की तरह मानने लगा। चारित्र के इच्छुक की तरह चारित्र की प्रशंसा करने लगा।

राजा की प्रिया सूर्यकान्ता ने काम से पीड़ित होकर विचार किया कि यह राजा तो धार्मिक होने से ब्रह्मचर्य धारी बन गया है। इस राजा के जीते जी मैं अन्य पुरुष के साथ भोगों में रमण करने में समर्थ नहीं हूँ। अतः विष आदि किसी उपाय द्वारा मैं इसे मार दूँ। फिर अपने पुत्र सूर्यकान्त को राज्य पर स्थापित करके मैं यथेच्छापूर्वक वैषयिक सुख में रमण करुँगी। उस पतिहंता, क्रूर, पापिनी ने राजा को पौषधोपवास के पारणे के दिन आहार के अन्दर विष दे दिया। विष के आवेग से महाताप उत्पन्न होने पर राजा प्रदेशी जान गया कि मुझे सुर्यकान्ता महारानी ने विष दिया है। तब राजा ने मन्त्री को बुलाकर विष की विक्रिया कही। मन्त्री मन्त्र-औषध आदि उपचार करवाने लगा। तब राजा ने कहा - हे मन्त्रीवर! मेरी मृत्यु समीप है। अतः धर्म रूपी औषधि कराओ। शीघ्र ही संसार के तारक गुरु को बुलाओ। मन्त्री ने कहा - राजन्! अभी यहाँ कोई गुरु नहीं है। राजा ने कहा - तब तुम ही मेरे गुरु हो। गुरु द्वारा करायी जानेवाली क्रियाएँ करवाओ। तब उस गीतार्थ महामन्त्री ने जिनबिम्ब के दर्शन करवाये। देवों

को वन्दन करवाया। फिर दुष्कृत्यों की गर्हा करवायी। सिद्धो की साक्षीपूर्वक संपूर्ण आलोचना करवायी। उस मंत्री ने राजा द्वारा विषदात्री महारानी सूर्यकान्ता के प्रति विशेष रूप से क्षमा याचना करवायी। जो कर्म नरक आदि में अवश्य वेदने योग्य थे, उन कर्मों की उदीरणा करवाकर उन्हें नष्ट करवाने के कारण सूर्यकान्ता महारानी आपकी उपकारिणी है। चिर काल से धर्म की आराधना करते हुए भी अगर आप उस पर द्वेष भाव रखेंगे, तो तपा-तपाकर फूट-फूटकर निकाले हुए सोने को आप एक ही फूंक में उड़ा देंगे। आपने केवल उसी भव में ही नहीं, अपितु नरकादि अनन्तभवों में घूमते हुए तीव्र दुःखों को सहन किया है। उनकी अपेक्षा से तो यह दुःख अल्प ही है - ऐसा विचारकर के हे देव! संपूर्ण दुष्कर्मों की लीलारूप इस दुःख को समाधिपूर्वक सहन करें। यह कहकर व्रत के उच्चारण पूर्वक अनशन देकर आराधना की विधि करवाने से राजा ने परम समाधि को प्राप्त किया। फिर पंच-नमस्कार का शुद्ध-मन से उच्चारण करते हुए राजा ने गुरु के पादद्वय में भक्तिपूर्वक शरण को ग्रहण किया। अपने देह का त्यागकर सौधर्म देवलोक में सूर्याभ नामक विमान में चार पल्योपम की स्थितीवाला सूर्याभ नामक देव हुआ।

सूर्यकान्ता ने जब यह जाना कि मैं विष देने वाली जान ली गयी हूँ, तो भागते हुए जंगल में सर्प द्वारा डंसे जाने पर छट्ठी नरक में उत्पन्न हुई। उधर अमलकल्पा नगरी में जगत-पति श्री वीर स्वामी का समवसरण हुआ। यह जानकर अवधिज्ञान से युक्त सूर्याभ देव ने स्वर्ग से आकर प्रभु को कहा - नाथ! कुछ क्षण के लिए व्याख्या का संहरण कीजिए। मैं गौतम आदि मुनीन्द्रों को नाट्य की विचित्रता दिखाऊँगा। प्रभु वीर स्वामी चुपचाप बैठ गये। फिर सूर्याभ देव ने उत्तरपूर्व दिशा में सिंहासन बनाया। उस पर बैठकर दाहिनी भुजा से एक सो आठ खेल निकाले। इसी तरह बायीं भुजा से भी उतनी ही नाटिकाएँ निःसारित की। दिव्य वाद्यंत्र आदि द्वारा बिजली के समान क्रौंधते हुए तीव्र गति से नाट्य विद गान्धर्व नाट्य रचना करने लगे। फिर वह देव अदृष्टपूर्व उद्दाम दिव्य नाट्यविधि दिखाकर भक्तिपूर्वक प्रभु को वन्दनकर स्वर्ग को चला गया। तब गौतम ऋषि ने प्रभु को वंदन करके पूछा - यह देव कौन था? इसे यह विभूति किस प्रकार प्राप्त हुई। प्रभु ने विस्तारपूर्वक उसके पूर्व भव का चरित्र आदि कहते हुए बताया कि गुरु भक्ति का फल अद्भुत होता है। नरक गमन योग्य कर्मों को प्रौढ़ रूप से उपार्जित करके भी इसने केशी सूरि के प्रसाद से उन कर्मों को नष्ट कर दिया और ऐसा श्रेष्ठ देव बना। यहाँ से आयु क्षय होने पर च्यवकर मनुष्य भव प्राप्त करके विदेही होकर सिद्धि को प्राप्त करेगा।।४५।।१५९।।

इस प्रकार गुरु-भक्ति में प्रदेशी राजा की कथा पूर्ण हुई।

अब सामान्य लोगों के लायक, अन्वय-व्यतिरेक द्वारा गुरु के लक्षण बताते हैं -

अक्खरु अक्खइ किंपि न ईहइ ।
अन्नुवि भयसंसारह बीहइ ।
संजमिनियमिहिं खणु वि न मुच्चइ ।
एहा धम्मिय सुहगुरु वुच्चइ ।।४६।। (१६०)
छब्बिहजीवनिकाउ विराहइ पंच वि इंदिय जो न वि साहइ ।
कोहमाणमयमच्छरजुत्तउ सो गुरु नरयह नेइ निरुत्तउ ।।४७।। (१६१)

सिद्धान्त में कहा हुआ जो अक्षर, मात्र भी विपरित रूप से इच्छा नहीं करते हैं अर्थात् संयम का शरण करनेवाले, क्षति करने वाले पदार्थ की इच्छा नहीं करते है। दूसरों को भी भव-संसार से डराते हैं। संयम, नियम आदि का क्षण भर के लिए भी त्याग नहीं करते, ऐसे धार्मिक शुभ गुरु कहे जाते हैं।

जो छः जीव निकाय की विराधना करते हैं, पाँचों इन्द्रियों को जो नहीं साधते। क्रोध, मान, मद, मत्सर से

युक्त वह गुरु निश्चय नरक की ओर ले जानेवाला होता है।।४६-४७।।१६०-१६१।।

अब कैसे प्रथम-दर्शन में ही गुरु-गुण को जाने जाय - इसे बताते हैं -

आलयविहारभासा चंकमणट्ठाणविणयकम्मेहिं ।
सव्वन्नुभासिएहिं जाणिज्जइ सुविहिउ साहू ॥४८॥ (१६२)

सुप्रमार्जित अर्थात् स्त्री, पशु, पंडकरहित उपाश्रय हो। मासकल्प आदि विहारी हो। भाषा के सूचन से यहाँ भाषा समिति कहा गया है। अतः भाषा समिति युक्त हो, ईर्यापथ युक्त गमन हो।

एक का ग्रहण करने से संपूर्ण जाति का ग्रहण मानना चाहिए। अतः यहाँ ईर्या समिति के द्वारा संपूर्ण अष्ट-प्रवचन माता अर्थात् पाँच समिति व तीन गुप्ति का भी ग्रहण जानना चाहिए। स्थान अर्थात् निकलने व प्रवेश करने में ऊर्ध्व स्थान वर्जित है। उपाश्रय आदि से बाहर निकलने अथवा प्रवेश करने में तो ऊर्ध्वस्थान संभव होता है, पर निष्क्रमण आदि अंश से भी यहाँ ऊर्ध्व स्थान का वर्जन जानना चाहिए। विनयकर्म अर्थात् परस्पर विनय के योग्य प्रतिपत्ति हो। इन सर्वज्ञ भाषित चिह्नो द्वारा सुविहित साधु जानना चाहिए।।४८।।१६२।।

अब इस प्रकार के साधु के चारित्र-मोहनीय कर्म के क्षयोपशम की विचित्रता के कारण भेदों के नाम बताते हैं -

पुलायनामो पढमो चरित्ती बीओ बउस्सो तइओ कुसीलो ।
चउत्थओ होइ नियंठनामो सव्वुत्तमो पंचओ सिणाओ ॥४९॥ (१६३)

पहला पुलाक, दूसरा बकुश, तीसरा कुशील, चौथा निर्ग्रन्थ तथा पाँचवा स्नातक - ये पाँच प्रकार के चारित्र कहे गये हैं।

पुलाक अर्थात् धान्य कण। इसके समान कुछ असार-संयम वाला होने से साधु भी पुलाक रूप होता है - यह पुलाक नामका प्रथम चारित्र है। वह दो प्रकार का है लब्धि पुलाक तथा प्रतिसेवना पुलाक। लब्धि पुलाक लब्धि-विशेष वाला होता है। जो कहा है -

संघाइयाणकज्जे चुन्नेज्जा चक्कवट्टि सेन्नंपि तीए लद्धिइ जुओ लद्धिपुलाओ मुणेयव्वो ॥
(संबोध प्र. गुर्वधिकारे गा. २४३)

संघातन करके चक्रवर्त्ती की सेना को भी चूर्णकर देनेवाली लब्धि से युक्त लब्धि पुलाक चारित्री जानना चाहिए।

प्रतिसेवना पुलाक स्खलित आदि दोषों के द्वारा ज्ञान आदि असारता को करनेवाला होता है।

बकुश चारित्री, बकुश संयम के योग से होता है। बकुश अर्थात् चितकबरा। यह भी दो प्रकार का होता है। वस्त्र-पात्र-उपकरण की विभूषा करनेवाला तथा हाथ, पैर, नख, मुख आदि शरीर के अवयवों की विभूषा करने वाला।

तीसरा कुशील चारित्री भी दो प्रकार का होता है। ज्ञानादि से अपना निर्वाह करनेवाला प्रतिसेवना कुशील कहलाता है तथा कषायों से ज्ञान आदि की विराधना करनेवाला कषाय कुशील कहलाता है।

मोहनीय कर्म की ग्रन्थि से जो निकल गया है, वह निर्ग्रन्थ चारित्री कहलाता है। यह उपशान्त मोहनीय तथा क्षीण मोहनीय गुणस्थान में स्थित मुनि को होता है।

पाँचवा स्नातक चारित्री सर्वोत्तम होता है। नहाये हुए की तरह घाती कर्म रूपी मल को धो देने से केवलज्ञानी ही होते हैं। इन्हें ही स्नातक चारित्र होता है।।४९।।१६३।।

ये पाँचों चारित्र उत्तरोत्तर शुद्ध होते हैं। ये सभी अभी प्राप्त होते हैं अथवा कुछ प्राप्त होते हैं। इसी को बताते

हैं -

निग्गंथसिणायाणं पुलायसहियाण तिण्ह वुच्छेओ ।
बकुसकुशीला दुन्नि वि जा तित्थं ताव होहिंति ॥५०॥ (१६४)

पुलाक, निर्ग्रन्थ व स्नातक - इन तीनों का विच्छेद हो चुका है। बकुश तथा कुशील-ये दोनों चारित्र, जब तक तीर्थ रहता है, तब तक रहते हैं।।५०।।१६४।।

अब तीर्थ-भावी उन दोनों के प्रति क्या करना चाहिए? तो कहते हैं -

ता तेसिं असढाणं जहसत्ति जहागमं जयंताणं ।
कालोचियजयणाए बहुमाणो होइ कायव्वो ॥५१॥ (१६५)

इसलिए इन दोनों चारित्र धारियों के साथ यथाशक्ति, यथागम उत्कृष्ट रूप से बरतना चाहिए। कालोचित यतना द्वारा बहुमान-पूजा आदि करनी चाहिए।।५१।।१६५।।

अब पूजा को परिभाषित करते हैं -

बहुमाणो वंदणयं निवेयणा पालणा य जत्तेण ।
उवगरणदाणमेव य गुरुपूया होइ विन्नेया ॥५२॥ (१६६)

बहुमान अर्थात् मानसिक प्रीति द्वारा, वंदना-बारह आवर्त्तन द्वारा, निवेदना-द्रव्य से धन धान्य आदि सर्वस्व समर्पण करना तथा भाव से सर्वात्मना मन का समर्पण करना, पालना-उनके उपदेश की आराधना करना। किस प्रकार? तो यत्नपूर्वक अर्थात् आदरपूर्वक जयणापूर्वक करनी चाहिए। उपकरण का दान अर्थात् वस्त्र आदि का दान करना। इसके साथ ही अभ्युत्थान, अभिगमन, अनुगमन आदि भी गुरुपूजा होती है-यह जानना चाहिए।।५२।।१६६।।

निर्ग्रन्थ व स्नातक की अपेक्षा से बकुश व कुशील की गुणहीनता होने पर भी इस प्रकार की प्रतिपत्ति कैसे कही गयी है? तो बताते हैं -

पलए महागुणाणं हवंति सेवारिहा लहुगुणा वि ।
अत्थमिए दिणनाहे अहिलसइ जणो पइवंपि ॥५३॥ (१६७)

महागुणों के अभाव में लघुगुण भी सेवा के योग्य होते हैं क्योंकि सूर्य के अस्त हो जाने पर लोग दीपक को भी चाहते ही हैं।।५३।।१६७।।

आगम में भी यही व्यवस्था है। जैसे -

समत्तनाणचरणाणुवाइमाणाणुगं च जं जत्थ ।
जिणपन्नत्तं भत्तीइ पूयए तं तहाभावं ॥५४॥ (१६८)

सम्यक्त्व ज्ञान व चारित्र का आनुपातिक साक्षात् आगम में नहीं कहा हुआ होने पर भी जिनोक्त-अनुसारी जो भाव-गुण विशेष पुरुष में देखें तो शेषगुण का अभाव होने पर भी उसे जिन प्रज्ञप्त मानकर भक्ति से-बहुमान से उस प्रकार के भाव से अर्थात् गुण विशेष के अनुमान से उसकी पूजा करे, सत्कार करे।।५४।।१६८।।

इसी अर्थ में आगे कहते हैं -

केसिं चि य आएसो दंसणनाणेहिं वट्टए तित्थं ।
वुच्छिन्नं च चरित्तं वयमाणे होइ पच्छित्तं ॥५५॥ (१६९)

कोई व्यक्ति, जो आगम से अनभिज्ञ हैं, उनका आदेश अर्थात् मत है कि दर्शन व ज्ञान से तीर्थ प्रवर्तित होता है। चरित्र का तो व्यवच्छेद हो गया है। पर इस प्रकार बोलते हुए को प्रायश्चित्त आता है।।५५।।१६९।।

इसी अर्थ को भावित करते हुए कहा है -

जो भणइ नत्थि धम्मो न य सामइयं न चेव य वयाइं ।
सो समणसंघबज्झो कायव्वो समण संघेण ॥५६॥ (१७०)

जो कहता है कि धर्म नहीं है, सामयिक नहीं है। व्रत भी नहीं है। उसे श्रमण संघ द्वारा श्रमण संघ से बाहर कर देना चाहिए।।५६।।१७०।।

उसे बाहर क्यों करना चाहिए? इसका कारण यह है -

दुप्पसहंतं चरणं जं भणियं भगवया इह खेत्ते ।
आणाजुत्ताणमिणं न होइ अहुणत्ति या मोहो ॥५७॥ (१७१)

दुप्पसह आचार्य पर्यन्त आज्ञायुक्त साधुओं का चारित्र जिस कारण से भगवान द्वारा इस भरत क्षेत्र में कहा गया है, उस कारण से मति से व्यामोहित मूढ़ उसका स्वीकार न करने से उन्हें संघ से बाहर कर देना चाहिए।।५७।।१७१।।

यहाँ शंका होती है कि उस प्रकार के बुद्धि-बल आदि का अभाव होने से वैसा चारित्र संभव कैसे हो सकता है? इसका समाधान करते हुए कहा है -

कालोचियजयणाए मच्छररहियाण उज्जमंताणं ।
जणजत्तारहियाणं होइ जइत्तं जईण सया ॥५८॥ (१७२)

कालोचित यतना से युक्त, मत्सर भाव रहित होकर उद्यम करते हुए, जनयात्रा से रहित अर्थात् कृत-प्रतिकृत सुख, दुःख, चिन्ता आदि लोक व्यवहार से मुक्त विजयी जिनेश्वर देव के उपासक जब तक तीर्थ होता है, तब तक रहते ही हैं।।५८।।१७२।।

इसी का समर्थन करते हुए आगे कहा है -

न विणा तित्थ नियंठेहिं ना तित्था य नियंठया ।
छक्कायसंजमो जाव ताव अणुसज्जणा दुण्हं ॥५९॥ (१७३)

सामान्य रूप से चारित्र युक्त निर्ग्रंथों के बिना तीर्थ नहीं होता और तीर्थ के बिना निर्ग्रन्थ भी नहीं होते। अतः जब तक छः काय का संयम है, तब तक बकुश व प्रतिसेवना कुशील की पालना होती ही है।

पुलाक, बकुश तथा प्रतिसेवना कुशीलों का यह नियम है, जो कि प्रज्ञप्ति (भगवती) में है। जैसे -

पुलाएणं भंते! किं तित्थे हुज्जा-अतित्थे हुज्जा!

गोयमा! तित्थे हुज्जा, नो अतित्थे हुज्जा। एवे बउसे वि पडिसेवणाकुसीले वि। कसाय कुसीले पुच्छा,

गोयमा! तित्थे वा हुज्जा अतित्थे वा हुज्जा । जइ अतित्थे हुज्जा, तित्थयरे हुज्जा, पत्तेयबुद्धे हुज्जा?

गोअमा! तित्थयरे वा हुज्जा, पत्तेयबुद्धे वा हुज्जा एवं नियंठे वि । एवं सियाणे वि ।

हे भगवन्! पुलाक क्या तीर्थ में होता या अतीर्थ में होता है?

हे गौतम! तीर्थ में होता है, अतीर्थ में नहीं होता। इसी प्रकार बकुश व प्रतिसेवना का भी समझना चाहिए। कषाय कुशील की पृच्छा में हे गौतम! तीर्थ में भी होता है और अतीर्थ में भी होता है। भगवन्! अगर अतीर्थ में होता है, तो क्या तीर्थंकर को होता है या प्रत्येकबुद्ध को होता है? हे गौतम! तीर्थंकर को भी होता है, प्रत्येकबुद्ध को भी होता है। इसी प्रकार निर्ग्रन्थ व स्नातक को भी जानना चाहिए।।५९।।१७३।।

अतः जब तक छः काय के जीवों का संयम है, तब तक बकुश व प्रतिसेवना कुशील की पालना है।

अब उत्तरार्ध का वर्णन करते हुए कहते हैं -

जा संजमया जीवेसु ताव मूला य उत्तरगुणा य ।
इत्तरियच्छेयसंजम नियंठ बकुसाऽऽयपडिसेवी ॥६०॥ (१७४)

जब तक जीवों में संयम है अर्थात् शेष गुणों का अभाव होने पर भी जब तक छः काय के जीवों की रक्षा मात्र रूप पालना उपलब्ध है, तब तक मूल रूप से मूल-गुण और उत्तर-गुण की पालना भी हैं।

जब तक मूलगुण-उत्तरगुण है, तब तक इत्वरिक तथा छेद संयम अर्थात् सामायिक व छेदोपस्थापनीय चारित्र की पालना है और जब तक ये दोनों चारित्र है, तब तक बकुश तथा आय-प्रतिसेवी कुशील की पालना भी हैं। यहाँ आय का मतलब यह है कि ज्ञानादि लाभ के प्रतिकूल-सेवी होतें हैं, अर्थात् प्रतिकूल चेष्टा करते हैं, ज्ञान आदि के द्वारा उपजीवक होते हैं, वे आय-प्रतिसेवना कुशील कहलाते है॥६०॥१७४॥

यही व्यवस्था सर्व तीर्थों में है, इसे बताते हुए कहते हैं -

सव्वजिणाणां निच्चं बकुसकुसीलेहिं वट्टए तित्थं ।
नवरं कसायकुसीला अपमत्तजई वि सत्तेण ॥६१॥ (१७५)

सभी जिनेश्वरों के अर्थात् भरत-ऐरवत तथा महाविदेह क्षेत्रवर्ती समस्त तीर्थंकरों का तीर्थ नित्य ही बकुश तथा कुशील से प्रवर्तित होता है।

क्योंकि पुलाक आदि तो कदाचित् ही होने से अल्प होते हैं। केवल इतनी विशेषता है कि कषाय की सत्ता रूप से कषाय कुशील सातवें गुणस्थानवर्ती अप्रमत्त यति को भी कहा जाता है। अतः इस प्रकार कषाय कुशील भी जब तक तीर्थ है, तब तक रहता ही है॥६१॥१७५॥

क्योंकि बकुश कुशील से तीर्थ प्रवृत्ति होती है। अतः कहते हैं -

गुरुगुणरहिओ य इहओ दट्ठव्वो मूलगुणविउत्तो जो ।
न तु गुणमित्तविहीणुत्ति चंडरुद्दो उदाहरणं ॥६२॥ (१७६)

यहाँ गुरु के विचार में गुरु-गुण से रहित उसे ही जानना चाहिए, जो मूलगुण से रहित है। उपलक्षण से तो जो बार-बार उत्तर गुण का विराधक होता है वह मूल-गुण का विराधक हो जाता है। कहा भी है -

जो चयइ उत्तरगुणे मूलगुणे वि अचिरेण सो चयइ । (उप. माला ११७)

अर्थात् जो उत्तरगुण से च्युत होता है, वह शीघ्र ही मूल गुण से भी च्युत हो जाता है।

यहाँ पुनः गुण मात्र से रहित नहीं जानना चाहिए, क्योंकि प्रिय वचन, विशिष्ट उपशम आदि गुण से रहित **चण्डरुद्राचार्य** का उदाहरण यहाँ दिया जाता है, जो प्रकृति से क्रोधी होते हुए भी बहुत से संविग्न, गीतार्थ शिष्यों को मुक्ति दिलाने के कारण बहुत ही सम्मान के कारण बनें। उनकी कथा इस प्रकार है -

।। चण्डरुद्राचार्य ।।

जिस प्रकार प्रवाल रत्न में रंग स्फुरायमान होता है उसी प्रकार देशो में स्फुरित कर्बट से छोटा और पत्तन से उत्तम अवन्ती नामक देश था। जैसे - गीतों में ग्रामराग शुभ होता है उसी प्रकार इस राज्य में भी शुभ गाँव थे। कुत्सित राजाओं में तीक्ष्ण कर को धारण करने के समान इस देश में भी स्वर्णआदि की प्रचुर खानें थीं। पुण्य कर्म की सत्ता होने से दान के अभ्यास से योगप्रिय सुसाधु जिनको प्रिय थे। भोग के अभ्यास से जो प्रियाएँ वल्लभ से अविरहिनि थी, ऐसे मनुष्यों से युक्त वह देश था। अर्थात् दान व भोग के अभ्यास से उनके पावन कर्म थे।

एक बार उस नगरी में बहुत से शिष्य परिवार से युक्त आचार्य चण्डरूद्र ग्रामानुग्राम विहार करते हुए वहाँ पधारें। निरवद्य, निराबाध धर्म ध्यान की वृद्धि करते हुए वे नैष्ठिक ब्रह्मचारी बाहर के सूनसान उद्यान में पधारें। कम

अथवा ज्यादा अनुष्ठानों को देखकर वे शुद्ध क्रिया में रत आचार्य साधुओं पर अत्यन्त रोष करते थे। उन यतनाशाली सुसाधुओं के प्रमाद की बहुलता से थोड़ा सा भी दोष तो लग ही जाता था। तब गुरु चित्त में विचार करते थे कि थोड़ासा अपराध होने पर भी मैं क्रोध करता हूँ, इसलिए संक्लेश से मैं कर्मबन्ध कर लेता हूँ। स्मारण, वारण आदि द्वारा मैं जो भी शुभ कर्म अर्जित करता हूँ। उससे अनेक गुणा शुभकर्म मैं संक्लेश रूपी अग्नि में जला देता हूँ। तब मेरी इस क्रिया द्वारा लाभ से हानि अधिक हो जाती है। इस अनात्मनी रूप में मैं क्या करुँ? इस प्रकार विचार करके भव से उद्विग्न होकर वे अपने हित के लिए सदैव वहीं रहते थे जहाँ से उन्हें अन्य साधु दृष्टिगोचर न हो। नित्य ही एकाग्र मन द्वारा एकान्त में स्वाध्याय करते हुए मन्त्र जाप आदि के द्वारा भाववैरी क्रोध कषाय के प्रति अभिचार यानि उसका मारण करने का कार्य लगातार करते थे। अर्थात् क्रोध से मुक्त होने का उपाय करते थे।

एक बार नव-विवाहित प्रौढ़ यौवन वाला इभ्यपुत्र श्रृंगार रूपी पथ्य से विभूषित होकर मित्रों से घिरा हुआ वहाँ आया। उन सुसाधुओं के पास आकर उपहास पूर्वक प्रणिपात करके कहा कि हमें धर्म कहें। यह निश्चय ही क्रीड़ा करने वाला हैं - यह सोचकर उन साधुओं ने कुछ नहीं कहा। उनके वचनों को सुना ही न हो इस प्रकार स्वाध्याय में निरत हो गये। उस इभ्य पुत्र ने पुनः माया पूर्वक अंजलि करके कहा - हे उत्तम मुनि! मुझे दीक्षा दें। संसार से पार उतारें। प्रसन्न होवें। उसके मित्रों ने भी कहा - हाँ! प्रभु! दुर्भाग्य के दोष से पत्नी द्वारा भी यह परित्यक्त है, अतः दीक्षा के लिए यह योग्य है। मुनियों ने विचार किया कि ये दुष्ट उच्छृंखल हमें ठग रहे हैं। अतः इनकी औषधि हमारे गुरु के बिना अन्य कोई नहीं है। इस प्रकार विचारकर उन साधुओं ने उन्हें गुरु को दिखाया। एवं कहा कि हम सभी को दीक्षा देने वाले ये गुरु हैं। हमारे आदेश दाता है, अतः तुम इन्हीं के पास चले जाओ। वहाँ जाकर भी क्रीड़ा पूर्वक उन कौतूहलियों ने क्षण भर का नाटक खेलने के लिए दुष्टतापूर्वक वही सब कहा। बिचारे कूपमण्डूक बालक यह नहीं जानते थे कि -

मरिचानि न शक्यन्ते चर्वितुं चणकानिव ।

मिर्च को चने की तरह नहीं चबाया जा सकता।

उनके कथन से उन्हें उत्पाती जानकर गुरु चण्डरुद्राचार्य ने कुपित होकर कहा - राख लेकर आओ। जिससे अभी शीघ्र ही मैं इसे दीक्षित कर सकूँ। उनमें से एक मित्र कहीं से भी राख लेकर आया। वह इभ्य पुत्र मुनि के आगे बैठ गया। गुरु ने उसी समय पंच नमस्कार का उच्चारण करके उसके भावी श्रेयस् को कहने के समान केश-लुंचन प्रारम्भ किया। तब उसके सभी मित्रो ने विषादग्रस्त होते हुए कहा - भूल जाओ! भूल जाओ मित्र! शीघ्र ही सत्यता को प्राप्त होओ। हंसो मत। भवितव्यता से उसने भी लघुकर्मी होने से आसन्न-सिद्धिक होने से उत्पन्नवैराग्य द्वारा विचार किया। अपने वचन द्वारा ही केशों का लोच कराकर मैंने व्रत स्वीकार किया है। अतः इसका त्यागकर मैं अब अपने घर कैसे जाऊँ? क्रीड़ा द्वारा प्राप्त व्रत वाला होने पर भी वह भाव साधु बन गया। उसके मित्र भी अधीर होकर अश्रुपूर्ण नेत्रों से लौट गये। उस नवदीक्षित ने व्रत में उत्पन्न भावना वाला होकर गुरु से कहा - भगवन्! हम अभी ही शीघ्रतापूर्वक अन्यत्र चले जायेंगे। अन्यथा मेरे माता-पिता तथा मेरी नवोढ़ा पत्नी, मेरे श्वसुर तथा राजा आदि मेरा व्रत छुड़वा देंगे। मेरे स्वजन पूज्य सुसाधुओं से अनजान हैं। वे दुराशय पूर्वक बहुत अनर्थ कर सकते हैं। हे पूज्य! आप व मैं यहाँ से चले जायेंगे। अन्यथा सपरिवार आपके जाने से तो वे सब कुछ जान जायेंगे। आप और मैं ही जायेंगे तो किसी को मालुम नहीं होगा। तब गुरु ने उससे कहा - पथ की प्रतिलेखना करो जिससे घोर अन्धकार होने पर भी सुगमतापूर्वक पथ पर चला जा सके। वह भी गुरु के आदेश के वशीभूत होकर शीघ्र ही जाकर कितने ही पथ की प्रतिलेखना करके लौट आया। तब गुरु व शिष्य दोनों ही रात्रि में निकल पड़े। आगे-आगे शिष्य तथा पीछे-पीछे गुरु चलने लगे। चण्डरुद्र गुरु रात्रि में बिना देखे शब्द बेधी बाण की तरह शिष्य के जाने

से उत्पन्न पद की ध्वनि से चलने लगे। ऊँची नीची खड्डे खोचरे वाली भूमि पर गहरे धक्के खाने से वेदना से आर्त्त होकर गुरु महाक्रोध रूपी यान पर आरूढ़ हो गये। कठोर शब्दों में कहा - हा! हा! धिक्कार है। अधम! दुष्ट शिष्य! तुमने इस प्रकार सुमार्ग का प्रतिलेखन किया? इस प्रकार कहकर दण्ड से प्रहार करके उसके सिर को फोड़ डाला। पर्वत के निर्झर से बरसने वाले पानी की तरह उस नवदीक्षित शिष्य के सिर से शीघ्र ही रुधिर बहने लगा। पर उस शिष्य ने सम्यक् प्रकार से सहन किया। थोड़ा भी क्रोध नहीं किया। उसने सिर के फूटने को कर्म के गोले के फूटने की तरह माना। उसने विचार किया कि मैं अधन्य हूँ। साधुओं के मध्य सुख पूर्वक निवास करते हुए इन गुरु को मैंने व्रत लेकर अनर्थ में डाल दिया है। मैं इन गुरु को कैसे अस्खलित सुख-स्थान में ले जाऊँ। कैसे इनके शुद्ध चित्त की समाधि करुँ। इस प्रकार विचार करके चलते हुए शुद्ध अध्यवसाय रूपी प्रयत्न से निःश्रेणि की तरह मोक्ष की क्षपक श्रेणि को प्राप्त किया। लेश्या की विशुद्धि पर आरोहित होते हुए उन महामना ने शुक्ल ध्यान का आलम्बन लेकर केवल संपदा को प्राप्त किया। फिर उसने गुरु को सुमार्ग द्वारा गुरु को सम्यक् प्रकार से ले जाना प्रारम्भ कर दिया। इधर प्रभात होने पर गुरु ने रक्त से आर्द्र शैक्ष को देखा। तब विचार किया - अहो! इस नवदीक्षित मुनि की कितनी क्षमा। अहो! यह प्रशम निधि धन्य है। कृतार्थ है। पुण्यवान् है। यह चिरकाल से प्रव्रजित मैं उच्च-आचार्यपद को पाकर भी क्रोध से जलते हुए मैंने कभी क्षमा का स्पर्श भी नहीं किया। अहो! निरपराधी शिष्य को मुझ दुरात्मा निष्ठुर द्वारा कैसे दण्ड से आहत किया गया। इस प्रकार संवेग रूपी वारि द्वारा क्रोध रूपी अग्नि को बुझाते हुए कर्म ईंधन को जलाते हुए ध्यान रूपी अग्नि को प्रदीप्त किया। क्षणभर में ही उन चण्डरूद्राचार्य ने अनन्त गुणों के पात्र होकर केवल ज्ञान को प्राप्त किया। भव्यों को प्रतिबोधित करके निर्वाण राज्य रूपी लक्ष्मी को प्राप्तकर नित्य शाश्वत सुख के अमृत सागर में निमग्न हो गये।।६२।।१७६।।

इस प्रकार चण्डरूद्राचार्य की कथा पूर्ण हुई।

अब दुःषमादि अनुभाव को आश्रित करके उपदेश देते हैं -

कालाइदोसओ जइ वि कह वि दीसंति तारिसा न जई ।
सव्वत्थ तह वि नत्थि त्ति नेव कुज्जा अणासासं ।।६३।। (१७७)

यदि कालादि दोष से यद्यपि वैसे निर्ग्रन्थ दिखायी नहीं देते हों, तो सर्वत्र वैसे साधु नहीं है - इस प्रकार अनास्था नहीं करनी चाहिए।।६३।।१७७।।

क्योंकि -

कुग्गह कलंकरहिया जहसत्ति जहागमं च जयमाणा ।
जेण विसुद्धचरित्तत्ति वुत्तमरिहंतसमयंमि ।।६४।। (१७८)

असद् अभिनिवेश रूपी कलंक से रहित यथाशक्ति यथा आगम से प्रयत्न करते हैं, इस कारण से ऐसे विशुद्ध चारित्री होते भी हैं, यह अर्हत्-सिद्धान्त में कहा गया है। अर्थात् वैसे साधु-दिखायी पड़ते ही हैं।।६४।।१७८।।

जैसे कि -

अज्ज वि तिन्नपइन्ना गरुय भरुव्वहणपच्चला लोए ।
दीसंति महापुरिसा अक्खंडियसीलपब्भारा ।।६५।। (१७९)

आज भी तीर्ण-सामायिक प्रतिज्ञावाले कठिन संयम भार का उद्वहन करने में समर्थ, अखंड शील प्राग् भार से युक्त महापुरुष दिखायी देते ही हैं।।६५।।१७९।।

तथा -

अज्ज वि तवसुसियंगा तणुअकसाया जिइंदिया धीरा ।
दीसंति जए जइणो दम्महहिययं वियारंता ॥६६॥ (१८०)

आज भी तप से शोषित अंगवाले, कषाय को कृश करने वाले, जितेन्द्रिय, धीर यति, हृदय पर प्रचण्ड संयम का कवच धारण करनेवालें महापुरुष विचरते हुए देखे जाते हैं।।६६।।१८०।।

तथा -

अज्ज वि दयसंपन्ना छज्जीवनिकायरक्खणुज्जुत्ता ।
दीसंति तवस्सिगणा विगहविरत्ता सुईजुत्ता ॥६७॥ (१८१)

आज भी छः जीव निकाय की दया से संपन्न, छः जीव निकाय के रक्षण में युक्त, विगय अथवा विग्रह से रहित, स्वाध्याय से युक्त तपस्वी गण देखे जाते हैं।।६७।।१८१।।

तथा -

अज्ज वि दयखंतिपयट्टियाइ तवनियमसीलकलियाइं ।
विरलाइं दूसमाए दीसंति सुसाहुरयणाइं ॥६८॥ (१८२)

आज भी दया, क्षमा आदि में प्रवृत्ति करनेवाले, तप-नियम-शील से युक्त विरले सुसाधु रूपी रत्न इस दुषम आरे में भी देखे जाते हैं।।६८।।१८२।।

इसलिए -

इय जाणिऊण एयं मा दोसं दूसमाइ दाऊण ।
धम्मुज्जमं पमुच्चह अज्ज वि धम्मो जए जयइ ॥६९॥ (१८३)

दूषमादि आरे में दोष का त्याग नहीं है, फिर भी चारित्र का अस्तित्व है, यह जानकर धर्म में उद्यम करें। क्योंकि आज भी धर्म का यत्न यति करता ही है।।६९।।१८३।।

इस तरह अनेक प्रकार से चारित्र के अस्तित्व की प्रतिष्ठा करके अब निर्गमन कहते हैं -

ता तुलियनियबलाणं सत्तीइ जहागमं जयंताणं ।
संपुन्नच्चिय किरिया दुप्पसहंताण साहूणं ॥७०॥ (१८४)

पूर्व यतियों के समान अपने बल, सामर्थ्य आदि से यथागम यतना करते हुए पूर्व यतियों से थोड़ी भी न्यून नहीं हो, ऐसी क्रिया दुप्पसह आचार्य तक होती है।।७०।।१८४।।

इस प्रकार चारित्रियों की व्यवस्था करके साम्यता से विशुद्ध उसी के ही चित्त को नमस्कार करते हैं -

लाहालाह-सुहासुह-जीवियमरण-ठिइपयाणेसु ।
हरिसविसाय विमुक्कं नमामि चित्तं चरित्तीणं ॥७१॥ (१८५)

लाभ-अलाभ, शुभ-अशुभ, जीवन-मरण, स्थित-प्रयाण, हर्ष-विषाद से विमुक्त चारित्रयुक्त आत्माओं के चित्त को प्रणाम करता हूँ।।७१।।१८५।।

शिष्य को समता का उपदेश देते हैं -

वंदिज्जंतो हरिसं निंदिज्जंतो करिज्ज न विसायं ।
न हु नमिय निंदियाणं सुगइं कुगइं च बिंति जिणा ॥७२॥ (१८६)

खुद को वंदन किये जाने पर हर्षित न होवे तथा निंदा किये जाने पर विषाद को प्राप्त न होवे, क्योंकि जिनेश्वर ने कहा है कि वंदे जाने पर सुगति नहीं होती और निंदा किये जाने पर दुर्गति नहीं होती।।७२।।१८६।।

उस प्रकार के साम्य का पात्र साधु जीव रूप से तुल्य होने पर भी तप आदि गुणों से वंदनीय होता है। इसकी

स्थापना करते हुए नमस्कार को कहते हैं -

वंदामि तवं तह संजमं च खंति च बंभचेरं च ।
जीवाणं च अहिंसा जं च नियत्ता घरावासा ॥७३॥ (१८७)

तप, इन्द्रिय-मन के निग्रह रूप संयम, क्षान्ति, ब्रह्मचर्य, जीवों की अहिंसा तथा गृहावास से निवृत्त साधु को प्रणाम करता हूँ॥७३॥१८६॥

अब यति धर्म के क्षमा प्रधान होने से उसीको उत्कर्ष रूप से बताते हैं -

जइ खमसि तो नमिज्जसि छज्जइ नामंपि तुह खमासमणो ।
अह न खमसि न नमिज्जसि नामंपि निरत्थयं वहसि ॥७४॥ (१८८)

यदि क्षान्ति को धारण करते हो, तो वंदना किये जाते तुम्हारा क्षमाश्रमण नाम भी शोभित होता है। अगर क्षान्ति धारण नहीं करते हो, तो वंदना नहीं किये जाओगे और नाम को भी निरर्थक ही वहन करोगे॥७४॥१८८॥

अब निरर्थक नाम को धारण करने वाले को ही भेद से कहकर उनके कृत्य बताते हैं -

पासत्थओसन्नकुसीलरूवा, संसत्तऽहाछंदसरूवधारी ।
आलावमाईहि विवज्जणिज्जा अवंदणिज्जा य जिणागमंमि ॥७५॥ (१८९)

ज्ञानादि के पास में जो रहते हैं, वे पार्श्वस्थ हैं। अवसन्न की तरह जो समाचारी के सेवन में पराभग्न हैं वे अवसन्न कहलाते हैं। जिनका शील कुत्सित होता है, वे कुशील हैं। उनका रूप यानि स्वभाव-कुशीलरूप है। सद्-असद् आचार से संपृक्त संसक्त कहलाते हैं। यथा छन्द अर्थात् स्वरूचि-प्रधान होते हैं, उत्सूत्र प्ररूपक होते हैं। उनका स्वरूप जो धारण करते हैं, वे यथाच्छंद स्वरूपधारी होते हैं। आलापादि से, यहाँ आदि शब्द से संवास आदि के द्वारा विवर्जनीय होते हैं।

जैसे -

आलावो संवासो वीसंभो संथवो पसंगो य ।
हीणायरेहिं समं सव्वजिणिंदेहिं पडिकुट्ठो ॥१॥ (उपदेशमाला गा. २२३)

आलाप, संवास, विश्रम्भ, संस्तव, प्रसंग, हीन-आचरण वाले के साथ सभी जिनेन्द्रों ने निषेध किया है।

उपरोक्त सभी प्रकार के साधु जिनागम में अवन्दनीय हैं। इनके स्वरूप की सूचक आगम गाथा इस प्रकार है-

सो पासत्थो दुविहो सव्वे देसे य दोइ नायव्वो ।
सव्वंमि नाणदंसणचरणाणं जो उ पासंमि ॥१॥
देसंमि उ पासत्थो सिज्जायरभिहडनीयपिंडं च ।
नीयं च अग्गपिंडं भुंजइ निक्कारेण चेव ॥२॥ (प्रव. सा. १०४, २०५ संबोध प्र. गुर्वधिकारे ९, १०)
कुलनिस्साए विहरइ ठवणकुलाणि य अकारणे विसइ ॥
संखडिपलोयणाए गच्छइ तह संथवं कुणइ ॥३॥ (संबोध प्र. ११)

वह पार्श्वस्थ सर्व तथा देश के भेद से दो प्रकार का जानना चाहिए। वह सर्व रूप से तो ज्ञान दर्शन चारित्र के पास में रहकर भी उससे रहित जानना चाहिए ॥१॥

देश पार्श्वस्थ शय्यांतर पिंड, अभिहत पिंड, नित्य पिंड तथा अग्रपिंड को निष्कारण भोगता है॥२॥

कुल की निश्राय में विहार करता है, अकारण स्थापना कुल में प्रवेश करता है, जीमणवार देखने के लिए जाता है, उस प्रकार से संस्तव करता है। अर्थात् जीमणवार से आहार लाने के लिए उसके स्वामी से परिचय

करता है।।३।।

अब इस वाक्य से अवसन्न को स्पष्ट किया जाता है -

ओसन्नो वि य दुविहो सव्वे देसेय तत्थ सव्वंमि ।

उउबद्धपीठफलगो ठवियगभोई य नायव्वो ॥१॥ (प्रव. सा. १०६, संबोध प्र. गुर्वधिकारे १२)

अवसन्न भी दो प्रकार का होता है - सर्व तथा देश अवसन्न। सर्व अवसन्न तो ऋतुबद्ध पीठ फलक का सेवक होता है। एकान्त रूप से बिछाये हुए संस्तारक का सेवी होता है और देश अवसन्न तो -

आवस्सगाईयाइं न करे अहवा वि हीणमहियाइं ।

गुरुवयणं च विराहइ भणिओ एसो उ ओसन्नो ॥२॥ (प्रव सा. १०८ संबोध प्र. १४)

तिविहो होइ कुसीलो नाणे तंह दंसणे चरित्ते य ।

तत्थ य नाणकुसीलो अकाल सज्झायमाईहिं ॥२॥ (प्रव. सा. १०९)

सम्मत्त कुशीलो पुण संकाई सेवगो मुणेयव्वो ।

कोउगभूईकम्माइ सेवगो होइ चरणंमि ॥३॥

आवश्यक आदि को न करे अथवा हीनाधिक करे, तो गुरुवचनों की विराधना करता है, वह अवसन्न कहा गया है।।१।।

कुशील तीन प्रकार का होता है - ज्ञान, दर्शन व चारित्र। ज्ञान कुशील अकाल में स्वाध्याय आदि करता है।।२।।

दर्शन कुशील पुनः शंका आदि का सेवक होता है तथा चारित्र कुशील कौतुक, भूति कर्म आदि को सेवन करनेवाला होता है।।३।।

सौभाग्य आदि के लिए स्त्रियों आदि का तीन राह चौराहे पर स्नान आदि करना कौतुक है। ज्वर आदि को हटाने के लिए अभिमन्त्रित रक्षा पोटली आदि देना भूतिकर्म है। आदि शब्द से निमित्त आदि जानना चाहिए।

पंचासवप्पवत्तो जो खलु तिहिं गारवेहिं पडिबद्धो ।

इत्थिगिहिसंकिलिट्ठो संसत्तो संकिलिट्ठो उ ॥१॥ (प्रव. सा. ११९)

जो पाँच आश्रवों में प्रवृत्त, तीन गर्व से प्रतिबद्ध स्त्री तथा ग्रह से संक्लिष्ट का अर्थ घर के धन-धान्य आदि में तृष्णिकारी होता है। असंक्लिष्ट तो -

पासत्थाइएसुं संविग्गेसुं च जत्थ संमिलइ ।

तहिं तारिसओ होई पियधम्मो अहव इयरो उ ॥१॥

उत्सुत्तमायरंतो उस्सुत्तं चेव पन्नवेमाणो ।

एसो उ अहाच्छंदो इच्छाच्छंदुत्ति एगट्ठा ॥२॥७५॥१८९॥ (प्रव. सा. १२०, १२१)

पार्श्वस्थ आदि में तथा संविग्न में जहाँ भी सम्मिलित होता है, उसमें वैसा ही प्रियधर्मी अथवा उससे इतर हो जाता है वह संसक्त कहा गया है ।।१।।

उत्सूत्र का आचरण करता हुआ तथा उत्सूत्र की प्ररूपणा करता हुआ स्वेच्छाचारी होकर केवल एकार्थ के लिए विचरने वाला यथाछंदी होता है ।।२।।

उन्हें वन्दन करने में क्या दोष होता है, उसे बताते हैं -

वंदंतस्स उ पासत्थमाइणो नेव निज्जर न कित्ती ।

जायइ कायकिलेसो बंधो कम्मस्स आणाइ ॥७६॥ (१९०)

पार्श्वस्थ आदि को वन्दन करते हुए न तो निर्जरा होती है, न कीर्ति होती है, किन्तु शरीर को झुकाना आदि काय क्लेश ही होता है। उनके आचार के अनुमोदन से कर्म बन्ध का आगमन होता है।

कहा भी गया है -

किइकम्मं च पसंसा सुहशीलजणंमि कम्मबंधा य ।
जे जे पमायठाणा ते ते उववूहिया हुंति ॥१॥ (आव.नि. १९९२)

अर्थात् सुख-शील वाले जनों को कृति कर्म, प्रशंसा आदि जो-जो प्रमाद के स्थान हैं, वे-वे कर्मबंध की वृद्धि करते हैं।

मूल गाथा में आये हुए आणाइ शब्द का अर्थ आज्ञा भंग आदि है अर्थात् भगवान द्वारा निषिद्ध वंदन आदि करने से आज्ञा का भंग होता है। उन्हें वन्दन करते हुए देखकर अन्य भी वंदन करेंगे, जिससे अनवस्था दोष होता है। उन्हें वंदन किये जाते हुए देखकर अन्यों को मिथ्यात्व होता है। उस कायक्लेश रूपी वंदन से अपनी अथवा देवताओं की विराधना होती है। उन्हें वंदन करने से उनके द्वारा कृत असंयम की अनुमोदना होती है, जिससे संयम की विराधना होती है।॥७६॥१९०॥

इस प्रकार पार्श्वस्थ आदि को वंदन करने में दोष बताये गये हैं। अब उन्हीं को गुणाधिकों को वंदन कराते हुए जो दोष होते हैं, उन्हें बताते हैं -

जे बंभचेरस्स वयस्स भट्ठा उड्ढं ति पाए गुणसुट्ठियाणं ।
जम्मंतरे दुल्लहबोहिया ते कुंटत्तमंटत्तणयं लहंति ॥७७॥ (१९१)

जो ब्रह्मचर्य व्रत से भ्रष्ट हैं, वे गुण-सुस्थितों के द्वारा वंदन करवाते हैं तो आनेवाले भवों में पैरों से रहित तथा जन्मान्तर में दुर्लभबोधि वाले होते हैं, वे जन्मांतर में हाथ से रहित, विसंस्थुल उरु तथा जंघा वाले होते हैं।॥७७॥१९१॥

और -

पासत्थो ओसन्नो कुसील संसत्तनीय अहच्छंदो ।
एएहिं आइन्नं न आयरिज्जा न संसिज्जा ॥७८॥ (१९२)

पार्श्वस्थ, अवसन्न, कुशील-संसक्त तथा यथाछंदी - इनके द्वारा आचीर्ण को न तो आचरण करना चाहिए और न उनका संसर्ग करना चाहिए।॥७८॥१९२॥

क्योंकि -

जं जीयमसोहिकरं पासत्थपमत्तसंजयाईहिं ।
बहुएहिं वि आइन्नं न तेण जीएण ववहारो ॥७९॥ (१९३)

बहुत सारे पार्श्वस्थ प्रमत्त संयती आदि द्वारा प्रवर्तित जो जीत समाचारी आदि अशुद्धिकारी है अर्थात् कर्म मल को दूर करने में असमर्थ है। वह जीत व्यवहार उनके लिए आचरणीय नहीं है। क्योंकि सैकड़ों अंधे मिलकर भी देख तो नहीं ही सकते।॥७९॥१९३॥

किन्तु -

जं जीयं सोहिकरं संवेगपरायणेण दंतेण ।
इक्केण वि आईन्नं तेण उ जीएण ववहारो ॥८०॥ (१९४)

जो संवेग परायण होकर इन्द्रिय दमन के द्वारा शुद्धि कारी जीत व्यवहार की आचरणा करता है, वह अकेला भी जीत व्यवहार के योग्य है॥८०॥१९४॥

अब आगे विशेषता बताते हैं -

आणाइ अवट्टंतं जो उवबूहिज्ज जिणवरिंदाणं ।
तित्थयरस्स सुयस्स च संघस्स य पच्चणीओ सो ॥८१॥ (१९५)

जिनेन्द्रवरों द्वारा श्लाघनीय आज्ञा के अनुरूप वर्त्तन नहीं करता हुआ तीर्थंकर का, श्रुत का तथा संघ का प्रत्यनीक होता है।।८१।।१९५।।

जो वस्त्र-पात्र आदि की आकांक्षा से उन्मार्ग गामी गृहस्थ का अनुवर्त्तन करते हैं। उनके प्रति कहते हैं -

किं वा देइ वराओ मणुओ सुट्ठु वि धणी वि भत्तो वि ।
आणाइक्कमणं पुण तणुयंपि अणंतदुहदेऊ ॥८२॥ (१९६)

अथवा बिचारा मनुष्य श्रेष्ठ भी, अति पुष्कल भी भोजन आदि देगा, उससे अधिक क्या देगा? और आज्ञा का थोड़ा सा भी अतिक्रमण अनंत दुःख का हेतु है।।८२।।१९६।।

तम्हा सइ सामत्थे आणाभट्ठंमि नो खलु उवेहा ।
अणुकूलगेयरेहिं अणुसट्ठी होइ दायव्वा ॥८३॥ (१९७)

क्योंकि आज्ञा का अतिक्रमण अनंत दुःख का हेतु है। अतः सामर्थ्य होने पर अर्थात् आज्ञा के अतिक्रमण के व्यावर्त्तन में समर्थ होने पर आज्ञा भ्रष्ट गृहस्थ अथवा साधु में अनुवर्तन की उपेक्षा न करे अर्थात् उन्हें हित शिक्षा योग्यतानुसार दे ।

क्योंकि -

आणाभंगं दट्ठुं 'मज्जत्था मु' त्ति ठंति जे तुसिणी ।
अविहिअणुमायेणा एतेसिं पि य होइ वयलोवो ॥१॥

अर्थात् आज्ञाभंग को देखकर भी जो मध्यस्थ होकर चुपचाप रहते हैं, उनके अविधि के अनुमोदन से भी व्रत का लोप होता है।

अतः अनुकूल तथा इतर अर्थात् प्रिय तथा कठोर वचनों द्वारा भी उन्हें शिक्षा देनी चाहिए।।८३।।१९७।।

यहाँ शंका उत्पन्न होती है कि अभी आज्ञा का उल्लंघन करने वाले बहुत ज्यादा हैं। अतः क्या करना चाहिए इसे बताते हैं -

एवं पाएण जणा कालणुभावा इहं तु सव्वे वि ।
न सुंदरत्ति तम्हा आणाजुत्तेसु पडिबंधो ॥८४॥ (१९८)

इस प्रकार दिखायी देने वाले इस युग में प्रायः करके मनुष्य यानि साधु श्रावक आदि सभी दुःषम काल के अनुभाव से यहाँ भरत क्षेत्र में भव्य नहीं है अर्थात् जिनेश्वर देवों के आज्ञानुवर्त्ती नहीं है। अतः आज्ञा में युक्त अगर थोड़े भी साधु या श्रावक हैं, तो उनका बहुमान करना चाहिए।।८४।।१९८।।

तो, जो आज्ञा का लोप करते हैं, तो उनके साथ क्या वार्त्ता हो, वह बताते हैं -

इयरेसु वि य पओसो नो कायव्वो भवठिई एसा ।
नवरं विवज्जणिज्जा विहिणा सयमग्गनिरएणं ॥८५॥ (१९९)

दूसरे भी जिनेश्वर की आज्ञा से रहित जनों पर द्वेष-मत्सर नहीं करना चाहिए। कर्म की विचित्रता से उन जनों की जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट भवस्थिती जाननी चाहिए। बस! इतनी विशेषता है कि सूत्रनीति द्वारा आलाप आदि विधि का त्याग कर देना चाहिए। अर्थात् एक उपाश्रय में रहना (संवास), परिचय (संस्तव), वस्त्रादि का दान तथा ग्रहण का व्यवहार त्याग देना चाहिए। सदा सिद्धान्त में कही हुई नीति के व्यवहार मार्ग में निरत रहना

चाहिए।।८५।।१९९।।

इसी में विशेष को कहते हैं -

अग्गीयादाइन्ने खित्ते अन्नत्थ ठिइ अभावंमि ।
भावाणुवघायणुवत्तणाइ तेसिं तु वसियव्वं ।।८६।। (२००)

अगीतार्थ पार्श्वस्थ आदि द्वारा व्याप्त नगर आदि क्षेत्र में अन्यत्र रहने की जगह का अभाव होने पर भावरूप चारित्र परिणाम के अनुपघात पूर्वक, मन की कलुषता के हेतु रूप उस कलह के त्याग से उनके अनुवर्त्तन द्वारा वचन-नमस्कार आदि की अनुकूलता के साथ उनके साथ रहना चाहिए। वर क्षेत्रान्त होने पर उनके द्वारा भावित वसती में नहीं रहना चाहिए।।८६।।२००।।

अन्यथा जो दोष होता है, उसे बताते हैं -

इहरा सपरुवघाओ उच्छोभाईहिं अत्तणो लहुया ।
तेसिं पि पावबंधो दुगं पि एयं अणिट्ठं ति ।।८७।। (२०१)

अन्यथा ऐसा नहीं करने पर स्व तथा पर का उपघात होता है। तथा प्रबल रूप से जिसकी शोभा चली गयी है, ऐसी आत्मा की लघुता होती है। आदि शब्द से कलह आदि से भी आत्मा की लघुता होती है। गुणी-जनों के प्रति द्वेष भाव रखने से उनके भी पाप का बन्ध होता है। अतः ये दोनों ही अनिष्ट होते हैं।।८७।।२०१।।

अब निगमन को कहते हैं -

ता दव्वओ य तेसिं अरत्तदुट्ठेण कज्जमासज्ज ।
अणुवत्तणत्थमीसिं कायव्वं किं पि नो भावा ।।८८।। (२०२)

अतः राग द्वेष रहित साधु द्वारा द्रव्य से उनके ज्ञान आदि कार्य को प्राप्त करके कुछ वचन-नमस्कार आदि थोड़ी सी अनुवर्त्तना के लिए करना चाहिए। लेकिन भाव से कुछ नहीं करना चाहिए।

जैसे कि -

वायाइ नमुक्कारो हत्थुस्से व सीसनमणं वा ।
संपुच्छण च्छणं छोभवंदणं वंदणं वावि ।। (आव. निर्युक्ति ११२७)

वचन से नमस्कार, हाथ जोड़ना, शीष नमाना, सुखशाता पूछनी, थोभवंदन और वंदन ये सभी क्रियाएँ कार्य की उपस्थिति में सिर्फ द्रव्य मात्र से करे।

यहाँ शंका होती है कि पूर्व में इन्हीं के साथ आलाप आदि का निषेध किया गया है, तो अब ऐसा क्यों कहा गया है? तो कहते हैं कि सत्य है। अपवाद मार्ग को आश्रित करके ही ऐसा कहा गया है।।८८।।२०२।।

अब उत्सर्ग व अपवाद दोनों में कौन किससे सिद्ध होता है, इसे बताते हैं -

उन्नयमविक्ख निन्नस्स पसिद्धि उन्नयस्स निन्नाउ ।
इय अन्नुन्नाविक्खा उस्सग्गववाय दो तुल्ला ।।८९।। (२०३)

उन्नत की अपेक्षा से निम्न तथा निम्न की अपेक्षा से उन्नत सिद्ध होता है। इसी प्रकार उत्सर्ग व अपवाद दोनों ही अन्यान्य की अपेक्षा से तुल्य है। अतः कोई भी किसी से भी सिद्ध नहीं होता।

निशीथ में भी कहा गया है -

जावइया उस्सग्गा तावइया चेव हुंति अववाया ।
जावइया अववाया तावइया चेव उस्सग्गा ।।१।।

जितने उत्सर्ग हैं उतने ही अपवाद हैं और जितने अपवाद हैं उतने ही उत्सर्ग हैं।

अतः दोनों ही भगवान् द्वारा कथित होने से निर्जरा के हेतु हैं।।८९।।२०३।।

इस प्रकार अर्थ पर्यवसित हुआ। ज्याद क्या कहें। अतः पूर्व प्रस्तावना को कहते हैं -

मा आयन्नह मा य मन्नह गिरं कुतित्थियाणं तहा ।
सुत्तुत्तिन्नकुबोहकुग्गहगहग्घत्थाणमन्नाण वि
नाणीणं चरणुज्जुयाण य तहा किच्चं करेहायरा,
निस्सेसं जणरंजणत्थमुचियं लिंगाव सेसाण वि ।।९०।। (२०४)

कुतीर्थियों की वाणी को न सुने,न माने। सूत्र से उत्तीर्ण कुबोध रूपी कुग्रह से ग्रस्त अन्य तथा अपने यूथ में रहे हुए की वाणी को भी न सुने, न माने। ज्ञानियों के चरण में उद्यत जनों के संपूर्ण कृतिकर्म आदि कृत्य को आदर पूर्वक करे। जन-रंजन पासत्थादि के भक्तों को आवर्जित करने के लिए उचित आलाप, नमस्कार आदि पासत्थादि लिंगधारी को भी करे।।९०।।२०४।।

तथा -

गुरुकम्माण जियाणं असमंजसचिट्ठियाणि दट्ठूणं ।
निंदपओसं मणयंपि सव्वहा संविवज्जेह ।।९१।। (२०५)

भारे कर्मी जीवों की अव्यवस्थित चेष्टाओं को देखकर थोड़ी भी निंदा अथवा मात्सर्य भाव का सर्वथा त्याग करें। अर्थात् पासत्थादि की भी निन्दादि न करें।।९१।।२०५।।

और भी -

दूसमकालसरुवं कम्मवसितं च सव्वजीवाणं ।
भावेह कुणह गुरुयायरं य गुणवंत पत्तेसु ।।९२।। (२०६)

सभी जीवों के दूषम कालिक तथा कर्मवासित स्वरूप को जानें। गुणवान् प्राप्त होने पर उसमें गुरु बुद्धि से आदर करे।।९२।।२०६।।

इस प्रकार पूज्य श्री चक्रेश्वर सूरि द्वारा प्रारम्भ उनके प्रशिष्य श्री तिलकाचार्य द्वारा निर्वाहित सम्यग् वृत्ति में चौथा साधु तत्त्व समाप्त हुआ।

।। ५ ।। तत्त्व- तत्त्व ।।

अब मूल द्वार - गाथा के क्रम से प्राप्त पाँचवे तत्त्व की व्याख्या करते हैं। पूर्व तत्त्व के साथ इसका सम्बन्ध यह है कि पूर्व में गुरु का स्वरूप कहा गया। गुरु तत्त्व का वर्णन करते हैं। अतः तत्त्व नामक तत्त्व कहा जाता है। उसकी प्रथम गाथा इस प्रकार है -

जीवाजीवा पुन्नं पावासव-संवरो य निज्जरणा ।
बंधो मुक्खो य तहा नवतत्ता हुंति नायव्वा ।।१।। (२०७)

१. *चेतनावान् जीव है।*
२. *अजीव चेतनारहित है।*
३. *शुभ प्रकृति रूप पुण्य है।*
४. *अशुभ प्रकृति पाप है।*
५. *जिसके द्वारा कर्म आते हैं, वे हिंसादि तत्त्व आश्रव हैं।*

६. *आश्रव का निरोध करना संवर है।*

७. *विपाक से अथवा तपस्या से कर्म का परिशाटन करना निर्जरा है।*

८. *जीव तथा कर्म का गाढ़ आश्लेष बन्ध है।*

९. *सर्वकर्म से मुक्त आत्मा की स्थिती मोक्ष है।*

ये नौ तत्त्व सिद्धान्त में कहे हुए प्रकार से जानने चाहिए, लेकिन कुतीर्थियों द्वारा कल्पित नहीं जानना चाहिए।।१।।२०७।।

अब "जैसा उद्देश, वैसा निर्देश" के कारण जीव तत्त्व का वर्णन किया जाता हैं -

एगविह दुविह-तिविहा-चउहा-पंचविह छव्विहा जीवा ।
चेयण तस इयरेहिं वेयगइकरणकाएहिं ।।२।। (२०८)

जीव एक प्रकार का भी होता है - चेतन लक्षणवाला होने से। चेतना रूप से एकविधता समस्त जीवों के अव्यभिचारी होती है।

जो त्रासित होते हैं, वे त्रस हैं। उससे इतर स्थावर हैं। उनका भाव तत्त्व है, उससे संपूर्ण जीव राशि चर तथा अचर रूप होने से दो प्रकार की है। इस प्रकार आगे भी लक्षणों की व्यापकता जान लेनी चाहिए।

स्त्री वेद, पुरुष वेद तथा नपुंसक वेद से जीव तीन प्रकार का है।

नरक, तिर्यंच मनुष्य व देव गति की अपेक्षा से जीव चार प्रकार का है।

स्पर्शन आदि पाँच इन्द्रियों की अपेक्षा से जीव पाँच प्रकार का है।

पृथ्वी-काय आदि छः कायों की अपेक्षा से जीव छः प्रकार का है।।२।।२०८।।

तथा -

पुढवी-आउ-तेऊ-वाऊ-वणस्सई तहेव बेइंदि ।
तेइंदिय-चउरिंदिय- पंचदियभेयओ नवहा ।।३।। (२०९)

पृथ्वीकाय, अप्काय तेउकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय, बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चउरिंद्रिय तथा पंचेन्द्रिय के भेद से जीव नौ प्रकार का है।।३।।२०९।।

तथा -

एगिंदियसुहुमियरा सन्नियरपणिंदिया सबितिचउ ।
पज्जत्तापज्जत्ताभेएणं चउदसग्गामा [सभूअगामा] ।।४।। (२१०)

एकेन्द्रिय के सूक्ष्म व बादर दो भेद है। सूक्ष्म नाम कर्म के उदय से संपूर्ण-लोक-व्यापी निरतिशायिओं द्वारा अदृश्य सूक्ष्म जीव होते हैं। इससे इतर बादर नाम कर्म के उदय से प्रति नियत स्थान वर्त्ती जीव बादर होते हैं। मन के विज्ञान से युक्त जीव संज्ञी कहलाते हैं। उससे इतर असंज्ञी है।

इस प्रकार सूक्ष्म एकेन्द्रिय, बादर एकेन्द्रिय, बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चउन्द्रिय, असंज्ञी पचेन्द्रिय तथा संज्ञी पंचेन्द्रिय ये ७ भेद हुए। इन सात के पर्याप्त तथा अपर्याप्त मिलकर चौदह भेद हुए। ये चौदह ग्राम अर्थात् जीव-निवास के स्थान हुए।।४।।२१०।।

पुनः दूसरे प्रकार से जीव के भेदों को कहते हैं -

पुढविदगअगणिमारुयवणस्सइणंता पणिंदिया चउहा ।
वणपत्तेया विगला दुविहा सव्वेवि बत्तीसं ।।५।। (२११)

पृथ्वी, अप्, तेउ, वायु तथा साधारण वनस्पति इन पाँचों के सूक्ष्म-बादर, पर्याप्त तथा अपर्याप्त ये सभी

मिलकर बीस भेद हुए। पंचेन्द्रिय के संज्ञी, असंज्ञी, पर्याप्त, अपर्याप्त ये चार भेद हुए। ये २४ हुए। प्रत्येक वनस्पति, बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय तथा चउरिन्द्रिय ये चार के पर्याप्ता-अपर्याप्ता आठ भेद हुए। कुल मिलाकर बत्तीस भेद हुए।५।।२११।।

यहाँ पर बेइन्द्रिय आदि संस्थान तो साक्षात् ही देखे जाते हैं, पर पृथ्वी आदि सूक्ष्म होने से दिखायी नहीं पड़ते। अतः उनके संस्थानों को कहा जाता है -

मस्सूरए य थिबुए सूइ पडागा अणेगसंठाणा ।
पुढवीदगअगणिमारुयवणस्सईणं च संठाणा ।।६।। (२१२)

पृथ्वीकाय का संस्थान मसूर की दाल के आकार का, अप्काय का जलबिन्दु के आकार का, तेउ काय का सूई की नोक के आकार का, वायुकाय का ध्वजापताका के आकार का तथा वनस्पतिकाय का संस्थान अनेक प्रकार का होता है। यहाँ संस्थान का मतलब शरीर के पुद्गलों की रचना-विशेष है।।६।।२१२।।

अब जीव में रही हुई इन्द्रियों के विषय को कहते हैं -

संगुलजोयणलक्खो समहिओ नव बारसुक्कसो विसओ ।
चक्खुत्तियसोयाणं अंगुलअस्संखभागियरो ।।७।। (२१३)

चक्षु इन्द्रिय का उत्कृष्ट विषय अपनी अंगुल से निष्पन्न एक लाख योजन से कुछ अधिक होता है। त्रिक अर्थात् स्पर्शना, रसना तथा घ्राण रूप इन्द्रिय का नव योजन एवं श्रोत्रेन्द्रिय का बारह योजन प्रमाण जानना चाहिए। यह प्रमाण सभी को अपने-अपने अंगुल के प्रमाण से जानना चाहिए। नव योजन की दूरी से आती हुई गन्ध तथा बारह योजन की दूरी से आती हुई ध्वनि इनका विषय होती है - यह अभिप्राय हुआ। जघन्य विषय सभी का अंगुल के असंख्यातवें भाग का जानना चाहिए। लेकिन चक्षुइन्द्रिय का जघन्य विषय यह नहीं होता। क्योंकि आँख अति संनिकट को नहीं देख पाती।

भाष्य में भी कहा है -

अवरमसंखिज्जंगुल भागा उ नयणवज्जाणं ।
संखिज्जयभागा उ नयणस्स मणस्स न विसयपमाणं ।।

चक्षुइन्द्रिय को छोड़कर शेष इन्द्रिय का जघन्य विषय अंगुल के असंख्यातवें भाग का जानना चाहिए। चक्षुइन्द्रिय का जघन्य विषय अंगुल के संख्यातवें भाग तथा मन का विषय-प्रमाण नहीं है।

जैसे कि - अपने अंगुल प्रमाण से लाख योजन का विषय भी अप्रकाशित द्रव्य की अपेक्षा से जानना चाहिए, जो कि चक्षु के विषय रूप से कहा गया है। प्रकाशित द्रव्य की अपेक्षा से तो २१ लाख योजन झाझेरा जानना चाहिए। कहा भी गया है -

लक्खेहिं एगवीसाइरेगेहिं पुक्खरद्धंमि ।
उदये पिच्छंति नरा सूरं उक्कोसए दिवसे ।।१।। (आवश्यकनिर्युक्ति ३४५)

पुष्करार्द्ध द्वीप में उत्कृष्ट दिन में अर्थात् कर्क संक्रान्ति के दिन मनुष्य सूर्य से प्रकाशित द्रव्यों को इक्कीस लाख योजन से कुछ अधिक दूरी तक देखते हैं।।७।।२१३।।

अब जीव में रहे हुए प्राण आदि को कहने की इच्छा से द्वार गाथा कही जाती है -

पाणा पज्जत्तीओ तणुमाणं आउयं च कायठिई ।
लेसासंजमजोणी एएसिं जाणियव्वाइं ।।८।। (२१४)

प्राण, पर्याप्ति, अवगाहना, आयु, स्थिती, लेश्या, संयम-योनि जानने योग्य हैं।

प्राण इन्द्रिय आदि हैं। पर्याप्तियाँ आहार आदि ग्रहण करने का सामर्थ्य है। तनुमान शरीर का परिमाण है। आयु अर्थात् जीवित है। स्थिती अर्थात् पृथ्वीकाय आदि निकाय में काय की अवस्थिती है। लेश्या आत्मा का परिणाम विशेष हैं। संयम-योनि अर्थात् सत्य मनोयोग आदि उसके होने से संयम की योनि है। इन सब के प्रस्ताव से जीवों का ज्ञान करना चाहिए।।८।।२१४।।

अब आदि में प्राणद्वार का वर्णन करके हिंसा के स्वरूप को कहते हैं -

पंचिंदिय तिविहबलं नीसासूसासआउयं चेव ।
दसपाणा पन्नत्ता तेसिं विघाओ भवे हिंसा ।।९।। (२१५)

स्पर्शन आदि पाँच इन्द्रिय, मन-वचन-काया जनित तीन प्रकार का बल अर्थात् शक्ति विशेष, निःश्वास-उच्छ्वास अर्थात् हवा का ऊपर नीचे का प्रसार, आयु अर्थात् जीवित-ये दस द्रव्य प्राण तीर्थंकरों आदि द्वारा बताये गये हैं। इन द्रव्य प्राणों का विघात करना हिंसा है। केवल जीव का विनाश हिंसा नही है, क्योंकि जीव तो अप्रच्युत, अनुत्पन्न तथा स्थिर-एक स्वभाव वाला है।।९।।२१५।।

अब पर्याप्ति बताते हैं -

आहारसरीरिंदिय पज्जत्ती आणपाणभासमणे ।
चत्तारि पंच छप्पिय एगिंदिय दिगल सन्नीणं ।।१०।। (२१६)

१. *जिसके द्वारा आत्मा आहार ग्रहण करके खल-रस रूप से परिणमित करता है, वह शक्ति आहार-पर्याप्ति है।*
२. *जिसके द्वारा रसीभूत आहार को सप्त-धातु रूप से परिणमित करता है, वह शरीर-पर्याप्ति है।*
३. *जिसके द्वारा धातु-भूत इन्द्रिय रूप से परिणमित होता है, वह इन्द्रिय-पर्याप्ति है।*
४. *जिसके द्वारा उच्छ्वास योग्य वर्गणा द्रव्य को लेकर उच्छ्वास रूप से परिणमित किया जाता है, वह उच्छ्वास पर्याप्ति है।*
५. *जिसके द्वारा मन-प्रायोग्य वर्गणा द्रव्य को लेकर मन रूप से आलंबन करके छोड़ा जाता है, वह मनः पर्याप्ति है।*

यहाँ वैक्रिय व आहारक शरीर-धारियों के शरीर पर्याप्ति अन्तर्मुहूर्त्त की तथा शेष के एक समय की होती है। औदारिक शरीर-धारियों की आहार-पर्याप्ति ही एक समय की होती है, शेष तो प्रत्येक अन्तर्मुहूर्त्त की होती है।

अब किसके कितनी पर्याप्ति होती है-यह बताते हुए कहते हैं कि एकेन्द्रिय के चार, विकलेन्द्रिय के पाँच तथा संज्ञी जीवों के छः पर्याप्ती होती हैं। विकल में बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चउरिन्द्रिय तथा असंज्ञी शामिल हैं। ये पर्याप्तियाँ अपने-अपने पर्याप्त नाम कर्म के उदय वाले जीवों में ही संपूर्ण होती हैं। जो अपर्याप्त अवस्था में मर जाते हैं, वे उच्छ्वास आदि पर्याप्ति से अपर्याप्त होते हैं। शरीर-इन्द्रिय आदि पर्याप्ति से अपर्याप्त नहीं होते। जीव पर भव का आयु बाँधकर ही मरते हैं और वह आयुबन्ध शरीर व इन्द्रिय पर्याप्ति के अभाव में नहीं होता।।१०।।२१६।।

आहारादि पर्याप्तियों को कहा गया। क्या सभी जीव आहारक होते हैं अथवा नहीं? इसको बताते हैं -

विग्गहगइमावन्ना केवलिणो समुहया अजोगी य ।
सिद्धाय अणाहारा सेसा आहारगा जीवा ।।११।। (२१७)

विग्रह गति प्राप्त, केवली-समुद्घात में रहे हुए, अयोगी तथा सिद्ध अनाहारक होते हैं, शेष आहारक होते हैं।

विग्रह गति सिद्धान्त भाषा में वक्र गति कही जाती है। यहाँ से भवान्तर में जाते हुए दो प्रकार की गति होती

है - ऋजु तथा वक्र। जीव व पुद्गल के अनुश्रेणि गमन से अनुश्रेणि में स्थित उत्पत्तिस्थान में ऋजुगति से एक ही समय में जाता है। उसी समय में आहार ग्रहण करता है। विश्रेणि में स्थित जाता हो तो दो, तीन, चार वक्र गति को प्राप्त प्रथम समय में भुक्त शरीर आहारक तथा अन्त्य समय में आगामी शरीर आहारक तथा मध्यम के एक दो तीन समयों में यथा संख्य अनाहारक होता है। वक्र इस प्रकार है -

विदिसाउ दिसं पढमे बीए पविसरइ नाडिमज्जंमि ।
उड्ढं तइए तुरिए य नीए विदिसं तु पंचमए ॥१॥

जीव विदिशा से दिशा को प्रथम समय में, दूसरे समय में त्रस नाल में प्रवेश करता है। तीसरे समय में ऊपर जाता है। चौथे समय में नीचे तथा पाँचवें समय में विदिशा में जाता है।

केवली के द्वारा सम्यक् प्रकार से चारों ओर से प्रबलता पूर्वक आत्म-प्रदेशों से चौदह राजू लोक को पूरा जाता है, अर्थात् लोकाकाश को आत्म प्रदेशों द्वारा हनन करते हैं। धातु अनेकार्थी होने से पूर्ण करना आदि अर्थ होते हैं, वे केवली आयुष को अल्प तथा वेदनीयादि कर्म की अधिकता को जानकर उसके समीकरण के लिए आठ समय का समुद्घात करते हैं। उसकी विधि इस प्रकार है -

प्रथमे समये दण्डं स्वदेहविष्कम्भमूर्ध्वमधश्च लोकान्तगामिनम् ।
कपाटमथ चोत्तरे तथा समये मन्थानमथ तृतीये लोकव्यापी चतुर्थे तु ॥
संहरन्ति पञ्चमे त्वन्तराणि मन्थानमथ पुनः षष्ठे ।
सप्तमे तु कपाटं संहरति ततोऽष्टमे दण्डम् ॥ (प्रशमरति-२७३, २७४)

प्रथम समय में अपने शरीर की चौड़ाई प्रमाण लोकान्त से लोकान्त गामी अर्थात् ऊपर से नीचे तक आत्म-प्रदेशों को दण्ड के आकार का बनाते हैं। दूसरे समय में कपाट तीसरे समय में मन्थान तथा चौथे समय में आत्मप्रदेशों को संपूर्ण लोक में व्याप्त बना देते हैं। पाँचवें समय में अन्तरों का संहार करते हैं। छट्ठे समय में पुनः मन्थान, सातवें समय में कपाट तथा आठवें समय में दण्ड का आकार बना लेते हैं।

विग्रह गति के वक्र समय में अर्थात् तीसरे, चौथे व पाँचवे समय में केवल कार्मण योगी होने से अनाहारक ही होते हैं। उमा-स्वाति वाचक ने भी कहा है -

औदारिकप्रयोक्ता प्रथमाष्टमसमययोरसाविष्टः ।
मिश्रौदारिकयोक्ता सप्तमषष्ठद्वितीयेषु ॥१॥
कार्मणशरीरयोगी चतुर्थके पञ्चमे तृतीये च ।
समयत्रयेऽपि तस्मिन् भवत्यनाहारको नियमात् ॥२॥ (प्रशमरति-२७५, २७६)

प्रथम व अष्टम समय में औदारिक काय योग प्रवृत्त होता है। द्वितीय, षष्ठ व सप्तम समय में औदारिक मिश्र काय योग प्रवृत्त होता है। तीसरे, चौथे व पाँचवें समय में कार्मणकाय योग होता है। अतः इन तीनों समय में नियमा जीव अनाहारी होता है।

अयोगियों के सिद्धि गमन के समय में पाँच ह्रस्व अक्षर के उच्चारण-मात्र समय में मन-वचन-काया का निरोध होता है, उस समय तथा सिद्ध अवस्था में जीव अनाहारक होता है। शेष जीव आहारक होते हैं॥११॥२१७॥

पर्याप्ति द्वार कहा गया है। अब तनुमान यानि अवगाहना के कथन का अवसर जानना चाहिए। अतः पृथ्वीकाय आदि की अवगाहना को बताते हैं -

अद्दामलगपमाणे पुढविक्काए हवंति जे जीवा ।
ते पारेवयमित्ता जंबुद्दीवे न माइज्जा ॥१२॥ (२१८)

पीलु नामक वृक्ष का जो पुण्यदल होता है, वह आर्द्र आमलक होता है, उसके प्रमाण पृथ्वीकाय के जीव होते हैं। वे सभी जीव अलग-अलग कबूतर जितनी काया धारण कर लेवें, तो इस जंबूद्वीप में नहीं समा सकते।।१२।।२१८।।

अब अप्काय का तनुमान कहते हैं -

एगंमि उदगबिंदुमि जे जीवा जिणवरेहिं पन्नत्ता ।
ते वि य सरिसवमित्ता जंबुद्दीवे न माइज्जा ।।१३।। (२१९)

जिनेश्वरों ने एक पानी की बुँद में जितने जीव बताये हैं, वे एक-एक जीव अगर एक-एक सरसों के दाने जितनी काया धारण करे, तो इस जंबूद्वीप में समावे नहीं। यहाँ सर्षव प्रमाण कहने का तात्पर्य यह है कि पृथ्वी से अप्काय के जीव सूक्ष्म होते हैं। उत्तरोत्तर सभी कायों के जीव पूर्व-पूर्व की अपेक्षा सूक्ष्म होते हैं। अर्थात् अप्काय से तेउकाय के जीव सूक्ष्म इस प्रकार समझना।।१३।।२१९।।

यहाँ शंका होती है कि यदि ऐसा है, तो पृथ्वी आदि के शरीर अति सूक्ष्म होने पर कैसे दिखायी देते हैं? इसका समाधान करते हुए कहा जाता है -

एगस्स दुण्ह तिण्हव संखिज्जाण य न पासिउं सक्का ।
दीसंति सरीराइं पुढविजियाणं असंखिज्जा ।।१४।। (२२०)

एक, दो, तीन अथवा संख्याता पृथ्वीजीवों के शरीर देखने के लिए छद्मस्थ जीव समर्थ नहीं है, किन्तु जब पृथ्वी के असंख्याता जीव इकट्ठे होते हैं, तभी वे दिखायी पड़ते हैं।।१४।।२२०।।

अब अन्यों के अतिदेश को भी कहते हैं -

आऊतेऊवाऊ एसि सरीराणि पुढविजुत्तीए ।
दीसंति वणसरीरा दीसंति असंख संखिज्जा ।।१५।। (२२१)

अप्काय, तेउकाय तथा वायुकाय के शरीर भी पृथ्वीकाय की तरह असंख्याता मिलने पर ही दिखायी देते हैं। साधारण वनस्पति काय के शरीर भी असंख्याता मिलने पर ही दिखायी देते हैं। प्रत्येक वनस्पति काय के शरीर कभी संख्याता, तो कभी असंख्याता मिलने पर दिखायी देते हैं।।१५।।२२१।।

अब आयु द्वार की गाथा-युग्म को कहते हैं -

बावीसइं सहस्सा सत्तसहस्साइं तिन्नहोरत्ता ।
वाए तिन्नि सहस्सा दसवाससहस्सिया रुक्खा ।।१६।। (२२२)
संवत्सराणि बारस राइंदिय हुंति अउणपन्नासा ।
छम्मास-तिन्नि-पलिया पुढवाईणं ठिउक्कोसा ।।१७।। (२२३)

पृथ्वीकाय की बावीस हजार वर्ष की, अप्काय की सात हजार वर्ष की, तेउकाय की तीन अहोरात्रि की, वायुकाय की तीन हजार वर्ष की, वनस्पतिकाय की दस हजार वर्ष की स्थिती होती है। जघन्य सभी की अंतर्मुहुर्त्त होती है। बेइन्द्रिय की उत्कृष्ट बारह वर्ष की, तेइन्द्रिय की उनपचास अहोरात्रि की तथा चउरिंद्रिय की छः मास की उत्कृष्ट स्थिती होती है। अनन्त वनस्पतिकाय की तो जघन्य-उत्कृष्ट दोनों ही अंतर्मुहुर्त्त की होती है।।१६-१७।। २२२-२२३।।

अब कायस्थिती को कहते हैं -

अस्संखोसप्पिणिसप्पिणीओ एगिंदियाण उ चउण्हं ।
ता चेव उ अणंता वणस्सईए उ बोधव्वा ।।१८।। (२२४)

जिस काल में जन्तुओं के शरीर, आयु, बल, बुद्धि आदि का ह्रास होता जाता है, वह अवसर्पिणीकाल कहलाता है और यह काल दस कोटा कोटि सागरोपम प्रमाण होता है।

जिस काल में जन्तुओं के शरीर, आयु, बल, बुद्धि आदि वृद्धि को प्राप्त होते जाते हैं, उसे उत्सर्पिणी काल कहते हैं। यह भी दस कोटा कोटि सागरोपम प्रमाण होता है। इस प्रकार की असंख्याता अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी पृथ्वी-अप्-तेउ-वायु रूप चार एकेन्द्रियों के होती है। वनस्पति काय की तो अनंत अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी जाननी चाहिए।।१८।।२२४।।

यह काय स्थिती सामान्य से कहने पर भी वनस्पति काय रूपी अनन्त काय की जाननी चाहिए, क्योंकि प्रत्येक वनस्पति की तो कायस्थिती भगवान् द्वारा असंख्यकाल की कही गयी है।

अब लेश्या द्वार को कहते हैं -

किण्हा-नीला-काऊ-तेऊ-पम्हा तहेव सुक्का य ।
छल्लेसा खलु एया जीवाणं हुंति विन्नेया ।।१९।। (२२५)

कृष्ण, नील, कपोत, तेजो, पभ व शुक्ल ये छः लेश्या जीवों के होती है - यह जानना चाहिए।

आत्मा को आठ प्रकार के कर्मों द्वारा जो श्लिष्ट बनाती है, वह लेश्या है। ये कृष्णादि द्रव्य के सन्निधान से अशुद्धतम-अशुद्धतर-अशुद्ध-शुद्ध-शुद्धतर-शुद्धतम परिणाम रूप छः प्रकार की लेश्या जीवों के होती है।।१९।।२२५।।

ये दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट हो जावें, अतः उन दोनों को कहा जाता है -

मूलं साहपसाहागुच्छफले छिंदपडियभक्खणया ।
सव्वं माणुस पुरिसे साउह-जुज्झंत-धणहरणा ।।२०।। (२२६)

किन्हीं छः पथिकों ने क्षुधा से आर्त्त होकर मार्ग में सैकड़ो शाखाओं-प्रशाखाओं से युक्त फलों के भार से झुके हुए जम्बू वृक्ष को देखा। उनमें से एक ने मूल को, दूसरे ने शाखा को, तीसरे ने प्रशाखा को, चौथे ने फल के आधारभूत गुच्छे को पाँचवें ने फल को तोड़ा। छट्टे व्यक्ति ने तो पुनः शुद्धतम परिणाम से हवा आदि के द्वारा जो फल नीचे गिर गये थे, उन्हें ही 'पतितभक्षणताम्' सिद्धान्त के अनुसार खा लिया। यहाँ प्रथम कृष्णलेश्या के परिणामवाला द्वितीय नील लेश्या के परिणाम वाला यावत् अन्तिम शुक्ललेश्या के परिणाम वाला जानना चाहिए।

दूसरा उदाहरण इस प्रकार है -

छः चोरों ने किसी एक गाँव को लूटना प्रारम्भ किया। एक ने सभी तिर्यंच मनुष्यों आदि को, दूसरे ने केवल मनुष्यों को, तीसरे ने केवल पुरुषों को, चौथे ने केवल शस्त्र सहितों को, निहत्थों को नहीं, पाँचवें ने उदासीनों को छोड़कर केवल लड़नेवालों को मारा। किन्तु छट्ठे चोर ने तो केवल धन का हरण किया, किसी को मारा नहीं यहाँ लेश्या का उपनय पहले दृष्टान्त के समान जानना चाहिए।।२०।।२२६।।

अब संयम द्वार को कहते हैं -

सामाइयं पढमं छेओवट्ठाणं भवे बीयं ।
परिहारविसुद्धीयं सुहुमं तह संपरायं च ।।२१।। (२२७)
तत्तो य अहक्खायं सव्वम्मि जीवलोगंमि ।
जं चरिऊण सुविहिया वच्चंतियरामरं ठाणं ।।२२।। (२२८)

सामायिक, छेदोपस्थापनीय, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसंपराय तथा यथाख्यात चारित्र - इन पाँचों चारित्रों को सर्व-जीव लोक में सुविधि से पालकर अजर-अमर स्थान को प्राप्त करते हैं।

सामायिक चारित्र दो प्रकार का है - इत्वर तथा यावत्कथिक। यहाँ इत्वर चारित्र तो भरत-ऐरवत-क्षेत्र में प्रथम व अंतिम तीर्थंकर की तीर्थउपस्थापना में होता है। उस समय छेदोपस्थापनीय चारित्र नहीं होता। अतः उसका कथन नहीं किया गया है। यावत् कथित चारित्र मध्यम बावीस तीर्थंकरों के तीर्थ में और महाविदेह में उपस्थापना के भाव में उसका कथन होने से जीवन भर संभवित होता है।

सातिचार यति के छेद अथवा निरतिचार यति या शैक्षक के तीर्थान्तर सम्बन्धी अथवा तीर्थान्तर प्रतिपद्यमान के पूर्व पर्याय का छेद रूप होने से उसमें उपस्थापना युक्त होने से महाव्रतों के आरोपण रूप जो चारित्र होता है, वह छेदोपस्थापनीय चारित्र है।

परिहारविशुद्धिक दो प्रकार का है - निर्विशमानक निर्विष्टकायिक। इसमें पहला आसेवमानों को तथा दूसरा आसेवित चारित्रियों को होता है। नौ साधु का गण इसे अंगीकार करता है। चार परिहारक तथा चार वैयावृत्यकारी होते हैं और एक-एक अनुपारिहारिक कल्पस्थित वाचनाचार्य होते हैं। उनका यह तप होता है, जैसे - पारिहारिक को तप जघन्य, मध्यम तथा उत्कृष्ट तीन प्रकार का होता है जो शीत, ऊष्ण तथा वर्षाकाल में तीर्थंकरों द्वारा बताया गया है। जघन्य तप ग्रीष्म काल में होता है। जघन्य उपवास, मध्यम बेला तथा उत्कृष्ट तेले का तप करते हैं। शिशिर ऋतु में जघन्य बेला, मध्यम तेला व उत्कृष्ट चार उपवास, वर्षाऋतु में जघन्य से अट्ठम, मध्यम में चार उपवास और उत्कृष्ट से पंचोला होता है। पारणे के दिन आयंबिल करते हैं। पाँच में से दो अभिग्रह भिक्षुग्रहण करते हैं। कल्पस्थित तो यही आयम्बिल प्रतिदिन करते हैं। इस प्रकार पारिहारिक छः माह तक इस तप को करते हैं। फिर छः महीने तक वैयावृत्यकारी पारिहारिक बन जाते हैं एवं पारिहारिक वैयावृत्यकारी बनकर इस तप को करते हैं। कल्पस्थित भी पुनः छ मास तक यह तप करता है। शेष आठों उसकी सेवा करते हैं। इस प्रकार अट्ठारह महीनों में यह कल्प पूरा होता है। संक्षेप में यह बताया गया है। विस्तारपूर्वक तो सूत्र से जानना चाहिए। फिर वे नौ ही जने कल्प में लौट आते हैं, जिनकल्प को स्वीकार करते हैं या गच्छ में चले जाते हैं। प्रतिपद्यमान तो पुनः तीर्थंकर के पास प्रव्रजित होते हैं। यह कल्प तीर्थंकरों की साक्षी में ही होता है, अन्य के पास नहीं। इसी कारण से परिहारविशुद्ध चारित्र भी जिनेश्वर के समय में ही कहा गया है। उपशम श्रेणि व क्षपक श्रेणी में लोभ के अनुवेदन के समय में सूक्ष्म संपराय अर्थात् लोभ का थोड़ा सा भी अंश रूप कषाय होने से उसे सूक्ष्मसंपराय चारित्र कहा जाता है। यथाख्यात चारित्र तो अर्हत् द्वारा कहे गये स्वरूप को अनतिक्रमण करते हुए उसके समान छद्मस्थ के उपशान्त मोह तथा क्षीण मोह नामक गुणस्थानों में रहे हुए साधु को तथा सयोगी-अयोगी केवली रूपी द्वयगुणस्थानवर्त्ती को होता है॥२१-२२॥२२७-२२८॥

अब योनि द्वार का वर्णन करते हैं -

पुढवीदगअगणिमारूय इक्केक्के सत्तजोणिलक्खाओ ।
वणपत्तेय अणंता दस चउद्दस जोणिलक्खाओ ॥२३॥ (२२९)
विगलिंदिएसु दो दो चउरोचउरो य नारयसुरेसु ।
तिरिएसु हुंति चउरो चउद्दसलक्खा उ मणुएसु ॥२४॥ (२३०)

पृथ्वी, अप्, तेउ तथा वायु - इनकी प्रत्येक की योनि सात-सात लाख की है। प्रत्येक वनस्पति की दस लाख की है। साधारण वनस्पति काय की चौदह लाख की है। विकलेन्द्रियों की दो-दो लाख की; नारक व देवों की चार-चार लाख की, तिर्यंच पंचेन्द्रिय की चार लाख की तथा मनुष्य की चौदह लाख की है ।

सभी मिलाकर चौरासी लाख जीवयोनि होती है। यहाँ समान वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श परिणाम वाले बहुत से भी व्यक्तियों की एक ही योनि होती है। अन्यथा तो प्रति-व्यक्ति के योनि भेद से योनि की अधिकता प्राप्त होगी।

ये सभी सामान्य से सचित्त-अचित्त-मिश्र, संवृत्त-विवृत्त-मिश्र, शीत-ऊष्ण-मिश्र - इस प्रकार के भेद से नौ प्रकार की योनि भी होती है।।२३-२४।।२२९-२३०।।

अब क्रम-प्राप्त योग द्वार का कथन करते है -

सच्चं मोसं मिसं असच्चंमोसं मणोवई अट्ठ ।
काओ उराल-विक्किय-आहारगमीस-कम्मइगो ।।२५।। (२३१)

जैसे अग्नि के संपर्क से ईंट आदि में वक्रता आती है, वैसे ही मन-वचन-काया के संबंध से आत्मा की शक्ति विशेष योग कहलाती है। यह योग वृद्ध की लकड़ी के सहारे की तरह जीव का उपग्राहक होता है। वे योग सत्य-मृषा-मिश्र-असत्यामृषा-मन के चार योग, सत्य-मृषा-मिश्र-असत्यामृषा वचन औदारिक, वैक्रिय, आहारक ये तीन योग तथा इन तीनों के मिश्र तीन योग एवं कार्मण काय योग एक इस प्रकार पन्द्रह योग हैं।

उराल अर्थात् उदार यानि शेष शरीरों से प्रधान जो है, वह औदारिक शरीर है। उसका योग भी उदार अर्थात् प्रधान है। यहाँ तीर्थंकरों व गणधरों के शरीर की अपेक्षा से इस शरीर की प्रधानता कही गयी है। उससे अन्य अनुत्तर शरीर अनन्त गुण हीन होते हैं। विविध या विशिष्ट प्रकार की क्रिया जिस शरीर में होती है, वह वैक्रिय शरीर है। उसका योग वैक्रिय योग कहलाता है। तीर्थंकर आदि के पास से सूक्ष्म पदार्थ जिस शरीर द्वारा ग्रहण किये जाते हैं, वह आहारक शरीर है। उसका योग आहारक योग है। मिश्र तीन प्रकार का है - औदारिक शरीरी का उत्पत्ति समय में कार्मण के साथ, वैक्रिय-आहारक लब्धि करने के समय उन दोनों से मिश्र औदारिक मिश्र काययोग होता है। देव आदि के उत्पत्ति के समय में कृत वैक्रिय का कार्मण के साथ, पुनः औदारिक मिश्रण काल में औदारिक के साथ वैक्रिय मिश्र काय योग होता है। आहारक मिश्र तो साधित आहारक प्रयोजन वाले के पुनः औदारिक-प्रवेश में औदारिक के साथ आहारक मिश्र काय योग होता है। कार्मण योग विग्रह गति में होता है। कार्मण काय योग केवलीसमुद्घात के तीसरे, चौथे, पाँचवें समय में होता है। तैजस सदैव कार्मण का सहचारी होने से उसका व्यापार पृथक् नहीं होता। अतः उसके काय योग का कथन नहीं किया गया है। सभी मिलकर योग पन्द्रह होते हैं।।२५।।२३१।।

इस प्रकार प्राणादि द्वार गाथा की व्याख्या की गयी। अब जीव के लक्षण भूत उपयोगों को कहते हैं -

नाणं पंचवियप्पं अन्नाणतिगं च सव्वसागारं ।
चउदंसणमणागारं उवओगो बारस हवंति ।।२६।। (२३२)

ज्ञान के पाँच विकल्प अर्थात् पाँच भेद हैं। १. इन्द्रिय तथा अनिन्द्रिय से होनेवाला मतिज्ञान है। २. द्रव्य-भाव श्रुत से उत्थित श्रुतज्ञान है। ३. रूपी-द्रव्य का विषय-ज्ञान अवधिज्ञान है। ४. मनुष्य क्षेत्र में रहे हुए संज्ञी जीवों के मन की पर्यायों का ग्राहक मनःपर्यय ज्ञान है। ५. सर्वप्रकाशक, केवल, असहाय ज्ञान केवलज्ञान है।

मिथ्यादृष्टियों के विपरीत अर्थ का ग्राहक होने से प्रथम के तीन ज्ञान उनके अज्ञान रूप ही होते हैं। सभी ज्ञान और अज्ञान आकारवान् होते हैं अर्थात् व्यक्ति-ग्रहण-परिणाम रूप विशिष्टता से युक्त होतें हैं। अतः साकार अर्थात् विशेष के ग्राहक होते है। चार दर्शनों का समाहार चक्षु दर्शन है। शेष इन्द्रिय तथा मन से ग्रहण करना अचक्षु दर्शन है। अवधि से होनेवाला अवधि दर्शन तथा केवल से होने वाला केवल-दर्शन है।

जिसका आकार नहीं होता। अर्थात् पूर्वोक्त, रूप जिसका नहीं होता, वह अनाकार है। सामान्य का ही ग्रहण इसमें होता है। मनःपर्याय ज्ञान तो विशेषाकार का ग्राहक होता है, अतः उसका दर्शन-भेद नहीं होता।

इस प्रकार पदार्थ के ग्रहण में प्रयुक्त होने वाला जीव का उपयोग बारह प्रकार का होता है।।२६।।२३२।।

अब जीव के उत्तरोत्तर विशुद्धि रूप गुणस्थानों को कहतें हैं -

मिच्छदिट्ठी सासायणे य तह सम्ममिच्छदिट्ठी य ।
अविरयसम्मद्दिट्ठि विरयाविरए पमत्ते य ॥२७॥ (२३३)
तत्तो य अप्पमत्ते नियट्टि अनियट्टि बायरे सुहुमे ।
उवसंतखीणमोहे होइ सजोगी अजोगी य ॥२८॥ (२३४)

मिथ्यादृष्टि, सास्वादन, मिश्र दृष्टि, अविरत सम्यग्दृष्टि, विरताविरति, प्रमत्त, अप्रमत्त, निवृत्ति बादर, अनिवृतिबादर, सूक्ष्मसंपराय, उपशांत मोह, क्षीण मोह, सयोगी व अयोगी ये चौदह गुणस्थान होते हैं।

१. मिथ्या अर्थात् अतथ्य रूप अर्हत् धर्म को मानने की दृष्टि जिसकी है, वह मिथ्यादृष्टि है। तो फिर उसे गुणस्थान क्यों कहा जाता है? किसी भी वचन आदि का जिनमत अनुसारी होने से गुणस्थानता कही गयी है या फिर सूत्रोक्त अक्षर मात्र भी अरुचि होने से मिथ्यादृष्टि एवं शेष में रुचि होने से गुणस्थानता कही गयी है। एकेन्द्रिय आदि में पहला गुणस्थान चैतन्य मात्र गुण की अपेक्षा से कहा गया है।

२. लाभ को प्राप्त कराने वाला आसादन है। यह अनन्तानुबंधी कषाय का वेदन करता है। आसादन सहित होने से सासादन कहा जाता है, वह आसादन इस प्रकार है - किसी गहरे भवोदधि में रहे हुए प्राणी को अनाभोग निवृत्त द्वारा यथाप्रवृत्तिकरण संज्ञा द्वारा शुभ अध्यवसाय से समस्तकर्मों की अंतः कोटाकोटि सागरोपम स्थिती संपादित होती है। वह अपूर्वकरण नामक शुभ अध्यवसाय द्वारा ग्रन्थिभेद करके अनिवृत्तिकरण नामक शुभ अध्यवसाय से मिथ्यात्वमोहनीय कर्म की स्थिती के अन्तर्मुहुर्त्त प्रमाण अन्तर करण को करता है। तब अन्तर्मुहूर्त से नीची स्थिती का क्षय करके अन्तकरण के प्रथम समय में ही औपशमिक सम्यक्त्व को प्राप्त करता है। वहाँ उस आन्तर मौहूर्तिक उपशम काल में जघन्य से एक समय शेष रहने पर तथा उत्कृष्ट छः आवलिका शेष रहने पर कुछ अनंतानुबन्धी के उदय से व उपशम श्रेणि से गिरते हुए के सास्वादन सम्यग् दृष्टि होती है। उसके बाद अवश्य ही उपरितन मिथ्यात्व की स्थिती का उदय होने से वह नियमपूर्वक मिथ्या दृष्टि होता है।

३. सम्यग्-मिथ्या से युक्त दृष्टि मिश्र कहलाती है। वह अन्तकरण काल में प्राप्त औपशमिक सम्यक्त्व रूपी औषधि विशेष के समान प्राप्त करके मदन कोद्रव में रहे हुए उपरितन मिथ्यात्व मोहनीय के तीन पुंज करता है, जो अशुद्ध, अर्द्ध विशुद्ध तथा शुद्ध रूप से होते हैं। इसमें अर्द्ध विशुद्ध रूप पुंज के वेदनकाल में अन्तर्मुहूर्त्त तक मिश्रदृष्टि होती है। उससे आगे अवश्य ही सम्यक्त्व अथवा मिथ्यात्व प्राप्त होता है।

४. अविरत-सम्यग्दृष्टि अप्रत्याख्यानावरणीय कषाय के उदय से अणुव्रत आदि को ग्रहण नहीं करते हुए केवल सम्यक्त्वी होता है।

५. विरताविरत - स्थूल प्राणिवध आदि में देश से निवृत्त तथा प्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय से सभी में अविरत होता है।

६. प्रमत्त अर्थात् प्रमत्त संयती। कषायदुष्प्रणिधान के कारण धर्म में अनादर आदि के प्रभाववाला साधु होता है।

७. इसके विपरीत अप्रमत्त संयती होता है।

८. नियट्टी अर्थात् निवृत्ति बादर गुणस्थान। यह आठवाँ गुणस्थान होता है। इसके प्रथम समय में ही असंख्य लोकाकाश प्रदेशों के तुल्य जघन्य आदि तथा उत्कृष्ट अन्त तक अध्यवसाय स्थान होते हैं। उत्तरोत्तर समय में ये अधिक-अधिक होते हैं। इनमें जघन्य से उत्कृष्ट तथा पूर्व में कहे हुए उत्कृष्ट से बाद वाले जघन्य अनन्तगुण विशुद्ध होते हैं। अतः इस गुणस्थान को एक साथ स्वीकार करने वालें प्राणियों के अन्योन्य

सम्बन्धित अध्यवसाय स्थानों की निवृत्ति भिन्न होती है, क्योंकि अध्यवसाय स्थान में रहने वाले भिन्न होते हैं। इसमें कर्मों की स्थिती घात, रसघात आदि अपूर्व ही किया जाता है, अतः इसे अपूर्वकरण गुणस्थान भी कहा जाता है। पूर्व के गुणस्थानों में जो स्थितीखण्ड और रसखण्ड आदि का घात किया जाता है। उससे इस गुणस्थान में घात और ज्यादा होता है। विशुद्धि के कारण अपवर्त्तना करण से उपरितन स्थिती से उतरकर उदय क्षण के अनन्तर अन्तर्मुहूर्त्त काल में क्षपणीय कर्म दलिकों की प्रति समय में असंख्य गुणा वृद्धि से गुणश्रेणि रचना होती है। वह गुणश्रेणि रचना पूर्व काल से बड़ी तथा अपवर्त्तित स्वल्प दलिकों को रचती है। इसमें काल से तो कम अपवर्त्तित और अधिक दलिकों को रचती है। शुभ प्रकृतियों में अशुभ प्रकृति रूप दलिकों को विशुद्धि के वश से प्रतिसमय में असंख्यगुणी वृद्धि से ले जाया जाता है। गुण संक्रमण को भी यहाँ अपूर्व रूप से किया जाता है। स्थितीबन्ध पूर्व में दीर्घ किया हुआ होता है, पर यहाँ तो ह्रस्व ही किया जाता है। उपशम व क्षय योग्य दलिकों को करने के कारण उपशमक व क्षपक कहा जाता है।

९. अनिवृत्ति - एक साथ प्रतिपन्न जीवों के परस्पर अध्यवसायों की व्यावृत्ति नहीं होती, क्योंकि प्रति समय अनन्तगुणी विशुद्धि के द्वारा एक-एक अध्यवसाय स्थान होता है। सूक्ष्म संपराय की अपेक्षा से इसमें बादर सम्पराय होता है। बादर सम्पराय की अनिवृत्ति के कारण इसे अनिवृत्ति बादर सम्पराय गुणस्थान कहा जाता है।

१०. सूक्ष्म संपराय - जिसके कारण चारों ओर से जीव संसार में भ्रमण करता है, वह सम्पराय अर्थात् कषाय है। इसमें शेष कषायों का अनुदय होने से सूक्ष्म यानि किट्टी भूत लोभ नामक सम्पराय जिसमें है, वह सूक्ष्म संपराय गुणस्थान कहलाता है।

११. उपशान्त मोह - उपशान्त की तरह ही करण विशेष से भस्म से आच्छादित अग्नि के समान उदय के अयोग्य मोह जिसका है, वह उपशांत मोह है।

१२. क्षीणमोह - यह क्षपक श्रेणी से आगे तथा कैवल्य की उत्पत्ति के पूर्व तक होने वाला परिणाम है।

१३. सयोगी केवली - मन, वचन, काया के योग से युक्त केवली को यह गुणस्थान होता है। काया से केवली चलते हैं। वचन से देशना देते हैं। "अमनस्काः केवलिनः" इस वचन से केवली के सर्वथा मनोयोग नहीं होता - ऐसा नहीं है। कहा गया है -

दव्वमणोजोगेणं मणनाणीणं अणुत्तरसुराण ।
संसयवुच्छित्ति केवलेण नाऊण सय कुणइ ॥

अर्थात् अनुत्तर विमानवासी देवों द्वारा मन से प्रश्न पूछे जाने पर कैवल्य ज्ञान से जानकर उनके संशय का व्यवच्छेद करने के लिए द्रव्य मनोयोग से स्वयं मन द्वारा उत्तर देते हैं। केवलज्ञानी को भाव मन नहीं होता।

१४. अयोगी केवली - योग का सर्वथा निरोध होने से चौदहवाँ गुणस्थान अयोगी केवली कहलाता है।

इन गुणि रूप से इनका कथन गुण व गुणी के अभेद-उपचार की अपेक्षा से किया गया है। ये ज्ञानादि के स्थान, गुणों के स्थान चौदह होने से चौदह गुणस्थान कहे गये हैं। यह अनुक्त होने पर भी प्रस्ताव से जान लेना चाहिए। इनका कालमान इस प्रकार है -

मिच्छत्तमभव्वाणं अणाइयमणंतयं मुणेयव्वं ।
भव्वाणं तु अणाइ सपज्जवसियं च तं होइ ॥१॥
छावलियं सासाणं समहिअ तेतीससागर चउत्थं ।
देसूणपुव्वकोडी पंचमगं तेरसं च पुढो ॥२॥

लहु पंचक्खर चरिमं तइयं छट्ठाइ बारसं जाव ।
इय अट्ठगुणट्ठाणा अंतमुहुत्ता य पत्तेयं ॥३॥ (प्रव. सा. गा. १३०७, १३०८, १३०९)

मिथ्यात्व गुणस्थानवर्त्ती अभवी जीवों की स्थिती अनादि-अनंत तथा भवी जीवों की अनादि-सान्त होती है।

सास्वादन की जघन्य १ समय उत्कृष्ट ६ आवलिका मात्र स्थिति होती है।

चौथे गुणस्थान की तेतीस सागरोपम से कुछ अधिक स्थिति होती है।

पाँचवें व तेरहवें गुणस्थान की देशे ऊणी क्रोड पूर्व की स्थिति होती है।

चौदहवें गुणस्थान की स्थिती पाँच लघु अक्षर उच्चारण करने जितनी होती है।

तीसरे, छट्ठे, सातवे, आठवे, नौवें, दसवें ग्यारहवें तथा बारहवें गुणस्थान की प्रत्येक की स्थिती अन्तर्मुहूर्त्त की होती है।

और भी, कुछ विशेष है, जो इस प्रकार है -

मिच्छे सासाणे वा अविरयसम्मंमि अहव गहियम्मि ।
जंति जीया परलोए सेसिक्कारस गुणे मुत्तुं ॥१॥ (प्रव. सा. गा। १३०६)

ग्यारह गुणस्थान को छोड़कर जीव मिथ्यात्व, सास्वादन अथवा अविरतसम्यग्दृष्टि इन तीन गुणस्थान वाले जीव परलोक में जाते है।।२७-२८।।२३३-२३४।।

जीवस्थान, योग, उपयोग, गुणस्थान आदि कहे गये। अब इन्हीं को गति आदि द्वारों में विचार करते हुए कहते हैं-

गइ इंदिए य काए जोए वेए कसायनाणे य ।
संजम-दंसण-लेसा भवसम्मे सन्निआहारे ॥२९॥२३५॥

गति में नरक गति आदि चार, इन्द्रिय में एकेन्द्रिय आदि पाँच, काय में पृथ्वीकाय आदि छः, योग में मन आदि तीन, वेद में स्त्री आदि तीन, कषाय में क्रोध आदि चार, ज्ञान में मति आदि पाँच तथा उपलक्षण से मतिअज्ञान आदि तीन, संयम में देश संयम, सामायिक आदि असंयम आदि सात, दर्शन में चक्षुदर्शन आदि चार, लेश्या में कृष्ण आदि छः, भवी-अभवी दो, सम्यक्त्व में क्षायोपशमिक आदि छः, संज्ञी-असंज्ञी दो तथा आहारक=अनाहारक ये दो इस प्रकार मूल में १४ तथा उत्तर भेद की अपेक्षा ६२ होते हैं।

इनमें क्या है - तो कहते हैं - इन मार्गणा-स्थानों में जीव-गुण, योग-उपयोग आदि आते हैं - तन्त्र रचना की विचित्रता से यह वाक्य कहा गया है। नाना प्रकार के छन्द विशेष से गुम्फित है।

जिसके द्वारा जीवादि पद का विचार किया जाता है, वह मार्गणा है। उसके स्थान मार्गणा-स्थान कहलाते हैं। इन मार्गणा स्थानों में जीव, योग, उपयोग आदि हैं। जीव में चौदह गुणस्थान योग-उपयोग आदि का विचार किया जाता है। जैसे - किस गति में कितने जीव स्थान है अपर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रिय गुणस्थान अथवा मिथ्यादृष्टि आदि?

गति में जीवस्थान इस प्रकार है - देव-नरक गति के पर्याप्त-अपर्याप्त रूप दो संज्ञी है। मनुष्यगति में संज्ञी द्वय, अपर्याप्त असंज्ञी है। तिर्यंचगति में सभी चौदह जीवभेद है।

एकेन्द्रिय में पर्याप्त-अपर्याप्त-सूक्ष्म तथा बादर एकेन्द्रिय रूप चार जीव स्थान हैं। बेइन्द्रिय तेइन्द्रिय तथा चतुरिन्द्रिय में पर्याप्त व अपर्याप्त स्व-स्वरूप में दो स्थान हैं। पंचेन्द्रिय में पर्याप्त अपर्याप्त संज्ञी असंज्ञी रूप चार स्थान हैं।

पाँच प्रकार के स्थावर काय में पर्याप्त-अपर्याप्त-सूक्ष्म व बादर एकेन्द्रिय रूप चार स्थान हैं। त्रसकाय में शेष

दस हैं।

मनोयोग में पर्याप्त संज्ञी एक स्थान, वचन योग में पर्याप्त बेइन्द्रिय-तेइन्द्रिय-चउरिन्द्रिय-असंज्ञी व संज्ञी पाँच स्थान तथा काय योग में सभी चौदह हैं।

पुरुष-स्त्री वेद में संज्ञीद्वय, नपुंसक वेद में सभी स्थान हैं।

कषायों में सभी जीव स्थान हैं।

मति-श्रुत-अवधि तथा विभंग में संज्ञी द्वय, मति-श्रुत अज्ञान में सभी चौदह, मनःपर्यव ज्ञान व केवल ज्ञान में पर्याप्त संज्ञी एक स्थान है।

देशसंयत-सामायिक-छेदोपस्थापनीय-परिहार विशुद्धि-सूक्ष्मसम्पराय व यथाख्यात में पर्याप्त संज्ञी तथा असंयम में सभी १४ जीव स्थान है।

चक्षु-दर्शन में पर्याप्त चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी तथा संज्ञी रूप तीन, अचक्षु दर्शन में सभी चौदह, अवधि दर्शन में संज्ञी द्वय तथा केवल दर्शन में पर्याप्त संज्ञी एक होता है।

प्रथम की तीन लेश्या में सभी चौदह, तेजोलेश्या में संज्ञी-द्वय, अपर्याप्त बादर एकेन्द्रिय ये तीन, तेजो लेशी में भवनपति आदि के बादर पृथ्वी, पानी तथा प्रत्येक वनस्पति में उत्पन्न होने से भवी-अभवी में सभी चौदह है।

क्षायिक-क्षायोपशमिक में संज्ञी द्वय, औपशमिक सम्यक्त्व में पर्याप्त संज्ञी ही होता है, क्योंकि अपर्याप्त में औपशमिक सम्यक्त्व नहीं होता। उसके प्रति योग्य शुद्धि भाव होने से। कहा भी है -

अणबंधोदयमाउगबंधं कालं पि सासणो कुणइ ।
उवसम सम्मदिट्ठी चउण्हमिक्कं पि नो कुणइ ॥

सास्वादन समकिती अणबंध, उदय, आयुष्य, बंधकाल आदि करता है। उपशम सम्यग्दृष्टि चारों में से एक भी नहीं करता।

इस वचन से अपर्याप्त के परभविक औपशमिक सम्यक्त्व भी असंभव होता है। उपशान्त मोह के सर्वथा उत्पत्ति में भी अभाव होता है।

पढमसमए चेव संमत्तपुंजं उदयावलियाए छोढूण सम्मत्तपुग्गले वएइ त्ति ।

प्रथम समय में सम्यक्त्व पुंज को उदयावलिका में छोड़कर सम्यक्त्व पुद्गल में जाता है। इस वचन से अपर्याप्त के औपशमिक सम्यक्त्व नहीं होगा।

क्षायिक, क्षायोपशमिक व औपशामिक सम्यक्त्व में संज्ञी-द्वय, मिश्र में पर्याप्त संज्ञी, सास्वादन में बादर एकेन्द्रिय-बेइन्द्रिय तेइन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय-असंज्ञी का अपर्याप्त तथा संज्ञीद्वय ये सात तथा मिथ्यात्व में सभी चौदह होते हैं।

संज्ञी में संज्ञी द्वय तथा असंज्ञी में संज्ञी द्वय को छोड़कर शेष बारह होते हैं।

आहारक में सभी चौदह तथा अनाहारक में सात के अपर्याप्त तथा संज्ञी का पर्याप्त ये आठ होते हैं।

॥ गुणस्थान ॥

देव तथा नरक गति में आदि के चार गुणस्थान होते हैं। तिर्यंचगति में पाँच तथा मनुष्य गति में चौदह गुणस्थान होते हैं।

एकेन्द्रिय-बेइन्द्रिय-तेइन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय में आदि के दो तथा पंचेन्द्रिय में सभी चौदह गुणस्थान होते हैं।

पृथ्वी-पानी-वनस्पति में दो, तेउ-वायु में एक तथा त्रसकाय में सभी चौदह गुणस्थान होते हैं।

योग में अयोगी को छोड़कर शेष तेरह गुणस्थान होते हैं।

वेदों में आदि के नौ गुणस्थान होते हैं।

कषाय-त्रय में भी आदि के ९ तथा लोभ में आदि के दस गुणस्थान होते हैं।

मति-श्रुत-अवधि ज्ञान में अविरत आदि चौथे से बारहवें तक नौ गुणस्थान, मनःपर्यव ज्ञान में प्रमत्त आदि सात तथा केवलज्ञान में अंतिम दो गुणस्थान होते हैं। अज्ञान त्रिक में आदि के दो गुणस्थान होते हैं।

सामायिक-छेदोपस्थापनीय में प्रमत्त आदि चार गुणस्थान, परिहार-विशुद्धि में प्रमत्त-अप्रमत्त ये दो, देश-संयम में पाँचवाँ, सूक्ष्मसम्पराय में दसवाँ, यथाख्यात चारित्र में अंतिम के चार तथा असंयम में आदि के चार गुणस्थान होते हैं।

चक्षु-अचक्षु दर्शन में एक से बारह तक के गुणस्थान, अवधिदर्शन में चौथे से बारहवें तक नौ गुणस्थान तथा केवल दर्शन में अंतिम दो गुणस्थान होते हैं।

कृष्ण-नील-कापोत लेश्या में आदि के छः गुणस्थान होते हैं; तेजो-पद्म में सात तथा शुक्ल लेश्या में पहला छोड़कर शेष तेरह गुणस्थान होते हैं।

भवी में चौदह तथा अभवी में पहला गुणस्थान होता है।

क्षायोपशमिक सम्यक्त्व में अविरत आदि चार गुणस्थान, औपशमिक में आठ, क्षायिक में ग्यारह, सास्वादन में दूसरा, मिश्र में तीसरा, मिथ्यात्व में पहला गुणस्थान होता है।

संज्ञी में चौदह तथा असंज्ञी में पहला, दूसरा गुणस्थान होते हैं।

आहारक में एक से तेरह तक तथा अनाहारक में पहला, दूसरा, चौथा, तेरहवाँ तथा चौदहवाँ - ये पाँच गुणस्थान होते हैं।

।। योगद्वार ।।

देव तथा नरक गति में औदारिकद्विक तथा आहारक द्विक को छोड़कर ग्यारह योग होते हैं। तिर्यंच गति में आहारक द्विक के बिना तेरह योग तथा मनुष्य गति में सभी पन्द्रह योग होते हैं।

एकेन्द्रिय में औदारिक द्विक, वैक्रिय द्विक तथा कार्मण - ये पाँच योग, बेइन्द्रिय-तेइन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय में औदारिक द्विक, कार्मण तथा असत्यामृषा भाषा ये चार योग, पंचेन्द्रियों में सभी पन्द्रह योग होते हैं।

पृथ्वी-अप-तेउ तथा वनस्पति काय में औदारिक द्विक तथा कार्मण - ये तीन योग, वायु काय में इन तीन के साथ वैक्रिय द्विक मिलाकर पाँच योग, त्रसकाय में पन्द्रह योग होते हैं।

मन तथा वचन योग में कार्मण व औदारिक मिश्र के बिना तेरह योग तथा काय योग में सभी पन्द्रह योग होते हैं।

स्त्रीवेद में आहारक द्विक के बिना तेरह योग, पुरुष तथा नपुंसक वेद में सभी पन्द्रह योग होते हैं।

कषायों में पन्द्रह योग होते हैं।

मति-श्रुत-अवधि में पन्द्रह, मनःपर्यवज्ञान में कार्मण व औदारिक मिश्र के बिना तेरह केवलज्ञान में आदि व अंतिम मन-वचन योग, औदारिक द्विक तथा कार्मण ये सात योग होते हैं। अज्ञानत्रिक में आहारक द्विक रहित तेरह योग होते हैं।

देश संयम में कार्मण, औदारिक मिश्र तथा आहारक द्विक से रहित ग्यारह योग, सामायिकछेदोपस्थापनीय में कार्मण व औदारिक मिश्र रहित तेरह योग, परिहार विशुद्धि-सूक्ष्म संपराय में चार मन के, चार वचन के तथा

औदारिक योग -ये नौ होते हैं। यथाख्यात में तैजस कार्मण तथा औदारिक मिश्र मिलाकर ग्यारह योग होते हैं। असंयम में आहारक द्विक रहित तेरह योग होते हैं।

चक्षु दर्शन में कार्मण व औदारिक मिश्र रहित तेरह योग होते हैं। अचक्षु-अवधि में पन्द्रह तथा केवल-दर्शन में आदि व अन्तिम मन-वचन योग, औदारिक द्विक तथा कार्मण ये सात योग होते हैं।

छः लेश्या में पन्द्रह ही योग होते हैं।

भवी में पन्द्रह तथा अभवी में आहारक द्विक को छोड़कर तेरह योग होते हैं।

क्षायिक-क्षायोपशमिक सम्यक्त्व में सभी पन्द्रह योग, औपशमिक, सास्वादन तथा मिथ्यात्व में आहारक द्विक को छोड़कर तेरह योग, मिश्र में मन-वचन के आठ तथा औदारिक-वैक्रिय ये दस योग होते हैं।

संज्ञी में पन्द्रह ही योग होते हैं। असंज्ञी में औदारिक द्विक, वैक्रिय द्विक, कार्मण तथा अंतिम भाषा योग - ये छः योग होते हैं।

आहारक में कार्मण रहित चौदह और पन्द्रह योग भी बताये हुए हैं तथा अनाहारक में एक कार्मण योग होता है।

।। उपयोग-द्वार ।।

मनुष्य गति में बारह उपयोग, देव-नारक-तिर्यंचों में मनःपर्याय तथा केवलि द्विक को छोड़कर नौ उपयोग होते हैं।

एकेन्द्रिय-बेइन्द्रिय-तेइन्द्रिय में मति-श्रुत अज्ञान तथा अचक्षु दर्शन रूप तीन उपयोग, चतुरिन्द्रिय में पूर्व के तीन तथा चक्षु दर्शन - ये चार उपयोग तथा पंचेन्द्रियों में सभी बारह उपयोग होते हैं।

पाँच स्थावर में दो अज्ञान एक दर्शन तथा त्रसकाय में, योग में और वेद में सभी में बारह उपयोग होते हैं।

कषायों में उपरोक्त में से केवलि द्विक को छोड़कर दस उपयोग होते हैं।

ज्ञान-चतुष्क में ज्ञान चतुष्क तथा दर्शन त्रिक - ये सात उपयोग होते हैं। केवल ज्ञान में केवलदर्शन सहित दो उपयोग होते हैं। अज्ञान त्रिक में कार्मणग्रन्थिक मतानुसार तीन अज्ञान तथा दो दर्शन होते हैं। पर सैद्धान्तिक मतानुसार प्रज्ञापना के अट्ठारहवें पदवृत्ति में कहे गये के अनुसार मिथ्यादृष्टि के विभंगज्ञान के साथ सामान्य रूप से अवधि दर्शन हो सकता है। तत्त्वार्थसूत्र में मिथ्यादृष्टि को अवधिदर्शन नहीं माना गया है।

देश-संयम में तीन ज्ञान - तीन दर्शन रूप छः उपयोग, सामायिक-छेदोपस्थापनीय-परिहार विशुद्धि, सूक्ष्मसंपराय में चार ज्ञान, तीन दर्शन रूप सात उपयोग, यथाख्यात में केवल-द्विक सहित नौ उपयोग तथा असंयम में मनःपर्यव ज्ञान तथा केवल-द्विक को छोड़कर नौ उपयोग होते हैं।

चक्षु-अचक्षु दर्शन में केवली द्विक को छोड़कर दस उपयोग, अवधि दर्शन में चार ज्ञान, तीन दर्शन रूप सात उपयोग तथा केवल दर्शन में केवली-द्विक दो उपयोग होते हैं।

पाँच लेश्या में केवली द्विक रहित दस उपयोग तथा शुक्ल लेश्या में बारह उपयोग होते हैं।

भवी में बारह तथा अभवी में तीन अज्ञान दो दर्शन रूप पाँच उपयोग होते हैं।

क्षायिक में अज्ञान को छोड़कर नौ उपयोग, क्षायोपशमिक, औपशमिक के ज्ञान-चतुष्क दर्शनत्रिक रूप सात उपयोग, मिश्र में तीन ज्ञान, तीन दर्शन और अज्ञानमिश्र, सास्वादन और मिथ्यात्व में तीन अज्ञान, दो दर्शन रूप पाँच उपयोग होते हैं।

संज्ञी में बारह तथा असंज्ञी में दो ज्ञान, दो अज्ञान, दो दर्शन रूप छः उपयोग होते हैं।

आहारक में बारह तथा अनाहारक में मनःपर्याय ज्ञान व चक्षु दर्शन रहित दस उपयोग होते हैं।

इस प्रकार गति आदि में जीवस्थान, गुणस्थान, योग तथा उपयोग बताये गये हैं। अतः विस्तारपूर्वक जीवतत्त्व कहा गया।।२९।।२३५।।

अब अजीव तत्त्व का वर्णन किया जाता है -

।। अजीव तत्त्व ।।

धम्मा धम्मागासा तियतियभेया तहेव अद्धा य ।
खंधा देसपएसा परमाणु अजीव चउदसहा ।।३०।। (२३६)

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय तथा आकाशास्तिकाय के स्कंध, देश, प्रदेश तीन-तीन भेद ये नौ तथा दसवाँ काल एवं स्कन्ध, देश, प्रदेश तथा परमाणु ये चार पुद्गल के भेद मिलाकर अजीव के चौदह भेद होते हैं।

गति परिणति से जो जीव पुद्गलों को धारण करने के स्वभाव वाला है वह धर्म है। उसके प्रदेश रूपी जिसकी काय है, वह प्रदेश-संघातरूप अस्तिकाय होता है। इस अस्तिकाय का धर्म ही धर्मास्तिकाय कहलाता है। इसके विपरीत अर्थात् ठहरने में सहायक अधर्मास्तिकाय होता है। इन तीनों के तीन-तीन भेद होते हैं। जैसे- धर्मास्तिकाय स्कंध, इसका देश, इसका प्रदेश। इसी प्रकार अन्य दोनों का भी जानना चाहिए। ये मिलाकर नौ भेद हुए। दसवाँ काल एक ही प्रकार का होता है क्योंकि यह वर्तमानिक लक्षण वाला होता है। अतीत के विनाश एवं अनागत के अनुत्पन्न होने से असत्त्व रूप है। पुद्गलों का समूह-विशेष स्कन्ध होता है। देश स्कन्ध का भाग कहलाता है। प्रदेश भी स्कन्ध का ही सूक्ष्मतम भाग होता है। परमाणु निरंश होता है स्कन्धरूप से परिणत नहीं होता। इस प्रकार ये अजीव के चौदह भेद हैं।।३०।।२३६।।

मूल भेदों द्वारा ये पुनः कितने होते हैं? तो कहते हैं -

धम्माधम्मापुग्गलनह कालो पंच हुंति अजीवा ।
चलणसहादो धम्मो थिरसंठाणो य होइ अधम्मो ।।३१।। (२३७)

धर्म-अधर्म-पुद्गल-आकाश व काल ये पाँच अजीव होते हैं। चलन स्वभाव वाला धर्म तथा स्थिर संस्थान वाला अधर्म होता है।

पुद्गल के बिना ये चारों ही अमूर्त्त और निष्क्रिय है। धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय एक जीव-प्रदेश प्रमित असंख्य प्रदेशी लोक व्यापी है। आकाश अनन्त प्रदेशी लोकालोक-व्यापी है। पुद्गल अनन्त हैं एवं लोकवर्त्ती है। काल तो तत्त्वतः वर्त्तमान रूप ही है। सूर्य गति कृत तो व्यावहारिक है और वह समय, आवलिका, मुहूर्त्त आदि रूप मनुष्य क्षेत्र में ही है। चलन स्वभाव वाला गति लक्षण रूप धर्मवाला धर्मास्तिकाय है। स्थिर संस्थान अर्थात् पदार्थों का अवस्थान जिस कारण से होता है, वह अधर्मास्तिकाय है। स्थिती इसका लक्षण है। ये दोनों ही मनुष्य के प्रयत्न अथवा बिना प्रयत्न के पदार्थों की लोक में गति व स्थिती के हेतु है। अलोक में तो इन दोनों का अभाव होने से इन्द्र देव के प्रयत्न से भी गति व स्थिती नहीं होती। अतः सामान्य रूप से इनके अस्तित्व की स्थापना की गयी है। विशेष रूप से तो सिद्धसेन गणि द्वारा रचित 'गन्धहस्ती' टीका से जान लेना चाहिए।।३१।।२३७।।

तथा -

अवगाहो आगासो पुग्गल-जीवाण पुग्गला चउहा ।
खंधा-देस-पएसा परमाणु चेय नायव्वा ।।३२।। (२३८)

जीव और पुद्गल को अवकाश देने वाला, अवगाहित करने वाला आकाश है। शीत-आतप-वर्षा आदि का

हेतुरूप काल होता है। वर्ण, गन्ध आदि लक्षणवाला पुद्गल है। पुद्गल चार प्रकार का है - स्कन्ध, देश, प्रदेश और परमाणु पुद्गल यहाँ शंका होती है कि स्कन्ध आदि भेद पहले ही कहे जा चुके हैं। वह सत्य है, पर पुद्गल के भेद रूप से नहीं कहे गये थे। परमाणु अर्थात् ज्ञानी की दृष्टि में भी जिसके दो भाग न हो।।३२।।२३८।।

अब काल के स्वरूप को कहते हैं -

समयावलियमुहुत्ता दिवसा पक्खा य मास वरिसा य ।
भणिओ पलियासागर ओसप्पिणिसप्पिणी कालो ।।३३।। (२३९)

समय, आवलिका, मुहूर्त्त, दिवस, पक्ष, मास, वर्ष, पल्योपम, सागरोपम, अवसर्पिणी, उत्सर्पिणी आदि काल जानना चाहिए।

सबसे सूक्ष्म काल-विशेष समय है। जो श्रुत में कहे गये पट्ट साटिका दृष्टान्त से जानना चाहिए। अर्थात् जीर्ण वस्त्र को फाड़ने के उदाहरण से समझना चाहिए। असंख्याता समय के समूह को आवलिका कहते हैं। मुहूर्त्त, दिवस, पक्ष, मास, वर्ष आदि प्रतीत ही है। पल्योपम का प्रमाण इस प्रकार है - एक योजन लम्बा एक योजन चौड़ा पल्य है, उसको सात रात्रि के जन्मे हुए युगलिक व्यक्ति के शिर के केशाग्र से पूरित किया जाय। फिर सौ-सौ वर्ष पूर्ण होने पर एक-एक केश को निकाला जाय। वह पल्य जितने समय में खाली हो, वह काल पल्योपम कहलाता है। ऐसे दस कोड़ाकोड़ी पल्योपम का एक सागरोपम होता है। अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी का मान पूर्वोक्त के समान है। काल का यहाँ संबंध होने से कहा गया है।।३३।।२३९।।

इस प्रकार अजीव तत्त्व कहा गया अब जो शेष है, उन्हीं को बताते हैं -

सुग्गइमग्गो पुन्नं दुग्गइमग्गो य होइ पुण पावं ।
कम्म सुहाऽसुह आसव संवरणं तस्स जो नियमो ।।३४।। (२४०)

सुगति की ओर ले जानेवाला मार्ग पुण्य है तथा दुर्गति की ओर ले जानेवाला मार्ग पाप है। शाता-अशातावेदनीय रूप शुभ-अशुभ कर्म है। इनको सद् असद् व्यापार द्वारा नवीन रूप से उपार्जित करना आश्रव है। इनको रोकना संवर है। उसका जो नियमन है वह निरोध है।।३४।।२४०।।

तथा -

तवसंजमेहिं निज्जर पाणिवहाईहिं होइ बंधुत्ति ।
कम्माण सव्वविगमो मुक्खो जिणसासणे भणिओ ।।३५।। (२४१)

तप संयम से निर्जरा होती है। प्राणिवध आदि से बंध होता है। कर्मों का संपूर्ण नाशरूप मोक्ष जिनशासन में कहा गया है।

तप-संयम से संयमियों के सकाम कर्म-निर्जरा होती है। नारक, तिर्यंच आदि के शीत-ऊष्ण-क्षुधा-पिपासा आदि क्लेश रूपी विपाक द्वारा कर्म निर्जरा यहाँ नहीं कही हुई होने पर भी अकाम निर्जरा रूप से जानना चाहिए।।३५।।२४१।।

इस प्रकार तत्त्वों का स्वरूप कहा गया। इनका श्रद्धान होने पर सम्यक्त्व होता है - अब यह कहते हैं -

जीवाइनवपयत्थे जो जाणइ तस्स होइ सम्मतं ।
भावेण सद्दहंते अयाणमाणेऽवि सम्मत्तं ।।३६।। (२४२)

जीव आदि नौ पदार्थों को जो जानता है और उसका ज्ञान व उस पर श्रद्धान् के बिना सर्व निष्फल है - इस प्रकार जो श्रद्धा करता है, उसमें सम्यक्त्व होता है, पर केवल, ज्ञान मात्र से सम्यक्त्व नहीं होता। उस प्रकार के शुद्ध परिणाम रूप भाव से जो श्रद्धा करता है, जिनोक्त रूप ही तत्त्व है - इस प्रकार मानता हुआ तथा नहीं

जानता हुआ भी वह नौ तत्त्वों पर की श्रद्धा से सम्यक्त्व प्राप्त करता है।

यहाँ शंका होती है कि पूर्व में देवादिविषयक श्रद्धान को सम्यक्त्व कहा है और यहाँ जीवादि विषय रूप श्रद्धान को। अतः परस्पर विरोध आता है, तो इसका समाधान यह है कि यहाँ कोई पूर्वापर विरोध नहीं है, क्योंकि देवादि का जीवादि में अन्तर्भाव हो जाता है।।३६।।२४२।।

मिथ्यात्व का त्याग करने पर ही सम्यक्त्व होता है और वह ज्ञात होने पर ही त्यागना शक्य है। अतः मिथ्यात्व के भेद से उसके स्वरूप को कहते हैं -

दुविहं लोइयमिच्छं देवगयं गुरुगयं मुणेयव्वं ।
लोउत्तरं पि दुविहं देवगयं गुरुगयं चेय ।।३७।। (२४३)

लौकिक मिथ्यात्व देवगत तथा गुरुगत रूप से दो प्रकार का जानना चाहिए। लोकोत्तर मिथ्यात्व भी देवगत व गुरुगत दो प्रकार का होता है।

जिनमत के बाहर स्थित लोगों में लौकिक मिथ्यात्व दो प्रकार का है - देव गत और गुरुगत। देव तो बुद्ध आदि में देव बुद्धि रखकर उनकी पूजादि करना। गुरु शाक्य आदि में गुरु बुद्धि रखकर उन्हें प्रणाम करना। लोक से वर्णित स्वरूप से उत्तर ज्ञानादि गुणों द्वारा प्रधान भूत आर्हत हैं। उनमें भी होनेवाला मिथ्यात्व लोकोत्तर मिथ्यात्व है। वह भी दो प्रकार का है - देवगत तथा गुरुगत। देवगत तो वीतराग में भी उपयाचित [वीतराग प्रभु के पास भौतिक याचना] आदि के द्वारा राग आदि का आरोपण है। गुरुगत तो जो पार्श्वस्थ आदि हैं उनको गुरु बुद्धि से वंदन आदि करना है।।३७।।२२३।।

अब इनका परिहार करने पर जो फल होता है, उसे कहते हैं -

चउभेयं मिच्छत्तं तिविहं तिविहेण जो विवज्जेइ ।
अकलंकं सम्मत्तं होइ फुडं तस्स जीवस्स ।।३८।। (२४४)

जो मिथ्यात्व के इन चारों भेदों का तीन करण तीन योगों से त्याग करता है, उस जीव के निष्कलंक सम्यक्त्व प्रस्फुटित होता है।।३८।।२२४।।

अब सम्यक्त्व को ही कर्मक्षय के मूल कारण रूप से कहने की इच्छा से व्यतिरेक दृष्टान्त को कहते हैं।

कुणमाणो वि हु किरियं परिच्चयंतो वि सयणधणभोगे ।
दिंतो वि दुहस्सेउरं न जिणइ अंधो पराणीयं ।।३९।। (२४५)

शस्त्र-प्रक्षेप आदि क्रिया को करता हुआ, स्वजन-धन-भोग आदि का त्याग करता हुआ युद्ध-रसिक पुरुष उर, शरीर की अपेक्षा दुःख देता हुआ भी अन्धा होने के कारण दूसरे सैन्य पर विजय प्राप्त नहीं करता है।

भावार्थ तो इस कथानक से जानना चाहिए -

वसन्तपुर नामक एक नगर था, जिसके चारों ओर विकस्वर वनों के द्वारा खिलने वाली शोभा राज्य की धरती को वसन्त की तरह शोभायमान बनाती थी। वहाँ जितशत्रु नामक राजा राज्य करता था, जिसका प्रताप रूपी सूर्य वैरियों के लिए दुःसह तथा मित्रों के लिए सुसह था। राज्य रूपी लक्ष्मी के द्वय-कुण्डल की तरह उसके दो पुत्र हुए, जो इन्द्र-उपेन्द्र की तरह आम्ना व महिमा से अतिशायी थे। प्रथम पुत्र सूरसेन महान् शौर्य का निधान था। वह शब्दवेधी महायोद्धा था, पर नेत्र-विहिन था। छोटा पुत्र वीरसेन अत्यधिक वीर था। कमल के समान नयनों वाला था। विश्व के वीरों में सारभूतों के समान वीरता को धारण करता था, मानों समस्त वीर पुरुषों में सारभूत तत्त्व रूप ब्रह्मा का ही पर्यायवाची था।

एकबार वह पुर चारों ओर से दुष्ट वैरियों द्वारा घेर लिया गया। मानो चन्दन के वृक्ष से सर्प लिपट गये हों।

रण की खुजली युक्त मजबूत हाथों वाला सुरसेन शीघ्र ही नजदीकी मित्रों के साथ राजा की बिना आज्ञा के युद्ध करते हुए शब्दों को, ध्वनि को सुन-सुनकर शब्दवेधी बाणों द्वारा दुश्मनों के प्राणों को डंसने लगा। किसी तरह दुश्मनों में कुमार को विगत-लोचन जानकर निःशब्द उसके पास जाकर उसे हाथ से पकड़ लिया। यह सुनकर वीरसेन शीघ्र ही कवच धारणकर यम के समान क्रुध होता हुआ, प्रलय अग्नि की तरह जलता हुआ वह साहसी शीघ्र ही समग्र वैरियों को दुर्दान्त दुर्द्धर्ष केसरी की तरह हाथी रूपी शत्रुओं को मारने लगा। उस वीर ने विद्वेषियों के वध से जयलक्ष्मी को प्राप्त किया। पहेरामणी के रूप में उनकी सर्व विभूति को ग्रहण कर लिया। उत्साहपूर्वक अपने ज्येष्ठ बन्धु को वापस ले आया, जिससे वह समस्त विघ्न से रहित भोग का भाजन बना।।३९।।२४५।।

उसी दृष्टान्त को बताकर अब दार्ष्टान्तिक को कहते हैं -

कुणमाणो वि निवित्तिं परिच्चयंतो वि सयणधणभोगे ।
दिंतो वि दुस्सह उरं मिच्छदिट्ठी न सिज्जइ उ ॥४०॥ (२४६)

अन्य दर्शन में कही हुई विरति रूपी निवृत्ति को करते हुए, स्वजन-धन-भोगादि का त्याग करते हुए भी पंचाग्नि तप प्रमुख आदि द्वारा शरीर को काय क्लेश देते हुए भी मिथ्यादृष्टि सिद्ध नहीं होता। दर्शन रहित होने से अन्धे कुमार की तरह वह कार्य-सिद्धि में अक्षम होता है।

इसी अर्थ में भाव से दर्शन रहित तामलि का दृष्टान्त आता है। उसकी कथा इस प्रकार है -

जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में बंग नामक देश है। रमणीय क्रीड़ाओं के केलिभूत, सुख रूपी वृक्षों से युक्त महा-उद्यान था। उस पृथ्वीमण्डल की शोभारूप तामलिप्ति नामक नगर था। विभिन्न गज आदि रूपों से श्रीनटी की तरह वह नगर खिलता था। उस नगर में तामलि नामक विख्यात गृहपति रहता था। उसके लक्ष्मी रूपी लताओं से युक्त घर रूपी महाउद्यान था। उसकी कीर्त्ति गंगा हिमालय से बहती थी। वह अपने स्वजनों के हृदय-कमल को उल्लसित करने वाले भास्कर के समान था। काम-युक्त कामिनियों के नेत्रों के लिए वह सुधाकर में रहे हुए चन्द्रमा के समान था। सम्मानयुक्त दान द्वारा उसने कल्पवृक्ष को भी जीत लिया था। संपूर्ण नगर में, नागरिकों में वह अपनी कुटुम्ब-वृद्धि को ही दर्शाता था।

एक बार रात्रि के अन्तिम प्रहर में वह जागृत हुआ। संपूर्ण कामों की पूर्ण तृप्ति के साथ उसके मन में इस प्रकार की चिन्ता जाग्रत हुई कि जब तक यह लक्ष्मी है, वह अन्धे को भी धनेश्वर बना देती है। यह लक्ष्मी वंश क्रम से आयी हुई तथा न्याय-धर्म से अर्जित की गयी है। पुत्र-पौत्र आदि से युक्त मेरा कुटुम्ब भी विनीत है। महाजन कुल तथा राजकुल में मेरी अद्‌भुत मान्यता है। यह सभी मेरे द्वारा आचरित पूर्व भव के धर्म-कर्म का ही फल है। कहा भी है -

शुभं वाऽप्यशुभं वापि नाऽकृतं प्राप्यते यतः ।

शुभ अथवा अशुभ जो भी प्राप्त होता है, वह हमारे द्वारा अकृत प्राप्त नहीं होता।

तो फिर रोज-रोज बैठे-बैठे मैं क्यों भोग रहा हूँ? इस प्रकार विचार करते-करते रात्रि बीत गयी। प्रभात का पदार्पण हुआ। तब उसने समस्त बांधवों, स्वजनों एवं नागरिक जनों को बुलवाया। विवाह आदि में दिये जाने से भी ज्यादा वस्त्र, भोजन, ताम्बूल आदि के द्वारा उन सभी का सम्मान करके, बातचीत करके उन्हें अपना आशय बताया कि मैं भव-निर्वेद के कारण त्रिवर्ग-धर्म, अर्थ व काम से उद्विग्न हो गया हूँ। अतः अब में चतुर्थवर्ग मोक्ष के साधन रूप तप को ग्रहण करुँगा। इस प्रकार उनकी आज्ञा लेकर उनके समक्ष अपने पुत्रों को अपनी आत्मा की धुरी की तरह सारा भार आरोपित कर दिया। लोगों के दीनानाथ की तरह महादान देते हुए, औचित्य पूर्ण व्यवहार को निभाते हुए स्वजनों से तथा स्नेह से भरे हुए सभी नागरिकों से युक्त पुर से बाहर निकलकर मोह-पाश को छिन्न

करके शुभाशय पूर्वक नगर के बाहर आया। गंगा नदी के किनारे जाकर बाह्य तथा आन्तरिक परिग्रह को छोड़कर समस्त लोगों से क्षमा-याचना करके निर्ममत्व भाव से भावित होकर गंगा तट पर निवास करनेवाले वानप्रस्थ तपस्वियों के पास तामलि ने उत्कट प्राणाम व्रत को स्वीकार किया। उस समय तामलि ने दुर्ग्रह अभिग्रह को धारण किया कि जीवनभर बेले-बेले पारणा करुँगा। तप वाले दिन सूर्य के अभिमुख ऊपर भुजाएँ करके आतापना भूमि में जाकर आतापना को सहन करुँगा। पारणे के दिन तामलिप्ति नगरी में उच्च-नीच कुलों से शुद्ध चावलों को ग्रहण करुँगा। फिर नदी के तीर पर जाकर उन चावलों के चार भाग करके एक भाग जलचर, एक भाग स्थलचर तथा एक भाग खेचर - प्राणियों को देकर चौथे अंश को लेकर गंगा के निर्मल जल द्वारा इक्कीस बार स्वयं प्रक्षालित करके उसका भोजन करुँगा। उसके सर्व कष्ट-कलाप की अनुमोदना करते हुए तामलि ऋषि को नमन करके सभी जन अपने स्थान पर चले गये। तामलि तापस ने साठ हजार वर्ष तक तपस्या की एवं अपनी समस्त प्रतिज्ञाओं को निर्वाहित किया। क्योंकि-

सत्यसंधो महाऋषिः ।

महान्ऋषि सत्य-प्रतिज्ञ होते हैं।

फिर उन्होंने चिन्तन किया कि मेरे द्वारा चिरकाल तक तप किया गया है। मेरी काया में सिर्फ त्वचा तथा हड्डियाँ ही शेष रह गयी हैं, अब शरीर सूख गया है। इस प्रकार विचारकर उस शुद्धात्मा ने अपनी काया को त्यागने की इच्छा की। अतः वे तामलि तापस अपनी तामलिप्ति नगरी को आये। ज्ञाति जनों को पूछकर, क्षमा-याचना करके, पाखंडियों गृहस्थों तथा पूर्व-पश्चात् संस्तव वालों को पूछकर गंगा के समीप जाकर, अनशन करके किसी विजन प्रदेश में कहीं भी पादपोपगमन संथारा स्वीकार कर लिया।

उधर रत्नप्रभा पृथ्वी से व्यामित, पूर्व दिशा के एक हजार योजन नीचे जाने पर बलिचंचा नामकी नगरी है। उस नगर में भवनपति असुर कुमार देवों का निवास है। वहाँ असुरेन्द्र बलि की राजधानी हमेंशा से स्थित है। वहाँ के इन्द्र के बलिचंचा से च्युत हो जाने के कारण उस समय वह नगरी राजा-विहिन हो गयी थी। अतः वहाँ के सारे देव तथा देवी दुःखित हो गये थे। तब उन देव-देवियों ने अवधिज्ञान से देखते हुए उपयोग लगाया कि मर्त्यलोक के मनुष्यों में से कौन धार्मिक इनमें से हमारा स्वामी बनेगा। इस चिन्ता से उन्होंने बाल तपस्वी तामलि तापस को देखा, उन्होंने उग्र अज्ञान तप के द्वारा भी विशाल पुण्य अर्जित कर लिया था। उस समय वे अपने शरीर में भी आशा रहित, संन्यास धारण किए हुए, कर्म-कल्मष को विलीन प्राय करके पर ब्रह्म में संलीन हो रहे थे। तब उन सभी असुरकुमार देवों ने अपनी महाऋद्धि द्वारा उन मुनि के मन को वश में करने के लिए खूब संगीत ध्वनि की। रसयुक्त गीतिकाएँ वे गायक असुरकुमार लय-भाव के रस से युक्त मुख द्वारा देव गाने लगे, असुर देवलोक की सुरांगनायें नृत्य करने लगीं। संगीत से लिपटे हुए नृत्य की चेष्टाएँ भी तामलि तापस के मन को रंजित नहीं कर सकी। उस पर थोड़ा भी असर नहीं हुआ। तब संगीत के अन्त में उन सभी ने तामलि को विनयानत होकर दीनता प्रकाशित करते हुए अश्रुपूर्ण नयनों से कहा - भगवन्! हम बलिचंचा के अधिवासी देव हैं। भाग्य वशात् हम स्वामी रहित हो गये हैं, अतः आपका स्मरण करके यहाँ आये हैं। क्योंकि हे तपोनिधि! आप ही परोपकार करनेवाले हैं। आप जैसे महापुरुष की कृपा ही दीनों पर निधि के समान होती है। अतः आप निदान करके असुरेन्द्र की पदवी को प्राप्त करें। हे चिंतामणि प्रभो! आप हमारा मन चिंतित पूरण करें। और हे स्वामी! आपके द्वारा इस प्रकार करने में क्या स्वार्थ है? अथवा क्या स्वार्थ होगा? हम सभी आपके भावी किंकर होंगे। ये दिव्यसौन्दर्य तथा लावण्य की मूर्तियाँ, संसार के सर्वस्व सुख समूह के निधि रूपी भूमि, सर्वांग से सुख देनेवाले अमृत-तुल्य, जगत के द्वारा काम्य असुरांगनायें आपकी प्रेयसी होंगी। अतः हमारी प्रार्थना स्वीकार करके अब आप हमारे असुरेन्द्र बनें। ये सभी

जन सनाथ बन जायेंगे और हमारी नगरी पुनः राजवन्ती बन जायगी।

यह सुनकर तामलि ने विचार किया कि किये हुए शुभाशुभ कर्म स्वयं ही फल देते हैं। फिर निदान करने से क्या? खेती में उगी हुई घास की तरह ये संसार के सुख है। अतः उनके लिये कण की उपमा वाले मोक्ष सुख को देनेवाले तप का कौन नाश करे! इस प्रकार विचार करते हुए भोग आदि द्वारा उपोषित विषयों में वैराग्य होने से उन महर्षि के द्वारा उनके वचनों का आदर नहीं किया गया। तब साध्य की असिद्धि से वैलक्ष्य से कलुष आनन वाले वे देव तामलि के प्रति क्रोध भाव युक्त होकर वहाँ से चले गये। तब तामलि तापस ने साठ वर्ष तक अनशन पालकर भव-सुख में अनासक्त रहते हुए अपने मार्ग में एकाग्र मानस वाला होकर ईशान कल्प में ईशान अवतंसक विमान में, अन्य के असमान ऋद्धिवाले महर्द्धिक इन्द्र के रूप में उपपात किया। ईशानेन्द्र अट्ठावीस लाख विमानों के अधीपति थे। उसके अस्सी हजार सामानिक देव थे। तेंतीस त्रायस्त्रिंशक देव तथा चार लोकपाल थे। श्रृंगाररस की सागर रूप आठ अग्रमहीषियाँ थीं। और भी बहुत सारे विमानवासी देव तथा देवियाँ उसकी आज्ञा के वश में रहे हुए थे।

उधर बलिचंचा के देवों ने अवधिज्ञान से जाना कि तामलि तापस ने बिना निदान किये ईशान देवलोक के इन्द्र पद को प्राप्त किया है। तब वे देव कुपित होते हुए शीघ्र ही दुराशय-पूर्वक उस प्रदेश में गये। जहाँ निर्मल आत्मा वाले तामलि तापस की निर्जीव देह को देखा। जिस प्रकार कफ के प्रतिकूल सुंठ नामक वनस्पति विशेष कफ को दूर करती है, उसी प्रकार प्रकृति से रुष्ट वे बलिचंचा के देव उस शरीर को उसके पाँवों से बाँधकर घिसते हुए उसे तामलिप्ति नगर में लेकर आये। सभी त्रिक-चतुष्क आदि नगर-मार्गों पर पापी मनुष्य के समान उसके शव की अवमानना की। फिर इस प्रकार उद्घोषणा की कि यह तामलि दुष्ट बुद्धिवाला, मूढ, बाल-तपस्वी, शठआत्मावाला, पाप-कर्म करनेवाला था। हे लोगों! मरकर भी यह दुरात्मा दुर्गति में गया है। शुभ की कामना करनेवालों को किसी को भी इसका नाम भी ग्राह्य नहीं है।

इसी बीच नवोत्पन्न ईशान सुरेन्द्र उस दिव्य प्रवृद्धि को प्राप्तकर अत्यन्त विस्मित हुआ। उसने विचार किया कि मैं कौन था? कहाँ से आया हूँ? किन शुभ कर्मों के द्वारा यहाँ पैदा हुआ हूँ? इस प्रकार विचार करते हुए अवधिज्ञान से अपने पूर्वभव को जाना। अपने पूर्वभव की देह को इस प्रकार से घिसते हुए तथा उद्घोषणा करते हुए उन अधम असुरों को देखा। तब उन पर क्रुद्ध होते हुए क्रूर दृष्टि से उन्हें देखते हुए अत्यन्त दुस्सह आतप वाली तेजोलेश्या छोड़ी। जलते हुए तीव्र वेदना से वे उछलने लगे। यह क्या विपदा आ पड़ी - इस प्रकार विचार करते हुए आकुल हो गये। तब अवधिज्ञान के प्रयोग से उस ईशान देवलोक के इन्द्र को कुपित जाना। उसी की तेजोलेश्या में अपने आप को जलते हुए देखा। तब वे असुर शीघ्र ही चकित होते हुए शरण में आकर अंजलिपूर्वक दीन होकर दाना माँगते हुए इस प्रकार बोले - प्रभो! हम दीनों पर प्रसन्न होओ। क्रोध का संहरण करो। हरण करो। हम पुनः इस प्रकार का अविनय आपका कभी भी नहीं करेंगे। हमारा यह एक ही अपराध हुआ है। अतः हे स्वामी आप हमें क्षमा करने के योग्य है। आप जैसे महान् लोगों के लिए यही योग्य है। कहा भी है -

सन्तः प्रणतवत्सलाः ।

अर्थात् सज्जन झुके हुओं पर वत्सल भाव वाले होते हैं।

तब उन ईशानेन्द्र ने उन्हें प्रणत देखकर तेजोलेश्या को दूर कर दिया। क्योंकि -

प्रणामपर्यन्त एव कोपो महीयसाम् ।

अर्थात् महान् व्यक्तियों का कोप प्रणाम-पर्यन्त ही रहता है।

तब वे असुर देव वेदना रहित हुए। फिर उन्होंने उसका सत्कार करके उसके पूर्व शरीर का भक्तिपूर्वक

संस्कार करके वे देव अपने स्थान पर चले गये। ईशानेन्द्र ने तत्काल मांगलिकों को बुलवाया। सिद्धायतन ग्रहों में अर्हत्-बिम्बों की बिना पूजा किये उनके दर्शन मात्र से उसके सम्यक्त्व परिणाम उत्पन्न हुआ। आसन्न सिद्धिक होने से वह परम आर्हत बन गया। दो सागरोपम से कुछ अधिक देव-ऋद्धि का उपभोग करके वहाँ से च्युत होकर महाविदेह में जन्म लेकर तामलि का जीव सिद्धि को प्राप्त करेगा। वह तामलि तापस तीव्र तपस्या के द्वारा दुस्सह कष्ट सहन करने पर भी मिथ्यादृष्टि होने से सिद्ध नहीं ही हुआ। पर जिनेन्द्र मार्ग में स्थित व्यक्ति अगर तामलि तापस के तप के सातवें अंश के भी बराबर भी हो, तो भी वह सम्यक्त्व के कारण सिद्धि रूपी नगरी को प्राप्त करेगा।

अतः नितान्त शिव को प्राप्त करने का कामी जीव सम्यक्त्व विधि में प्रयत्न करे। एवं दुर्जनों के संग के समान मिथ्यात्व मार्ग का दूर से ही त्याग करे। इस प्रकार तामलि कथा पूर्ण हुई॥४०॥२४६॥

अब यदि ऐसा है, तो क्या करना चाहिए, इसे कहते हैं -

तम्हा कम्माणीयं जे उ मणो दंसणंमि पयइज्जा ।
दंसणवओवेहि सफलाणि हुंति तवनाणचरणाणि ॥४१॥ (२४७)

इसलिए कर्म से हटने के लिए मन को सम्यग् दर्शन में प्रयत्न करना चाहिए। सम्यग्दर्शन से युक्त ही तप, ज्ञान व चारित्र सफल होते हैं॥४१॥२४७॥

क्या सम्यग्दर्शन चारित्र से भी ज्यादा अतिशययुक्त है? तो कहते हैं -

भट्ठेण चरित्ताओ सुट्ठुयरं दंसणं गहेयव्वं ।
सिज्जंति चरणरहिया दंसणरहिया न सिज्जंति ॥४२॥ (२४८)

चारित्र से भ्रष्ट होने पर भी सम्यग् दर्शन को श्रेष्ठतररूप से ग्रहण करना चाहिए। क्योंकि चारित्र रहित तो सिद्ध हो जाते हैं, पर दर्शन-रहित सिद्ध नहीं होते।

यहाँ चारित्र-रहित का अर्थ द्रव्य चारित्र से रहित जानना चाहिए, भाव चारित्र से रहित नहीं। भाव चारित्र के अभाव में तो केवलज्ञान का भी अभाव होता है। इसको स्वयमेव ही कहा जायगा कि "चरण-करण से रहित श्रेष्ठ सम्यग्दृष्टि भी सिद्ध नहीं होता।"॥४२॥२४८॥

इस प्रकार सम्यक्त्व के स्वरूप को कहकर अब उसके भेदों को कहते हैं -

एगविह-दुविह-तिविहं-चउहा पंचविह-दसविहं सम्मं ।
मुक्खतरुबीयभूयं संपड़राया य धारिज्जा ॥४३॥ (२४९)

एक प्रकार का सम्यक्त्व तत्त्वरूचिरूप है। दो प्रकार का सम्यक्त्व नैसर्गिक व अधिगम है। नैसर्गिक तो जातिस्मरण ज्ञान आदि से उत्पन्न होता है और अधिगम तो गुरु आदि के उपदेश से तत्त्व का ज्ञान होने पर उत्पन्न होता है। तीन प्रकार का क्षायिक-क्षयोपशमिक तथा औपशमिक रूप है। इसमें क्षायिक तो अनंतानुबन्धी चतुष्क, मिथ्यात्व, मिश्र तथा पौद्गलिक सम्यक्त्व के क्षय से होने वाला अत्यन्त विशुद्ध तत्त्व रुचि का परिणामरूप है। क्षायोपशमिक तो उदीर्ण मिथ्यात्व के क्षय तथा अनुदीर्ण के उपशम से सम्यक्त्वरूप आपत्ति के लक्षण से युक्त विपाक के उदय स्वरूप से निवृत्त होता है। प्रदेश से तो मिथ्यात्व को तथा विपाक से सम्यक्त्व पुंज को वेदन करने वाले को होता है।

कहा भी है -

मिच्छत्तं जमुइन्नं तं खीणं अणुइयं तु उवसंतं ।
मीसीभावपरिणयं वेइज्जंतं खउवसमं ॥१॥ (विशेषा. ५३२)

अर्थात् उदीर्ण मिथ्यात्व के क्षय तथा अनुदीर्ण के उपशान्त से तथा मिश्र भाव परिणत को वेदन करते हुए उपशम होता है।

इस प्रकार उदीर्ण मिथ्यात्व का क्षय होने पर तथा अनुदीर्ण का उपशम होने पर जो विपाक प्रदेश वेदन रूप दोनों ही प्रकार के उदय का विष्कम्भ है उसी से निवृत्त औपशमिक है। यह पूर्व में वर्णित विधि द्वारा प्राप्त होता है। अथवा -

उवसामगसेढिगयस्स होइ उवसमियं तु सम्मत्तं ।
जो वा अकयतिपुंजो अखविय मिच्छो लहउ सम्मं ॥१॥ (विशेषा. ५२९)

उपशम श्रेणि गत जीव के उपशम समकित होता है। जिसने तीन पुंज नहीं किये हैं तथा मिथ्यात्व अक्षपित है, वह सम्यक्त्व को प्राप्त करता है।

कारक-रोचक-दीपक के भेद से सम्यक्त्व तीन प्रकार का भी है। कारक समकित साधुओं की तरह, रोचक समकित श्रेणिक आदि की तरह तथा दीपक समकित अंगारमर्दक आचार्य की तरह होता है।

वेदक समकित की अलग से विवक्षा करने पर सम्यक्त्व चार प्रकार का भी है। यह वेदक समकित पौद्गलिक सम्यक्त्व के चरम पुद्गल वेदन काल में होता है।

थोड़ा सा तत्त्व-श्रद्धान का भाव होने के कारण सास्वादन की भी सम्यक्त्व में विवक्षा होने से इसके सहित सम्यक्त्व पाँच प्रकार का भी होता है।

इन पाँचों में से प्रत्येक के निसर्ग व अधिगम के भेद की विवक्षा से सम्यक्त्व दस प्रकार का भी है। निसर्ग आदि रूचि से भी समकित दस प्रकार का है। जैसे -

निसग्गुवएसरुइ आणारुइ सुत्तबीयरुइमेव ।
अभिगमवित्थारंरुई किरिया संखेव धम्मरुई ॥ (उत्तरा. अध्य. २८ गा. १६)

निसर्ग रुचि, उपदेश रुचि, आज्ञारुचि, सूत्र रुचि, बीज रुचि, अभिगम रुचि, विस्तार रुचि, क्रिया रुचि, संक्षेप रुचि तथा धर्म रुचि - ये दस प्रकार सम्यक्त्व के है।

गुरु - उपदेश के बिना जिनोक्त तत्त्वों में जिसकी श्रद्धा होती है, वह निसर्ग रुचि है।

गुरु - उपदेश से जो श्रद्धा होती है, वह उपदेश रुचि है।

जिनेश्वरों द्वारा आज्ञापित है, ऐसा मानते हुए श्रद्धा करना आज्ञा रुचि है।

सूत्र में सिद्धान्त में अर्थात् अंग-उपांग रूप में जो कहा गया है, वह वैसा ही है, इस प्रकार का श्रद्धान करना सूत्र रुचि है।

अरिहंत देव हैं, सुसाधु गुरु हैं तथा जिनोक्त तत्त्व ही धर्म है - इस प्रकार धर्म रूपी बीज में जो रुचि होती है वह बीज रुचि है।

अभिगम द्वारा समस्त श्रुत-अर्थ के ज्ञान से जो रुचि होती है, वह अभिगम रुचि है।

सर्व प्रमाण नय-विधि द्वारा जो सर्व द्रव्य आदि भाव की प्राप्ति रूप विस्तार होता है, उसकी रुचि विस्तार रुचि है।

ज्ञान, दर्शन, चारित्र में रत, तप, विनय, सत्य, समिति-गुप्ति आदि क्रियाओं में रुचि होना क्रिया रुचि सम्यक्त्व है।

अनभिगृहित कुदृष्टि युक्त, प्रवचन का ज्ञान न होने पर भी भाव से जिनोक्त तत्त्व पर श्रद्धान करना संक्षेप रुचि है।

जो अस्तिकाय धर्म, श्रुत धर्म तथा चारित्र धर्म जिनेश्वर द्वारा कहा गया है, उसी धर्म पर श्रद्धा होना धर्म रुचि है।

अतः इस प्रकार मोक्ष रूपी वृक्ष के बीज भूत को संप्रतिराजा की तरह धारण करना चाहिए। यह सम्प्रति राजा का वृतान्त सम्प्रदायगम्य है, जो इस प्रकार है -

इस अवसर्पिणी काल में लोकातिशय ऐश्वर्य से युक्त, आप्त, चौबीसवें तीर्थंकर त्रिजगत्पति श्री भगवान् महावीर स्वामी हुए। स्वामी द्वारा, सुधर्मा स्वामी नामक पाँचवें गणधर सन्तानी होंगे (अर्थात् उनका शिष्य परिवार बढ़ेगा), अतः निज पद पर बैठाया गया। उनके शिष्य जम्बू स्वामी हुए, जो स्वर्ग के समान प्रभा से युक्त थे। उन्होंने केवल्यश्री को प्राप्तकर मानो लोभ पूर्वक वह कैवल्य श्री अन्य किसी को नहीं दी। अर्थात् वे अन्तिम केवली हुए। उनके शिष्य अत्यधिक सामर्थ्यवान् प्रभवस्वामी हुए। व्रत में भी वे मनोहारी हुए। क्योंकि -

नृणां शैली हि दुस्त्यजा ।

मनुष्यों की रीति ही दुस्त्यागनीय है।

उनके अन्तेवासी पंडित शय्यंभव सूरि हुए, जिन्होंने दशवैकालिक श्रुत की रचना की। जब तक तीर्थ रहेगा तब तक यह सूत्र भी रहेगा। उनके शिष्य भद्र यश वाले यशोभद्रसूरि हुए। उनके भी होनेवाले शिष्य संभूत नाम से प्रसिद्ध हुए। उनके प्रमुख भुजा के समान भद्रबाहु श्रेष्ठ गणी हुए, जिन्होंने श्रुत सभप्रदीपिका आदि निर्युक्तियाँ कीं। उनके शिष्य स्थूलिभद्र स्वामी हुए, जिन्होंने परम युग-प्रधानता को स्वीकार किया। जिन्होंने काम को तृणवत् किया एवं अंतिम श्रुत केवली हुए। उनके महागिरि व सुहस्ती नामक दो शिष्य थे। संपूर्ण अंधकार को खण्डित करनेवाले सूर्य व चन्द्रमा की तरह वे दोनों थे। दोनों को गुरु द्वारा पृथक्-पृथक् गण देकर स्थापित कर देने पर भी गाढ़ स्नेह के कारण सतीर्थि होने से वे एक साथ रहने लगे।

एक बार वे दोनों विहार करते हुए कौशाम्बी नगरी में आये। बड़े उपाश्रय का लाभ न मिलने से दोनों पृथक-पृथक् आश्रय में ठहर गये। वहाँ भीख माँगकर भोजन करने के समय के समान महाकाल पड़ा। लोगों द्वारा स्वप्न में भी भोजन नहीं देखा जाता था। उस समय सुहस्ति आचार्य के साधु-सिंघाड़े ने भिक्षा के लिए एक धनाढ्य धन सार्थपति के घर में प्रवेश किया। अचानक मुनि को देखकर धन सार्थपति तेजी से उठा। अतिभक्ति से उठते हुए उसके प्राण तथा रोम-रोम रोमांचित हो उठे। तब उन्होंने अपनी पत्नी से कहा - सिंहकेसरी मोदक आदि अद्भुत विपुल आहार सामग्री लाओ, जिससे इन दोनों मुनियों को प्रतिलाभित करुँ। उसने भी कल्पवृक्ष से प्राप्त की तरह सभी सामग्री लाकर बिना इच्छाके भी उन मुनियों को जबर्दस्ती सारी सामग्री बहरा दी। कोई भिखारी उसी समय भिक्षा के लिए उनके घर आया था। उनके दानग्रहण को देखकर विस्मित होकर विचार करने लगा - अहो! धन्य है! कृतार्थ है इस जगती पर ये! देवता की तरह जिनको इस प्रकार से भी नमन किया जाता है, जिससे कि सुधा से भी मधुर खण्डखाद्य आदि द्वारा इस प्रकार प्रतिलाभित किया जा रहा है। दीनता प्रकाशित करने पर भी नारक के समान मेरे जैसों को तो अन्न का लेशमात्र भी कहीं से भी, किसी से भी प्राप्त नहीं होता। दीनता के अतिरेक से अगर कोई कुछ देता भी है, तो आक्रोश रूपी कालकूट विष के कणों से मिश्रित करके ही थोड़ा कुछ देता है। अतः मैं भी साधु को प्राप्त करके (साधुओं के पास जाकर) इन्हीं साधु से याचना करुँ, जिससे ये करुणानिधि करुणा करके इसमें से कुछ दे देवें। इस प्रकार विचार करके उसने उन दोनों साधुओं से याचना की। उन दोनों साधुओं ने कहा - हे भद्र! हम तो इस आहार का वहन-मात्र कर रहे हैं। हमारे गुरु ही इसके स्वामी है। भक्ति से पीछे-पीछे चलने के समान वह अन्न का अर्थी याचक भी उन दोनों मुनियों के पीछे-पीछे चलने लगा। वहाँ आश्रय में स्थित गुरु को देखकर आगे जाकर उनसे भी याचना करने लगा। उन साधुओं ने भी गुरु से कहा कि इसने हमसे भी याचना

की थी। तब गुरु ने उस याचक के विषय में श्रुत ज्ञान द्वारा उपयोग लगाया तो जाना कि निश्चय ही भविष्य में यह प्रवचन का महान आधार बनेगा। यह जानकर गुरु ने उससे कहा - हे भद्र! अगर तुम व्रत ग्रहण करोगे, तो तुम्हारा मन-इच्छित तुम्हें प्रदान करुँगा। उसने कहा - प्रभु! ऐसा ही हो। क्योंकि-

कः कल्याणं न वाञ्छति ?

कल्याण की चाहना किसे नहीं होती ?

तब उसी समय दीक्षा देकर उसे भोजन के लिए बिठाया गया। उस प्रकार के सरस आहार को उसने आकण्ठ भोग लिया। हवा से भरी हुई धमनी की तरह उसका पेट फूल गया। श्राद्ध में जीमे हुए ब्राह्मण की तरह मध्याह्न समय में वह क्षण भर में ही सो गया। अति स्निग्ध तथा अति मात्रा में भोजन करने से उसे अजीर्ण हो गया। भयंकर शूल की वेदना से विमूढ़ चित्त वाला होने से उसे नींद में ही विसूचिका हो गयी। तब गुरु ने पूछा - वत्स! तुम और कुछ खाओगे? उसने कहा - प्रभो! कल्पवृक्ष की सन्निधि में भूख का क्या? लेकिन इस समय यही याचना करता हूँ कि मेरी आपके चरणों में ही गति हो। इस प्रकार बोलते हुए अत्यधिक वेदना से आयु क्षीण हो जाने से वह देहातीत हो गया। अव्यक्त सामायिक के प्रभाव से और व्रत की मनोमन अनुमोदना करने के फल रूप में वह भिखारी जहाँ पुत्र रूप से पैदा हुआ, उसका अन्वय दृष्टान्त अब कहा जाता है।

जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में भूषण रूप, खिला हुआ, प्रतिद्वन्द्वी रहित श्री गोल्लदेश नामक राज्य सुखों की निवास -भूमि रूप था। उस देश में चणक नामक विख्यात ग्राम था। अत्यधिक धान्य से मनोहर तथा गो रस से धनी सुधाकाव्य की तरह वह ग्राम था। पवित्र बुद्धि वाला चणी नामक ब्राह्मण वहाँ निवास करता था। वह अर्हत् धर्मी, विशुद्ध आत्मावाला, श्रद्धालु तथा उत्तम श्रावक था। उसके हृदय-ग्राम में नित्य ही विद्यास्थान उत्कर्ष को प्राप्त था। जिसके चार -दशाएँ भी निर्बाध रूप से कुटुम्बी की तरह निवास करती थी।

एक बार वहाँ श्रुतसागर सूरि पधारे। उसके घर की ऊपरी भूमि में नृप के आस्थान की तरह विराजे। तब उसकी पत्नी चणेश्वरी ने एक बालक को जन्म दिया। पूर्व दिशा में सूर्य की स्फुरति होती हुई प्रभा की तरह उसके मुखाग्र में जन्म से ही दो दाढें थी। बारहवें दिवस पर उनका जन्मोत्सव करके महान् उत्सव द्वारा उसका चाणक्य नाम रखा गय। फिर चणी ने उस गुरु को नमस्कार करके क्रमशः अपने उस पुत्र की दाढों का वृतान्त कहकर उसका फल पूछा। अतीन्द्रिय ज्ञान से तीनों काल है समक्ष जिनके ऐसे गुरु ने कहा कि यह महामति संपन्न महाराज होगा। तब चणी ने घर में जाकर विचार किया कि क्या मेरा भी पुत्र अनर्थकारी राज्य को करके अधम गति में जायगा? तब चणी ने उसकी दाढों को बालक-रश्मि से (काणस से) घिसकर गुरु से यथाकृत तद् स्वरूप कहा। गुरु ने कहा - भद्र! यह तुमने क्या किया? जिसने जो कर्म उपार्जित किया है, उसे वह भोगना ही पड़ता है। यद्यपि तुमने इस की दाढों को घिस दिया है, फिर भी तुम्हारा यह पुत्र किसी बिम्ब को (दूसरे व्यक्ति को राजा बनाकर) रखकर उसके माध्यम से विशाल राज्य का संचालन करेगा।

वह चाणक्य शैशव काल का त्यागकर बड़ा हुआ। सभी विद्याएँ उसने धन की तरह आचार्य से लभ्य कीं। फिर चन्द्रमा की चाँदनी की तरह पुत्र के अनुरूप एक ब्राह्मण कन्या देखकर चणी ने उसे विवाहित किया। कालान्तर में माता-पिता की मृत्यु के बाद भी वह बुद्धिमान बरसात में वितृष्ण की तरह सदैव स्थित रहा। एक बार उसकी पत्नी अपने भाई के परिणय-उत्सव में अपने पिता के घर गयी। उसकी दूसरी बहन भी वहाँ आयी। उसका पति महाइभ्य तथा महा-लक्ष्मी आदि से वैभव सम्पन्न था। माता-पिता आदि सभी उसका अत्यन्त मान रखते थे। कोई उसे अभ्यंगन करती थी, तो दूसरी उसके उबटन लगाती थी। कोई उसे नहलाती थी, तो कोई उसका विलेपन करती थी। कोई उसके पाँवों में संस्कार करती थी, तो कोई उसके अलंकृति बाँधती थी। कोई उसे पंखा झलती

थी, तो कोई हाथ से साड़ी से हवा करती थी। उपचार-वचन द्वारा ही सभी उससे बोलते थे। ज्यादा क्या कहा जाय! सभी उसे रानी की तरह आराध्यते थे। पर चाणक्य की पत्नी गरीब की पत्नी होने से कर्मदासी की तरह किसीसे भी कहीं से भी सत्कार प्राप्त नहीं करती थी। विवाह के बाद भी उसका सपरिवार दिव्य पीनांशुक आदि के द्वारा सत्कार करके उसे गौरव से देखा गया। चाणक्य की पत्नी को तो गुणिये में भरकर कपड़े दिये और कहा कि बेटी! मुसाफिरों के साथ चली जाना। यह कहकर घर से भेज दिया। तब उसने मन में विचार किया - धिक्कार है! धिक्कार है अपमान देनेवाली दरिद्रता को। जिससे माता-पिता से भी इस प्रकार का पराभव होता है। इस प्रकार अश्रु-जल के बहाने से आँखों से पराभव को ही झटकती हुई वह नव्य-बादल के समान मुखवाली पति के घर आयी। प्रिय ने पूछा - पिता के घर से आने पर भी खिन्न क्यों हो? उसने कुछ नहीं कहा। पर जब पति ने बहुत जोर देकर पूछा तो अपना पराभव बताया। यह सुनकर वह भी पत्नी के दुःख को संक्रान्त होकर सोचने लगा -

अर्थ एव हि गौरव्यो न कौलीन्यं न वा गुणाः ।

अर्थात् धन ही गौरव दिलाने वाला है, धन के आगे कुलीनता अथवा गुण कोई मायने नहीं रखते।

कलावान राजा भी अगर क्षीण वैभववाला है, तो शोभित नहीं होता। धनवान, कुबेर अगर अकुलीन है तो भी वह प्रशंसा को ही प्राप्त होता है। धन से समृद्ध व्यक्ति ही सर्वत्र प्रतिष्ठा को प्राप्त करता है। पर्वतों में मेरुपर्वत ही कंचन-श्री से युक्त होने के कारण अग्रस्थान पर है। जिसके रहने पर असज्जन भी सज्जन हो जाता है और जिसके जाने पर सज्जनता भी चली जाती है। जिसके साथ सभी गुण रहते हैं, वह सर्वगुण रूप एकमात्र लक्ष्मी ही प्रसन्नता देने वाली है। धन चिन्तामणी रत्न की भाँति है, जो समस्त चिन्तित प्रयोजन का प्रसाधक है। अतः मेरे द्वारा एक मन से अब धनोपार्जन करना चाहिए। सुना है पाटलिपुत्र में नन्द राजा ब्राह्मणों को सुवर्ण देता है। अतः उसकी खोज करता हूँ - यह विचारकर वह शीघ्र ही वहाँ गया। दैवयोग से नृप के आवास में प्रवेश करते हुए उसे किसी ने नहीं रोका। राजा के समान सिंहासन पर चढ़कर वह बैठ गया। इधर स्नान करके, अंगों पर विलेपन करके सर्व अलंकार से विभुषित नैमित्तिक की भुजा के सहारे नन्द राजा वहाँ आया। सामने चाणक्य को देखकर निमित्तज्ञ ने राजा को कहा - देव! यह सामने बैठा हुआ व्यक्ति आपके वंश को काटने की कुल्हाड़ी रूप है। अतः हे देव! बिना रोष किये हुए आदर व विनय के साथ इसे उठाना चाहिए, इसकी अग्नि को भडकाने से हमें क्या मिलेगा? राजा के आदेश से उसे दासी ने अन्य आसन दिया। एवं कहा -हे द्विज! तुम यहाँ बैठो। राजा का आसन छोड़ दो। उसने विचार किया कि बिना दिये आसन पर बैठना युक्त नहीं है, पर उससे भी अयुक्त बैठे हुए आसन पर से उठना है। यह विचारकर उसने दासी से कहा - यहाँ मेरी कुण्डिका रहेगी। अतः उसने उसे वहाँ छोड़ी एवं अन्यत्र अपनी त्रिदण्डिका रख दी। यज्ञोपवीत को अन्यत्र आसन पर रख दिया। इस प्रकार उसे जो-जो आसन दिया गया, उस-उस पर बैठते हुए पूर्व-पूर्व के आसन को उसने ग्रहाग्रस्त की तरह अपने सामान से रोक लिया।

तब 'यह धृष्ट है' इस प्रकार उसे पकड़कर राजा ने पाँवों से खींचा। उसने भी भूमि से उठकर यह प्रतिज्ञा की कि "इस भरे हुए खजाने रूपी महामूल को पुत्र-मित्र आदि शाखाओं को तथा महावृक्ष रूपी इस नन्द को मैं हवा की तरह उखाड़ दूँगा।" फिर चाणक्य ने क्रोध से लाल होकर अपनी चोटी बाँधते हुए कहा - प्रतिज्ञा पूरी होने पर ही मैं इस चोटी को खोलूँगा। जो तुम्हारे पिता तक को प्रिय हो, वही तुम करो - इस प्रकार कहते हुए तिरस्कार सहित गले में अर्ध चन्द्राकार रूप से हाथ का स्थापन करते हुए नन्द ने राज्य से निकाल दिया।

उसने पुर से निकलते हुए विचार किया - कषाय से विवश अज्ञान से अन्धी होती हुई आत्मा ने महान् प्रतिज्ञा कर ली। हा! हा! अब तो या तो इसे पूर्ण करना होगा या फिर मरना होगा। अन्य लोगों द्वारा उपहास का स्थान बनकर जीवित रहना शक्य नहीं है। तब यह कैसे होगा - इस प्रकार विचार करते हुए मन में गुरु का वाक्य

स्मरण हो आया - "यह चाणक्य किसी बिम्ब के अन्तरित राज्य करेगा।" सूर्य पश्चिम में उदित हो सकता है। पृथ्वी उलटी हो सकती है। मेरु पर्वत की चूला भी चलित हो सकती है, पर आर्य-सन्त के वचन कभी चलित नहीं होते।

तब बिम्ब के निरीक्षण के लिए परिव्राजक वेष को धारण किया। वह नन्द के राज्य के मयूरपोषक नामक ग्राम में घूमता हुआ आया। भिक्षा के लिए उसने एक बड़े से घर में प्रवेश किया। उद्विग्न जनों ने उससे पूछा - भगवन्! क्या कुछ जानते हैं? उसने कहा हाँ! सब कुछ जानता हूँ। तुम कहो। तब महत्तर ने कहा - मेरी पुत्री के चन्द्र-पान के दोहद को पूर्ण कीजिए। क्योंकि इस दोहद के पूर्ण न होने से वह यम के मुख में जाने के समान हो गयी है। अतः इसका दोहद पूर्णकराकर आप इसे जीवन दान दीजिए।

"इसके गर्भ में कोई राज्य के योग्य पुरुष अवतीर्ण हुआ है" दोहद से यह ज्ञात हो जाने से चाणक्य ने महत्तर को कहा - अगर तुम इसका गर्भ मुझे दोगे, तो मैं इसके दोहद को पूर्ण करुँगा। उन्होंने सोचा - जीवित रहेगी तो पुनः गर्भवती हो जायगी। अतः उसकी शर्त स्वीकार कर ली। उसने उस शर्त की साक्षी करके फिर एक वस्त्र का मण्डप बनवाया। उसके ऊपर एक छिद्र रखा। फिर पूर्णिमा की रात्रि में विधि प्रारम्भ की। उस छिद्र के नीचे (मण्डप के अन्दर) अमृत से भी अधिक मधुर द्रव्य को संस्कारित खीर से युक्त करके थाली रखी। उस थाली को उस छिद्र के नीचे रखने से उसमें चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब झलकने लगा। तब चाणक्य ने उस पुत्री से कहा - बेटी! तुम्हारे लिए मैं मंत्रों द्वारा आकर्षित करके चन्द्रमा को यहाँ लाया हूँ। अतः इसका पान करो। उसे चन्द्र मानकर वह हर्षपूर्वक जैसे-जैसे उसका पान करने लगी, वैसे-वैसे ऊपर रहे हुए पुरुष उस छिद्र को थोड़ा-थोड़ा ढकने लगे। यह गर्भ पूर्ण है या नहीं यह जानना चाहिए। अतः परीक्षा के लिए आधा पीने पर उसने कहा - तुम इतना लोगों के लिए छोड़ दो। उसने कहा नहीं। तब चाणक्य ने कहा - तब तुम पीवो। मैं उसको अन्य लोगों के लिए स्थापित करुँगा इस प्रकार श्रद्धा पूर्ण की।

फिर द्रव्य का उपार्जन करने के लिए धातु की खान में गया। धातुवाद के द्वारा बहुतसारा द्रव्य उपार्जित करके पुनः आया। तब चाणक्य ने सर्व लक्षणधारी पुत्र को बाहर बैठे हुए, राजनीति से खेलते हुए देखा। नगर की रचना करके संपूर्ण सभा से युक्त सिंहासन पर बैठकर बहुत सारे बच्चों को सामन्तादि बनाकर उनसे घिरा हुआ देखा। देशादि को बख्शीश में देते हुए, दर्प से दुर्धर उसे देखकर चाणक्य तुष्ट हुआ। उसकी परीक्षा के लिए कहा - देव! मुझे भी कुछ दीजिए। यह सुनकर उसने कहा हे प्रिय! उन चरते हुए गोकुलों को तुम ग्रहण करो। उसने कहा - इन सबको ग्रहण करते हुए मुझे गोकुलों के स्वामी क्या नहीं मारेंगे। उस बालक ने कहा-क्या तुम नहीं जानते कि -

वीरभोग्या वसुन्धरा ।

अर्थात् पृथ्वी वीरभोग्य होती है।

औदार्य, शौर्य तथा विज्ञान से उस बालक को जानते हुए भी किसी बच्चे से पूछा - यह किसका पुत्र है? उसने कहा - महत्तर का चन्द्रगुप्त नामक दौहित्र है। गर्भ में रहते हुए ही इसे किसी परिव्राजक को दे दिया गया है। तब चाणक्य ने हर्षपूर्वक चन्द्रगुप्त को कहा - आओ! आओ! हे वत्स! जिसके तुम हो, वह मैं ही हूँ। तुम को वास्तव में मैं राजा बनाऊँगा। इस खेल-खेल के राज्य से तुम्हारा क्या? इस प्रकार कहकर चाणक्य उसके पिता के पास से चन्द्रगुप्त को लेकर अन्यत्र चला गया। उस धन के द्वारा उसने चतुरंगिणी सेना प्राप्त की। चन्द्रगुप्त को राजा बनाकर स्वयं मंत्री बन गया। सम्पूर्ण समूह के साथ जाकर नन्द के पत्तन को कारागृह की तरह घेर लिया। उसके खेतों में प्रवेश करके धान्य आदि को रौंद डाला। नन्द भी सर्व सामग्री से युक्त होकर नगर से बाहर निकला। सागर को घेरे हुए मन्दर पर्वत की तरह उसने उनकी सेना को ग्रस लिया। नन्द की सेना ने चन्द्रगुप्त-चाणक्य की सेना को परास्त कर दिया। हवा से बिखरे हुए बादलों की पंक्ति की तरह सभी दिशा-विदिशा में भाग गये। तब चन्द्रगुप्त व चाणक्य

भी घोड़े पर चढ़कर लौटकर पुनः मेष की तरह प्रहार करने के लिए एक दिशा में भागे। हमें कोई पहचान न ले - इस प्रकार घोड़े को भी पथ पर छोड़कर वे दोनों सरोवर की पाल के सहारे-सहारे पैदल ही चलने लगे एक घुड़सवार को पीछे-पीछे आता देखकर चाणक्य ने किनारे पर कपड़े धो रहे एक धोबी को कहा - अरे! रे! तुम भागो-भागो। नन्द महीपति का नाश हुआ। नन्द की सेना चन्द्रगुप्त के घुड़सवारों द्वारा पकड़ ली गयी है। यह सुनकर वह भाग गया। चाणक्य उसकी जगह कपड़े धोने लगा। चन्द्रगुप्त तो सरोवर के अन्दर पद्मिनी-वन में छिप गया।

उस घुड़सवार ने रजक के वेश में रहे हुए चाणक्य से पूछा - क्या तुमने यहाँ से चन्द्रगुप्त व चाणक्य को जाते हुए देखा है? उसने कहा - चाणक्य को तो मैंने नहीं देखा। पर चन्द्रगुप्त यहाँ पद्मिनी-खण्ड में तापसे आक्रान्त हंस की तरह छिपकर बैठा हुआ है। उस घुड़सवार ने भी उसे देखकर कहा - क्षणभर मेरे घोड़े को पकड़ो। तब धोबी रूपी चाणक्य ने कहा - मैं इससे डरता हूँ। अतः तुम उसे पेड़ से बाँध दो। जल में प्रवेश करने के लिए मोचक के तलवार खोलने से पहले ही उसीकी तलवार से चाणक्य ने उसीको ही मार डाला। फिर चन्द्रगुप्त व चाणक्य दोनों ही उसके घोड़े पर सवार होकर भाग गये। कितनी ही दूर जाकर उस घोड़े को भी पहले की ही तरह रास्ते पर छोड़ दिया। चलते हुए चाणिक्य ने चंद्रगुप्त से पूछा - अरे! जब मैं घुड़सवार को शिक्षा कर रहा था, उस समय तुमने क्या विचार किया? चन्द्रगुप्त ने कहा-तात! उस समय मैंने सोचा कि आर्य द्वारा देखा गया मेरा साम्राज्य इस प्रकार का होगा। तब चाणक्य ने यह निश्चित किया कि यह मेरे विपरित कभी नहीं जायगा। जैसे - शिष्य गुरुवचन का उल्लंघन नहीं करता, उसी प्रकार यह भी कभी भी मेरे वचनों का उल्लंघन नहीं करेगा।

कुछ समय बाद भूख लगने पर चाणक्य ने चन्द्रगुप्त को वन के मध्य छोड़कर अन्न के लिए किसी ग्राम में प्रवेश किया। उसने तिलक छापा से युक्त अंगवाले, पेट में नाक लगती हो, ऐसे मोटे पेट वाले एक विप्र को आते हुए देखकर उससे पूछा - भोजन कहीं मिलेगा? उसने कहा - बहुत सारा मिलेगा। एक यजमान के घर आज महोत्सव है। वह पूर्व में नहीं आये हुए ऐसे लोगों को विशेष रूप से दधि-मिश्रित लोट आदि देता है। तुम भी जाओ। मैं अभी वहीं से खाकर आ रहा हूँ। वहाँ पर प्रवेश करते हुए मुझे नन्द का कोई पुरुष पहचान न ले और उधर बाहर मेरे बिना चन्द्रगुप्त को कोई पकड़ न ले।

उधर द्वार पर नन्द का कोई घुड़सवार आया हुआ था। चाणक्य ने सोचा - राज्य स्पृहा के कारण चोर की तरह बनकर लता की तरह इसको नष्ट करना पड़ेगा। इस प्रकार विचारकर सावधानी से दयारहित होकर छोटी सी कटार हाथ में लेकर चाणक्य ने पभकोश की तरह शीघ्र ही उसके पेट में स्थित थाली की तरह करम्बक को लेकर पत्तों के सम्पुट में ले जाकर चन्द्रगुप्त मौर्य को भोजन करवाया। पुनः दिन बीतने पर रात्रि सम्मुख आने पर किसी सन्निवेश में जाते हुए चाणक्य भिक्षार्थी होकर एक वृद्धा ग्वालिन के घर गया। उसी समय वह अपने बच्चों को एक थाली में अत्यन्त गर्म राबड़ी दे रही थी। उस गर्म राबड़ी के बीच में एक बच्चे ने अंगुली डाल दी। अंगुली जलजाने से वह रोने लगा। तब वृद्धा ने क्रोध करते हुए कहा - क्या चाणक्य की निर्बुद्धि तुम्हें भी प्राप्त हो गयी है? अपने नाम की आशंका से चाणक्य ने उससे पूछा - माता! वह चाणक्य कौन है, जिसकी उपमा आपने इस बच्चें को दी है। उसने कहा - कौन सा चाणक्य! चन्द्रगुप्त के साथ रहने वाला। और कौन सा! सबसे पहले पाटलिपुत्र को ग्रहण करने के लिए चला आया। वह मूर्ख नहीं जानता कि देश को पहले चारों ओर से जीता जाता है। उन पर जय प्राप्त करने के पश्चात् ही पत्तन भी जीत लिया जाता है। मेरे पुत्र ने भी उसी की तरह सबसे पहले अति उष्ण राबड़ी के बीच में हाथ डाला, पर किनारे से नहीं ली। इसीलिए उसका हाथ जल गया। तब-

बालादपि हितं ग्राह्यमिति नीतिः ।

बालक से भी हितकारी बात ग्रहण करनी चाहिए ऐसा नीति वाक्य है ।

इस नीति का स्मरण करते हुए चाणक्य ने नन्द राज्य की प्राप्ति में संलग्नक उसके वचन को ग्रहण किया। चन्द्रगुप्त के साथ उसने अपनी सेना को एकत्रितकर हिमवत् कूट नामक पर्वत पर गया। वहाँ शबर-अधिपति पर्वत नामक व्यक्ति चाणक्य का सहायक था, जिसकी मित्रता की कांक्षा से वहाँ आया। चाणक्य ने एक बार उससे कहा - नन्द की श्री को उन्मूलित करके हम दोनों विभाग करके उसे ग्रहण करेंगे। उसने भी वह स्वीकार कर लिया। संपूर्ण सेना समूह के साथ नन्द मेदिनी को अपना बनाने के लिए चाणक्य ने एक समृद्ध नन्दपुर को चारों ओर से घेर लिया। उसमें से आने के लिए कोई भी शक्य नहीं था। फिर चाणक्य ने परिव्राजक का वेश बनाकर उस नगर का वास्तु देखने के लिए नगर में प्रवेश किया। उसने घूमते हुए वहाँ सुप्रतिष्ठित इन्द्र कुमारियों को देखा। तब विचार किया कि इन्हीं के प्रभाव से ही निश्चय ही यह नगर अभङ्ग है। घिरे हुए नगर के उद्विग्न जनों के द्वारा पूछे जाने पर उसने बताया कि इन्द्र कुमारियाँ को उखाड़े जाने पर ही बाहर का घेरा स्वतः ही घट जायगा। यह मैंने इसके लक्षणों से जाना है। मैं यह विश्वासपूर्वक कहता हूँ कि इनका उत्पाटन आरम्भ करते ही यह अवरोध थोड़ा सा भी निवर्तित हो जायगा। तब उनके द्वारा उखाड़ना प्रारम्भ किये जाने पर रोध थोड़ा पीछे लौट गया। तब विश्वास करके लोगों ने वहाँ कुआँ खोद डाला। तब उस नगर से बहुत सारा वैभव लेकर संपूर्ण परिधि को जीतकर वे दोनों पाटलिपुत्र में आये। तब चन्द्रगुप्त तथा पर्वत के सैनिकों द्वारा सर्व ओर से वेष्टित दत्त पोत को आवेष्टित करने के समान हो गया। दर्प से नन्द भी प्रतिदिन निकल-निकलकर महा रण करने लगा। पर उसका बल टूटने लगा। उसने धर्मद्वार की याचना की। ब्राह्मण चाणक्य ने भी उसको दन्तकार की तरह अर्थात् दीन पर कृपापूर्वक धर्मद्वार दे दिया, क्योंकि-

नीतिरेषा ही भूभुजाम् ।

राजाओं की यही नीति है।

फिर चाणक्य ने नन्द को उपालम्भ दिया कि तुमने तो तब अर्धचन्द्र के सिवाय मुझे कुछ नहीं दिया था। पर हे नन्द! आज मैं तुम्हें जीवन दान देता हूँ। एक रथ के द्वारा जो-जो तुम्हें रुचता है, वह-वह लेकर यहाँ से निकल जाओ। नन्द अपने बल-विक्रम के क्षीण हो जाने से विषाद को प्राप्त हुआ। उसने विचार किया - पापिनी, चंचल बिजली की तरह चपला लक्ष्मी को धिक्कार है! फिर नन्द दो पत्नियों तथा एक प्रिय पुत्री तथा सारभूत रत्नों को रथ में भरकर रवाना हुआ। पर पात्र भूता एक विषकन्या को घर में छोड़ दिया। इस विचार से कि चन्द्रगुप्त इसके साथ विवाह करके मर जाय। सुवर्ण, रत्न, माणिक्य, वस्तु, वस्त्र आदि सभी शत्रु के न हो जायें, अतः सभी पौरादि जनों को देकर वह चला गया। चन्द्रगुप्त को प्रवेश करते हुए देखकर अस्त हुए सूर्य की तरह निकलते हुए राजा नंद की पुत्री ने चंद्रगुप्त को देखकर उस पर सुर्य विकासी कमल की तरह प्रसन्न होकर उसे देखने लगी तब नंद ने कहा - हे पापे! तू वैरी को देखती है! अगर मेरे राज्य हरण करने वाले में अनुरक्त हो, तो, जाओ इसको पति मानकर सेवा करो। तब पिता के रथ का त्याग करके चन्द्रगुप्त के रथ पर आरोहण करते ही नन्द -लक्ष्मी की तरह भार से नव चक्र-आरक टूट गये। अपशकुन मानते हुए जब चन्द्रगुप्त उस कन्या को हटाने लगा, तो चाणक्य ने कहा - यह तुम्हारा शकुन है। इसका निषेध मत करो।

भग्न आरक तुम्हारे भावि नवान्वय रूप (नौ पेढ़ी तक) राज्य का प्रमाण है। तब उसे रथ पर चढ़ाकर चन्द्रगुप्त ने नगर में प्रवेश किया। तब चाणक्य ने कहा - नन्द! मेरी प्रतिज्ञा पूर्ण हुई। यह देख! मैं अपनी चोटी खोलता हूँ। यह कहकर उसके देखते ही देखते चाणक्य ने अपनी चोटी खोल दी। नन्द बाहर निकला और उन्होंने नन्द के घर में प्रवेश किया। वहाँ पर कन्या को देखकर चन्द्रगुप्त व पर्वत दोनों ही उस पर अनुरक्त हो गये। चाणक्य ने चिह्नों से उसे विषकन्या जानकर चन्द्रगुप्त से कहा - चन्द्रगुप्त! तुम्हारी एक राजकन्या हो गयी। इसे पर्वत को लेने दो। तुम

दोनों को नन्द साम्राज्य प्राप्तकर सभी कुछ विभाजित करना है। पर्वत ने उसी समय उससे विवाह करने का महोत्सव प्रारम्भ किया।

मंगल बाजे तीव्र स्वर में बजने लगे। वेदिका के अन्दर ज्वलन पदार्थों द्वारा संहार शिखा जलायी गयी। देवों के योग्य धान्य आदि कणों की आहुति रुक-रुककर दी जाने लगी। सुशोधित लग्न होने पर भी मंगल नीचे आ गया। लग्न-वेला में सर्प के समान कन्या के हाथ में हाथ लगते ही वह शबराधिपति पर्वत विष के आवेग से तत्क्षण मूर्च्छित हो गया। भाई! भाई चन्द्रगुप्त! तात चाणक्य! हे मित्र! हे अमात्य! मरता हूँ। मरता हूँ। रक्षा करो, रक्षा करो। इस प्रकार वेदनार्त्त होकर चिल्लाने लगा। जब चन्द्रगुप्त ने उसका प्रतिकार करना प्रारम्भ किया, तो चाणक्य ने भृकुटि चढ़ाकर उसे मना करते हुए कहा - अभी भी मुग्ध बने हो। हे राजन्! क्या नीति नहीं जानते?

अर्धराज्यहरं मित्रं यो न हन्यात् स हन्यते।

अर्थात् अर्ध राज्य का हरण करनेवाले मित्र को जो नहीं मारता, वह खुद मारा जाता है।

तब वह भी व्यावर्त्तन आदि द्वारा समय व्यतीत करने लगा। इस प्रकार त्राण नहीं किये जाने पर त्रुटित प्राण वाला पर्वत मर गया।

इस तरह संपूर्ण राज्य का अधिपति चन्द्रगुप्त बन गया। राज्य-नाटक का सूत्रधार चाणक्य महामंत्री बना। तब आगमचरज्ञ होने से नन्द के पुरुष सभी ओर से विद्या सिद्ध दुर्द्धर पुरुष की तरह चौये कर्म करने लगे। उनसे नगर की रक्षा के लिए चारों ओर नगर रक्षक को खोजने के लिए चाणक्य भी वेष बदलकर सभी जगह घूमता था। उसने नलदा नामके एक जुलाहे को बुनते हुए देखा। उस समय खेलते हुए उसके पुत्र को मत्कोटक ने डस लिया। रोता हुआ वह अपने पिता के पास आया, तब उस यमराज के भाई ने उसके बिल को खोदकर शीघ्र ही उन सभी को भस्म कर डाला। चाणक्य ने उस व्यक्ति को योग्य माना और घर चला गया। फिर क्रूरता के सरताज उसको बुलाकर नगर-रक्षक नियुक्त कर दिया। उसने नगर के सभी चोरों से कहा कि मेरे नगर-रक्षक रहते तुम लोग पूरे राज्य में स्वेच्छापूर्वक चोरी करो। विश्वास दिला करके उन सभी को कुटुम्ब सहित निमंत्रित करके द्वार ढ़ककर आग लगाकर उन्हें भस्मसात् कर दिया। तब पुर के स्वस्थ हो जाने पर किसी ने कहा कि चोरों के साथ ही चोरी भी जल जाने से उसका नाम भी नहीं सुनायी देता।

पहले एक गाँव में भिक्षा लेश मात्र भी उपलब्ध नही होती थी। चाणक्य ने वहाँ एक क्षुद्र आदेश भिजवाया - हमारे भूत व वंश ग्राम में रहते हैं। अतः आम्रवन का छेदन करके वंश वनों द्वारा वर्त्तन किया जाये। गाँव वालों ने विचार किया कि भूतों के द्वारा वंश रक्षण घटित नहीं होता है, किन्तु वंश-समूहों के द्वारा आम्रवनों का परिरक्षण घटित होता है। परमार्थ को नहीं जानते हुए अपनी बुद्धि से विचार करके उन्होंने वंशों का छेदन करके आम्र-वन के वर्त्तन को धारण किया। तब आदेश के विपरीत कार्य करने के बहाने से चाणक्य ने महान्ध गज की तरह कृत्य-अकृत्य का चिन्तन किए बिना बाल-वृद्ध सहित उस ग्राम के द्वारों को चारों ओर से बंद करके द्वैपायन ऋषि द्वारा द्वारिका को जलाने की तरह क्रुध होकर उस गाँव को जला दिया।

फिर अपनी पत्नी को राज्य में लाकर कहा - हे दयिता! मैंने तुम्हारे लिए ही इस सारे साम्राज्य का उपक्रम किया है। अपमान रूपी विष से दुःखित उस दुःख से तुम अब ऐश्वर्य रूपी अमृत द्वारा निवर्तित होओ। हे महाभागे! अब इन्द्राणी के समान सुख का अनुभव करो। चाणक्य के चरित्र को सुनकर उसका श्वसुर भी डर-डरकर आकर चाणक्य को इस प्रकार बोले - हे जामाता! हमारे पुत्र के विवाह पर निर्धन की पत्नी जानकर अपनी पुत्री का भी हमने सत्कार नहीं किया। वह वास्तव में आपका ही तिरस्कार हमारे द्वारा किया गया। अतः एक बार हमारा अपराध क्षमा कीजिए? हम पर कृपा कीजिए। चाणक्य भी उन पर प्रसन्न हो गया। क्योंकि -

जायन्ते हि महियांसः प्रणिपातवशंवदाः ।

महान् व्यक्ति विनयी लोगों के वश में होने के लिए ही पैदा होते हैं।

श्वसुर को तथा उनके दूसरे स्वजनों को चाणक्य ने ग्राम-देश आदि औचित्यानुसार दिया।

एकबार दुर्गति के घर रूप शून्य कोश को देखा तो विचार किया कि तलवार के समान राज्य कोशहीन होने से नष्ट हो जायगा। अतः कोश को भरने के लिए चाणक्य ने कूट-पाशक करके अपने एक आदमी को रत्न भरा थाल सामने रख कर खेलने के लिए बिठाया। उसने कहा - जो मुझे जितेगा उसे रत्नथाल दिया जायगा। और जिसके द्वारा मैं जीत गया, तो वह मुझे एक दीनार देगा। लोभ से बहुत जनों ने उसके साथ खेला, पर पाशों को अपने वश में किये हुए होने से उसे कोई भी जीत नहीं पाया। चाणक्य ने जाना कि इस प्रकार कोश की पूर्ति में तो बहुत समय लगेगा। अतः कोश भरने के लिए शीघ्र ही दूसरा उपाय रचना होगा। जैसे - सभी धनवान् कुटुम्बियों को मद्य पान करवाऊँ, जिससे नशे में वे सभी अपने-अपने घर की सारभूत बात कह देंगे। कहा भी है -

यतः क्रुद्धस्य रक्तस्य व्यसनापतितस्य च ।

मत्तस्य म्रियमाणस्य सद्भावः प्रकटो भवेत् ॥

क्रुद्ध, रागी, व्यसनी, मत्त व मरते हुए व्यक्ति के सत्य भाव प्रकट होते ही हैं।

इस प्रकार निश्चित करके चाणक्य ने उन धनवान् कुटुम्बियों को बुलवाया। उन्हें मद्य से मदहोश बनाकर उनके मनोभाव जानने के लिए कहा - दो वस्त्र, रक्त धातु, त्रिदण्ड व स्वर्णकुण्डिका मेरे पास में है तथा राजा मेरे वश में हैं, मैं यहाँ होला को बजाता हूँ। तब चाणक्य का कहा हुआ सुनकर वे सभी कुटुम्बी गर्व से अपना-अपना एक-एक अनुष्टुभ कहने लगे।

हजार योजन के मार्ग पर जाते हुए मत्त हाथी के पग-पग पर एक-एक लाख वित्त है, यहाँ मेरा होला बजाओ।

एक आढक प्रमाण तिल को अच्छी प्रकार बोने से जो तिल उत्पन्न होते हैं उन तीलों में से एक-एक तिल पर एक-एक लाख रुपये रखने जितना धन मेरे पास है अतः मेरे नाम से होला बजाओ।

प्रावृट् ऋतु के पूर से बहती हुई नदी का पालि-बन्धन कर सके इतने मक्खन की एक दिन में मेरे यहाँ उत्पत्ति होती है। अतः यहाँ मेरा होला बजाओ।

मेरे पास ऐसे अश्व हैं जिनके एक दिन के जन्मे हुए बच्चे के केशों के अंशों से पूरा आकाश छादित हो जाये, यहाँ मेरा होला बजाओ।

मेरे पास दो गर्दभी रत्न हैं जो ऐसे बीज को देती हैं जिसके बोने से उगने पर छेदन करने पर भी पुनः उगते हैं अतः मेरे नाम से होला बजाओ।

मुझे कहीं प्रवास करना नहीं होता, मेरी पत्नी मेरे वश में है, हजारों द्रव्य का मैं मालिक हूँ, मैं शुक्ल वस्त्र धारण करता हूँ, और सुगंध अंगवाला हूँ, अतः मेरा होला बजाओ।

इस प्रकार चाणक्य ने उनके भावों को जान लिया। फिर वे निर्मद होने पर उनसे यथोचित रीति से उस बुद्धिशाली ने बहुत सारा द्रव्य मांग लिया। हजार योजन गामी हाथी के एक-एक कदम पर एक लाख धन उससे लिया। एक तिल से जितने तिल उत्पन्न हुए उन एक-एक तिल पर एक लाख द्रव्य उससे लिया। एक दिन में उत्पन्न होनेवाले मक्खन का घृत महिने महिने देना। एक दिन में उत्पन्न होनेवाले अश्व महिने महिने देना। एक दिन में उत्पन्न होनेवाले शाली से महिने महिने कोष्ठागार भरना। इस प्रकार चाणक्य को उन्होंने दिया।

इस प्रकार कोश समूहों से कोष्ठागार भर गये। चाणक्य कर्त्तव्य करके राज्य को राजा की तरह ही शासित करता था।

देदिप्यमान आकर्षणों से मुक्त ऐसे मनोहर विहार के द्वारा पृथ्वीतल को पावन करते हुए क्षमामूर्ति विजयसूरि वहाँ पधारे। जंघाबल के क्षीण हो जाने से वृद्धावास करने की इच्छा से तथा भावी दुर्भिक्ष को जानकर अपने शिष्य को अपने पद पर स्थापित किया। विद्या आदि अतिशयों को एकान्त में उसे बताया। गच्छ की निधि को समर्पित करके कहा - तुमलोग सुभिक्ष वृत्ति वाले देश में चले जाओ। गुरु के स्नेह - अनुराग के कारण नये आचार्य की आँखों में धूल झोंककर दो क्षुल्लक मुनि तो लौटकर गुरु-सन्निधि में आ गये। गुरु ने कहा - वत्सों! तुम्हारे द्वारा अनुष्ठित यह कार्य युक्त नहीं है। यहाँ तो मृत्यु का सहोदर विकराल दुष्काल पड़नेवाला है। उन दोनों ने कहा - प्रभो! आपके बिना हमारा वहाँ मन नहीं लगता। यहाँ पूज्य के समीप रहते हुए हम सब कुछ सहन कर लेंगे। इस प्रकार रहने पर वहाँ बारह वर्ष का भीषण दुष्काल पड़ा। उस दुष्काल ने दानधर्म को मन्द तथा यमगज को उत्साहित बनाया। जहाँ परस्पर लोगों द्वारा नित्य ही किसी के नहीं देखते हुए रत्न रखकर उदर में अन्न धरा जाता था। उस समय दुर्भिक्ष रूपी राजा द्वारा एक छत्र साम्राज्य की वाञ्छा करते हुए रंक व राजा सभी के अपने माण्डलिकों की तरह नियोजित कर दिया था। घर-घर में बैठे हुए या खड़े हुए भिक्षुकों को दुःकाल रूपी राजा के भट्टपुत्र के समान उत्कट भिक्षा नहीं मिलती थी।

इस प्रकार के काल में गुरु जो भी प्राप्त करते थे, उस भव्य भिक्षा को स्नेहपूर्वक उन दोनों क्षुल्लकों को दे देते थे। तब क्षुल्लकों ने सोचा - यह अच्छा नहीं लगता। क्योंकि गुरु के खेदित होने पर हमारी क्या गति होगी। जिस पुरुष से कुल सनाथ होता है, उसकी तो यत्नपूर्वक रक्षा करनी चाहिए। कहा भी है -

अरकाः स्युः किमाधारास्तुम्बे नाशमुपेयुषि ।

चक्र के नाभि भाग रूपी तुम्ब का नाश हो जाने पर आरों का आधार क्या है?

दाँत चलित हो जाने पर, मद के झर जाने पर तथा जर से जर्जरित हो जाने पर भी अगर वह यूथपति है, तो ही यूथ सर्वथा सनाथ होता है। उन पूज्याचार्य द्वारा नये आचार्य को उस रात्रि में दी गयी अंजन योग विधि उन दोनों क्षुल्लकों ने सुनी थी। वह विधि हम करें। यह सोचकर उन दोनों ने योग किया और योग से विधि सिद्ध हो गयी। वे दोनों अदृश्य होकर चन्द्रगुप्त के साथ जीमने के लिए गये। उसे खाते हुए देखकर उसके दोनों पार्श्व में वे बैठ गये और खाकर चले गये। इस प्रकार प्रतिदिन वे दोनों उसी प्रकार वहाँ भोजन करने लगे। अन्य दिनों की अपेक्षा राजा का भोजन-परिमाण घट जाने पर अजीर्ण के भय से वैद्य लोग राजा को शीघ्र ही भोजन पर से उठा देते थे। इस प्रकार एक जन के योग्य भोजन को तीन-तीन जनों द्वारा खाये जाने से तृप्त न होने से राजा कृश होने लगा। लेकिन वह लज्जा के कारण कुछ भी नहीं बोलता था। कृष्ण पक्ष के चन्द्रमा की तरह चन्द्रगुप्त को कृशता युक्त देखकर चाणक्य ने पूछा - वत्स! क्या तुम्हारे भी दुष्काल लग गया है। उसने कहा - नहीं, आर्य! मैं तृप्त होता हूँ। तब चाणक्य ने विचार किया कि दुष्काल के कारण कोई सिद्ध पुरुष निश्चित ही इसका आहार हरण करता है। दूसरे दिन चाणक्य ने भोजन-मण्डप में ईंट का चूर्ण बिछवा दिया। उस चूर्ण पर दो बालकों की पद-पंक्ति मढ़ गयी। तब मन्त्री ने निश्चय किया कि जरूर ये दोनों बालक सिद्धांजन है। अतः द्वार बन्द करके शीघ्र ही भोजन-मण्डप में धुँआ करवा दिया। धूम के कारण आँखें जलने से उसमें से पानी बहने लगा। और अश्रुओं के साथ-साथ अञ्जन भी धुल गया। तब मन्त्री ने राजा के पास में दो क्षुल्लकों को भोजन करते हुए देखा। इन दोनों के कारण मैं कृश हुआ हूँ। मैंने तकलीफ पायी है - इस प्रकार राजा थोड़ा दुर्मना हो गया। शासन की हीलना न होवे - यह सोचकर मन्त्री ने कहा - हे वत्स! मन में कलुषता क्यों धारण करते हो। अब ही तुम्हारी शुद्धि हुई है, क्योंकि एक ही भाजन में तुमने बाल-मुनियों के साथ भोजन किया है। कौन गृहस्थ साधु के साथ एक ही पात्र में जीमने का लाभ प्राप्त करता है? अतः तुम ही पुण्यात्मा हो। तुम्हारा जीवन सफल हो गया है। जो महर्षि भोजन करते हुए देखने के लिए भी प्राप्त

नहीं होते, उनके साथ भोजन करने से कौन श्लाघनीय नहीं होगा? वे तो त्रिजगत्-वन्द्य ब्रह्मचारी कुमार हैं। इनके चरणों की रज भी यहाँ पावन से भी पावन है। इस प्रकार चन्द्रगुप्त को प्रबोधित करके और दोनों क्षुल्लकों को भेजकर चाणक्य भी उनके पीछे आया और गुरु को उपालम्भ दिया। प्रभो! अगर आपके शिष्य ही इस प्रकार करते हैं तो अब अन्यत्र कहाँ पर पवित्र चारित्र प्राप्त होगा? गुरु ने कहा - चाणक्य तुम श्रावक हो। तुम्हारे द्वारा साधुओं को महादान देने पर स्वर्ग में स्थित तुम्हारा पिता श्रावक चणी प्रसन्न होगा। दुष्काल के उत्कर्ष रूप से प्राप्त होने पर और तुम्हारे वैभव के उत्कर्ष में प्राप्त होने पर तुम्हारे जैसे द्वारा महादान न देने से भवोदधि दुस्तरणीय नहीं होगा? संपूर्ण गच्छ को तो मैंने देशान्तर में भेज दिया। क्योंकि कल्पवृक्ष की तरह तुम्हारे जैसा श्रावक यहाँ है - यह मैंने माना। अब तो ये दोनों क्षुल्लक ही मेरे पास हैं। तुम इनकी आहारादि से भक्ति करोगे तो तुम जैसे श्रावक की बहुत ही प्रसिद्धि वे करेंगे। गुरु ने उन दोनों शैक्षकों को भी उपालंभ देते हुए कहा कि तुम दोनों द्वारा यह क्या किया गया?

त्याज्यो हि साधुभिर्नात्मा महत्यपि परीषहे ।

महान् परीषह आने पर भी साधु को आत्मा का (अपनी प्रतिज्ञा का) त्याग नहीं करना चाहिए।

हाथी का हाथी के समूह में, स्वर्ण का कसौटी पर, दुःख आने पर सात्विकों का सार जाना जाता है।

तब दोनों क्षुल्लकों ने गुरु के सामने झुककर अपने पाप की क्षमा-याचना की। प्रभु! अब हम पुनः ऐसा नहीं करेंगे- इस प्रकार मिथ्या-दुष्कृत दिया।

चाणक्य ने भी यह सुनकर लज्जित होते हुए गुरु से कहा - प्रभो! आपकी शिक्षाओं द्वारा मुझे भवउदधि से आपने उद्धार किया है। आज से आगे मेरे घर में विशुद्ध अशन आदि द्वारा मुझ पर सदा अनुग्रह कीजिए। मुझ प्रमत्त-प्रमुख का निस्तारण कीजिए। इतने दिनों तक भक्त आदि के सहारे कहीं से भी आपके द्वारा आहार लाया गया, वह सभी मेरा दोष था। आप क्षमाधनी इन शिष्यों पर प्रसन्न होकर क्षमा करें। इस प्रकार कहकर गुरु को प्रणाम करके चाणक्य घर चला गया। क्षुल्लक भी उसके घर पर आहारादि सुखपूर्वक ग्रहण करने लगे।

एक बार चन्द्रगुप्त को मिथ्यादृष्टि से प्रतारित जानकर अपने पिता की तरह ही धर्मप्रिय बनाने के लिए स्नेहवश से-चाणक्य ने कहा - वत्स! ये पाखण्डी हैं। जीविका के लिए व्रत धारण किया है। ये दुःशील वाले, दया रहित हैं। पापी हैं। इनका नाम भी नहीं लिया जाता। बहेड़े के वृक्ष की तरह इनकी छाया भी त्याज्य है। इनकी पूजा आदि की वार्त्ता तो कान में गरम-गरम सीसा डालने के समान है। इन अधर्मियों की राजधानी में कषाय विषय अज्ञान का साम्राज्य है। हे वत्स! इन्हें दान देना अग्नि में आहुति डालने के समान है। यह सुनकर चन्द्रगुप्त मौर्य ने कहा - आपके वचन मेरे मस्तक के ऊपर हैं। पर आप मुझे यह सब प्रत्यक्ष करके बताइए।

तब एक दिन मन्त्री ने सम्पूर्ण पाखंडियों को राजा के सामने अपने-अपने धर्म का कथन करने के लिए बुलाया। अंतःपुर के समीप ही सूनसान स्थान में उनको बैठाया। उस जगह पर पहले ही उस बुद्धिमान मन्त्री ने लोष्टचूर्ण चारों ओर बिछवा दिया था। जब तक राजा आता, तब तक वे सभी अविजित इन्द्रिय वाले उठ-उठकर जाली के द्वारों से राजा की रानियाँ आदि को देखने लगे। राजा को आता हुआ देखकर वे सभी अंगोपांग की यथास्थिती मुद्रा को धारण करके बैठ गये। अपने-अपने धर्म का राजा के सामने कथन करके वे लोग जैसे आये थे, वैसे ही चले गये। चाणक्य ने लौष्टचूर्ण पर उन-उन के पाँवों के प्रतिबिम्ब राजा को दिखाया। फिर कहा - देखो! इनकी स्त्री लोलुपता को देखो। जब तक तुम नहीं आये, तब तक ये लोग रह-रह कर तुम्हारे अंतः पुर को जालिका के पास-जाकर देख रहे थे। चन्द्रगुप्त भी उनकी दुःशील चेष्टाओं को देखकर शीघ्र ही झूठी स्त्रियों से विरक्त होने की तरह उनसे विरक्त हो गया। फिर पुनः उस लोष्टचूर्ण को समसार करके श्वेत वस्त्र धारियों को दूसरे दिन मंत्री ने उसी प्रकार वहाँ बुलाया। वे मुनीन्द्र अपनी मुद्रा से ध्यान-मौन परायण जितेन्द्रिय रूप से बिम्ब की

तरह अपने ही स्थान पर बैठे रहे। राजा के आने पर उसे धर्म का कथन किया। फिर ईर्यासमिति पूर्वक समता से वासित चित्त द्वारा वापस चले गये। तब चाणक्य ने चन्द्रगुप्त से कहा - राजन्! देखो। यहाँ पर लोष्टचूर्ण पर मुनियों के एक भी पाँव का निशान नहीं है। ये वास्तव में जितेन्द्रिय हैं, अतः यहाँ आकर स्त्रियों को नहीं देखा। ये स्त्रियों को तृणवत् मानकर त्याग देते हैं। ये तो केवल सिद्धि रूपी लक्ष्मी के संग के अभिलाषी हैं। तब चन्द्रगुप्त की सुसाधुओं में परम दृढ़ भक्ति हुई। शुद्ध समाचरण को देखकर वह परम आर्हत बन गया।

एक बार चाणक्य ने विचार किया कि उन दोनों क्षुल्लकों की तरह कोई अदृश्य रूप से आकर राजा को विष दे देगा, तो ठीक नहीं होगा। इस प्रकार विचारकर वह राजा को सहन करने योग्य विषमिश्रित चावल रोज खिलाने लगा। रानी महादेवी धारिणी उस समय गर्भवती थी। उसे राजा के साथ एक ही थाल में जीमने का दोहद उत्पन्न हुआ। उस दोहद की पूर्ति न होने से वह राशि-लेखा की तरह दुर्बल होती गयी। उसे इस प्रकार देखकर राजा ने पूछा - क्या तुम्हारी इच्छा पूरी नहीं होती या तुम्हारी आज्ञा कोई खण्डित करता है? तुम क्यों व किससे अभिभूत हो, जिससे कि हे देवी! तुम इतनी दुर्बल हो गयी हो। रानी ने कहा - आपने जो कुछ भी कहा, उसमें से कोई भी कारण मेरी कृशता का नहीं है। हे देव! आपके साथ एक ही थाल में जीमने का मुझे दोहद उत्पन्न हुआ है। राजा ने कहा - देवी! आश्वस्त हो जाओ। मैं स्वयं इस दोहद की पूर्ति करुँगा। दूसरे दिन अपने साथ भोजन करने के लिए राजा ने उसे बुलाया। चाणक्य ने कहा - वत्स! रानी को तुम अपना भोजन मत देना, क्योंकि तुम्हारा यह सम्पूर्ण आहार विष भावित है। फिर भी प्रतिदिन राजा मौका खोजने लगा। एक दिन चाणक्य के आने से पहले ही रानी को एक कवल दे दिया। रानी ने जैसे ही खाया कि तुरन्त वहाँ चाणक्य आ गया। उसे स्वाद पूर्वक खाते देखकर ग्लानि पूर्वक कहा - खुद की वैरिणी! यह तुमने क्या किया। सर्वनाश के समुत्पन्न होने पर पंडित आधे का त्याग करता है। दोनों ही विष से मृत्यु को प्राप्त हो जावें, इससे पहले में एक को बचा लेता हूँ। इस प्रकार कहते हुए चाणक्य ने अपनी छुरी से रानी के पेट को चीरकर पर्वत की भूमि से रत्न निकालने के समान पुत्ररत्न को पेट में से खींच लिया। गर्भ के जितने दिन बाकी थे, उतने दिन बच्चे को घृत आदि में रखकर पूर्ण किया। फिर उसकी माता धारिणी का मृतकार्य आदि कराया। जहर मिश्रित भोजन करती हुई माता के द्वारा एक बिन्दु उसके सिर पर गिर गया, जिससे ऊषर भूमि में धान न उगने के समान सिर के उस प्रदेश में केश नहीं उगे। अतएव उसका नाम बिन्दुसार पड़ गया। चन्द्रगुप्त राजा के मरने के बाद बिन्दुसार राजा बना। अपने प्रताप से वह ऊष्ण सूर्य की तरह प्रतिदिन वृद्धि को प्राप्त होने लगा।

धात्री के द्वारा माता की तरह नित्य ही बार-बार शिक्षा दिये जाने से चाणक्य को दूसरे चन्द्रगुप्त की तरह आराधने लगा। एकबार नन्द-मन्त्री सुबन्धु ने राजा को एकान्त में कहा कि देव! आपने मुझे मन्त्री रूप से यद्यपि स्थापित नहीं किया है, फिर भी मैं आपके लिए कुछ करुँगा। स्वामिन्! यद्यपि मेरी वाणी की कोई कीमत नहीं है। फिर भी इस पट्ट के हित को कहने के लिए मेरी जिह्वा में खुजली हो रही है। यह जो आपका मन्त्री चाणक्य है, वह अत्यन्त निर्दयी है। इसने आपकी माता के पेट को चीरकर उसे मार डाला था। अतः हे राजन्! आप अपनी रक्षा यत्नपूर्वक करना। राजा ने जब उससे पुर्ण वार्त्ता पूछी, तो उसने भी बताया कि इस प्रकार हुआ।

तब वह अत्यन्त क्रोधित हुआ। चाणक्य के आने पर भी वह उससे पराङ्गमुख हुआ। खल प्रवेश जानकर चाणक्य भी घर चला गया। इस शिशु को समझाकर विश्वास दिलाने से अब क्या होनेवाला है? मेरा मर जाना ही ठीक है। पर क्या अशुभ मौत मरूँ? इस प्रकार विचारकर राज्य-आकांक्षा का त्याग करके अपने संपूर्ण धन को चाणक्य ने सप्त क्षेत्रों में सुबीज की तरह बो दिया। फिर इष्ट-स्वजन आदि पर औचित्य-उपकार करके, अनाथ, दीन-दुखियों को अनुकम्पा दान देकर चतुर्थ बुद्धि से विचार करके राजा के प्रतिकारसामर्थ्य से युक्त पत्रक व

गन्धचूर्ण को मध्य से भी मध्य में रखकर मंजूषा में बन्द करके छोड़ दिया। फिर छाणों के मध्य, गायों की स्थण्डिल भूमि में अनशन करके इंगिनीमरण की इच्छा से वहाँ स्थित हो गया।

यह सुनकर धात्री ने राजा से कहा - वत्स! तुम्हें प्राण देने वाले तथा राज्य देनेवाले महात्म्य की क्या तुमने अवज्ञा की है? तब उस धात्री के मुख से राजा ने संपूर्ण स्वरूप सुना, तो वहाँ जाकर उनके पाँवों में लगकर भक्तियुक्त होकर बोला- अज्ञानता से ही मेरे द्वारा आपकी अवज्ञा हुई है। अतः मेरा त्याग न करें। क्योंकि -

पुरीषमुत्सृजत्यङ्के डिम्भश्चेत्तत् त्यज्यते स किम् ।

अगर बच्चा माँ की गोद में मल का त्याग कर दे, तो क्या माँ बच्चे का त्याग कर देती है?

अतः प्रसन्न होकर घर आवें। अपने साम्राज्य पर शासन करें। चाणक्य ने कहा - वत्स! बस करो। मैं इस समय अनशनी हूँ। तब सर्वस्व चला गया हो - इस प्रकार रोता हुआ राजा लौटकर घर आ गया। हा! मैं अकृतज्ञ बन गया। इस प्रकार बार-बार स्वयं की हीलना करने लगा।

उधर सुबन्धु ने विचार किया कि यदि यह कभी लौट आया तो मेरे संपूर्ण वर्ग का (वंश का) समूलोच्छेद निश्चय ही कर देगा। यह विचारकर उस शठ ने अश्रुपूर्ण नेत्रों द्वारा गद्‌गद् होकर नृप से कहा - देव! भाग्य योग से बिना विचारे करने से यह अनर्थ हो गया। अगर देव की आज्ञा हो, तो समता में निमग्न चित्तवाले चाणक्य की सेवा पूजा द्वारा मैं भाव-वृद्धि करूँ। तब राजा की अनुमति लेकर वह दम्भिक सन्ध्या समय में वहाँ आकर अर्चा करके उसके अत्यन्त समीप धूप-अंगार रखकर वह कुधी वाला वहाँ से चला गया। उस अग्नि से तपित होते हुए वह महातपस्वी चाणक्य दुष्कर्म ग्रसित रोगी की तरह भावना भाने लगा - विष्टा, मूत्र पसीना, मल, दुर्गन्ध पिच्छल वाले अतीव बीभत्स इस शरीर में हे जीव! प्रेम मत करना। पुण्य व पाप ये दोनों ही जीव के साथ जाते हैं। यह कृतघ्नी शरीर कभी भी साथ नहीं देता है। तुम्हारे द्वारा नरक में पूर्व में जो उग्र वेदना सहन की गयी है, उसकी लाखवें अंश के समान भी इस अग्नि से होने वाली वेदना नहीं है। जो तुमने पूर्व में तिर्यंच अवस्था में अनेक बार अनुभव की है, वह साक्षात् पीड़ा अभी वर्त्तमान में तिर्यंचों में देख रहे हो, अब इस अग्नि से उत्पन्न पीड़ा को सहनकर मनुष्य धर्म को प्राप्त करके जब तक तुम जीवित हो, तब से प्रस्थान के समय तक सुमनवाले होकर अर्हत् वचन का स्मरण करो। जीव अकेला ही जन्म लेता है, अकेला ही मरता है, संसार में अकेला ही भ्रमण करता है और अकेला ही सिद्धि को प्राप्त करता है। ज्ञान, श्रद्धान् व चारित्र को अब मैं श्रद्धता हूँ। जब तक जीवित हूँ, तब तक सारे भव-दोहद (इच्छाओं) का त्याग करता हूँ। हिंसा, मृषावाद, स्तेय, अब्रह्म तथा परिग्रह एवं चारों प्रकार के आहार का अब मैं मन-वचन-काया से त्याग करता हूँ। सभी जीवों को मैं क्षमा करता हूँ। सभी जीव भी मुझे क्षमा करें। मेरा सभी जीवों पर मैत्री भाव है। मुझे किसी से भी वैर नहीं है। मेरे जिन अपराधों को सर्वज्ञ जानते हैं, उन सभी अपराधों की अर्हंत साक्षी से अनेक प्रकार से आलोचना करता हूँ। छद्मस्थपने से या मूढचित्त के द्वारा जिनका स्मरण नहीं है, पर जो सत्ता में रहे हुए हैं, उन सभी का इस समय मिथ्या दुष्कृत देता हूँ। उस दुःकृत की निन्दा करते हुए तथा सुकृत्य का अनुमोदन करते हुए सिद्धि सोपान के देशभूत चतुःशरण का आश्रय लेकर सिद्ध-साक्षी से आलोचना करके, पंचनमस्कार के स्मरणपूर्वक दुष्कर्म को पतला करके चाणक्य स्वर्ग में चला गया।

एक बार सुबन्धु ने राजा से कहा कि देव! मुझे कृपा करके चाणक्य का घर प्रदान कीजिए। राजा ने वैसा ही किया। सुबन्धु सर्वशून्य ग्रह के अन्दर गया। वहाँ संपूर्ण घर में एक ही द्वार पर्दे से ढका हुआ देखा। उसने विचार किया कि यहाँ चाणक्य का सर्वस्व होगा। उसने द्वार खोला, तो एक सुगंध से युक्त एक छोटी पेटी दिखायी दी। हुं! बीज रूप यहाँ कुछ है, इस प्रकार भावी नीति का विचार करते हुए उसको भी खोलकर देखते हुए पत्र सहित गन्धक को देखा। अति सुरभि वाली उस गंध को सूँघकर पत्र को पढ़ते हुए गन्ध से होने वाली घ्राण की उत्तर क्रिया को

देखा। उस पत्र में लिखा था। इस गन्ध को सूँघकर जो शीतल जल को पीता है, सभी रस वाले भोज्य को खाने से सुधा को भी अधःकृत करेगा। कपूर, कुसुम आदि सुरभि गंध को सूँघता है। स्पृहापूर्वक मनोहर रूप को निरूपित करता है। बांस की वीणा से युक्त सुन्दर गीतों को सुनता है। विलासपूर्वक स्त्रियों के संग की लालसा वाला होता है। ज्यादा क्या कहा जाय! पाँचों इन्द्रियों के मनोरम विषयों में से जो एक-एक विषय को भी भोगता है, वह शीघ्र ही यमराज का मेहमान बनता है। पर जो मुण्डित सिर वाला होकर, प्रान्त आहार युक्त मलिन वस्त्र युक्त अस्नानी मुनि वृत्ति को धारण करता है, वह लम्बे समय तक जीता है।

इस अर्थ पर विश्वास प्राप्त करने के लिए सुबन्धु ने किसी मनुष्य को वह गन्ध सूँघाकर सभी इन्द्रियों के सुख में नियोजित किया और वह मनुष्य मर गया। तब उसने विचार किया कि मेरी बुद्धि को धिक्कार है। बुद्धिमान तो एकमात्र चाणक्य ही था। जिसने मरकर भी मुझ जीवित को मृत बना दिया है। तब वह नट के समान भाव रहित मुनिवेष में स्थित हो गया। पर वह पापी अभवी होने से अनन्त भवों में भ्रमण करेगा।

उधर बिन्दुसार राजा के राज्य को उज्ज्वल करता हुआ पृथ्वी के तिलक रूप एक पुत्र महादेवी रानी की कोख से उत्पन्न हुआ। छाया रहित, सुमनोरम्य, सदैव भ्रमरों को प्रियता प्राप्त वन श्री भाति अशोकश्री के कौतुक को सफल रूप से उदित करता हुआ उसका नाम **अशोकश्री** हुआ। बिना थके निरन्तर अध्ययन करते हुए उसमें नव-यौवन अंगड़ाई लेने लगा। तब उस गुणवान को राजा ने युवराज पद पर अभिषिक्त किया। क्रमशः राजा के मृत्यु -प्राप्त होने पर राज्य धुरि को वहन करने में समर्थ होने के कारण उसी को सामन्त-सचिव आदि द्वारा राज्य के शासन पर स्थापित किया गया। उसके भी अत्यधिक पुण्यशाली पुत्र कुणाल उत्पन्न हुआ, जिसे उसकी माता के मर जाने से ही पिता द्वारा युवराज पद दे दिया गया। किसी भी माता द्वारा इसके साथ सौतेला व्यवहार न किया जाय, यह सोचकर राजा कुणाल पर पुत्र-वत्सल हुआ। चतुरंग सेना से युक्त प्रधान अमात्य के साथ कुमार के लिए भोजनसामग्री देकर उसे अवन्ती पुरी में भेज दिया। स्नेह के अतिशय के कारण राजा प्रतिदिन अपने हाथ से लिखित लेख आदरपूर्वक भेजा करता था। कुछ समय बाद कुमार को कलायोग्य जानकर मन्त्री को सन्देश लिखा कि "अधीयतान्नः पुत्रोऽयम्" अर्थात् हमारे पुत्र को पढ़ाया जाय। अक्षर सुखाने के लिए पत्र को समेटे बिना राजा उसे उसी स्थान पर छोड़कर देह चिन्ता निवारण के लिए चला गया। किसी रानी ने उस पत्र को देखकर सोचा कि किसके लिए राजेन्द्र के अत्यन्त सम्मान पूर्वक राजा स्वयं लेख लिखता है। तब उसे पढ़कर अपने पुत्र को राज्य मिले-इसी आकांक्षा से उस रानी ने अ के ऊपर बिंदु का आकार बनाकर अर्थात् 'अधीयताम्' को 'अंधीयताम्' बनाकर उसी प्रकार रख दिया। राजा ने भी आकर व्यग्र चित्त के कारण बिना पुनः पढ़े, पत्र को समेटकर अपनी मुद्रा लगाकर भेज दिया। कुमार ने भी पत्र प्राप्तकर उसे पढ़ने के लिए किसी व्यक्ति को दिया। वह व्यक्ति मन में ही पत्र पढ़कर मौन रूप से स्थित हो गया। कुमार ने कहा - जल्दी से पत्र क्यों नहीं पढ़ते हो। फिर भी जब उसने कुछ नहीं कहा, तब स्वयं पत्र लेकर पढ़ा। "मेरे पुत्र को अंधा बना देना" यह पढ़कर पत्र-वाहक को कहा - मौर्य वंश में होनेवाले राजा की आज्ञा किसी के द्वारा भी खण्डित नहीं होती। अतः लिखे अनुसार ही मैं करुँगा। मंत्री ने कहा - देव! पुनः एक बार पूछकर फिर कार्य करना चाहिए। पर कुमार ने कहा - विमर्शन से क्या? इस प्रकार कहकर सहसा ही तप्त लोहे की शलाका से मानो भवितव्यता के द्वारा ही कहा गया हो, इस प्रकार आँखों को आँज लिया। यह सुनकर नृप शीघ्र ही दुःख के सागर में डूब गया। उसने विचार किया - अहो! धिक्कार है भाग्य के नृत्य को। यह दुर्गम्य है। हर्ष के लहरों से मूर्च्छित बने मानस द्वारा क्या सोचा जाता है और वही कार्यारम्भ विधि के वश से अन्यथा हो जाता है। जो भाग्य करता है, निश्चित ही वही होता है। यह करुँगा, यह नहीं - मनुष्यों की इस प्रकार की चिन्ता व्यर्थ है। तब राजा ने कुणाल को एक गाँव दे दिया, क्योंकि अन्धे को राज्य देना योग्य नहीं है। फिर उज्जयिनी

का राज्य उसकी विमाता के पुत्र को दे दिया। परम्परा से विमाता का आचरण जानकर कुणाल के दिल के टुकड़े-टुकडे हो गये। उसे बहुत धक्का लगा। वह गाँव में रहते हुए बिना किसी कार्य के अल्प-परिवार से युक्त गीत-प्रसक्ति आदि द्वारा अपने भाग्य के दिनों को पूरा करने लगा।

इसी बीच उस भिखारी की आत्मा ने अंतिम समय में प्राप्त संयम-धर्म के प्रभाव से कुणाल की पत्नी के गर्भ में शरद-श्री की तरह जन्म धारण किया। दो मास व्यतीत हो जाने के बाद कुणाल की पत्नी के मन में देव, गुरु आदि के पूजन का दोहद उत्पन्न हुआ। कुणाल ने उसे पूर्ण कराया। दिवस पूर्ण होने पर पुत्र का जन्म हुआ। दासी ने कुणाल को पुत्र-जन्म की बधाई दी। तब विमाता के मनोरथ को विफल करुँगा और अपने राज्य को पुनः ग्रहण करुँगा - इस प्रकार विचारकर वह उसी समय गाँव से निकलकर पाटलिपुत्र आया। राज मार्ग के समीप सभा में वह गाने लगा। उसका स्वर सौंदर्य किरणों की तरह नियन्त्रित था। वहाँ से जो भी व्यक्ति निकला, वह स्थिर हो गया। उसके गुणों से रञ्जित होकर सभी एक मुख से उसकी प्रशंसा करने लगे। हाहा, हूहू आदि गांधर्वों के शिष्य इसी को ही नमन करने लगे। मानने लगे। राजा की सभा में भी उसके गुणों का बखान हुआ। राजा ने भी उसे सभा में बुलाया, क्योंकि कौतुक किसको अद्‌भुत नहीं लगता। उसने भी राज सभा में यवनिका के अन्दर बैठने की इच्छा जाहिर की, जिससे राजा उसके शरीर की विकलांगता को न देख पाये। उसके अतिशायी गीत से तुष्ट होते हुए राजा ने कहा - वरदान माँगो। उसने भी गीत गाते हुए ही याचना की - चन्द्रगुप्त का प्रपौत्र, बिन्दुसार का पौत्र तथा अशोक श्री का अन्धा तनूज यह काकिणी की याचना करता है। यह सुनकर अश्रु बरसाते हुए यवनिका को हटाकर कुणाल को गले लगाकर राजा अशोक श्री ने कहा - पुत्र! तुमने तो थोड़ा ही माँगा। तब मन्त्री ने कहा - देव! यह अल्प नहीं है। राजपुत्रों का राज्य काकिणी ही कहा जाता है। राजा ने कहा -मैंने तो उसी के लिए ही राज्य संकल्पित किया था, भाग्य ने सब कुछ विपरीत कर दिया। अब इसे कैसे दिया जा सकता है? कुणाल ने कहा - तात! मेरा पुत्र राज्य करेगा। राजा ने पूछा - तुम्हारे पुत्र कब हुआ? उसने कहा - सम्प्रति। तब राजा ने उसी समय कुणाल के पुत्र का नाम संप्रति रखा। दस दिन बाद उसे लाकर अपना राज्य दिया। क्रमशः बड़ा होने पर उसने अर्द्ध भरत को साध लिया। अनार्य जनपदों को भी उसने अपने वश में किया। राजा संप्रति संपूर्ण पृथ्वी चक्र को चक्री की तरह साधित करते हुए उद्योत जगाते हुए एक बार उज्जयिनी नगरी में आया। वहाँ संयम यात्रा के लिए प्रभु महावीर की जीवन्त प्रतिमा को वंदन करने के लिए क्रमशः आर्य महागिरि तथा आर्य सुहस्ति भी वहाँ आये। उस समय अंतरंग शत्रुओं को जीतने की इच्छा के समान अपने सर्वस्व आदि के द्वारा जीवन्त स्वामी का रथ निकाला। महागिरि-सुहस्ति आचार्यश्री की निश्रा में संघ से परिष्कृत स्वेच्छानुसार पुरी में वह रथ प्राकाम्य सिद्धि की तरह विचरने लगा। उस महोत्सव द्वारा वे नरेन्द्र के महल के द्वार पर आये। गवाक्ष में स्थित सम्प्रति राजा ने आर्य सुहस्ति को देखा। देखकर विचार किया कि इनको मैंने पहले कहीं देखा है। पर ये कहाँ दृष्टिगोचर हुए? इस प्रकार विचार करते हुए राजा को मूर्च्छा आ गयी। समीपस्थ परिजनों ने उसे चन्दन आदि द्वारा सिंचन किया। तालवृन्त आदि द्वारा होश में लाये जाने पर उसे जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हुआ। तब उसने अपने पूर्व भव के गुरु को जान लिया। वहाँ जाकर भक्तिपूर्वक कृतांजलि से नमन किया एवं पूछा - अर्हत् धर्म रूपी कल्पवृक्ष का क्या फल है? उन्होंने कहा - हे राजन्! इसके फल स्वर्ग-अपवर्ग का लाभ है। पुनः राजा सम्प्रति ने पूछा - पूज्य! अव्यक्त व्रत से क्या फल उत्पन्न होता है? गुरु ने भी कहा - हे भूप! भूपतित्व आदि प्राप्त होता है। तब विश्वास हो जाने पर राजा ने कहा - आप मुझे जानते हैं या नहीं? गुरु ने श्रुत उपयोग से जानकर राजा को कहा - अच्छी तरह से जान गया हूँ। तुम अपने पूर्व के भव में मेरे शिष्य थे। तब हर्ष की प्रकर्षता से गुरु को वंदन करके राजा ने कहा - हे भवभ्रमण से परिश्रान्त जन्तुओं के विश्राम रूपी पादप! कारुण्य रूपी अमृत को बरसाने वाले बादल! श्रुतरत्न की महानिधि! स्वामिन्! उस समय

अगर आप ने मुझ पर कृपा न की होती, तो मैं क्षुधा-पिपासा से पीड़ित आर्त्त-ध्यानपूर्वक पता नहीं किस दुर्गति में जाता। आपके चरण-प्रसाद से ही यह अद्‌भुत साम्राज्य प्राप्त हुआ है। अतः हे स्वामिन्! इस समय मुझे जो करना चाहिए, उसका उपदेश दीजिए। तब गुरु ने कहा - हे वत्स! तुमने जैन धर्म का फल साक्षात् पाया है। अतः उसी में आदर करो। तब राजा संप्रति ने सम्यक्त्व मूल श्रावक धर्म को स्वीकार किया, जिससे श्वेतपटवाले पोत की तरह श्रावक धर्म के द्वारा भव-उदधि को तैरकर पार कर सके। अर्हती बनकर अर्हत् के चरणों की अष्टप्रकारी पूजा करते हुए व्याख्यान रस-पान रूपी एक लालसा से युक्त होकर गुरु की उपासना करने लगा। संघ को अनिर्विघ्न रूप से दान देने लगा। अर्हतों की अर्चना करते लगा। राजा सभी को प्रतिबोधित करके दयाधर्म में प्रवृत्ति कराने लगा। प्रत्येक गाँव, प्रत्येक नगर में चैत्य बनवाये जाने से पृथ्वी सर्वांग से मुक्तामय विभूषण वाली हो गयी। सभी मिथ्यादृष्टि भी तब आर्हत हो गये। क्योंकि -

राजानुगो लोकः स्फाति पुण्यानुगा यथा।

राजा के अनुगम से लोग अत्यधिक पुण्य का अनुगमन करते हैं।

सुसाधु और सुश्रावक के द्वारा प्रतिबोध करने के लिए म्लेच्छ राजाओं को उसके द्वारा बुलाया। राजा ने स्वयं विस्तारपूर्वक धर्म का आख्यान किया उनको भी सम्यक्त्व ग्रहणकर श्रमणोपासक बनाया। राजा आदि उसी प्रकार धर्मकार्य में स्थित रहें। और वे दोनों आचार्य विहारकर गये। कुछ समय बाद महागिरि व सुहस्ती गुरु पुनः वहाँ पधारे।

महाजनों द्वारा उज्जयिनी में चैत्य में यात्रा की गयी। इसके अनन्तर रथयात्रा-महोत्सव प्रारम्भ हुआ। तब संप्रति महाराज के साम्राज्य में महाओज वाले जैनधर्म में रथ निकला। स्थान से महिमा अति महीयसा थी। पुष्पित उद्यान के समान पुष्पों से, फलों के ढेर से कल्पवृक्ष के समान, महावस्त्रों की दूकान के समान सैंकड़ों परिधानों से रण-तूर्य की आवाज के समान वाद्यों द्वारा मोह को व्यामोहित करते हुए घर-घर में मांगलिक की तरह पूजा को प्रथम रूप से ग्रहण कराते हुए, उल्लास पूर्वक नाटकों में आसक्त धूमर नृत्य से युक्त नगर, चारों ओर से विपुल श्रृंगार को धारण की हुई नारियाँ द्वारा गाये जाते हुए, चामरों को हिलाये जाते हुए, वह रथ स्मित युक्त मनुष्यों द्वारा हाथी की तरह देखे जाते हुए, इस प्रकार के निरुपम उत्साह से युक्त संपूर्ण मनुष्यों व देवों द्वारा वह जैनों का महारथ राजा के आवास-द्वार के पास आया। राजा ने स्वयं वहाँ आकर सामन्तों व पार्थिवों के साथ पूर्णविधि से अभ्यर्चना की एवं आगे पुष्प बिखेरे। महाप्रभावना करते हुए राजा सम्प्रति अपने सामन्त राजाओं के साथ उस रथ के पीछे-पीछे चला। उस राजा की सम्पूर्ण विधि देखकर सभी घर चले गये। तब उसने उन राजाओं से कहा - आप मेरा कार्य धन से न करें। पर अगर मुझे स्वामी मानते हैं, तो आप भी अब दोनों लोक में सुख देने वाले धर्म की प्रवृत्ति अपने-अपने देशों में सर्वत्र करायें, जिससे मेरी प्रीति बढ़े। तब उन राजाओं ने भी अपने-अपने देश में जाकर जिनेश्वर के चैत्य करवाये। यात्राएँ करवायी तथा अद्‌भुत रथयात्रा का उत्सव करवाया। हमेंशा साधुओं की उपासना करने लगे। अमारि की घोषणा सर्वत्र करवा दी। राजा के अनुकरण से लोभी धर्मतत्पर बन गये। फिर साधु साध्वियों के साधुचर्या द्वारा विहार करने के लिए वे प्रयान्तर देश भी मध्य देश की तरह हो गये।

एक बार संप्रति राजा ने विचार किया कि साधु गण अनार्य देश में भी विहार करें, तो वहाँ के लोग भी धर्म को जानने लगेंगे। तब अनार्य देशों के राजाओं को भी राजा सम्प्रति ने आदेश दिया कि तुमलोग मेरे चरों को जैसा वे चाहें, उस रूप में कर दे देना। फिर अपने सैनिकों को प्रशिक्षित करके उन्हें साधु वेष पहनाकर वहाँ अनार्य देश में भेजा। उन्होंने भी वहाँ जाकर उनलोगों को साधुचर्या का उपदेश दिया। हमारे आने पर सामने आना व जाने पर हमारे पीछे आना। जमीन पर पंचांग नमाकर हमे प्रणाम करना। अन्न, पानी, शय्या, वस्त्र, पात्र आदि वस्तु

बयालीस दोष टालकर हमें दी जाती है। नमस्कार मन्त्र, शक्रस्तव आदि पढ़े जाते हैं। जीवों पर अनुकम्पा की जाती है। इस प्रकार करने पर ही संप्रति राजा भविष्य में खुश होंगे, अन्यथा नहीं। उन्होंने भी वे-वे सभी क्रियाएँ राजा को खुश करने के लिए कीं। सुभटों ने भी आकर वह सब वृतान्त राजा को कहा। संप्रति राजा ने भी गुरु को जानकारी दी कि प्रभो! सुसाधु अनार्य देश में क्यों विचरण नहीं करते? गुरु ने कहा - वहाँ के लोग अज्ञानी होते हैं, अतः वे लोग व्रत को नहीं जानते। राजा ने कहा - प्रभो! तब उनके आचार की परीक्षा करने के लिए पहले चरों की तरह कुछ तपोधनी मुनियों को वहाँ भेजना चाहिए। तब राजा के अनुरोध से गुरु ने कुछ मुनियों को आन्ध्र, द्रमिल आदि देशों में विहार करने के लिए आदेश दिया। उन्हें देखकर उन अनार्यों ने राजा के विशिष्ट व्यक्ति जानकर वस्त्र, अन्न-पान, पात्र आदि द्वारा उसी प्रकार प्रतिलाभित किया। तब वे तपोधनी उनके श्रावक भाव से रंजित हुए। वहाँ से आकर प्रसन्नतापूर्वक अपने गुरु को सभी वृतान्त कहा। इस प्रकार संप्रति राजा की बुद्धि एवं सद्धर्मशुद्धि के द्वारा साधुओं का वहाँ नित्य विहार होने से वे भी भद्रिक बन गये।

एक बार संप्रति राजा ने अपने पूर्वभव के भिखारीपने को याद करते हुए नगरी के चारों द्वारों पर धर्मशालायें बनवायीं। अपने लिए ही नहीं, दूसरों के भोग के लिए भी यथा-इच्छित, बिना मना किये सभी को नित्य ही वहाँ भोजन दिया जाने लगा। वहाँ पर बचा हुआ अन्न आदि वे नियोगी साधु ग्रहण करने लगे। राजा को उन्होंने वर्धित ग्राहिण मुनियों के बारे में कहा। तब राजा ने उनको आदेश दिया कि तुम लोग ये सारा अन्न यति आदि को प्रासुक व एषणीय तथा उद्धृत कहकर दे देना। भक्ति द्वारा परवश राजा ने क्रीत-दोष को नहीं जानते हुए के समान यह कहा कि उनकी वृत्ति के लिए मेरे द्वारा धन दिया जायगा। तब राजाज्ञा से वे लोग साधुओं को उद्धृत्त बताकर अन्न आदि देने लगे। साधु भी औद्देशिकी आदि दोष से रहित जानकर आहार आदि ग्रहण करने लगे। फिर राजा ने हलवाइयों को, वस्त्र-व्यापारियों को, गांधिकों को तथा तेल-घी-दही आदि से बने हुए पक्वान्न के व्यापारियों को फल आदि के व्यापारियों को सभी को कहा कि ये साधु जो-जो भी वस्तु ग्रहण करे, वह-वह उनकी इप्सित वस्तु दे दी जाय और मुझसे उन संपूर्ण वस्तुओं को क्रय-मूल्य ले लिया जाय। तब राज-पूज्य उन साधुओं को बुला-बुलाकर वे लोग भी उनकी इष्ट-इष्टतम वस्तुएँ भक्तों की तरह देने लगे। आर्य सुहस्ति उस सब को दोषयुक्त जानकर भी स्नेह से सहने लगे, क्योंकि-

शिष्यस्य को न मोहेन मोहितः ?

शिष्य के मोह से कौन मोहित नहीं होता ?

इधर गच्छ की बहुलता से अलग उपाश्रय में स्थित गुरु महागिरि ने यह सभी जानकर सुहस्ति गुरु से कहा - संपूर्ण दस पूर्व को जानते हुए भी अनेषणीय राजा के अन्न को नहीं जानते हुए की तरह क्यों ग्रहण करते हो? सुहस्ति गुरु ने कहा - भगवन्! लोक पूजित का पूजक होता है। राज्य-पूज्य जानते हुए लोग हमें आदर से इस प्रकार देते हैं। तब उसे मायावी जानकर रोषपूर्वक आर्य महागिरि ने कहा - तो फिर आज के बाद हमारा परस्पर विसंभोग है। समान कल्प तथा समान छन्द वालें साधुओं का ही आपस में संभोग होता है। विपरीत स्वरूप होने से तुम हमसे बाहर हो। सुहस्ति भी डर गये। आर्य महागिरि को वंदन करके विनय से नम्र अंग वाले होकर कंपित करांजलि द्वारा कहा - प्रभो! एक अपराधवाला होने से मेरा अपराध क्षमा करो। पुनः नहीं करने से अब मिथ्या दुष्कृत देता हूँ। महागिरि गुरु ने कहा - इसमें तुम्हारा अथवा किसी का क्या दोष है? भगवान् महावीर ने यह सब तो पहले ही कह दिया था। यहाँ हमारी संतान परम्परा में स्थूलिभद्र से आगे प्रकर्ष रूप से गिरती हुई साधुओं की समाचारी होगी। उनके बाद तो हम दोनों ही तीर्थ प्रवर्त्तक हैं। अतः तुम्हारे द्वारा महावीर स्वामी का वचन सत्यापित हुआ। इस प्रकार कहकर उस आचार्य को सद्भाव पूर्वक पापों की क्षमा प्रदान करके गुरु महागिरि ने पुनः सांभोगिक किया।

संप्रति महाराज को भी उन्होंने कहा - महाराज! राजपिण्ड विशेष रूप से अनेषणीय होने से सुसाधुओं को नहीं कल्पता है। पहले भी श्री युगादि जिनेन्द्र ऋषभ प्रभु ने भी स्वयं इन्द्र महाराज आदि की साक्षी में भरत के राज पिण्ड का निषेध किया था। उसके भी श्रावक श्राविका जन दान के पात्र थे। स्वामी के द्वारा कहा गया- वत्स! तुम भी उसी पथ पर जाओ। गुरु की उस शिक्षा को निवृत्ति के पत्तल की तरह लेकर परम आनन्द मग्न होकर धर्म की पालना करने लगा। आर्य व अनार्य देशों में मनुष्यों के हृदय-स्थानक में स्वामी की आज्ञा की तरह सम्यक्त्व के बीज को बोया और वर्द्धित किया।

श्री संप्रति राजा जिनेश्वर के सम्यक्त्व मूल निर्मल धर्म का सम्यक् पालन करके दैवीय श्री को भोगकर अनुपमेय अनर्घ्य मुक्ति को शुभरूप मति के द्वारा क्रम पूर्वक प्राप्त करेगा।

अतः हे भव्यों! निवृत्ति को प्राप्त करने की इच्छा से तुम लोगों को भी इस विशुद्ध सम्यक्त्व रत्न को प्राप्त करके सुपुत्र के समान निर्मल चित्त के अनुराग पूर्वक इसका परिपालन करना चाहिए।

इस प्रकार सम्यक्त्व के विषय में **संप्रति राजा की कथा** पूर्ण हुई।।४९।।२४९।।

अब सम्यक्त्व के योग्य कौन होता है - इसे बताते हैं-

भासामइबुद्धिविवेगविणयकुसलो जियक्ख गंभीरो ।
उवसमगुणेहिं जुत्तो निच्छयववहारनयनिउणो ।।४४।। (२५०)
जिणगुरुसुयभत्तिरओ हियमियपियवयणजंपिरो धीरो ।
संकाऊदोसरहिओ अरिहो सम्मत्तरयणस्स ।।४५।। (२५१)

भाषा, मति, बुद्धि, विवेक, विनय में कुशल, जितेन्द्रिय, गंभीर, उपशम गुणों से युक्त, निश्चय-व्यवहार नय में निपुण, जिन-गुरु, श्रुत में भक्ति रत, हित-मित-प्रिय वचन बोलने वाला, धीर, शंकादि दोष से रहित ही सम्यक्त्वरत्न के योग्य होता है।

यहाँ पर भाषा-सावद्य तथा निरवद्य रूप है। मति अर्थात् यथावस्थित शास्त्रार्थ को जाननेवाला, बुद्धि-औत्पातिकी आदि, विवेक-कृत्य-अकृत्य आदि के विषय में - इन सब में कुशल हो। जितेन्द्रिय हो। रोष तोष आदि में अलक्ष्य होने से गंभीर हो। उपशम प्रधान गुणों से युक्त हो। निश्चय नय तथा व्यवहार नय में निपुण हो।।४४।।२५०।।

जिनेश्वर देव, सुगुरु तथा सूत्र की भक्ति में रत हो। हितकारी, संक्षिप्त व प्रिय वचन बोलने वाला हो। धैर्यशाली हो। शंकादि दोषों से रहित हो।

शंका - जिन धर्म तत्त्व रूप है या अतत्त्वरूप है - यह सन्देह करना।

कांक्षा - अन्यान्य दर्शनों की अभिलाषा करना।

विचिकित्सा - धर्म के फल में सन्देह करना। जैसे - पूर्व में इसका फल सात्विक था, मेरे जैसे का क्या फल होगा अथवा विजुगुप्सा करना। साधु होने पर भी उनके सदाचार की निन्दा करना। जैसे कि अति मैल होने से दुर्गन्धयुक्त हैं। यदि ये मुनि गरम पानी से नहायें, तो क्या दोष है?

पर पाखण्डी प्रशंसा तथा परपाखण्डी संस्तव अर्थात् परिचय रखना - ये पाँच सम्यक्त्व के अतिचार हैं। इनका विपाक दृष्टान्तों से स्पष्ट होगा और वे दृष्टान्त इस प्रकार हैं।

सबसे पहले शंका का दृष्टांत कहा जाता है -

।। भवदत्त की कथा ।।

श्रावस्ती नामकी विशाल नगरी थी। अपनी श्री - शोभा द्वारा सर्व रूप से अलकापुरी को जीताती हुई स्थित थी। उस नगरी में जिनदत्त नामक श्रावक था, जो विवेकी, जीवाजीव आदि तत्त्वों को जानने वाला, सम्यग्दर्शन युक्त शुद्ध बुद्धिवाला था। वह संवेग की लहरों से रंजित, संपूर्ण कल्मष को प्रक्षालित किये हुए, कृपावान् प्रशम भावों का सागर एवं बारह व्रत धारी था। परमेष्ठि महामन्त्र की साधना के प्रभाव से विद्याधर आदि की तरह पूर गामी आकाश-गमन लब्धि से युक्त था।

एक बार नन्दीश्वर द्वीप में शाश्वत अष्टाह्निका महोत्सव में अर्हतों की पूजा आदि साक्षात् देखने के लिए जिनदत्त वहाँ आया। वहाँ दिव्य सौरभ से वासित अत्यन्त सुरभिद्रव्य युक्त जिन पूजा आदि को देखता हुआ वह सौरभ में लीन हो गया। यात्रा के अंत में सभी देव आदि यथा स्थान चले गये। वह भी नाटक के खत्म हो जाने की तरह अपने पुर में आ गया। वहाँ उसका भवदत्त नामक मित्र था। वह व्यापार में आसक्त प्रथम गुणस्थानवर्त्ती जीव था अर्थात् मिथ्यादृष्टि था। पास में बैठकर उसने जिनदत्त को कहा - भ्राता! इस तरह की सुरभि गंध कहाँ से प्रकट हुई है। देव या विद्याधर भी यहाँ दिखायी नहीं देते। जिनदत्त ने कहा - भद्र! चैत्यअर्चना आदि देखने के लिए मैं आकाश-मार्ग से नंदीश्वर द्वीप में गया। अतः हे सखे! मेरा शरीर वहाँ के पूजापरिमल से महकता है। पूजालोक ने मानस को अत्यन्त वासित बना दिया है।

भवदत्त ने कहा - मुझे भी वह विद्या प्रदान करो, जिससे मैं तुम्हारी तरह आकाश मार्ग से गमन करुँ। उसने कहा-भाई! यह विद्या जैसे-तैसे प्राप्त नहीं होती। शुद्ध-बुद्धि व महाक्रिया से युक्त होकर ही साधी जाती है। मिथ्यात्व का सर्वथा त्याग करके, भाव से आर्हती होकर, ब्रह्मचर्य के द्वारा त्रिकाल में तीर्थंकर की पूजा करके, अखण्ड चावलों द्वारा, खिले हुए फूलों द्वारा, एक लाख जाप द्वारा, भूमि पर शयन करने से, एकासनाकर भव-व्यापार का त्याग करने से, छः मास तक मौन द्वारा एकाग्र होकर सदा जाप करने से, पूर्वसेवा करके-इस प्रकार महासाहस शालियों द्वारा कृष्ण पक्ष के चतुर्दशी के दिन श्मशान में जाकर कोई झूले की तरह वृक्ष की शाखाओं में सिक्के को बाँधे। खेर के अंगारे भरकर नीचे तीन लोहे के कुण्ड रखे। फिर सिक्के पर चढ़कर एक सौ आठ बार जाप करते हुए वह सिक्कों के पाँवों को एक-एक करके काटे। उन सभी के काटे जाने पर एक विमान उपहार में प्राप्त होता है। फिर देवलीला से आकाश मार्ग द्वारा जाया जाता है।

उसका कहा हुआ सुनकर भवदत्त ने भी कहा - मैं ऐसा ही करुँगा। तुम मुझे विद्या द्वारा प्रसन्न करो। तब उसने भी निर्बन्ध रूप से वह विद्या उसे दे दी। भवदत्त भी विद्या प्राप्तकर निधि-प्राप्ति की तरह संतुष्ट हुआ। फिर उसने मिथ्यात्व का त्यागकर शीघ्र ही सम्यक्त्व को ग्रहण किया। बारह व्रत धारणकर शीघ्र ही श्रावक बन गया। उसके बाद उसके कहे हुए क्रम से प्रारम्भ करके उस पूर्व सेवा को शुद्ध बुद्धि द्वारा छः मास तक करके कृष्ण-चतुर्दशी के दिन उसी की साधना विधि की। सिक्कों के पग छेदन काल के समय नीचे अग्नि देखकर विचार किया - विद्या तो सिद्ध होगी या नहीं, पर अग्नि के द्वारा अंग तो जल ही जायगा। इस प्रकार की शंका से उत्पन्न भय के कारण वह नीचे उतर गया। पुनः विचार किया कि मैंने अति कष्टपूर्वक विद्या प्राप्त करके पूर्व सेवा की है। तो क्या अब कायर बन जाऊँ? इस प्रकार सोचकर पुनः वृक्ष पर चढ़कर जाप करके उसी प्रकार सिक्के के अहिन छेद काल में अग्नि दिखायी देने से "विद्या सिद्ध होगी या नहीं, पर अग्नि से अंग तो जल ही जायगा" ऐसी आशंका करके भय से उद्भ्रान्त होता हुआ। पुनः उतर गया। इस प्रकार बाँस के ऊपरी भाग पर रहे हुए चंचल बन्दर की तरह वह बार-बार चढ़ने उतरने लगा।

उधर कोई चोर गृह के अन्दर खात्र खोदकर रत्नपेटिका को लेकर छिपे हुए सर्प की तरह वहाँ से निकला। किसी भी प्रकार से उसको जानकर आरक्षक उसके पीछे दौड़े। मृग की तरह उसको भागते हुए देखकर वे भी बाघ की तरह झपट पड़े। उनके द्वारा पकड़े जाने के भय से भागा जाता हुआ वह चोर उसी वनखण्ड में आ गया। पर्वत से पूर्व रूके हुए समुद्र की तरह वज्र भय से त्रस्त वह जंगल में आ गया। आरक्षक भी रात्रि में वन को चारों ओर से घेरकर खड़े हो गये। अभी भले ही भाग कर हाथ न आये, पर कहाँ जायगा? कल इसे पकड़ लेंगे। चोर ने भी वनखण्ड के अन्दर भवदत्त वणिक को अग्नि के उद्योत में देखकर भय से विस्मित होते हुए विचार किया - क्या यह भूत या पिशाच तो नहीं है, जो कि श्मशान में रात्रि में रहकर वृक्ष पर आरोह-अवरोह कर रहा है। मेरी मृत्यु प्रभात में भी है और सम्मुख भी है। तो फिर एक बार साहस कर ही लेता हूँ। क्योंकि -

न सिद्धिः साहसं बिना ।

अर्थात् साहस के बिना सिद्धि नहीं है।

यदि इसको साध लूँगा तो विराट साम्राज्य प्राप्त करुँगा। अन्यथा तो कल आने वाली मृत्यु अभी ही आ जायगी। यह विचारकर उसने दौड़कर उसको बुलाया। ससंभ्रम होते हुए क्षोभ से कम्पन रोग की तरह वह भी काँपता हुआ। खड़ा रह गया। चोर ने भी जान लिया कि यह देव तो नहीं है। तब कोमलतापूर्वक पूछा - कौन हो? कहाँ से आये हो? यहाँ कैसे हो? उसने कहा - मैं भवदत्त हूँ। नगर के मध्य से यहाँ विद्या साधने के लिए आया हूँ। पर हे भद्र! अग्नि से डर लगता है। विद्या सिद्ध होगी या नहीं, पर अग्नि द्वारा शरीर जल जायगा - इस डर से बार-बार चढ़ता उतरता हूँ। तस्कर ने कहा - तुम्हें विद्या किसने दी? उसने कहा - मेरे मित्र श्रावक जिनदत्त ने मुझे यह विद्या दी। चोर ने विचार किया - निश्चय ही श्रावक करुणायुक्त होते हैं। वे कदाचित् भी चींटी मात्र की भी हिंसा की कामना नहीं करते। यह वणिक कायर है। अतः विद्या सिद्ध नहीं कर सकता। यह आप्तजन के पास विद्या प्राप्त करके भी शंकित मानस वाला है। मैं इस विद्या को निःशंक होकर साध सकता हूँ। क्योंकि -

न हि दोलायमानानां जायन्ते कार्यसिद्धयः ।

दोलायमान चित्त वालों की कार्य सिद्धि कभी नहीं होती।

उस तस्कर ने इस प्रकार सोचकर वणिक् से कहा - यह विद्या मुझे दो, जिससे मैं इसे साध सकूँ। वणिक ने कहा - क्या यह विद्या जैसे-तैसे प्राप्त होती है। महाकष्ट पूर्वक अपने मित्र से मैंने इसे प्राप्त की है। तब उस चोर ने कृपाण निकालकर कहा अगर मुझे नही दोगे तो वृक्ष से फल की तरह तुम्हारा सिर धड़ से अलग कर दूँगा। अगर विद्या दोगे, तो प्रसन्नतापूर्वक यह रत्नकरण्डिका तुम्हें गुरु-दक्षिणा में दे दूँगा। भयभीत होते हुए उसने कहा - विद्या दे दूँगा। मुझे मत मारो। बन्दी बनाये हुए लोग क्या अपना सर्वस्व नहीं दे देते! यह विद्या जो मुझे नहीं देगी, वह रत्न पेटी से मिल जायगा। यह महामूल्य वाली वस्तु सिर्फ धन से ही प्राप्त होती है, जो मुझे विद्या दान के द्वारा प्राप्त हो जायगी। विद्यासिद्धि में तो फिर भी सन्देह है, पर धन तो निस्सन्देह प्राप्त होगा। यह सोचकर रत्न पेटिका लेकर उसने चोर को विद्या दे दी। उसने भी सम्यग् विनयपूर्वक विद्या लेकर वह रत्नकरण्डिका उस वणिक को समर्पित कर दी। निःशंक मन द्वारा चोर ने उसी समय सिक्के पर चढ़कर एक सौ आठ बार जाप करके योगी की तरह विद्या में लीन होते हुए एक साथ सिक्के के पादों को छेद दिया। शीघ्र ही विद्यासिद्ध हो जाने से उपर विमान प्रकट हुआ। वह विद्यासिद्ध विमान के द्वारा बिना किसी अवरोध के तीर्थों को वन्दन करने के लिए नन्दीश्वर द्वीप चला गया।

प्रभात में वणिक को रत्नपेटिका सहित वन से निकलते हुए देखकर आरक्षकों ने शिकारी द्वारा मृग को पकड़ने के समान उसे चोर-बुद्धि से पकड़ लिया। राजा को निवेदन किया गया। राजा ने भी उसे रत्नपेटिका सहित देखकर वध का आदेश दे दिया। क्योंकि चोर को मृत्युदण्ड ही दिया जाता था। तब उन आरक्षकों द्वारा उसे वध

करने के लिए तैयार किया गया। आगे-आगे डिण्डिम बजाते हुए उसे वध भूमि में ले जाया जाने लगा।

इधर उस चोर ने विद्या के अधिदेवता को पूछा - क्या मेरे गुरु का बहुमान किया जा रहा है। देव ने उसका स्वरूप जानकर सारा वृतान्त निवेदन किया। तब वह कृतज्ञ भाव से उसकी रक्षा करने के लिए शीघ्र ही आकाश मार्ग से वहाँ आया। उसके वधकों को चित्रलिखित के समान स्तंभित करके पर्वत के सपक्ष सहोदरा की तरह नगर के ऊपर बहुत बड़ी शिला की रचना की। राजा के लेनदार की तरह उसने नगर के द्वारों को बाँध दिया। शिला इस प्रकार कम्पित होने लगी, मानो अभी गिर पड़ेगी। शिला के खट-खट की आवाज से मानों ब्रह्माण्ड को फाड़ डाला हो, ऐसी आवाज से आक्रन्द करते दुःखी लोग खूब हाहाकार करने लगे। उन्होंने खम्भों को उखाड़-उखाड़ कर हाथ में ले-ले कर उन्हें ऊँचा किया, मानो गिरती हुई शिला को अनेक हाथों से थाम लेंगे। घोड़े आदि तिर्यंच बंधन तोड़कर भाग गये। नगर के कोट को उल्लंधन कर भागने की इच्छा से जीतोड़ कोशीश करने लगे। उसे वज्रशिला के समान देखकर लोग दुःखी होते हुए कहने लगे - ओह! अब क्या होगा। यह संहार उपस्थित हुआ है। संपूर्ण विभूति का त्याग करके, देहमात्र को धन मानकर मृत्यु की उपस्थिति में अपनी संतान का भी स्मरण न करते हुए लोग चकित हो-होकर घर से निकल गये। बाड़ें बन्द तिर्यंच पशुओं की तरह, परम महामारी से पीड़ित के समान लोग बाहर जाने में असमर्थ होने पर परस्पर कहने लगे - अगर विधाता ने हमें पंख वाला बनाया होता, तो पक्षी की तरह हम भी उड़कर बाहर चले जाते। समुद्र के महा-आवर्त्त के मध्य रहे हुए की तरह तथा दावानल के मध्य फंसे हुए की तरह हम सभी निश्चय ही अभी यहीं मर जायेंगे।

इस प्रकार संपूर्ण नगर में क्षोभ व्याप्त हो जाने पर राजा ने इस प्रकार चिन्तन किया - निश्चय ही मुझसे कोई भी अपराध हुआ है, जिससे यह अति अहित हो रहा है। तब राजा ने गीली धोती लपेटकर, दीनता का पात्र बनकर गगन के अभिमुख धूप उछालकर इस प्रकार कहा - देव अथवा दानव! आप जो कोई भी मुझ पर कुपित हैं, वे मुझ पर प्रसन्न हों एवं बतायें कि उनके लिए मैं क्या करूँ? तब आकाश में स्थित उस विद्यासिद्ध चोर ने कहा - तुमने उस वणिक को चोर मानकर उसका अपमान किया है, अतः यह घात किया गया है। उसको प्रसन्न करो। जाकर उसकी रक्षा करो। हे राजा! नहीं तो मैं उस समय संपूर्ण पुरजनों के साथ तुम्हें चूर्ण बना दूँगा।

तब राजा ने शीघ्र ही जाकर उस वणिक के चरणों में गिरकर अपनी भक्ति से उसे प्रसन्न किया। राजा की अंतःपुर की स्त्रियों ने भी अपना आँचल फैलाकर कहा - हे श्रेष्ठि! हे महाभाग! हमें पति की भिक्षा दे दो। इस प्रकार प्रशंसा करके उसे दिव्य वस्त्र पहनाकर स्वर्णरत्नमय दिव्य विभूषणों से विभूषित करके हाथी पर चढ़ाकर महा उत्साह पूर्वक राजा संपूर्ण नगर के मध्य से अपने महल पर ले गया। अपने सिंहासन पर राजा की तरह उसे बैठाकर स्वयं सेनापति की तरह राजा के सामने खड़ा हो गया। तब उस चोर ने भी नगर के ऊपर से शिला का संहरणकर लिया। विमान के द्वारा ही वह राजा के स्थान पर आया। सूर्य के समान असह्य तेज से युक्त, दिव्य-आभरणों की कांति के द्वारा उस विमान से देव की तरह निकलकर गुरु को प्रणामकर वह वहाँ बैठ गया। फिर उस चोर ने अपना सम्पूर्ण वृतान्त राजा को कहा। यह सुनकर राजा भी विस्मय में डूब गया। तब चोर ने उसे पंचनमस्कार विद्या को राजा को दी। राजा ने भी प्रजा सहित श्रावक धर्म को स्वीकार किया। विश्वास दिलाने वाले उस परमेष्ठि मंत्र के प्रत्यक्ष प्रभाव को देखकर नगरजन भी एक चित्त से उस मंत्र का ध्यान करने लगे। फिर राजा व वणिक से पूछकर चोर चला गया। वणिक भी स्वस्थान पर चला गया। जाते हुए चोर के द्वारा वधकों को भी स्तम्भन मुक्त कर दिया गया।

वणिक के द्वारा शंका किये जाने के कारण उसको विद्या सिद्ध नहीं हुई, पर चोर ने निःशंकित मानस द्वारा क्षण भर में ही विद्या सिद्ध कर ली।

अतः भव्य जनों द्वारा समकित प्राप्त करके उसे शंका द्वारा दूषित नहीं बनाया जाना चाहिए, बल्कि इसका निःशंक होकर पालन करना चाहिए, जिससे इसके द्वारा शीघ्र ही मोक्ष रूपी सुख को प्राप्त किया जा सके।

इस प्रकार शंका के करने व न करने में भवदत्त की कथा समाप्त हुई।

अब कांक्षा में दृष्टान्त को कहा जाता है -

।। राजा-अमात्य की कथा ।।

जम्बूद्वीप के अन्दर कुशस्थल नामक नगर था, जिसे प्राप्तकर लोग स्वर्ग को भी अवमान्य करते थे। वहाँ राजा कुशध्वज राज्य करता था, जो रूप से कामदेव के समान था। स्थापना से वह विष्णु के समान था। तेज से गगन ध्वज अर्थात् सूर्य के समान था। उस राजा के कुशाग्रबुद्धि नामक अमात्य था। वह देवों में वागीश के समान तथा देव शत्रुओं में इन्द्र के समान था।

एक बार विपरीत शिक्षा से युक्त दो अद्‌भुत अश्व इन्द्र की पताका की तरह खींचकर लाये गये अर्थात् जिस प्रकार उत्सव आदि यात्रा में प्रवृत्त इन्द्र के आगे चलनेवाले पताका हाथ में लिए हुए अश्ववाहक होते हैं, मानो उसी प्रकार वे अश्व लाये गये हों। अन्दर से दुष्ट व ऊपर से स्निग्ध किसी दुष्ट व्यक्ति के द्वारा राजा कुशध्वज को यह उपहार भेजा गया था। सर्व लक्षण से लक्षित, सर्वांग से सुन्दर उन दोनों अश्वों को अश्व परीक्षक के द्वारा बिना परीक्षा किये बिना ही शीघ्रता से कुतुहल पूर्वक राजा और अमात्य उन दोनों अश्वों पर बैठ गये। अश्व को वाहन बनाकर वे दोनों उस पर चढ़कर सैर के लिए निकल गये। दोनों अश्वों की गतिचातुर्य के अतिशय को देखकर विस्मित होते हुए उन अश्वों को वापस मोड़ने के लिए जैसे लगाम खींची, वैसे ही अश्वों ने सुरा से वैरी बने हुए की तरह वेग से भागते हुए भयंकर दुरुत्तार सागर की तरह महा अरण्य में उन दोनों को डाल दिया। लगाम खींच-खींचकर थकते हुए उन दोनों ने लगाम छोड़ दी। तुरन्त ही वे घोड़े स्तम्भित की तरह रुक गये। तब उन्हें ज्ञात हुआ की खल-पुरुष की तरह ये दोनों विपरीत शिक्षा को प्राप्त किये हुए हैं। उस दुष्टों के संग से भयभीत की तरह वे दोनों घोड़ों से उतर गये। उनके उतरने मात्र से ही दोनों घोड़े भूमि पर गिर गये। मानो राजा व अमात्य को भयंकर जंगल में ले जाकर छोड़ देने के पाप से ही उनकी मृत्यु हुई हो। फिर राजा व मंत्री ने पानी की इच्छा से चारों ओर दृष्टि दौडायी। दूर एक तरफ उन्होंने बगुलों को देखा। तब मन्त्री ने राजा से कहा - बगुलों के दिखायी देने के कारण अनुमान होता है कि वहाँ निश्चय ही जल होना चाहिए। जैसे कि धुँए से अग्नि का ज्ञान होता है। तब जीवन जीने की उत्कण्ठा से युक्त दोनों शीघ्र ही वहाँ गये। वहाँ नये से अधिक सुधा कुण्ड के समान आगे एक सरोवर देखा। अपने सामने प्रियमित्र की तरह उसे देखकर वे अत्यन्त प्रसन्न हुए। विकसित कमलों से युक्त उस तालाब की लहरों में अपने हाथों को डाला। फिर वहाँ स्नान करके, निर्मल जल को पीकर, तालाब के किनारे रहे हुए वृक्षों के फलों को खाकर उन्हीं वृक्षों की छाया में अपने स्वजनों के घर की तरह मानकर हंस की पाँखों से बनी हुई शय्या के समान पत्र-शय्या पर सो गये। दूसरे दिन उस स्थान से वे दोनों अपने नगर की ओर पैदल ही वन में चरनेवालें जीवों की तरह चले। पदाति सैनिकों की तरह अश्वों के पाँवों के चिह्न को देखते हुए स्वर के व्यञ्जनानुगामी होने की तरह उन्हें कुछ लोग भी मिल गये। तब उन लोगों से युक्त होकर राजा व मंत्री साम्राज्य-क्रीड़ा के द्वारा चार दिनों में अपने राज्य में पहुँचे। हवा के चलने से ऊँची उठी हुई पताकाओं के समूह के अद्‌भुत रूप से हिलने से ऐसा लगता था, मानो अपने स्वामी के आगमन के हर्ष में पूरा नगर नृत्य कर रहा हो। मंगलाचार से मुखरित होते हुए सभी नागरिका-जनों ने राजा के आगमन से प्रमुदित होते हुए उत्साहपूर्वक वर्धापन किया।

राजा को वन में बेस्वाद फलों का भोजन वनतापस की तरह करते हुए पाँच दिन हो गये थे। अतः अतिभूख

से पीड़ित राजा लंघन करके उठे हुए की तरह अपने आप को सैंकड़ों युगों से भी नहीं खाया हो - ऐसा मानने लगा। प्रमुख रसोइये को कहा - जघन्य, मध्यम तथा उत्कृष्ट जात का संपूर्ण भोज्य पदार्थ खूब सुंदर बनाओ। हे श्रेष्ठ रसोइये! भूख से पीड़ित मेरा एक-एक क्षण इस समय एक-एक युग के समान बीत रहा है। फिर सर्व रस से युक्त रसवती के शीघ्र ही निष्पन्न हो जाने पर खाने के लिए बैठते हुए राजा ने विचार किया - संगीत समारम्भ में पहले रंगभूमि को लोगों द्वारा भरा जाता है। तब आते हुए वणिकों द्वारा प्रायः-प्रायः स्थान-प्राप्त होने पर मन्त्री आदि ने भी आकर स्थान प्राप्त किया। उनके पीछे-पीछे माण्डलिक भी अन्दर प्रवेश कर गये। ज्यादा क्या कहा जाय? राजा भी उन सब में समाकर बैठ गया। इस श्रेष्ठ, श्रेष्ठतर जनों के पश्चात्-पश्चात्तर-पश्चात्तम के सभी के आ जाने पर समाये हुए देखकर राजा ने विचार किया कि अब इस दृष्टान्त से मुझे भी भोजन करना चाहिए। एक भी भोज्य पदार्थ अन्त तक भी मुझे नहीं छोड़ना है। पूर्व दिनों का भोजन भी मुझे आज ही करना है। इस प्रकार अत्यधिक अशनआकांक्षी होकर दुष्काल में व्याकुल भिखारी की भाँति राजा हो गया। फिर राजा ने शरु में जघन्य, फिर मध्यम, फिर उत्कृष्ट, उत्कृष्टतर रूप से यथाक्रम से भोजन किया। इस प्रकार घड़े को आकण्ठ जल से भरने की तरह राजा ने आकंठ भोजन कर लिया। सर्व भक्षी अग्निकी तरह फिर भी वह अतृप्त रहा। अति-आहार करने से राजा को अब बहुत प्यास लगी। अन्तर में दुःसह्य दाह रूपी कष्ट तथा हृदय में शूल व्यथा होने लगी। वैद्यों ने दवा द्वारा राजा का उपचार किया। सभी ने सर्वात्मना रूप से प्रयत्न किया, पर पीड़ा का उपशम नहीं हुआ। क्या अत्याहार को परम औषधि द्वारा जीर्ण किया जा सकता था? क्या चुल्लु भर छाछ मणभर दूध को दधि बना देगी? अति वेदना से आखिर राजा की मृत्यु हो गयी। क्योंकि कोई भी किसी को भी जीवन दान देने के लिए समर्थ नहीं है। इस प्रकार आकांक्षा दोष के कारण वह राजा संपूर्ण साम्राज्य के ऐहिक सुख का भाजन न बन सका।

अमात्य ने तो निराकांक्ष रहते हुए वैद्यों द्वारा प्रदत्त औषधि से जुलाब, वमन, पसीने आदि के द्वारा काया का विशोधन कर लिया। जितना-जितना सहन होता, उतना-उतना सीमित-प्रमाण में खाते हुए क्रमशः उसका शरीर संपूर्ण कर्म में समर्थ हुआ। इस प्रकार निराकांक्षा द्वारा मंत्री ऐहिक सुखों का प्रशस्त पात्र बना एवं कल्याण स्वरूप सुसाधु बना।

इस प्रकार धर्म रूपी वृक्ष की उज्ज्वल सम्यक्त्व रूपी जड़ पाकर भव्य शरीर धारियों द्वारा अन्यदर्शन की आकांक्षा नहीं करनी चाहिए। सम्यग्दर्शन का लाभ होने पर भी जो आकांक्षा-दोष का सेवन करते हैं वे स्वर्ग तथा अपवर्ग के सुखों के भाजन नहीं बनते, बल्कि मिथ्यात्व के पंक से युक्त होकर अधोगति में जाते हैं। सम्यक्त्व में एकाग्रचित्त होने पर वे ही सिद्धि के भाजन बन जाते हैं।

इस सम्यक्त्व को निर्मल, सुदृढ़ अनुमान के समान प्राप्तकर यथास्थिती, यथा-उदय साधने के लिए धर्मशाली युक्तियुक्त पुरुषों द्वारा कांक्षा नामक अतिचार से मुक्त दूषण रूपी सन्निपात का निषेध करने के लिए कहा गया है।

इस प्रकार कांक्षा के करण-अकरण में राजा और अमात्य की कथा कही गयी।

अब विजुगुप्सा के आख्यानक को कहते हैं -

।। दुर्गन्धा की कथा ।।

शालिग्राम नामक एक सीमावर्ती देश था। वहाँ धनमित्र नामक श्रावक रहता था। उसकी पुत्री का नाम धनश्री था। एक बार उसके पाणिग्रहण महोत्सव के प्रवर्तित होने के समय कोई ताप से आर्त्त शान्त मूर्ति मुनि वहाँ आये। पिता द्वारा पुत्री से कहा गया - पुत्री! यह तेरा महोत्सव है। अतः सत्पात्रदान के द्वारा आज तुम पुण्यार्जन

करो। दिव्य अंग-राग-सुगन्धित से युक्त, विपुल श्रृंगार धारण किये हुए वह अति प्रमोदपूर्वक उनको प्रति लाभित करने लगी। पसीने भरे हुए उन साधुओं के अंग के कपड़ों से तब दुर्गन्ध को सूंघकर उसने घृणापूर्वक विचार किया। श्री वीर स्वामी के द्वारा अच्छा साधु धर्म बताया गया। केवल वस्त्र व अंग का क्षालन जो नहीं करता, वह असाधु है। तब उस कन्या ने साधु की जुगुप्सा से उठे हुए दुर्धर कर्म अर्जित कर लिये। अपने आयुष्य का क्षय होने पर वह बिना आलोचना-प्रतिक्रमण के ही मर गयी।

राजग्रह नगर में एक वेश्या की कुक्षि से उसने जन्म लिया। गर्भ में रहते हुए भी वह अपनी माता के लिए अत्यन्त दुःखद थी। उसे गिराने के लिए वेश्या ने बहुत सारे पाप कार्य किये। गाढ कर्म बांधे जाने से वह गर्भ गिराने की प्रक्रिया से नहीं मरी। अपने पूर्वकृत कर्म के कारण वह बालिका अत्यन्त दुर्गन्ध युक्त पैदा हुई। पेट से बाहर निकलते ही माता द्वारा विष्ठा की तरह त्याग दी गयी।

उस समय श्री वीर जिनेश्वर को वंदन करने के लिए श्रेणिक राजा चला। शब्द-अद्वैत की तरह एक साथ मत्त हाथियों की टोपी से युक्त, घोड़ो के द्वीप के समान उनको घोड़ों से युक्त, प्रकाशित पदाति सैन्य द्वारा पृथ्वी को सैनिक मय बनाते हुए वह जा रहा था। तभी दुर्गन्ध से बाधित होते हुए आगे के सैनिक तीव्र बरसात वाले मेघ की तरह आतुर होकर राजा को नाक व मुँह ढंकने के लिए कहने के लिए तेजी से वापस मुड़े। राजा ने उनके वापस लौटने का कारण पूछा, तो उन्होंने ढके हुए नाक व मुख द्वारा राजा के समीप जाकर कहा - देव! अभी-अभी पैदा हुई दुर्गन्ध को उत्पन्न करती हुई, कोई बालिका आगे किसी के द्वारा परित्यक्ता होकर भूमि पर पड़ी हुई है। युद्ध क्षेत्र में महाशूर की तरह इसकी दुर्गन्ध दुःसह व दुर्धर है, जिसके प्रसारित होने से सभी सैनिक इसके सामने नामित है अर्थात् इस दुर्गन्ध रूपी महाशूर के आगे झुक गये हैं। हवा के विपरीत दिशा में होकर राजा ने सैनिकों सहित स्वयं उस बालिका को देखा और वहाँ से चला गया। समवसरण में जाकर वीर जिनेश्वर को नमन करके अवसर देखकर राजा ने दुर्गन्धा कन्या का वृत्तान्त पूछा। वीर प्रभु ने उसके पूर्व भव को बताकर इस प्रकार कहा - राजन्! साधु की जगुप्सा से उसे यह दुर्गन्धता रूपी फल प्राप्त हुआ है। राजा ने पुनः तीर्थपति को कृताञ्जलिकर पूछा - प्रभो! क्या सुपात्र दान का वह कर्म इसका निष्फल हो जायगा। स्वामी ने कहा - राजन्! इसका जुगुप्सा का कर्म क्षीण हो चुका है। अब सुपात्र दान से बंधे शुभ कर्मों के फल का उदयकाल है। यह आठ वर्ष की वय में तुम्हारी प्रिया बनेगी। इसको पहचानने के लिए हे राजन् यह ध्यान रखना कि शुद्ध मन से क्रीड़ा करते हुए यह तुम्हारी पीठ पर सिंहनी की भाँति शोभित होगी अथवा गौरी की तरह शोभित तुम इसको जानोगे।

अहो! कर्म गति विचित्र है। यह भी भविष्य में रानी बनेगी। इस प्रकार विचार करते हुए राजा प्रभु को नमस्कार करके घर चला गया। तब कर्म-निर्जरा से दुर्गन्धा की दुर्गन्ध हवा के संपर्क से मूल की तरह ढह गयी। एक ग्वालिन अकेली अपने गाँव की ओर जा रही थी। संतान रहित उस ग्वालिन ने उस बाला को देखकर अपनी संतान-बुद्धि से ग्रहण किया। उस के घर में वह ग्वाल-बाला के रूप में बड़ी हुई। स्वर्ग के वन में होनेवाली कल्पवल्ली की तरह उसने सौन्दर्य सम्पदा को प्राप्त किया।

एक बार उसी नगर में कौमुदी महोत्सव हुआ। अनेक नट-समूहों द्वारा भाव भंगिना द्वारा नृत्य किया जा रहा था। वह भी कुमार वय को प्राप्त युवती की तरह युवाओं के नेत्रों में अमृत-अंजन के समान, उस नाटक को देखने के लिए अपनी माता के साथ आयी। श्रेणिक राजा भी उस महोत्सव को देखने की इच्छा से रात्रि में वीर चर्या द्वारा एकाकी गुप्तवेष द्वारा वहाँ आया। लोगों के बीच में दिव्य मूर्धस्थ राजा भी सामान्य जन लीला से उस उत्सव को देख रहा था। वह ग्वालिन-पुत्री भी उस राजा के पीछे खड़ी थी। वह बार-बार पाँवों की एडियाँ ऊपर करते हुए राजा के कन्धों पर हाथ रख-रखकर उत्सव देख रही थी। उसके सुधांशु लेखा के समान कर स्पर्श से राजा भी

तत्क्षण संभ्रान्त चन्द्रकान्त की तरह हो गया। गरदन मोड़कर उसके मुख को अनुरागपूर्वक देखकर उसके उत्तरीय के आँचल में अपनी अंगूठी बाँध दी। तब वहाँ से निकलकर राजा शीघ्र ही महल में आ गया। सर्व अमात्यों के शिरोमणी अभय को बुलाकर कहा - कौमुदी महोत्सव में देखते-देखते मेरी नाम-मुद्रा किसी भी प्रकार से खो गयी है। अतः तुम शीघ्र ही उसकी खोज करो। तब अभय ने शीघ्र ही अपने सैनिकों के साथ उस रंगस्थल को दुर्ग्रह दुर्ग की तरह चारों ओर से घेर लिया। फिर एक-एक जन को बुलाकर उसके वस्त्र, मुख और कुन्तल को खोज-खोजकर समस्त लोगों को वह महामति छोड़ रहा था। उस ग्वालिन पुत्री के वस्त्र आदि को देखते हुए उस उर्मिका को आंचल में बंधी हुई देखकर पूछा - हे शुभे! यह क्या है? कानों को ढककर उसने भी कहा - मैं यह कुछ भी नहीं जानती हूँ। भयभीरु होते हुए वह हवा से हिलती हुई पताका की तरह काँपने लगी। निश्छल रूपवती उसको देखकर अमात्य ने विचार किया - इसने अंगूठी नहीं चुरायी, बल्कि राजा का चित्त चुराया है। निश्चय ही राजा ने इसमें अनुरक्त होकर इसकी पहचान करने के लिए ही स्वयं यह आँचल से बाँधकर मुझे इसको लाने का आदेश दिया है। अपनी बुद्धि से अभय ने यह निश्चित करके, उसको धीरज बंधाकर उसे अपने घर ले गया। उसे नहलवाकर सुविलेपनों द्वारा लेप करवाकर, सुन्दर वस्त्र पहनाकर, विभूषणों से विभूषित करके उसे अंतःपुर में रखकर स्वयं राजा के पास आया। राजा की नामांकित अंगूठी राजा को अर्पित की। राजा ने पूछा - चोर का क्या किया? अभय ने कहा - शीघ्र ही उस चोर को गुप्तस्थान में रख दिया गया है। यह सुनकर राजा का चहेरा श्यामवर्णी हो गया। अभय ने भी कहा - देव! क्या अन्तःपुर गुप्तगृह नहीं है? राजा ने हंसकर कहा - वत्स! आखिर तुमने जान ही लिया। फिर राजा ने वहाँ से उठकर अनुराग से आकृष्ट मानस युक्त होकर शीघ्र ही गान्धर्व विवाह द्वारा उस बालिका को प्राप्त किया। आभीरी-सुता होने पर भी राजा ने उसे पट्टरानी बना दिया। क्यों न हो -

अनुरागग्रहिलां किमौचित्यं विजानते?

अनुराग से ग्रसित क्या औचित्य को जानते हैं?

एक बार पृथ्वीवल्लभ श्रेणिक अंतपुर में गये। अपनी रानियों के साथ प्रसन्नतापूर्वक स्वच्छन्द होकर चौपड़-पासा खेलने लगे। वहाँ पर यह शर्त लगी कि जो विजेता बनेगा वह हारे हुए के पीठ पर घोड़े की तरह चढ़कर पृथ्वी पर अंकित करता हुआ जायगा। जब सुवंश में उत्पन्न रानियाँ जीततीं, तो वे अपना उत्तरीय राजा की पीठ पर रख देतीं, लेकिन सुकुलोत्पन्न होने के कारण स्वयं पति की पीठ पर नहीं बैठती थीं। एक बार वेश्या पुत्री वह रानी जब जीती तो लज्जा रहित होकर राजा की पीठ पर आरुढ़ हो गयी। कहा भी है -

दुःकुलानां हि का त्रपा?

खराब कुल-वालियों को कैसी लज्जा?

तभी राजा को अर्हत् प्रभु के वचनों का स्मरण आ जाने से हंसी आ गयी। उसने भी पीठ से उतरकर आशंका सहित हास्य का कारण पूछा। राजा ने कहा - हास्य का कारण तुम्हारे कुल का परिज्ञान है। भद्रे! उसने भी कहा - देव! क्या मेरा कुल हास्य के योग्य है? तब राजा ने प्रभु वीर द्वारा आख्यान उसके पूर्व भव से लगाकर पीठ पर चढ़ने तक का सारा वृतान्त कहा। यह सुनकर भव से उद्विग्न होते हुए उसने बल पूर्वक राजा से आज्ञा लेकर महा-उत्साहपूर्वक श्री वीर चरणसन्निधि में व्रत ग्रहण किया। व्रत को सम्यक् पालकर प्राग्भव की जुगुप्सा की आलोचना की। चिरकाल तक स्वर्ग के सुखों को भोगकर क्रमशः सिद्धि-सौध-को प्राप्त करेगी।

इस प्रकार विजुगुप्सा में दुर्गन्धा की कथा पूर्ण हुई। अब पर पाखंडी प्रशंसा में दृष्टान्त बताते हैं -

।। सुलसा की कथा ।।

न्याय धर्म आदि की निवास भूमि मगध नामक देश था। वहाँ मानो दुर्भिक्ष महामारि आदि ने ईर्ष्यावश उस भूमि का त्याग कर दिया हो। अतः वहाँ हमेशा सुकाल बरतता था। उस देश में राजगृह नामक नगर था, जिसने द्वारिका की श्रिया को ही जीत लिया था। राजा की तरह ही वहाँ पर सभी लक्ष्मी के पति के समान श्रीपति थे। वहाँ श्रेणिक नामक राजा था, जो राजा की तरह ही अति सुदर्शन था। वह अपने प्रेमालुओं द्वारा नीलकमल की तरह फैले हुए हाथों में रखा जाता था। वहाँ समस्त रथिकों का अग्रणी नाग नामक रथी था। सर्व गुणों का अद्‌भुत समूह उसमें शोभित होता था। वह राजा श्रेणिक का कृपापात्र था। उसकी पतिव्रता पत्नी सुलसा पुण्य की लालसा से अपने नित्य कृत्यों में कभी भी आलस द्वारा चलित नहीं होती थी। सफलता होते हुए भी नित्य ही धर्म में दृढ़रता थी। जिसके हृदय में सम्यक्त्व पृथ्वी पर रहे हुए पर्वत की भाँति अडोल था। श्रावक के बारह व्रत उसके पाँवों की तरह थे। करुणा, सत्य, शील आदि सभी महाऋद्धियाँ सुखपूर्वक निर्बाध वृत्ति से उसके शरीर में निवास करती थीं।

उधर भय होने पर भी अकम्पमान चम्पापुरी में धर्म चक्रवर्त्ती श्री वीर भगवान् पधारे। देवों के द्वारा यथाविधि समवसरण निर्मित किया गया। जगत् को विस्मित करने वाली श्री से युक्त उसमें प्रभु महावीर विराजे। तब परिव्राजक-पुंगव अम्बड़ भी छत्र, दण्डिका, कमण्डल व आसन विशेष के साथ वहाँ आया। तीन प्रदक्षिणा देकर स्वामी को प्रणाम करके अत्यधिक रोमांचपूर्वक उच्चारण द्वारा स्तुति करके वह बैठ गया। भव्य सिद्धि रूपी सौध की अग्रता को प्राप्त कराने में साक्षी के समान वृष्टि युक्त देशना प्रभु ने दी। देशना सुनकर अंबड ने मोक्ष सुख प्राप्त करने के लिए उत्तम सम्यग्दर्शन को करार की तरह ग्रहण किया। उस सम्यक्त्व रत्न को चिन्तामणि रत्न की तरह प्राप्तकर अपने आप को धन्य मानते हुए खुशी-खुशी राजगृह नगर की ओर जाने लगा। सुलसा की परीक्षा द्वारा इसका धर्म में स्थिरीकरण हो जाय - इस उपकार के लिए प्रभु ने उसको कहा - वहाँ राजगृह नगरी में नाग-सारथी की सुलसा नामकी पत्नी है। मेरे आदेश से अनार्त्त बुद्धि वाली उसकी धर्मवार्त्ता पूछना। सिर हिलाकर स्वामी के आदेश को अंजलिपूर्वक स्वीकार करके वह क्षणभर में गगन-मार्ग से राजगृह पुरी को प्राप्त हुआ। सुलसा के घर के द्वार पर जाकर उसने विचार किया - उस प्रकार की सभा में वीतराग होते हुए भी प्रभु ने जिसका नाम लेकर अपना संदेश कहा है, वह सुलसा कैसी है - इसका परीक्षण करना चाहिए।

तब उसने वैक्रिय लब्धि द्वारा क्षणभर में रूप परिवर्त्तन करके सुलसा के सदन में प्रवेश करके भिक्षा की याचना की - हे शुभे! तुम धर्मार्थिनी हो। दान को पात्रसात् करो। उसने कहा - साधु के बिना दूसरे को धर्म के लिए नहीं देती हूँ! तब अंबड़ बाहर जाकर नगरी के पूर्वद्वार के समीप ब्रह्मा का वेश बनाकर सुसमाहित होकर वहाँ स्थिर हो गया। पभासन पर ब्रह्मा की तरह चार बाहु, चार मुख, यज्ञोपवीत सूत्र, जापमाला तथा जटा द्वारा मस्तक का मुकुट बनाकर सावित्री प्रिया से युक्त होकर धर्म मार्ग का उपदेश देने लगा। अखिल नागरिकों द्वारा उसे साक्षात् ब्रह्मा मानकर पर्युपासना की जाने लगी। सखी-वृन्द द्वारा ब्रह्मस्तुति पदों द्वारा बुलाये जाने पर भी तत्त्व को जाननेवाली सुलसा न वहाँ गयी, न ही उनकी प्रशंसा की।

दूसरे दिन अम्बड़ दक्षिण दिशा में गरुड़ासन लगाकर विष्णु की मूर्त्ति रूप से स्थित हो गया। श्रीमन्त शंख, चक्र, गदा को धारण कर लिया। यह स्वयं विष्णु हैं - इस प्रकार मूढ़ लोगों ने सेवा-पूजा की। पर अर्हत् धर्म मात्र में अनुरक्त आत्मा वाली सुलसा ने उसे कोई महत्त्व नहीं दिया।

तीसरे दिन पश्चिम दिशा में त्रिनेत्र युक्त, मस्तक पर चन्द्रमा धारण किए हुये, मृगचर्म की खाल ओढ़े हुए, गौरी सहित बैल पर सवार शंकर का रूप बनाया। भाला, धनुष, गदा धारण किये हुए, भस्म को सारे शरीर पर

रमाकर, जटा धारी, विशाल अजगर को गले में लपेटे हुए नन्दी आदि अनुचरों से युक्त शिव बनकर अम्बड ने धर्म का कथन किया। हर्षित होते हुए लोगों ने उसका गुणगान किया। उसकी प्रशंसा करना तो दूर रहा, पर उसकी वार्त्ता भी सुलसा ने नहीं सुनी।

चतुर्थ दिवस में उत्तर दिशा में जाकर अम्बड ने समवसरण की रचना की। जिनेश्वर होकर चार प्रकार की चतुर्मुख प्रतिमा की तरह होकर धर्म का उपदेश देने लगा। प्रसन्न होते हुए लोगों ने कहा - हमारी यह नगरी पवित्र हो गयी है, क्योंकि ब्रह्मा, विष्णु, हर तथा अर्हत् स्वयं हमारी नगरी में आये हैं। सुलसा को बुलाकर लाने के लिए अम्बड़ ने एक मनुष्य को सीखाकर भेजा कि जाकर उसको तुम इस प्रकार कहना - हे सुलसे! तुम परमार्हती हो। अतः दूसरों को वंदन करना तुम्हे इष्ट नहीं है। पर यह तो स्वयं अरिहन्त पधारे हैं। अतः वंदन करने के लिए शीघ्र आओ। उसने कहा - ये चौबीसवें तीर्थंकर कभी नहीं हो सकते। यह तो कोई भी दाम्भिक है। दुष्ट बुद्धि वाला यह लोगों को धोखा दे रहा है। उसने कहा - हे महासती! विभेद से तुम्हें क्या प्रयोजन! जैसा है, वैसा है, शासन की प्रभावना तो हैं। सुलसा ने कहा - ऐसे प्रभावना नहीं होती, बल्कि अवमानना ही होती है। क्योंकि ये तो दाम्भिक ही है। इस प्रकार निराकृत होता हुआ वह व्यक्ति अम्बड़ के पास गया और सारा वृतान्त कहा। अम्बड़ ने भी उसके द्वारा आख्यात वार्त्ता को सुनकर प्रसन्नता पूर्वक दिल में विचार किया कि इस प्रकार भी विवेकिनी स्त्री वीर स्वामी के दिल में कैसे वास नहीं करेगी? जिसकी सम्यक्त्व मेरे द्वारा भी शठतापूर्वक चलायमान नहीं किया जा सका।

तब सारा प्रपञ्च छोड़कर अम्बड ने सुलसा के घर में उच्च स्वर में नैषधिकी कहकर स्व-स्वरूप में प्रवेश किया। सुलसा ने उठकर ससंभ्रम होते हुए कहा - आओ! आओ! मेरे धर्मबन्धु! तुम्हारा स्वागत है, स्वागत है। स्वयं उसके चरण-प्रक्षालित किये तब उसने साधर्मिकवत्सलता के घर की समस्त अर्हत् प्रतिमाओं तथा उसको वंदन किया। उसको प्रणाम करने के बाद अम्बड ने भी कहा - हे बहन्! तुम्हें भी तिर्यग् लोक के समस्त कृत्रिम-अकृत्रिम चैत्यों के वंदन करवाता हूँ। उन में संकल्प करो कि वे सब तुम्हारे सामने ही हैं। उसने भी श्रेयसी भक्ति द्वारा संपूर्ण चैत्यों को वंदन किया। अम्बड ने पुनः सुलसा से कहा - भद्रे! तुम्हारे पुण्य का तो कोई पार नहीं है, क्योंकि तुम्हारी प्रवृत्ति मेरे पास से महावीर स्वामी ने स्वयं पूछवायी है। उसने भी अम्बड के वचनों को सुनकर रोमांचित होते हुए प्रसन्नता से वीर स्वामी को वन्दन किया, उनकी स्तवना प्रशस्त वाणी द्वारा की।

विशेष परीक्षा करने के लिए अम्बड़ ने पुनः सुलसा से कहा - भद्रे! यहाँ पर ब्रह्मा आदि ने अवतीर्ण होकर धर्म का कथन किया। प्रणामपूर्वक सभी नागरिकों ने उसे सुना, पर तुम दृढ हो कि उसे कौतुक से देखने के लिए भी नहीं गयी। उसने कहा - जानते हुए भी नहीं जानते हुए की तरह यह क्या बोलते हो? हे भ्राता! तत्त्व-अतत्त्व का विमर्श नहीं करने वाले ये ब्रह्मा आदि कौन है? शस्त्र सहित, स्त्री संगी तथा द्वेष सहित होने से ये तो रागी हैं। जिनमें देवों का चिह्न मात्र भी नहीं, उनमें कैसी स्पृहा! रैवतक पर लाखों उद्यानों में सदा जो रमण करते हैं, जो नीलकण्ठी है, वे उत्कण्ठा सहित होने से क्या मनुष्य का निस्तारण करने में समर्थ हैं? जो गाढ मांसल सुखों में चम्पक पुष्पों के उदर में पराग का पान करनेवाला है, वह मधुकर क्या कदाचित् किंशुक पुष्प में रति करेगा? राग द्वेष से विवर्जित, अदृष्टपूर्वश्री से युक्त श्री वीर स्वामी को देखकर अन्य किसी को देखने की वांछा ही कौन करेगा?

तब अम्बड सुलसा को पूछकर बार-बार उसकी प्रशंसा करते हुए अर्हत् धर्म में स्थिरीभूत होकर अपने स्थान पर चला गया। सुलसा भी आर्हत धर्म का निर्मल रूप से प्रतिपालन करके, अन्त में अनशन करके समाधि द्वारा स्वर्ग में गयी। वहाँ से च्युत होकर आने वाली उत्सर्पिणी में यहीं ममत्व रहित पन्द्रहवाँ निर्मम नामक तीर्थंकर बनेगी। सुव्रत लेकर, कैवल्य श्री को उपार्जित करके, अद्भुत तीर्थंकर सम्पदा का उपभोग करके, धर्मदेशना से भव्यों को प्रतिबोधित करके सुखकारी श्रेयस्पुरी को प्राप्त करेगी।

अतः सुविवेक के पात्र जनों द्वारा पर-पाखण्डी प्रशंसा नहीं करनी चाहिए, तभी सुलसा की तरह निर्मल सम्यक्त्व के कारण अवश्य ही सिद्धि प्राप्त होगी।

इस प्रकार पर पाखण्डी की प्रशंसा के परिहार में सुलसा की कथा पूर्ण हुई।

अब पर-पाखण्डी संस्तव का दृष्टान्त प्रस्तुत किया जाता है -

।। जिनदास की कथा ।।

इस जगती तल पर व्याख्यात सौराष्ट्र नामक देश है। वहाँ रैवतक पर्वत के समीप गिरिनगर नामक पुर है। वहाँ निर्मल सम्यक्त्वधारी, बारह व्रत स्वीकार किये हुए, जिनधर्म के रहस्य को जाननेवाला जिनदास नामक श्रावक रहता था। एक बार दुर्भिक्ष काल में निर्वाह का अभाव होने से वह किसी सार्थ के साथ उज्जयिनी के लिए रवाना हुआ। बीच अन्तराल में वह प्रमादवश सार्थ से अलग हो गया और उसका पाथेय सार्थ के साथ ही चला गया। उस प्रकार के किसी दूसरे सार्थ का साथ उसे नहीं मिला। अतः वह बौद्ध भिक्षुओं के सार्थ के साथ चलने लगा। उन्होंने कहा - हे पथिक! अगर इतनी मात्रा में हमारा सामान उठाओगे तो हम भी तुम्हें इच्छित भोजन दे देंगे। जंगल में भटकते हुए उसने स्वीकार कर लिया क्योंकि -

सेव्यते ह्यपवादोऽपि तरीतुं व्यसनार्णवम् ।

दुःख-सागर को पार करने के लिए अपवाद मार्ग का भी सेवन किया जाता है।

उसने भारवाहक की तरह उतनी मात्रा में उनका सामान वहन करना प्रारम्भ कर दिया। प्रथम दिन उन भिक्षुकों ने उसे अति स्निग्ध मोदक खाने के लिए दिये। प्रायः बौद्ध लोग मनोरम व स्निग्ध भोजी होते हैं। उन्हीं के मत-वादियों द्वारा यह कहा जाता है कि मृदु शय्या, सुबह उठकर पेय, मध्याह्न में भोजन, अपराह्न में पानक, अर्धरात्रि में द्राक्षाखाण्ड, शर्करा खाने वाले का अन्त में मोक्ष शाक्यसिंह के द्वारा देखा गया है। मनोज्ञ भोजन खाकर, मनोज्ञ शयनासन में सोकर मुनि मनोज्ञ हवेली में रहकर ही मनोज्ञ ध्यानी हो सकता है।

एक बार उस श्रावक के अजीर्ण से विसूचिका हो गयी। यमदूती की तरह दुष्ट उसके द्वारा गाढ़ पीड़ा उत्पन्न हुई। वैद्य तथा औषध के वहाँ प्राप्त न होने से प्रकाशमान स्थल में भी पीड़ा के द्वारा अन्धकार व्याप्त हो गया। जिनदास ने उस व्यथा के द्वारा अपना अंतिम समय जानकर, प्रबल शाकिनी की तरह उस पीड़ा का प्रतिकार करना असंभव होने से योगी की तरह पभासन में बैठकर एकाग्र मन से उसने स्वयं सिद्ध-साक्षी से आलोचना की। त्रिजगत्पूज्य ही अरिहंत है। सनातन सिद्धि में सिद्ध है। साधुता के पात्र साधु हैं। केवलि-प्रशंसित ही धर्म है। ये चारों ही उत्तम मेरा मंगल करें। मुझ रोगी के चार शरण हों। सर्व प्राणि-वध, अलीक, स्तेय, अब्रह्म व परिग्रह, देह तथा आहार - इन सभी का मैं अब परित्याग करता हूँ। इस प्रकार अंतर्मन में धारणा करके अनशन क्रिया करके, गुरु का अभाव होने पर भी सामने स्थित गुरु की तरह पंच नमस्कार गिनते हुए सम्पूर्ण प्राणियों से क्षमायाचना करते हुए वह निरवद्य आत्मा सौधर्म देवलोक में देवरूप से उत्पन्न हुई। तब उन बौद्धों ने अपनी आचार-विधि द्वारा लाल वस्त्र में लपेटकर उसे एकान्त में फेंककर स्वयं चले गये।

वह देव अंतमुहूर्त्त में ही प्राप्त नवयौवन वाला हो गया। पलंग पर निद्राधीन व्यक्ति जागकर उठ खड़ा हुआ हो, ऐसे वह उठा। अत्यधिक विस्मय पैदा करने वाली उस दिव्य देव-ऋद्धि को देखकर दास-देवों द्वारा जय-जय ध्वनि से जनाते हुए सुनकर उसने विचार किया - मैंने पूर्वभव में ऐसा क्या किया था, जिससे इस प्रकार की ऋद्धि प्राप्त हुई है। ज्ञान का उपयोग लगाने पर जिनदास देव ने अवधिज्ञान से अपनी देह को लालवस्त्र में लपेटे हुए देखा। उसका मन भ्रान्त हो गया। उसने सोचा की मैं पूर्व भव में सौगत था। अतः वह एकमात्र सौगत दर्शन ही प्रधान है।

जिससे कि मुझे यह मन वचन से अगोचर भूति प्राप्त हुई है। अतः बौद्ध धर्म को बहुमान से वह उज्जयिनी नगरी गया। उस दिव्यमूर्त्ति को नमन कर अपने स्वरूप का निरूपित किया फिर स्वयं अदृश्य रहकर तथा दृश्य हाथ द्वारा बौद्ध भिक्षु को प्रतिदिन देव द्वारा निर्मित आहार देने लगा। तब सौगतों का अर्थवाद (प्रभावकता) वहाँ महान् हुआ। अन्य आर्हत् आदि की अवमानता हुई।

एक बार आचार्य धर्मघोष सूरि वहाँ पधारे। श्रावकों ने उन्हें प्रणामकर सर्व हीलना आदि कही एवं कहा भगवन्! आप कुछ कीजिए, जिससे यहाँ शासन की महती उन्नति हो। गुरु ने अपने श्रुतज्ञानोपयोग द्वारा सारा वृतान्त यथावत् जानकर दो मुनियों को बुद्ध-सदन में जाने का आदेश दिया और कहा कि अगर उस दिव्य हाथ से उन बौद्ध भिक्षुओं द्वारा तुम्हे भिक्षा प्रदान करायी जाय तो उस हाथ को शीघ्र ही पकड़कर उच्चस्वर में पाँच नमस्कार पढ़कर इस प्रकार कहना - हंहो! जागृत हो, जागृत हो! इन पाखंडियों में मोहित मत बन। वे दोनों मुनि पुगंव बौद्ध विहार में गये। ऋद्धि-गर्वित उन्होंने सामने आकर खुश होते हुए कहा - यह है, यह है, वह हाथ, जो दिव्य आहार तुम्हें भी देगा। मुनि भी वहाँ गये, जहाँ वह हाथ देता था। भिक्षुओं के वाणी द्वारा जब वह हाथ देने के लिए प्रवृत्त हुआ, तभी उन दोनों मुनियों ने उस हाथ को पकड़कर गुरु द्वारा आदिष्ट अच्छी तरह से कहा। सहसा यह सुनकर उसने भी सम्यक् प्रकार से अवधि ज्ञान का उपयोग लगाया। तत्त्व ज्ञात होने पर वह शीघ्र ही दिव्य रूप में उनके सामने प्रकट हुआ। भक्ति, प्राग्भार निर्भर उसने दोनों साधुओं को वंदन किया। अदृष्ट-चरों की तरह उन सभी सौगतों को दूर करके, पृथ्वी तल पर अवतीर्ण सूर्य की तरह, पृथ्वी का पेट भरनेवाली द्युति से युक्त, दिव्य आभरण आदि श्री से स्वयं इन्द्र की तरह उन दोनों साधुओं के साथ गुरु की सन्निधि में आकर अपना मस्तक भूमि पर रखकर कृतांजलि पूर्वक गुरु को नमस्कार करते हुए कहा - भगवन्! आप ने साधुओं द्वारा मेरा अच्छा उद्धार किया गया। अन्यथा मिथ्यात्व से मूढ़ बुद्धि द्वारा मैं तो भव-सागर में डूब जाता। परोपकार की धुरिता तो प्रभो! आप में ही स्थित है जो कि सुधा में मधुरता तथा यौवन में सौन्दर्य की तरह है।

इस प्रकार गुरु की प्रशंसा करते हुए उनके साथ चैत्य में जाकर जिनदास देव ने अर्चा आदि के द्वारा प्रभावना की। वृष्टि आगमन से प्रफुल्लित मयूर की तरह हर्षपूर्वक उस देव ने ताण्डव-नृत्य किया। फिर लोगों को कहा - हे जनों! सुनो। सुनो। सभी धर्मों में उत्तम व सम्यग् यह आर्हत-धर्म है। भव-अम्बोधि से पार कराने वाले मोक्ष रूपी वृक्ष का यह बीज है। इसी धर्म के प्रभाव से मुझे इस प्रकार की ऋद्धि प्राप्त हुई है। अतः तुम सभी को इसी धर्म में प्रयत्न करना चाहिए। अन्य धर्म से क्या प्रयोजन! अर्हत् धर्म का फल सुनकर व देखकर बहुत से लोगों ने शुभमति द्वारा आर्हत धर्म को स्वीकार किया। अर्हत् प्रवचन की इस प्रकार प्रभावना करके गुरु के चरणों में नमस्कार करके वह देवलोक में चला गया।

इस प्रकार के प्रभाव वाले कितने ही आचार्य होंगे, जो मिथ्यात्व-अर्णव में गिरे हुए मूढों का उद्धार करेंगे। दुष्ट व्यसनों के समूह के समान पर पाखंडी के परिचय को तत्त्व मार्ग में लीन भव्यों द्वारा त्याग करना चाहिए।

इस प्रकार परपाखण्डी-संस्तव में जिनदास की कथा संपूर्ण हुई।।४५।।२५१।।

अब सम्यक्त्ववान की प्रशंसा करते हुए कहा जाता है -

ते धन्ना ताण नमो तिच्चिय चिरजीविणो बुहा ते य ।
के निरइयारमेयं धरंति सम्मत्तवररयणं ।।४६।। (२५२)

वे धन्य हैं। उन्हें नमस्कार है। निश्चय ही वे सम्यक्त्वधारी बुधजन चीरंजीवी होंगे, जो निरतिचार सम्यक्त्व रत्न को धारण करते हैं।

कोई-कोई जिनोक्त काल द्रव्य आदि को विपरीत रूप से मानते हैं। उनका निराकरण करने के लिए कहा

जाता है- काल तीन प्रकार का है। द्रव्य छ प्रकार का है। पद नौ होते हैं। काय व लेश्या छः प्रकार की है। अस्तिकाय भी पाँच होते हैं। व्रत, समिति, गति, ज्ञान, व चारित्र भी पाँच-पाँच भेद वाले हैं। ये मोक्ष के मूल हैं। त्रिभुवन पूज्य अर्हत् स्वामी द्वारा कहे हुए पर जो विश्वास करता है, श्रद्धा करता है, स्पर्शना करता है, वह मतिमान ही वैशुद्ध दृष्टिक है।

इसका भावार्थ इस प्रकार है - अतीत-अनागत-वर्त्तमान रूप काल। द्रव्य गुण के आश्रित हैं उक्का षट्क- धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, जीवास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय तथा काल रूप-ये षट्क है। नवपद-जीव-अजीव आदि। काया और लेश्या - यह कायलेश्या। इनके छ की संख्या-षट्कायलेश्या। जीवों की षट्कायलेश्या जीवषट् कायलेश्या। षट्काय-पृथ्वी आदि। षट्लेश्या-कृष्ण आदि। पाँच ही अस्तिकाय हैं - धर्म-अधर्म आदि। यहीं पाँच शब्द व्रतादि में भी जोड़ा गया है। व्रत पाँच है - प्राणिवध से विरमण आदि। समिति पाँच हैं - ईर्या आदि। गति-नारक आदि ज्ञान-मतिज्ञान आदि। चारित्र-सामायिक-छोदोपस्थापनीय आदि। इन सब से सहित जीव ही श्रेष्ठ सम्यक्त्व रत्न को निरतिचार धारण करता है।।४६।।२५२।।

इसमें सम्यक्त्व है - यह किन लिंगों द्वारा जानना चाहिए - यह बताते हैं -

उवसम संवेगो वि य निव्वेओ विय तहेव अणुकंपा ।
आत्थिक्कं च एव तहा सम्मत्ते लक्खणा पंच ।।४७।। (२५३)

उपशम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा व आस्था - ये सम्यक्त्व के पाँच लक्षण है।

तीव्रकषाय का अनुदय उपशम है। मोक्ष की अभिलाषा संवेग है। भव से विरक्ति निर्वेद है। दुःखी पर दया करना अनुकम्पा है। तत्त्वान्तर के श्रवण करने पर भी जिन धर्म में ही श्रद्धा रखना आस्था है। ये पाँच सम्यक्त्व के सत्ता में रहने पर होते ही हैं।।४७।।२५३।।

सम्यक्त्ववान को शुद्ध परिणाम होता है, इसे बताते हुए कहते हैं -

इत्थ य परिणामो खलु जीवस्स सुद्धो उ होइ विन्नेउं ।
किं मलकलंकमुक्कं कणगं भुवि ज्झामलं होइ ।।४८।। (२५४)

सम्यक्त्व होने पर जीव का परिणाम यानि भाव निश्चय से शुभ ही होता है - यह जानना चाहिए।

इसी को ही अर्थान्तर न्यास के द्वारा समर्थित किया जाता है। जैसे - मल कलंक रहित सोना पृथ्वी पर पड़ा हुआ क्या ध्यामल होता है अर्थात् नहीं होता है।।४८।।२५४।।

अब उपशम आदि से प्राणियों की क्रिया विशेष को कहते हैं -

पयईए कम्माणं वियाणिउं वा विवागमसुहंति ।
अवरद्धे वि न कुप्पइ उवसमओ सव्वकालंपि ।।४९।। (२५५)

प्रकृति से अर्थात् स्वभाव से कर्मों के यानि कषाय रूप कर्मों के अशुभ विपाक को जानकर अपराध होने पर भी उपशम भाव से सर्व काल में अर्थात् अपराध निग्रह में समर्थ होने के काल में भी क्रोध न करे।।४९।।२५५।।

तथा -

नरविबुहेसरसुक्खं दुःक्खं चिय भावउ य मन्नंतो ।
संवेगओ न मुक्खं मुत्तुणं किं पि पत्थेइ ।।५०।। (२५६)

नर विबुधेश्वर अर्थात् राजा, इन्द्र आदि का सोख्य दुःखमय ही है, इस प्रकार भाव से मानते हुए संवेग से मोक्ष को छोड़कर और कुछ प्रार्थना नहीं की जाती। कहा भी है -

कह तं भन्नइ सुक्खं सुचिरेण वि जस्स दुक्खमल्लियइ ।
जं च मरणावसाणे, भव संसाराणुबंधि च। (उपदेशमाला गा. ३०)

अर्थात् सुचिर काल से भी प्राप्त उसे सुख कैसे कहा जा सकता है, जिसमें दुःख मिला हुआ है और जिसके अवसान में मरण है तथा जो भव-संसार का अनुबंधी है।।५०।।२५६।।

तथा -

नारय-तिरिय-नरामरभवेसु निव्वेयओ वसई दुक्खं ।
अकयपरलोयमग्गो ममत्त विसवेगरहिओ वि ।।५१।। (२५७)

नारक आदि भवों में विषयों में निर्वेद से अर्थात् वैराग्य के वश से ममत्व ही विष है। उसकी वेग रूपी लहरों से रहित होते हुए भी, धन-स्वजन-शरीर आदि में आत्मीयत्व का अभिमान छोड़ देने पर भी चारित्र मोहनीय के वश से जिसने प्रकृष्ट पर लोक के अर्थात् सिद्धि क्षेत्र रूपी मार्ग यानि चारित्र को नहीं किया है, वह अकृत परलोक मार्गी है। वह चारित्र को प्राप्त नहीं करने से कष्ट से दुःख ही पाता है, दुःख में ही रहता है।।५१।।२५७।।

तथा -

दट्ठूण पाणिनिवहं भीमे भवसायरंमि दुक्खत्तं ।
अविसेसऊणुकंपं दुहावि सामत्थउ कुणइ ।।५२।। (२५८)

धीर संसार सागर में दुःख से आर्त्त प्राणियों के समूह को देखकर अविशेषतः अर्थात् स्व-पर के भेद भाव के बिना सामान्य रूप से दोनों ही प्रकार की अनुकम्पा सामर्थ्य से अर्थात् अपनी शक्ति अनुसार करता है।

यहाँ अनुकम्पा दो प्रकार की बतायी गयी है - द्रव्य से तो बाह्य आपदा का प्रतीकार करना तथा भाव से आर्द्र हृदय से प्रतिबोधित कर-कर के अपनी सामर्थ्यानुसार सन्मार्ग प्राप्त करने तक प्रयत्न करना।।५२।।२५८।।

तथा -

मन्नइ तमेव सच्चं नीसंकं जं जिणेहिं पन्नत्तं ।
सुहपरिणामे सम्मं कंखाइ विसुत्तियारहिओ ।।५३।। (२५९)

जिनेश्वरों द्वारा जो कुछ भी प्रज्ञप्त है, उसी को सम्यक् सत्य अविसंवादि, निःशंक अर्थात् निःसन्देह मानता है। वह शुभ परिणामवाला अर्थात् आस्तिक्य लक्षण से युक्त कांक्षा आदि विस्रोतसिका, चित्तविप्लुतता आदि से रहित होता है।।५३।।२५९।।

अब प्रकृत विषय का निगमन करते हुए सम्यक्त्व का फल कहते हैं -

एवंविहपरिणामो सम्मदिट्ठी जिणेहिं पन्नत्तो ।
एसो उ भवसमुद्दं लंघइ थोवेण कालेण ।।५४।। (२६०)

जिसका इस प्रकार का उपशम आदि रूप परिणाम है, वह सम्यग्दृष्टि जिनेश्वर के द्वारा प्रज्ञप्त है। यही थोड़े से समय के बाद भवसागर को पार करता है।

आगम में भी कहा है -

उक्कोसदंसणेणं भंते कइहिं भवग्गहणेहिं सिज्जिज्जा ।
गोयमा! उक्कोसेणं तेणेव तओमुक्के तइयं नाइक्कमइ त्ति ।।

हे भगवन्! उत्कृष्ट दर्शनी कितने भव ग्रहण करने से सिद्ध होता है?

हे गौतम! उत्कृष्ट दर्शनी या तो उसी भव में या फिर तीसरे भव में सिद्ध होता है। तीसरे भव का अतिक्रमण

नहीं करता।।५४।।२६०।।

इस प्रकार मोक्ष के हेतु सम्यक्त्व को कहा गया, पर वह सम्यक्त्व विरति के साथ जानना चाहिए। अविरत सम्यग् दृष्टि के तो निकाचित कर्मक्षय करने वाली तपस्या भी असार है। इसी को आगे बताया जा रहा है -

सम्मदिट्ठिस्सवि अविरयस्स न तवो बहुफलो होइ ।
हवइ हु हत्थिन्हाणं चुंदं च्छिययं व तं तस्स ।।५५।। (२६१)

मिथ्यादृष्टि तपस्वी में तो तामलि के दृष्टान्त से असारता ज्ञात होती ही है - यह प्रसिद्ध ही है। अविरत सम्यग्दृष्टि का तप भी बहुत फल वाला नहीं होता। मोक्षफल प्राप्त नहीं होता। उनका तप हाथी के स्नान के समान होता है। जैसे हाथी नहाकर पुनः अपने अंगों पर धूल डाल लेता है। इसी प्रकार अविरत सम्यग्दृष्टि भी तप के द्वारा कर्म खपाकर पुनः अविरति द्वारा कर्म बाँध लेता है।

दूसरा दृष्टान्त छीलने के उपकरण का है। जैसे - बढ़ई इस उपकरण को हाथ से खींचता है। जब यह बायें हाथ से खींचता है तो दाहिने हाथ से इसे ढक देता है और दायीं ओर खींचता है, तो बायें से ढक लेता है। इसी प्रकार एक तरफ तप से कर्म को क्षपित करता है, तो दूसरी तरफ अविरति से बाँध भी लेता है।।५५।।२६१।।

इसी अर्थ को उदाहरण द्वारा समर्थित करते हैं -

चरणकरणेहिं रहिओ न सिज्जइ सुट्ठुसम्मदिट्ठी वि ।-
जेणागमंमि सिद्धो रहंधपंगूणदिट्ठंतो ।।५६।। (२६२)

चरण-करण से रहित श्रेष्ठ सम्यग्दृष्टि भी सिद्ध नहीं होता। रथ व अंधे-पंगु के दृष्टान्त से आगम में भी यह सिद्ध है।

संजोग सिद्धिइ फलं वयंति न हु एगचक्केण रहो पयाइ ।

संयोग व सिद्धि से ही फल कहा गया है, क्योंकि एक चक्के से रथ प्रवर्तित नहीं होता।

जैसे - अन्धे व पंगु का दृष्टान्त। इसमें अन्वय तो इस प्रकार है -

अन्धो य पंगूय वणे समिच्चा ते संपउत्ता नगरं पविट्ठा ॥१॥ (आव. नि. गा. १०२)

अर्थात् अंधा व पंगु दोनों वन में आमने सामने हुए। फिर दोनों ने साथ मिलकर नगर प्रवेश किया।

व्यतिरेक इस प्रकार है -

पासंतो पंगुलो दड्ढो धावमाणो य अंधओ ।

पंगु की दृष्टि से व अंधे द्वारा दौड़ने से बलते हुए वन से बाहर आ गये।

सम्प्रदाय गम्य तो इस प्रकार है। जैसे -

किसी नगर के लोगों ने किसी अजेय वैरी के आतंक की शंका से जंगल में शरण ले ली। दूसरे दिन पुनः वहाँ भी हमले के भय से आतुर शकट आदि को छोड़ अपने-अपने प्राण लेकर वहाँ से भाग गये। वहाँ पर दो निराश्रय पुरुष, एक अंधा व एक पंगु वहीं रह गये, क्योंकि निःसत्त्व को कहाँ भय होता है। छापामार सैनिकों द्वारा लूट-लूट कर चले जाने के बाद कल्पान्त अग्नि की तरह दावानल भभक उठा। दावानल की तरफ भागते हुए अन्धे को देखकर लंगड़े ने कहा-जीने की इच्छा है या मरने की इच्छा है, जो कि दावानल की ओर जा रहे हो। उसने कहा - हे भद्र! तो तुम ही बताओ कि जीवित रहने के लिए किधर जाऊँ? क्योंकि -

आकर्षयान्मुखान्मृत्योः प्राणदानं ह्यनुत्तरम् ।

मृत्यु के मुख से खींचकर प्राणदान देना अनुत्तर दान है।

तब उस पंगु ने अंधे से कहा - आओ! मुझे अपने कन्धे पर बिठा लो। जिससे मेरे द्वारा इष्ट मार्ग से तुम्हारी

निरपाय गति होगी। अन्धे ने भी पंगु द्वारा उक्त कथन को युक्त मानते हुए शीघ्र ही वैसा ही किया, क्योंकि -

स्म प्राणभीर्महती हि भीः ।

प्राण-भय सबसे बड़ा भय है। इस प्रकार एक होकर दोनों ने ईप्सित स्थान को प्राप्त किया।

इसी तरह दर्शन व चारित्र युक्त होने पर शिव पद प्राप्त होता है।

व्यतिरेक तो इस प्रकार है -

किसी नगर में लंकादाह के प्रकाश को करते हुए की तरह चारों ओर प्रदीपन हो गया। तब सभी लोग हाहाकर की ध्वनि करते हुए शीघ्रता से भागने लगे। उस समय महान कष्ट के आ पड़ने पर प्राणमात्र धन ही सबसे बड़ा धन हो गया। उस नगर में एक अन्धा व एक पंगु अनाथ हो गये। स्वयं वे नगरी के बाहर जाने में असमर्थ थे और कोई भी उन्हें नगरी के बाहर लेकर नहीं गया। पंगु अपने निकलने के मार्ग को देखता हुआ भी गमनक्रिया से शून्य होने से भस्मीभूत हो गया। अंधा तो प्राणों की रक्षा के लिए इधर उधर दौंड़ने लगा। अग्नि को नहीं देख पाने के कारण उसीके कोटर में प्रवेश कर गया। इस प्रकार अंधा व पँगु, दोनों का साथ न होने से दोनों ही मृत्यु को प्राप्त हुए। इसी प्रकार दर्शन व चारित्र का साथ न होने पर वे दोनों अलग-अलग होने से सिद्धि-दायी नहीं होते।।५६।।२६२।।

अब चरण-करण के स्वरूप को कहते हैं -

वयसमणधम्म संजम-वेयावच्चं बंभगुत्तीओ ।
नाणाइतियं तव-कोह-निग्गहा इई चरणमेयं ।।५७।। (२६३)
पिंडविसोही समिई भावण पडिमा य इंदिय निरोहो ।
पडिलेहणगुत्तीओ अभिग्गहा चेव करणं तु ।।५८।। (२६४)

व्रत-प्राणिवध से विरति आदि, पाँच प्रकार के हैं। श्रमण धर्म क्षान्ति आदि दस है। संयम पृथ्वी आदि का संरक्षण आदि है।

जैसे -

पुढवीदग अगणि मारुय वणसइ बि ति चउ पणिंदि अजीवे ।
पेहुप्पेह पमज्जण परिठवण मणोवईकाए ।।११।। (दशवै. का. नि. ४६)

पृथ्वी, पानी, अग्नि, हवा, वनस्पति, बेइंद्रिय, तेइन्द्रिय, चउरिन्द्रिय, पंचिन्द्रिय, अजीव में प्रेक्षा, उत्प्रेक्षा, प्रमार्जना व परिस्थापना मन वचन काय से करे।

वैयावृत्य-आचार्य आदि की दस प्रकार से है। जैसे -

आयरिय उवज्झाए थेर तवस्सी गिलाए सेहाण ।
साहम्मिअकुलगणसंघसंगयं तमिह कायव्वं ।।१।।

आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, तपस्वी, ग्लान, शैक्षक, साधर्मिक, कुल,गण, संघ की सेवा वैयावृत्य करे।

ब्रह्मगुप्ति नौ प्रकार की है। जैसे -

वसहिकहनिसिज्जइंदिय कुडुंतर पुव्वकीलियपणीए ।
अइमायाहारविभूसणा य नव बंभगुत्तीऊ ।।१।। (प्रव. सा. ५५७)

स्त्री-पशु-पंडक सहित वसति भोगना, स्त्री कथा करना, कोमल निषद्या का उपभोग करना, इन्द्रिय अनुकूल विषयों पर राग रखना, भीत की आड़ में काम उत्पादक कथा आदि सुनना, पूर्व क्रीडित कामभोग को याद करना, सरस स्निग्ध घृत आदि आहार करना, अति मात्रा में आहार करना, शरीर की विभूषा करना - ये नौ कार्य न करना। ये नव वाड़ ब्रह्मचर्य की है।

ज्ञानादि त्रिक-ज्ञान-दर्शन चारित्र रूप है। तप-अनशन आदि बारह प्रकार का है। क्रोध-निग्रह आदि क्रोधादि पर विजय प्राप्त करना है। ये चरण अर्थात् चारित्र के मूलगुण रूप हैं, क्योंकि इनका यावज्जीवन आसेवन किया जाता है।

पिण्ड अर्थात् अशन-पान-खादिम व स्वादिम रूप है अथवा उपलक्षण से शय्या-वस्त्र-पात्र आदि की विशुद्धि, बयालीस दोष रहित होने से पिण्ड विशुद्धि चार है। समिति ईर्या आदि है। भावना-अनित्य आदि बारह हैं। जैसे -

भावयितव्यमनित्यत्वमशरणत्वं तथैकतान्यत्वे ।
अशुचित्वं संसारः कर्माश्रवसंवरविधिश्च ॥१॥
निर्जरणलोकविस्तर धर्मस्वाख्याततत्त्वचिन्ताश्च ।
बोधेः सुदुर्लभत्वं च भावना द्वादश विशुद्धाः ॥२॥ (प्रशमरति १४९-१५०)

अनित्य, अशरण, एकत्व, अन्यत्व, अशुचित्व, संसारत्व, कर्माश्रवत्व, संवरविधित्व, निर्जरत्व, लोक विस्तरत्व, धर्म ख्याततत्व चिन्तत्व, बोधि-दुर्लभत्व - ये बारह विशुद्ध भावना भानी चाहिए।

प्रतिमा-मासिकी आदि है -

मासाइ सत्तंता पढमाबिइ तईय सत्तराइदिणा ।
अहराइ एगराई भिक्खु पडिमाण बारसगं ॥१॥ (आ. नि.-प्र, प्रव. सारो०-५७४)

एक मास से लेकर सात मास तक की सात प्रतिमा, एक, दो, तीन, व सतरह दिन की प्रतिमा - ये चार मिलाकर ग्यारह प्रतिमा तथा एक रात्रि की प्रतिमा - ये बारह प्रतिमा भिक्षु की होती है।

इन्द्रियों के स्पर्श आदि का निरोध जय है। प्रतिलेखना वस्त्र-पात्र आदि की होती है। गुप्तियाँ-मन आदि की हैं। अभिग्रह-द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव विषयक होता है। ये सभी करण उत्तर गुण रूप हैं क्योंकि समय प्राप्त होने पर ही इनका आसेवन किया जाता है।५८।।२६४।।

अब सम्यग्-दर्शन व क्रिया की सहकारिता होने पर कौन किस स्वभाव से उपकार करता है, उसे कहते हैं-

सम्मग्गस्स पयासगं इह भवे नाणं तवो सोहणं,
कम्माणं चिरसंचियाण नियय गुत्तीकरो संजमो ।
बोधव्वो नवकम्मणो नियमणे भावेह एयं सया,
एसिं तिन्हवि संगमेण भणिओ मुक्खो जिणिंदागमे ॥५९॥ (२६५)

*मोक्षार्थ के प्रवृत्ति में सन्मार्ग का प्रकाशक इस भव में ज्ञान होता है, यह ज्ञान सम्यग्दर्शन से अविनाभूत होता है क्योंकि मिथ्यादर्शन होने पर तो ज्ञान भी अज्ञान हो जाता है। क्रिया तप व संयम रूप से दो प्रकार की है। यहाँ तप चिरसंचित निश्चित कर्मों का शोधन रूप है। गुप्तिकर अर्थात् निरोधक संयम है, जो आने वाले नये पाप कर्मों को रोकता है। अपने मन में भी सदा ही यह भाव करता है। इन तीनों के संगम से ही मोक्ष होता है - यह जिनागम में कहा गया है। इसी कारण से ही तो "**सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः**।" यह प्रतिष्ठित हुआ है।*

ज्ञान व तप शब्द को रखकर इन्हीं के माध्यम से यहाँ अंतिम मंगल किया गया है।५९।।२६५।।

अब सूत्रकार अपने अभिधान की भंगी का प्रतिपादन करते हुए इस प्रकरण का उपसंहार करने के लिए कहते हैं-

चंद दम-पवर हरि-सूर-रिद्धि-पयनिवह-पढमवन्नेहिं ।
जेसिं नाम तेहिं परोवयारंमि निरएहिं ॥६०॥ (२६६)
ईय पायं पुव्वायरिय-रइय गाहाण संगहो एसो ।
विहिओ अणुगहत्थं कुमग्गलग्गाण जीवाणं ॥६१॥ (२६७)

प्रथम वर्ण वाले, उत्तम ऐश्वर्य गुणो से युक्त, रिद्धि प्राप्त, सूर्य के समान तेजस्वी, श्रेष्ठ ईश्वर के समान श्री चन्द्रप्रभसूरि, जो परोपकार में निरत हैं, उनके द्वारा यह पूर्व आचार्य द्वारा रचित गाथाओं के पाद का संग्रह है, जो कि कुमार्ग में लगे हुए जीवों के अनुग्रह के लिए लिखा गया है।।६०-६१।।२६६-२६७।।

और भी -

जे मज्झत्था धम्मत्थिणो य जेसिं च आगमे दिट्ठी ।
तेसिं उवयारकरो एसो न उ संकिलिट्ठाणं ॥६२॥ (२६८)

जो मध्यस्थ धर्मार्थी है, जिनकी आगम में दृष्टि हैं, उन्हीं के उपकार के लिए यह ग्रन्थ है, किन्तु संक्लिष्ट मति वाले लोगों के लिए यह नहीं है।।६२।।२६८।।

अब इस प्रकरण की महत्ता को बताने के लिए नामों को कहते हैं -

उवएसरयणकोसं, संदेहविसोसहिं व वीउसजणा ।
अहवा वि पंचरयणं दंसणसुद्धि इमं भणह ॥६३॥ (२६९)

उपदेश रत्न कोष, संदेह विष - औषधि रत्नों के समान दुष्प्राप्य अथवा देव-धर्म-मार्ग-साधु-तत्त्व लक्षण रूप ये पाँच रत्न दर्शन-सम्यक्त्व की शुद्धि के हेतु होने से शुद्धि रूप है - इन्हीं को विद्वद्जनों ने कहा है।।६३।।२६९।।

अब इनके स्वरूप निरूपण पूर्वक भव्यों को पठन आदि का उपदेश देते हैं -

मिच्छमहन्नवतारणतरियं आगमसमुद्दबिंदुसमं ।
कुग्गाहग्गहमंत्तं संदेहविसोसहिं परमं ॥६४॥ (२७०)
एयं दंसणशुद्धिं सव्वे भव्वा पढंतु निसुणंतु ।
जाणंतु कुणंतु लहंतु सिवसुहं सासयं ज्झत्ति ॥६५॥ (२७१)

मिथ्यात्व रूपी महार्णव से तारनेवाली नौका, आगमसमुद्र में बिंदु के समान, कुग्रह से ग्रसित के लिए मंत्र रूप, सन्देह-विष की परम-प्रकृष्ट औषधि है। पूर्व में इसका सिर्फ नाम ही ग्रहण किया गया था। अब विशेषण रूप से कहा गया है। अतः पुनरुक्ति दोष नहीं होता।।६४।।२७०।।

इस दर्शनविशुद्धि रूप सम्यक्त्व को सभी भव्य सूत्र रूप से पढ़कर, अर्थरूप से श्रवण करें। सुनकर उसका अर्थ जानें, जानकर उसे आचरण में लाये, अनुष्टान करके शाश्वत शिव-सुख को शीघ्र ही प्राप्त करें, क्योंकि सर्व अनुष्ठानों का प्रयोजन मुक्ति ही है।।६५।।२७१।।

॥ श्री ॥

इस प्रकार पूज्य श्री चक्रेश्वर सूरि द्वारा प्रारंभ तथा उनके प्रशिष्य श्री तिलकाचार्य द्वारा निर्वाहित "सम्यक्त्ववृत्ति" में समर्थित पाँचवां तत्त्व-तत्त्व पूर्ण हुआ और इसी की पूर्णता के साथ सम्यक्त्वप्रकरण-वृत्ति का अनुवाद पूर्ण हुआ।

॥ श्री ॥

परिशिष्ट

मूलगाथार्द्ध	पृष्ठ
अक्खरु अक्खइ किंपि न ईहइ ।	२५४
अगीयादाइन्ने खित्ते अन्नत्थ ठिइ अभावंमि ।	२६६
अच्चंत दूसमि बोयंमि न अंकुरो जहा होइ।	२४
अज्ज वि तवसुसियंगा तणुअकसाया जिईदिया धीरा ।	२६१
अज्ज वि तिन्नपइन्ना गरुय भरुव्वहणपच्चला लोए ।	२६०
अज्ज वि दयखंतिपयट्ठियाइ तवनियमसीलकलियाइं ।	२६१
अज्ज वि दयसंपन्ना छज्जीवनिकायरक्खणुज्जुत्ता ।	२६१
अट्ठविहा गणिसंपय चउगुणा नवरिं हुंति बत्तीसं ।	२४०
अट्ठविहं पि य कम्मं अरिभूयं होइ सव्वजीवाणं।	२४
अट्ठारस जे दोसा आयारकहाइ वन्निया सुत्ते ।	२२१
अद्दामलगपमाणे पुढविक्काए हवंति जे जीवा ।	२७१
अन्नाणकोहभयमाणलोहमायारई य अरई य।	२४
अन्नाणनिरंतर - तिमिरपूरपरिपूरियंमि भवभवणे ।	२४८
अन्नाणंधा मिच्छत्तमोहिया कुग्गहुग्गहगहिया ।	२२०
अन्नाभावे जयणाइ मग्गनासो हविज्ज मा तेण ।	२०५
अनुन्नंतरियंगुलि-कोसागारेहिं दोहिं हत्थेहिं ।	७९
अरहंति वंदणनमंसणाइं अरहंति पूयसक्कारं।	२४
अवगाहो आगासो पुग्गल-जीवाण पुग्गला चउहा ।	२८२
अवहट्टुरायककुहरूवाइं पंचवररायककुहरुवाइं ।	७८
अस्संखोसप्पिणिसप्पिणीओ एगिंदियाण उ चउण्हं ।	२७२
अहिगारिणा इमं खलु कारेयव्वं विवज्जए दोसो।	२६
अहिगारिणा विहीए कारवियं जं न साहुनिस्साए।	३०
अहिगारी उ गिहत्थो सुहसयणो वित्तसंजुओ कुलजो।	३०
आऊतेऊवाऊ एसि सरीराणि पुढविजुत्तीए ।	२७२
आणाइ अवट्ठंतं जो उवबूहिज्ज जिणवरिंदाणं ।	२६५
आयाणं तो भंजइ पडिवन्नधणं न देइ देवस्स ।	८२
आयाराई अट्ठ उ तह चेव य दसविहो य ठिइकप्पो ।	२४२
आराहणाइ तीए पुन्नं पावं विराहणाए उ।	२६
आलयविहारभासा चंकमणट्ठाणविणयकम्मेहिं ।	२५५
आसन्नसिद्धियाणं विहिपरिणामो उ होइ सयकालं ।	७७
आहाकम्मुद्देसिय पूईकम्मे य मीसजाए य ।	२२३
आहारसरीरिंदिय पज्जत्ती आणपाणभासमणे ।	२७०
इत्थ य परिणामो खलु जीवस्स सुद्धो उ होइ विन्नेउं ।	३१८
इय आगमविहिपुव्वं भत्तिभरुल्लसिय बहलरोमंच ।	७७
इय जाणिऊण एयं मा दोसं दूसमाइ दाऊण ।	२६१
इयरेसु वि य पओसो नो कायव्वो भवठिई एसा ।	२६५
इह दहतियसंजुत्तं वंदणयं जो जिणाण तिक्कालं ।	७८
इहरा सपरुवघाओ उच्छोभाईहिं अत्तणो लहुया ।	२६६
ईय पायं पुव्वायरिय-रइय गाहाण संगहो एसो ।	३२३
उक्कोसं दव्वथयं आराहिय जाइ अच्चुयं जाव ।२	२०४
उद्दिट्ठकडं भुंजइ छक्कायपमद्दणो धरं कुणइ ।	२३८
उन्नयमविक्ख निन्नस्स पसिद्धि उन्नयस्स निन्नाउ ।	२६६

मूलगाथार्द्ध	पृष्ठ
उस्सग्गेण निसिद्धाणि जाणि दव्वाणि संथरे जइणो ।	२३५
उवरसरयणकोसं, संदेहविसोसहिं व वीउसजणा ।	३२३
उवसम संवेगो वि य निव्वेओ विय तहेव अणुकंपा ।	३१८
ऊणत्तं न कयाइ वि इमाण संखं इमं तु अहगिच्च ।	२३९
एगविह दुविह-तिविहा-चउहा-पंचविह छव्विहा जीवा ।	२६८
एगविह-दुविह-तिविहं-चउहा पंचविह-दसविहं सम्मं ।	२८८
एगस्स दुण्ह तिण्हव संखिज्जाण व न पासिउं सक्का ।	२७२
एगंमि उदगबिंदुमि जे जीवा जिणवरेहिं पन्नत्ता ।	२७२
एगिंदियसुहुमियरा सन्नियरपणिंदिया सबितिचउ ।	२६८
एयदोसविमुक्को जईणं पिंडो जिणेहिं पुन्नाओ ।	२३३
एयं दंसणशुद्धिं सव्वे भव्वा पढंतु निसुणंतु ।	३२३
एयं भणियं समए इन्देणं साहुजाणणनिमित्तं ।	१७७
एसं जिया आगमदिट्ठिदिट्ठ सुन्नायमग्गा सुहमग्गलग्गा ।	२१७
एसं पाएण जणा कालणुभावा इहं तु सव्वे वि ।	२६५
एवंविहपरिणामो सम्मदिट्ठी जिणेहिं पन्नत्तो ।	३१९
एसा चउक्कसोही निद्दिट्ठा जिणवरेहिं सव्वेहिं ।	२३८
कालाइदोसओ जइ वि कह वि दीसंति तारिसा न जई ।	२६०
कालोचियजयणाए मच्छररहियाण उज्जमंताणं ।	२५७
किण्हा-नीला-काऊ-तेऊ-पम्हा तहेव सुक्का य ।	२७३
किं वा देइ वराओ मणुओ सुट्ठु वि धणी वि भत्तो वि ।	२६५
कुग्गह कलंकरहिया जहसत्ति जहागमं च जयमाणा ।	२६०
कुणमाणो वि निवित्तिं परिच्चयंतो वि सयणधणभोगे ।	२८५
कुणमाणो वि हु किरियं परिच्चयंतो वि सयणधणभोगे ।	२८४
कुसुमक्खय धूवेहिं दीवयवासेहिं सुंदरफलेहिं।	३९
केइ भणन्ति भन्नइ सुहुमवियारो न सावगाण पुरो ।	२०५
केसिं चि य आएसो दंसणनाणेहिं वट्टए तित्थं ।	२५६
कंकिल्लि१ कुसुम वुट्ठि२ दिव्वज्झुणि३ चामरासणाइं४ च।	२३
खंती य महवज्जवमुत्तीतवसंजमे य बोधव्वे ।	१५२
गइ इंदिए य काए जोए वेए कसायनाणे य ।	२७८
गुरुकम्माण जियाणं असमंजसचिट्ठियाणि दट्ठूणं ।	२६७
गुरुकारियाइ केइ अन्ने सइ कारियाइ तं बिंति ।	७६
गुरुगुणरहिओ य इहओ दट्ठव्वो मूलगुणविउत्तो जो ।	२५८
गुरुदेवुग्गहभूमीइ जत्तउ चेव होइ परिभोगो ।	८१
गिहिलिंग-कुलिंगिय-दव्वलिंगिणो तिन्नि हुंति भवमग्गा ।	२१८
चउतीस अइसयजुओ अट्ठमहापडिहेरकयसोहो।	२२
चउभेयं मिच्छत्तं तिविहं तिविहेण जो विवज्जेइ ।	२८४
चउरो जम्मप्पभिई इक्कारसकम्मसंखए जाए।	२२
चत्तारि अंगुलाइं पुरओ उणाइं जत्थ पच्छिमओ ।	७९
चरणकरणेहिं रहिओ न सिज्जइ सुट्ठसम्मदिट्ठी वि ।	३२०
चेइअकुलगणसंघे आयरियाणं च पवयणसुए य ।	२०५
चेइयदव्वं साहारणं च जो दुहइ मोहियमइओ ।	८२
चेइयदव्वविणासे तद्दव्वविणासणे दुविहभेए ।	८२

मूलगाथार्द्ध	पृष्ठ
चंद दम-पवर हरि-सूर-रिद्धि-पयनिवह-पढमवन्नेहिं ।	३२३
छण्हं जीवनिकायाण संजमो जेण पावए भंगं ।	२०३
छव्विहजीवनिकाउ विराहइ पंच वि इंदिय जो न वि साहइ।	२५४
जइ खमसि तो नमिज्जसि छज्जइ नामंपि तुह खमासमणो ।	२६२
जइ वि हु सकम्मदोसा मणयं सीयंति चरणकरणेसु ।	२१७
जन्न तयट्ठा कीयं ने य वुयं नेय गहियमन्नेसिं ।	२३८
जम्हा न मुक्खमग्गे मुत्तूणं आगमं इह पमाणं ।	२१८
जस्सट्ठा आहारो आरंभो तस्स होइ नियमेण ।	२३३
जा संजमया जीवेसु ताव मूला य उत्तरगुणा य ।	२५८
जावज्जीवं आगमविहिणा चारित्त पालणं पढमो ।	२०३
जिणगुरुसुयभत्तिरओ हियमियपियवयणजंपिरो धीरो ।	३०६
जिणपवयणवुड्ढिकरं पभावगं नाण-दंसण-गुणाणं ।	८३
जिणपवयणवुड्ढिकरं पभावगं नाणदंसणगुणाणं ।	८३
जिणपवयणवुड्ढिकरं पभावगं नाणदंसणगुणाणं ।	८३
जिणभवणकारणविही सुद्धा भूमीदलं च कट्ठाई।	२५
जिणभवणबिंबठावण-जत्तापूआय सुत्तओ विहिणा ।	२०३
जिणभवणबिंबपूयाकरणं कारावणं जईणंपि ।	१७६
जिणभवणे अहिगारो जइणो गिहिणो वि गच्छपडिबद्धा ।	१७६
जिणमंदिर भूमिए दसगं आसायणाण वज्जेह ।	८१
जियपरिसो जियनिद्दो मज्झत्थो देशकालभावन्नू ।	२४३
जीव म वहह म अलियं जंपह म अप्प अप्पह कंदप्पह ।	२१९
जीवदयसच्चवयणं परधणपरिवज्जणं सुसीलं च ।	८७
जीवा सुहेसिणो तं सिवंमि तं संजमेण सो देहे ।	२२३
जीवाइनवपयत्थे जो जाणइ तस्स होइ सम्मतं ।	२८३
जीवाजीवा पुन्नं पावासव-संवरो य निज्जरणा ।	२६७
जे संकिलिट्ठचित्ता माइठाणंमि निच्चतल्लिच्छा ।	२३८
जे बंभचेरस्स वयस्स भट्ठा उड्ढं ति पाए गुणसुट्ठियाणं ।	२६४
जे मज्झत्था धम्मत्थिणो य जेसिं च आगमे दिट्ठी ।	३२३
जो भणइ नत्थि धम्मो न य सामइयं न चेव य वयाइं ।	२५७
जं जीयमसोहिकरं पासत्थपमत्तसंजयाईहिं ।	२६४
जं जीयं सोहिकरं संवेगपरायणेण दंतेण ।	२६४
तत्तो य अप्पमत्ते नियट्टि अनियट्टि बायरे सुहुमे ।	२७६
तत्तो य अहक्खायं सव्वम्मि जीवलोगंमि ।	२७३
तम्हा कम्माणीयं जे उ मणो दंसणंमि पयइज्जा ।	२८८
तम्हा सइ सामत्थे आणाभट्ठंमि नो खलु उवेहा ।	२६५
तवसंजमेहिं निज्जर पाणिवहाईहिं होइ बंधुत्ति ।	२८३
तस्स पुणो नामाइं तिन्नि बहत्थाइं समयभणियाइं।	२४
तह एगसाडएणं उत्तरसंगेण जिणहर पवेसो ।	७८
तह अट्ठिअट्ठि मज्जाणु रायरत्ता जिणिंदपन्नत्तो ।	२०६
ता आणाणुमयं जं तं चेव बुहेहिं सेवियव्वं ।	२१८
ता कइया तं सुदिणं सा सुतिही तं भवे सुनक्खत्तं ।	२२०
ता तुलियनियबलाणं सत्तीइ जहागमं जयंताणं ।	२६१
ता तेसिं असढाणं जहसत्ति जहागमं जयंताणं ।	२५६
ता दव्वओ य तेसिं अरत्तदुट्ठेण कज्जमासज्ज ।	२६६

मूलगाथार्द्ध	पृष्ठ
तित्थगराणामूलं नियमा धम्मस्स तीइ वाघाए।	२६
तित्थयरुद्देसेण वि सिद्धिलिज्ज न संजमं सुगइमूलं ।	२०५
तिदिसि निरिक्खण विरई तिविहं भूमीपमज्जणं चेव ।	७८
तिन्नि निसीहि य तिन्नि य पयाहिणा तिन्नि चेव य पणामा ।	७८
तिन्नि वि रयणइं देइ गुरु सुपरिक्खियइं न जस्स ।	२४७
ते धन्ना ताण नमो तिच्चिय चिरजीविणो बुहा ते य ।	३१७
तं नत्थि भुवणमज्झे पूआकम्मं न जं कयं तस्स ।	२०४
तं नमह तं पसंसह तं झायह तस्स सरणमल्लियह।	२५
तं सुगुरुसुद्धदेसणमंतक्खरकन्नजावमाहप्पं ।	२४८
तंबोलपाणभोयणपाणहथीभोगसूयणनिद्दुवणं ।	८१
तुंबय-दारुय-मट्टीपत्तं कम्माइदोसपरिमुक्कं ।	२३८
दट्ठूण पाणिनिवहं भीमे भवसायरंमि दुक्खत्तं ।	३१९
दव्वाण सचित्ताणं विउसरणमचित्तदव्वपरिभोगो ।	७८
दुगंधमलिणवत्थस्स खेलसिंघाणजल्लजुतस्स ।	२०२
दुप्पसहंतं चरणं जं भणियं भगवया इह खेत्ते ।	२५७
दुलहा गुरु कम्माणं जीवाणं सुद्ध धम्मबुद्धी वि ।	१७६
दुविहं लोइयमिच्छं देवगयं गुरुगयं मुणेयव्वं ।	२८४
दूसमकालसरुवं कम्मवसियं च सव्वजीवाणं ।	२६७
दूसमकाले दुल्लहो विहिमग्गो तंमि चेव कीरंते ।	२१८
देवहरयंमि देवा विसयविसमोहिया वि न कया वि ।	८२
देवो१ धम्मो२ मग्गो३ साहू४ तत्ताणि५ चेव समत्तं।	२२
देवं गुरुं च धम्मं च भवसायरतारयं ।	२४८
देसकुल जाइरूवी संघयणी धीजुओ अणासंसी ।	२४३
दो जाणू दुन्नि करा पंचमगं होइ उत्तमंगं तु ।	७९
धन्नाणं विहिजोगो विहिपक्खाराहगा सया धन्ना ।	७७
धम्मन्नु धम्मकत्ता य सया धम्मपरायणो ।	२४८
धम्मरयणस्स जुग्गो अक्खुद्दो रुववं पगइसोमो ।	१७४
धम्मा धम्मागासा तियतियभेया तहेव अद्धा य ।	२८२
धम्माधम्मापुग्गलनह कालो पंच हुंति अजीवा ।	२८२
धाई दूइ निमित्ते आजीव वणीमगे तिगिच्छा य ।	२२४
न विणा तित्थ नियंठेहिं ना तित्था य नियंठया ।	२५७
नरविबुहेसरसुक्खं दुःक्खं चिय भावउ य मन्नंतो ।	३१८
नाणं पंचवियप्पं अन्नाणतिगं च सव्वसागारं ।	२७५
नारय-तिरिय-नरामरभवेसु निव्वेयओ वसई दुक्खं ।	३१९
निग्गंथसिणायाणं पुलायसहियाण तिण्ह वुच्छेओ ।	२५६
निद्दीवणादकरणं असक्कहाऽणुचिय आसणाई य ।	८२
निप्फाइऊण एवं जिणभवणं सुंदरं तहिं बिंबं।	३०
नेगंतेणं चिय लोगनायसारेण इत्थ होअव्वं ।	२१७
पडिकमणे चेइहरे भोयणसमयंमि तह य संवरणे।	८०
पढमं वयाण छक्कं कायछक्कं अकप्पगिहिभायणं ।	२२१
पत्तभवन्नवतीरं दुहदवनीरं सिवंबतरुकीरं।	२
पयईए कम्माणं वियाणिउं वा विवागमसुहंति ।	३१८
पयडो सेसतियत्थो तत्तो नाउण एय तिय दसगं ।	८०
परियट्टिए अभिहडुब्भिन्न मालोहडे इ य ।	२२३

मूलगाथार्द्ध	पृष्ठ
परिवारपूअहेउं पासत्थाणं च आणुवित्तीए ।	२०९
पलए महागुणाणं हवंति सेवारिहा लहुगुणा वि ।	२५६
पाणा पज्जत्तीओ तणुमाणं आउयं च कायठिई ।	२६९
पाणिवह पेमकीडापसंगहासा य जस्स इइ दोसा।	२४
पाणिवह मुसावाए अदत्त मेहुण परिग्गहे चेव ।	८७
पासत्थओसन्नकुसीलरूवा, संसत्तऽहालंदसरूवधारी ।	२६२
पासत्थो ओसन्नो कुसील संसत्तनीय अहच्छंदो ।	२६४
पिट्ठीवंसो दोधार-णाओ चत्तारि मूलवेलीओ ।	२३५
पिण्डं सिज्जं वत्थं पत्तं चारित्तरक्खणट्ठाए ।	२२३
पिंडविसोही समिई भावण पडिमा य इंदिय निरोहो ।	३२१
पुच्छंताणं धम्मं तंपि य न परिक्खिउं समत्थाणम् ।	२०६
पुढवाइसु आसेवा उपन्ने कारणंमि जयणाए ।	२३५
पुढविदगअगणिमारुयवणस्सइणंता पणिंदिया चउहा ।	२६८
पुढवी-आउ-तेऊ-वाऊ-वणस्सई तहेव बेइंदि ।	२६८
पुढवीदगअगणिमारूय इक्केक्के सत्तजोणिलक्खाओ ।	२७४
पुप्फाऽऽमिसथुइभेया तिविहा पूआ अवत्थतियगं च ।	७९
पुलायनामो पढमो चरित्ती बीओ बउस्सो तइओ कुसीलो ।	२५५
पुव्विं पच्छासंथव विज्जामंते य चुन्नजोगे य ।	२२४
पूआ जिणिंदेसु रई वएसु जत्तो य सामाईयपोसहेसु ।	२१९
पंच महव्वयजुत्तो पंचविहायारपालणुजुत्तो ।	२४३
पंचविहाभिगमेणं पयाहिणतिगेण पूयपुव्वं च ।	७७
पंचविहायाररओ अट्ठारसहस्सगुणगणोवेओ ।	२३९
पंचविहे आयारे जुत्तो सुत्तत्थतदुभयविहिन्नू ।	२४३
पंचंगो पणिवाउ थयपाठो होइ जोगमुद्दाए ।	७९
पंचिंदिय तिविहबलं नीसासूसासआउयं चेव ।	२७०
फासुअएसणीएहिं फासुअओहासिएहिं कीएहिं ।	२३४
बहुजणपवित्तिनिमित्तं इच्छंतेहिं इह लोईओ चेव ।	२१७
बहुमाणो वंदणयं निवेयणा पालणा य जत्तेण ।	२५६
बहुवित्थरमुस्सग्गं बहुविहमववाय वित्थरं नाउं ।	२३५
बावीसइ सहस्सा सत्तसहस्साइं तिन्नहोरत्ता ।	२७२
भक्खेइ जो उवेक्खेइ जिणदव्वं सावओ ।	८२
भट्ठेण चरित्ताओ सुट्ठयरं दंसणं गहेयव्वं ।	२८८
भवगिहमज्झम्मि पमायजलणजलियंमि मोहनिद्दाए ।	२०९
भावत्थयदव्वत्थयरुवो सिवपंथसत्थवाहेणं ।	२०३
भासामइबुद्धिविवेगविणयकुसलो जियक्ख गंभीरो ।	३०६
भुंजइ आहाकम्मं सम्मं न य जो पडिक्कमइ लुद्धो ।	२३४
मन्नइ तमेव सच्चं नीसंकं जं जिणेहिं पन्नत्तं ।	३१९
मन्नंति चेइयं अज्जरक्खिएहिमणुन्नायमिह केई ।	१७७
मस्सूरए य थिबुए सूइ पडागा अणेगसंठाणा ।	२६९
मा आयन्नह मा य मन्नह गिरं कुतित्थियाणं तहा ।	२६७
मिच्छत्तमहामोहंधयारमूढाण इत्थ जीवाणं।	३
मिच्छदिट्ठी सासायणे य तह सम्ममिच्छदिट्ठी य ।	२७६
मिच्छमहन्नवतारणतरियं आगमसमुद्दबिंदुसमं ।	३२३
मुत्तासुत्ती मुद्दा समा जहिं दोवि गब्भिया हत्था।	७९

मूलगाथार्द्ध	पृष्ठ
मुत्तूणं भावथयं दव्वथए जो पयट्टए मूढो ।	२०४
मुद्दातियं तु इत्थं विन्नेय होई जोगमुद्दाइ ।	७९
मुहमहुरं परिणइ-मंगुलं च गिण्हंति दिंति उवएसं ।	२०९
मूलुत्तरगुणसुद्धं थीपसुपंडगविवज्जियं वसहिं ।	२३५
मूलं साहपसाहागुच्छफले छिंदपडियभक्खणया ।	२७३
मेरूव्व समुत्तुंगं हिमगिरिधवलं लसंतधवलधयं।	२५
मेरुस्स सरिसवस्स य जत्तियमितं तु अंतरं होई ।	२०४
मंसनिवित्तिं काउं सेवइ 'दंतिक्कयं' ति धणिभेया ।	२०५
रयणत्थिणो ति थोवा तहायारो ति जहव लोगंमि ।	१७४
रागोरगगरलभरो तरलइ चित्तं तवेइ दोसग्गी ।	२२०
लज्जालुओ दयालू मज्झत्थो सोमदिट्ठी गुणरागी ।	१७४
लद्धट्ठा गहिअट्ठा पुच्छियअट्ठा विणिच्छियट्ठा य ।	२०६
लाहालाह-सुहासुह-जीवियमरण-तिहपयाणेसु ।	२६१
वन्नाइतियं तु पुणो वन्नत्थालंबणस्सरूवं तु ।	७९
वयलक्काई अट्ठारसेव आयारवाइ अट्ठेव।	२४१
वयसमणधम्म संजम-वेयावच्चं बंभगुत्तीओ ।	३२१
विग्गहगइमावन्ना केवलिणो समुहया अजोगी य ।	२७०
विगलिंदिएसु दो दो चउरोचउरो य नारयसुरेसु ।	२७४
विगहा कसाय सन्ना पिंडो उवसग्गज्झाण सामइयं ।	२४२
वुच्छं तुच्छमईणं अणुग्गहत्थं समत्थभव्वाणं।	२
वुड्ढाणुगो विणीओ कयन्नुओ परहियत्थकारी य ।	१७४
वूढो गणहरसद्दो गोयमाईहिं धीरपुरुसेहिं ।	२४७
वंदामि तवं तह संजमं च खंतिं च बंभचेरं च ।	२६२
वंदिज्जंतो हरिसं निंदिज्जंतो करिज्ज न विसायं ।	२६१
वंदंतस्स उ पासत्थमाइणो नेव निज्जरा न कित्ती ।	२६३
सग्गाऽपवग्गमग्गं मग्गंताणं अमग्गलग्गाणं ।	२४८
सच्चं मोसं मिसं असच्चंमोसं मणोवई अट्ठ ।	२७५
सत्थावग्गहु तिविहो उक्कोसजहन्नमज्झिमो चेव ।	८१
सन्नाणं वत्थुगओ बोहो सद्दंसणं च तत्तरूई ।	२१९
सम्मत्तनाणचरणा मग्गो मुक्खस्स जिणवरुद्दिट्ठो ।	२१९
सम्मत्तमूलमणुवयपणगं तिन्नि उ गुणव्वयाइं च ।	८७
सम्मदिट्ठिस्सवि अविरयस्स न तवो बहुफलो होइ ।	३२०
समग्गस्स पयासगं इह भवे नाणं तवो सोहणं,	३२२
समत्तनाणचरणाणुवाइमाणाणुगं च जं जत्थ ।	२५६
समणाणं को सारो छज्जीवनिकायसंजमो एअं ।	१७६
समयावलियमुहुत्ता दिवसा पक्खा य मास वरिसा य ।	२८३
सव्वजिणाणां निच्चं बकुसकुसीलेहिं वट्टए तित्थं ।	२५८
सव्वत्थ अत्थि धम्मो जा मुणियं जिण! न सासणं तुम्ह ।	२२१
सव्वरयणामएहिं विभूसियं जिणहरेहिं महिवलयं ।	२०५
ससमयपरसमयविऊ गंभीरो दित्तिमं सिरो सोमो ।	२४३
सामाइयं पढमं छेओवट्ठाणं भवे बीयं ।	२७३
साहूण सत्तवारा होइ अहोरत्तमज्झयारंमि ।	८०
सीलंगाण सहस्सा अट्ठारस जे जिणेहिं पन्नत्ता ।	२३८
सुगइमग्गो पुन्नं दुग्गइमग्गो य होइ पुण पावं ।	२८३

मूलगाथार्द्ध	पृष्ठ
सुगइं हणंति तेसिं धम्मियजणनिंदणं करेमाणा ।	२०६
सुज्जि धम्मु सचराचरजीवहंदयसहिउ ।	२४८
सुत्त भणिएण विहिणा गिहिणा निव्वाणमिच्छमाणेण ।	७७
सुयसायरो अपारो आउं थोअं निआ य दुम्मेहा।	३
सूत्ते अत्थे कुसला उस्सग्गववाइए तहा कुसला ।	२०६

मूलगाथार्द्ध	पृष्ठ
सोलस उग्गमदोसा सोलस उप्पायणाए दोसा उ ।	२२३
संकिय मक्खिय निक्खित्त पिहिय साहरिय दायगुम्मीसेय ।	२३२
संगुलजोयणलक्खो समहिओ नव बारसुक्कसो विसओ ।	२६९
संथरणम्मि असुद्धं दुण्ह वि गिण्हंत दिंतयाण हियं ।	२३४
संवत्सराणि बारस राईदिय हुंति अउणपन्नासा ।	२७२
हुज्ज हु वसणपत्तो सरीर दोबल्लयाइ असमत्थो ।	२०७

अन्य गाथाएँ

गाथार्द्ध	पृष्ठ
अक्कसुरहीण वीरं कक्कूर रयणाई पत्थरा दो वि।	२५
अणबंधोदयमाउगबंधं कालं पि सासणो कुणइ ।	२७९
अणहीया खलु जेणं पिंडेसणसिज्जवत्थ पाएसा ।	२२२
अपुव्वनाणगहणे सुयभत्ती पवयणे पभावणया ।	८४
अयप्पमाणमित्तो चउदिसिं होइ अवग्गहो गुरुणो ।	८१
अरिहंत सिद्ध पवयण गुरु थेर बहुस्सुए तवस्सीसु ।	८४
अवरमसंखिज्जंगुल भागा उ नयणवज्जाणं ।	२६९
अवलम्बिऊण कज्जं जं किंची आयरन्ति गीयत्था ।	२३५
अष्टपुष्पी समाख्याता, स्वर्गमोक्षप्रसाधिका ।	२०३
अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यमसङ्गता ।	२०३
उउबद्धम्मि न अनलाए वासावासासु दो वि नो सेहो ।	२२२
आचेलक्कुद्देसिय-सिज्जायर-रायपिंड-किइकम्मे ।	२४२
आणाभंगं दट्ठुं 'मज्जत्था मु' त्ति ठंति जे तुसिणी ।	२६५
आयरिय उवज्झाए थेर तवस्सी गिलाए सेहाण ।	३२१
आयारव-मवहारव-ववहारु-व्वीलए-पकुव्वी य ।	२४१
आयारे सूयविणए विक्खिणे चेव होइ बोद्धव्वे ।	२४०
आलावो संवासो वीसंभो संथवो पसंगो य ।	२६२
आलोयणपडिक्कमणे मीसाविवेगे तहा वि उसग्गे ।	२४२
आवस्सगाईयाइं न करे अहवा वि हीणमहियाइं ।	२६३
उक्कोसदंसणेणं भंते कइहिं भवग्गहणेहिं सिज्झिज्जा ।	३१९
उत्सुत्तभायरंतो उस्सुत्तं चेव पन्नवेमाणो ।	२६३
उवसामगसेढिगयस्स होइ उवसमियं तु सम्मत्तं ।	२८९
ओसन्नो वि य दुविहो सव्वे देसेय तत्थ सव्वंमि ।	२६३
औदारिकप्रयोक्ता प्रथमाष्टमसमययोरसाविष्टः ।	२७१
करणे जोगे सन्ना इंदिय भोमाइ समणधम्मे य ।	२३९
कलहकरा डमरकरा असमाहिकरा अनिव्वुइकरा य ।	२१७
कह तं भन्नइ सुक्खं सुचिरेण वि जस्स दुक्खमल्लियइ ।	३१९
कार्मणशरीरयोगी चतुर्थके पञ्चमे तृतीये च ।	२७१
कालाइक्कंतुवटाणा अभिकंत मणभिकंताय ।	२३६
काले सूइभूएणं विसिट्ठपुप्फाइएहिं विहिणा ।	७७
काहं अच्छित्ति अदुवा अहीहं, तवोवहाणेसु अणुज्जमिस्सं ।	२३४
किइकम्मं च पसंसा सुहसीलजणंमि कम्मबंधा य ।	२६४
कुलनिस्साए विहरइ उवणकुलाणि य अकारणे विसइ ।	२६२
कोऽत्र स्वतन्त्रात्मा निवसेद् भवचारके ।	१७३

गाथार्द्ध	पृष्ठ
कंसेसु कंसपाएसु कुंडमोएसु वा पुणो ।	२२२
गोयमा! तित्थे हुज्जा, नो अतित्थे हुज्जा।	२५७
चोएइ चेइयाणं खित्तहिरन्ने य गामगेहाई ।	८३
चैत्यान्तः शोभने लग्नेऽधिवास्योचितपूजया।	३०
छट्ठट्ठमदसमदुवालसेहिं मासद्धमासखवणेहिं ।	२२१
छावलियं सासाणं समहिअ तेतीससागर चउत्थं ।	२७७
जइ वि न आहाकम्मं मत्तिकयं तह वि वज्जयन्तेहिं ।	२०३
जह सरणमुवगयाणं जीवाण निकिंतइ सिरे जो उ ।	२०७
जा जस्स ठिइ जा जस्स संतई पुव्वपुरिस कयमेरा ।	१७६
जावइया उस्सग्गा तावइया चेव हुंति अववाया ।	२६६
तत्थ करंतुव्वेहं सा जा भणिया उ तिगरणविसोही ।	८३
तम्हा जहुत्तदोसेहिं वज्जियं निम्ममो निरासंसो ।	२३८
ता एयं मे वित्तं जमित्थमुवओगमेइ अणवरयं।	२६
तिन्नि वा कइई जाव थुईओ तिसिलोईया ।	२०२
तिविहो होइ कुसीलो नाणे तंह दंसणे चरित्ते य ।	२६३
थी वज्जियं वियाणह इत्थीणं जत्था ठाणरुवाई।	२३७
दव्वमणोजोगेणं मणनाणीणं अणुत्तरसुराण ।	२७७
दुब्भिगंधमलस्साऽवि, तणुप्पेसण्हाणिया ।	२०२
देसंमि उ पासत्थो सिज्जायरभिहडनीयपिंडं च ।	२६२
दंसणविणए आवस्सए य सीलव्वए निरइयारो ।	८४
धित्तव्वमलेवकडं लेवकडेमाहु पच्छकम्माई ।	२३३
न ते नरा दुर्गतिमाप्नुवन्ति, न मूकतां नैव जड स्वभावम् ।	१७५
न वि किंचि अणुन्नायं पडिसिद्धं वा वि जिणवरिंदेहिं ।	२३४
नाणस्स होइ भागी थिरयओ दंसणे चरित्ते य ।	२२१
निगिणस्स वावि मुंडस्स दीहरोमनहंसिणो ।	२२२
निर्जरणलोकविस्तर धर्मस्वाख्याततत्त्वचिन्ताश्च ।	३२२
निसग्गुवएसरुइ आणारुइ सुत्तबीयरुइमेव ।	२८९
पडिक्कमओ गिहिणो वि हु सत्तविहं पंचहा उ इयरस्स ।	८०
पडिबुज्झिसंति इहं दट्ठूण जिणिंद बिंबमकलंकं।	२६
परस्त्रीसङ्गमो ह्यत्र परमं वैरकारणम् ।	११३
पसुपंडगेसु वि इहं मोहानलदीवायाण जं होइ ।	२३७
पासत्थाइएसुं संविग्गेसुं च जत्थ संमिलइ ।	२६३
पिच्छिस्सं इत्थ अहं वंदणगनिमित्तमगए साहू।	२५
पुढविदगअगणिमारुय वणस्सइ बितिचउपणिंदिअजीवे ।	१५२

गाथार्द्ध	पृष्ठ
पुढवीदग अगणि मारुय वणसइ बि ति चउ पणिंदि अजीवे ।	३२१
पुलाएणं भंते! किं तित्थे हुज्जा-अतित्थे हुज्जा।	२५७
पंचासवप्पवत्तो जो खलु तिहिं गारवेहिं पडिबद्धो ।	२६३
पंथसरिसा कुपंथा सुवन्नसरिसाणि पित्तलाईणि।	२५
प्रथमे समये दण्डं स्वदेहविष्कम्ममूर्ध्वमथश्च लोकान्तगामिनम् ।	२७१
भन्नइ इत्थ विभासा जो एयाइं सयं विमग्गिज्जा ।	८३
भावयितव्यमनित्यत्वमशरणत्वं तथैकतान्यत्वे ।	३२२
मासाइ सत्तंता पढमाबिइ तईय सत्तराइदिणा ।	३२२
मिच्छत्तमभव्वाणं अणाइयमणंतयं मुणेयव्वं ।	२७७
मिच्छत्तं जमुइन्नं तं खीणं अणुइयं तु उवसंतं ।	२८८
मिच्छे सासाणे वा अविरयसम्मंमि अहव गहियम्मि ।	२७८
यतः क्रुद्धस्य रक्तस्य व्यसनापतितस्य च ।	२९७
यथा लाभस्तथा लोभो लाभाल्लोभः प्रवर्द्धते ।	१०८
ये साधर्मिकवात्सल्ये स्वाध्याये संयमेऽपि च ।	१९२
लक्खेहिं एगवीसाइरेगेहिं पुक्खरद्धंमि ।	२६९
लहु पंचक्खर चरिमं तइयं छट्ठाइ बारसं जाव ।	२७७
लेखयन्ति नरा धन्या ये जिनागमपुस्तकम् ।	१७५
वसहिकहनिसिज्जइंदिय कुडुंतर पुव्वकीलियपणीए ।	३२१
वायाइ नमुक्कारो हत्थुस्से व सीसनमणं वा ।	२६६
वाहीओ वा अरोगी वा सिणाणं जो उ पत्थए ।	२२२
विदिसाउ दिसं पढमे बीए पविसरइ नाडिमज्झंमि ।	२७१
विभूसा वत्तियं भिक्खू कम्मं बंधइ चिक्कणं ।	२२२
वंदइ न य वंदावइ किइकम्मं कुणइ कारवे नेय ।	२१८
वंदंतो संमं चेइयाइं सुहज्झाण पगरिसं लहइ ।	७९
सकृज्जल्पन्ति राजानः सकृज्जल्पन्ति साधवः ।	२१३
सम्मत्त कुशीलो पुण संकाई सेवगो मुणेयव्वो ।	२६३
सम्मान्य सूत्रधारं प्राग्वस्त्राद्यैः विभवोचितम्।	३०
समिइपवित्ति सच्चा [सव्वा] आणाबज्झत्ति भवफला चेव ।	७७
सव्वत्थ संजमं संजमाउ, अप्पाणमेव रक्खिज्जा ।	२३४
सव्वत्थामेण तहिं संघेण य होइ लग्गियव्वं तु ।	८३
सव्वेहिं पि जिणेहिं दुज्जयजियरागदोसमोहेहिं ।	२२०
सुद्धं सुसाहु धम्मं कहेइ निंदइ य नियमायारं ।	२१८
सो पासत्थो दुविहो सव्वे देसे य दोइ नायव्वो ।	२६२
संविग्गपक्खियाणं लक्खणमेयं समासओ भणियं ।	२१८
संहरन्ति पञ्चमे त्वन्तराणि मन्थानमथ पुनः षष्ठे ।	२७१
श्रीखण्डैरण्डयोः काष्टं फलं तालरसालयोः ।	१४१
हसद्भिर्बध्यते वत्से! पापकर्म यदङ्गिभिः ।	१६१
हेऊ अणुगमवइरेगलक्खणो सज्झवत्थुपज्जाओ ।	२४४
होई समत्थो धम्मं कुणमाणो, जो न बीहइ परेसिं।	३

जिनेश्वर भगवंत की अंगपूजा सांसारिक विघ्नों को उपशांत करते हुए अशुभ कर्म का नाश करने वाली है।

अग्रपूजा - उत्तरोत्तर उत्तम सामग्री की उपलब्धि करवाकर चारित्रपद की प्राप्ति करवाने तक अभ्युदय कारक है।

भावपूजा - आत्मा में एकाग्रता प्राप्त करवाकर निवृत्ति स्थान मोक्ष स्थान प्राप्त करवाती है।

तीनों प्रकार की पूजा उत्तरोत्तर मोक्ष सुख को प्राप्त करवानेवाली हैं।

- जयानंद

रागद्वेष से रहित वे ही देव ।

राग-द्वेष सहित वे देव नहीं ।

सुवाक्य

सुवाक्य	पृष्ठ
अग्नियोगः सुवर्णस्य वर्णिकावृद्धये न किम्।	६३
अतियत्न्यपि किं कुर्यात् षट्कायारम्भवान्गृही।	१२३
अनुरागग्रहिलां किमौचित्यं विजानते?	३१३
अनुलङ्घया हि राजाज्ञा सतां गोत्र स्थितिर्यथा।	२७
अपचितः पराक्रान्तः कुर्यात् किं सबलोपि हि।	१५३
अर्जितं यद्यदा येन तत्तदा लभते हि सः।	१०४
अर्थ एव हि गौरव्यो न कौलीन्यं न वा गुणाः।	२९२
अर्धराज्यहरं मित्रं यो न हन्यात् स हन्यते।	२९६
अरक्काः स्युः किमाधारास्तुम्बे नाशमुपेयुषि।	२९८
अविमृश्य न विद्वांसः कुर्वते किञ्चनापि यत्।	१७९
अज्ञनेनाऽपि किं तेन चक्षुः स्फोटयतीह यत्।	१८२
अन्धो य पंगूय वणे समिच्चा ते संपउत्ता नगरं पविट्ठा।	३२०
आकर्षयान्मुखान्मृत्योः प्राणदानं ह्यनुत्तरम्।	३२०
उदग्रतपसां शापो निःफलः स्यान्न जातु यत्।	२२६
उपर्युपरि लभ्यन्तेऽनुकूले हिं विधौ श्रियः।	६०
औषधं कुरुते कर्म सन्निपातवतः किमु।	४५
क्लेशेऽपि स्वप्रतिज्ञातं किमुज्झन्ति मनस्विनः।	२२६
कर्णविषं येन महाविषम्।	१२९
कर्म परं लुम्पति नाऽवधिम्।	५८
कलावानपि याति स्म किल द्वीपान्तरं तदा।	१०३
कस्मिन्नपि प्रदेशे किं ज्ञायते नांऽशुमानपि।	२१०
कस्येष्टाख्या मुदे न वा?	३१
कस्येच्छा नाऽधिकाऽधिके?	२५३
कालकृता कृषिरपि भवेत् फलवती यतः।	६३
काले फलन्ति तरवोऽपि यत्।	२०८
किमुच्यते कुलीनानां विनयव्रतपालने?	५८
किं दूरं लब्धिशालिनाम्।	२४६
किं न कुर्यात् प्रियावशः।	२२७
किं हि दूरं दिवौकसाम्?	१३८
कुर्यात किं न अजितेन्द्रियः?	२४६
को वा कोपातुरो न स्यात्प्रियापरिभवे सति।	१३०
को वा न दूयते महदापदा।	६५
को हि दन्तावलैः सार्द्धमिक्षून् भक्षयितुं क्षमः।	३४
को हि युक्तं न मन्यते?	२५०
को हि वेश्यासु रज्यते।	१४१
कः खलीकुरुते यमम्।	१५५
कः करादत्नमुज्झति।	१४६
कः कल्याणं न वाञ्छति?	२९१
गच्छन् किं कोऽपि केनापि शक्यते धर्तुमुन्मनाः?	१२५
गतानुगतिको लोकः प्रायेण भवतीह यत्।	१६८
गुर्वाज्ञा हि बलीयसी।	१९५
चतुरः किं न जानन्ति यद्वा चातुर्यचर्यया।	६०
चरित्रं नारीणामगम्यं वाक्पतेरपि।	१०५
चलति शैलेन्द्रः कि वात्यानां शतैरपि?	१३८
छन्नादित्यं किमाऽऽभाति दिवसेऽपि नभोऽङ्गणम्?	१८१
जायन्ते नाऽन्यथा वाचः कल्पान्तेऽपि यतः सताम्।	१४६
जायन्ते हि महियांसः प्रणिपातवशंवदाः।	२९७
जीवन् भद्राणि पश्यति।	६२
जीवेन सह कर्माणि यान्त्यन्यत्राऽपि यद् भवे।	१६८
जो चयइ उत्तरगुणे मूलगुणे वि अचिरेण सो चयइ।	२५८
त्याज्यो हि साधुभिर्नीत्या महत्यपि परीषहे।	२९९
तन्नार्यो हि पतिर्वर्त्मगाः।	१८९
तपस्तेजो हि दुःसहम्।	२२५
तिष्ठन्ति श्वसुरावासे चिरं नार्यो न पूरुषाः।	४२
तीव्रपापं सद्यःफलं यतः।	२८
तेजोवृद्धयै न किं हेम्नः पतनं ज्वलितानले।	४६
दानेनैव हि भोगानां जन्तुर्भवति भाजनम्।	२२६
दुश्चरितं स्त्रीणां विधेरपि न गोचरे।	१३४
दुःकरं किं हि कामिनाम्।	१५
दुःकुलानां हि का त्रपा?	३१३
दूरे ज्वलन्तमीक्षन्ते सर्वे नाऽधः स्वपादयोः।	८
धर्मकृत्यं विना नान्यद् येन कर्मघनमौषधम्।	१६३
धर्ममुत्तमे कस्य नादरः।	५४
धर्मो जयति नाऽधर्मः।	१०४
धर्मो जैनधर्मात् परो न हि । यथा आदित्यात् परो नान्यः प्रत्यक्षस्तेजसां निधिः।	२५२
धिक्कर्मणां गतिः।	८४
धिग् धिक् कर्मगतिं हहा।	२१२
धिग्राजतां यत्र भातृघातोऽपि चिन्त्यते।	३६
न्याय्यं को नाऽनुतिष्ठति?	८८
न जीवयति किं वैद्यो महारोगेऽपि रोगिणम्।	५९
न स्यान्माधुर्यभाक् किं वा शर्करया लवोऽपि हि।	९९
न सिद्धिः साहसं बिना।	३०८

सुवाक्य	पृष्ठ
न हन्त्यर्कोऽपि किं तमः।	१३३
न हि कल्पद्रुमाकाङ्क्षी करीरे कुरुते रतिम्।	१८०
न हि दोलायमानानां जायन्ते कार्यसिद्धयः।	३०८
नाऽदत्त्वा स्वफलं कर्म येन याति निकाचितम्।	२१४
नाऽदत्त्वा स्वफलं कर्म व्यपयात्यर्हतामपि।	१८१
नाऽपमान्यस्ततः सङ्घो जिनेन्द्रेणापि योऽर्च्यते।	१८५
नाऽविधिः श्रेयसे यतः।	८६
नान्यत् प्रतिविधानं हि महादोष विधायिनाम्।	१७
नान्वयं ह्यनुरुध्यन्ते राजानः स्वार्थतत्पराः।	१०६
नार्थी दोषान् यदीक्ष्यते।	१०७
नास्त्यकृत्यं गुरोर्यतः।	१९८
निम्बद्रुमाद् भवन्तीह सहकारफलानि किम्।	७
निः स्वः किं लभते निधिम्।	१३३
निःपुण्यानां भवेत्किं वा चिन्तारत्नं दृशोः पथि।	१०
नीतिरेषा ही भूभुजाम्।	२९५
नृत्यानि किं केकी विनापि जलदोदयम्।	१८८
नृणां शैली हि दुस्त्यजा।	२९०
पतिव्रतात्वमेवेह योषितां ह्यङ्गरक्षकम्।	५१
प्रणामपर्यन्त एव कोपो महीयसाम्।	२८७
प्रतिकूले विधौ कुर्यात् पौरुषं पुरुषस्य किम्?	४८
प्रभास्फोटेऽपि सूर्यस्य तमः किं न विलीयते।	४३
पासंतो पंगुलो दड्ढो धावमाणो य अंधओ।	३२०
पाषाणोऽपि गुणैः किं वा देवबुद्ध्या न पूज्यते।	९९
प्राणिभिर्लोभमूर्च्छालैः किमेकं क्रियते न वा।	१७२
प्राप्तखजूरखाद्यस्य यद्वा किं रोचते खलः।	५४
प्रायस्तृतीयोद्भयने मयूरोऽपि हि गृह्यते।	१३८
प्रायेण प्राणिनो येन नीरवन्नीचगामिनः।	१२७
प्रायेण विशारूणि प्रेमाणीह शरीरिणाम्।	६८
पितृतुल्यो बृहद्बन्धुः।	४५
पुण्याय सतां कथा।	१८०
पुरीषमुत्सृजत्यङ्के डिम्भश्चेत्तत् त्यज्यते स किम्।	३०१
पुरुषः परुषः खलु।	६१
पूज्यादेशो वृथा न हि।	१९४
प्रेम्णो किंचिन्न दुःकरम्।	१४३
बलादप्युपसर्पन्ति पुंसः पुण्योदये श्रियः।	१४८
बालादपि हितं ग्राह्यमिति नीतिः।	२९४
भवन्ति बलिनो देवानामपि दानवाः।	२४५
भ्रातरिष्टयोगो हि तोषकृत्।	११३
भूतिं स्वां पात्रसात्कुरुते न कः।	१८७

सुवाक्य	पृष्ठ
मरीचान्यप्यधीर्वाञ्छत्यत्तुं चणकलीलया।	३६
मरिचानि न शक्यन्ते चर्वितुं चणकानिव।	२५९
महान्तोऽपि बध्यन्ते लोभपाशकैः।	२२८
महान्तः क्षान्तिमन्तः स्युर्जने दोषाऽऽकरेऽपि यत्।	२२३
मिषापेक्ष्येव बोधः स्यात् प्रायो हि लघुकर्मणाम्।	१८०
मुनयः स्थायिनो न यत्।	२४९
मुनयो मुनिचर्यासु न प्रमत्ताः कदाऽपि यत्।	१८६
मुनीनां शकुनीनां च न यदेकत्रचारिता।	१८२
मृते काऽन्या प्रति क्रिया।	१३३
यतः सतीनां वाक्यानि मन्त्रानप्यतिशेरते।	५६
यतो धर्मतुलाः नृपः।	२८
यद्वा सन्धात्यागो न किं मृतिः।	९७
यद्वा विषयलोलानामनर्थः कोऽत्र दुर्लभः।	१४५
यद्वाऽपारे जगत्यस्मिन्नामसाम्यं न दुर्लभम्।	६५
यद्वेक्षुवाटजस्यापि स्यान् माधुर्यं नलस्य किम्।	१२
यदिष्टदर्शनोत्कण्ठा दुर्द्धरा सिन्धुपूरवत्।	१३९
यन्नार्यः पतिमार्गानुगा इति।	१२१
येनोदयास्थिते भानौ नान्यत् तेजो विजृम्भते।	२४७
रक्ते रङ्गो हि युज्यते।	१२६
रजोभिर्गुण्डिता यद्वा मणिरेव मणिर्न किम्?	५८
रागान्धः कुरुते न किम्?	१५९
राजधर्मो ह्यसौ शिष्टपालनं दुष्टनिग्रहः।	५९
राजानुगो लोकः स्फाति पुण्यानुगा यथा।	३०४
राज्ञामाज्ञाऽति भैरवा।	१४६
रङ्को रत्ननिधिं प्राप्य किं न गृह्णाति जातुचित्?	२४९
लोभमूलानि पापानीत्याख्यान्ति शिशवोऽपि यत्।	१९१
व्यसनेऽपि महात्मानः प्रतिपन्नं त्यजन्ति किम्?	८८
व्यसनं स्यान्न किं चन्द्रसूर्ययोर्दैवयोरपि।	६१
वान्ताशिनो हि जायन्ते कुक्कुरा एव नापराः।	१२१
वायोरिव मुनीनां हि कदाचिद् कुत्रचिद् गतिः।	११८
वार्द्धिशोषक्षमः किं स्यात् प्रौढोऽपि वडवानलः?	११५
विचारानुगुणं प्रायः फलं स्वप्नः प्रयच्छति।	१४८
विद्यते किमदेयं वा कामिनां कामिनीकृते।	५
विनोदो ह्यध्वलङ्घकः।	११९
विपाकः कर्मणां हहा।	१२५
विषयाणां प्रकोपस्तु यायाज्जन्मान्तरेष्वपि।	१९१
वीरभोग्या वसुन्धरा।	२९३
वृष्टौ सत्यां च साधूनां गमनं हि न कल्पते।	७५
वैराद् भवपरम्परा।	११३

सुवाक्य	पृष्ठ
स्त्रीणां प्रकृतिभीरूणां भवेद्धैर्यं किमापदि।	५१
स्थानमस्थानिनां हि सा।	१४७
स्थानमोहो न कस्य वा।	११५
स्थानं शृङ्गालिकायाः किं नष्टायाश्चण्डरोचिषः।	१६
स्थानं ह्याननुसंधाय न जाल्मोऽपि प्रवर्तते।	४७
स्थायिता यतिनां न यत्।	११९
स्थितिर्ह्यसौ।	१६२
स्थिराणां श्रीर्भवेत् खलु।	१६८
स्नेहस्य ही रहस्यं तद्यादाज्ञा न विलंङ्घ्यते।	१३
स्म प्राणभीर्महती हि भीः।	३२१
स्यात् क्रूरोऽपि ग्रहः किञ्चिच्छुभदः शुभयोगतः।	४६
स्वभावो बलवान् खलु।	६०
स्वर्णमप्यग्निसंसर्गादग्निवज्जायते न किम्?	१५९
स्वार्थसिद्धिं बिना यन्न कोऽपि कस्यापि वल्लभः।	११४
सकर्णः कोपि किं जीवः स्पृहेन्नरकं क्वचित्?	१६८
सत्यसन्धा हि साधवः।	१२१
सत्यसन्धो महामुनिः।	११९
सत्यसंधो महाऋषिः।	२८६
सत्यो हि शीलभङ्गस्य क्षमन्ते न वचोऽपि हि।	१५३
सतीनां कुपितानां हि न किञ्चिदपि दुःकरम्।	४६
सन्तः प्रणतवत्सलाः।	२८७
सन्तो यद् दीनवत्सलाः।	२३१
सन्तो हि नतवत्सलाः।	२४६
सन्तो हि सुकृतिप्रिया।	४२

सुवाक्य	पृष्ठ
सम्प्रति बहवो मुण्डा अल्पाश्च श्रमणाः।	२१८
सर्वजनीनाः स्युः साधवः साम्यमास्थिताः।	२१६
सिंहस्यापि सहायः किं जायते जातु कुत्रचित्।	११८
सुप्तो जागर्यते जाग्रत् सुप्तस्तूत्थाप्यते कथम्?	२४५
सुवर्णेनापि किं तेन कर्णौ त्रोटयतीह यत्।	१४०
सुशीतमपि चाण्डालं जलं विप्रः किमिच्छति?	१७१
सूनोर्न्याय्यं खलु पितुः पदम्।	११४
सेव्यः शिष्योऽपि केवली।	५४
सेव्यते ह्यपवादोऽपि तरीतुं व्यसनार्णवम्।	३१६
संक्रामन्ति मुनीन्द्रा हि मासे मासे दिनेशवत्।	२०
संघाइयाणकज्जे चुन्नेज्जा चक्कवट्टि सेन्नंपि तीए लद्धिइ जुओ लद्धिपुलाओ मुणेयव्वो।	२५५
संजोग सिद्धिइ फलं वयंति न हु एगचक्केण रहो पयाइ।	३२०
संसारे किमसंभवि।	२१
संसारचक्रेऽस्मिन् भावीः सर्वे विनश्वराः।	१२२
शिष्यस्य को न मोहेन मोहितः?	३०५
शीलं सतीनां वर्मेव सर्वाङ्गरक्षणक्षमम्।	४९
शुभं वाऽप्यशुभं वापि नाऽकृतं प्राप्यते यतः।	२८५
शैलोऽपि चाल्यते देवैः परमाणोर्हि का कथा?	१३७
शोच्यानामपि ते शोच्या ये ज्ञात्वाऽपि न कुर्वते।	२१५
श्रेयो हि बहुविघ्नकम्।	७४
होतुरप्यग्निः किं न दाहाय जायते।	६३
क्षते क्षिपथ किं क्षारं दुःस्थिते किमु निंदयाः।	४८

तत्रानिश्राकृतं यत् साधुसत्तारहितं, यथा अष्टापदादिषु ।
निश्राकृतं यत् साधुनिश्रया क्रियते ।

श्राद्धदिनकृत्य ३४ पेज

त्रीश वरस सुधी कोइए विरोध न दर्शाव्यो तो आजे विरोध केम ? आवी वात करवी बुद्धियुक्त छे ? जाणकारो तो कहे छे के विरोध तो ते समये पण हतो पण कारणसर के संयोगवशात् ते समये ए विरोधे जोर न पकड्युं होय तेथी आजे कोइ विरोध करी शके ज नहीं एम केम कहेवाय । एक भूल सामे कोइए तत्काल आंगली न चींधी, माटे भविष्यमां अनंतकाल सुधी कोई एनी सामे भूल जणाय तो अवाज उठावी शकेज नहीं आ तो रमुजी दलील कहेवाय ।

–जूलाई अगस्त ६३ कल्याण मासिक पेज नं. ३४९–५०

कालप्रमाणार्धमाह–पक्खं किं मयैतानि व्रतानि
पक्षं मासं वा यावत् अथवा यावज्जीवं
गृहीतान्येवमनुस्मरतीति

–श्राद्धदिनकृत्य

कल्याण मासिक पत्रिका के पेज नं. ८१८ जून १९८७ पर रात को घंट बजाने का हिंसक जीव जीव हिंसा कर ले इस हेतु निषेध किया है । तो फिर वर्तमान में प्रभु भक्ति के नाम पर माईक द्वारा रात को भक्ति हो रही है वह क्या घंटनाद से कम आवाज वाली है ? चतुर्विध संघ सोचे ।

Mesco Prints
080-22380470